श्री मुनि जिनविजय सम्मान समिति
की ओर से
सादर भेंट

भारतीय पुरातत्व

श्री मुनि जिनविजय सम्मान समिति
की ओर से
सादर भेंट

पुरातत्वाचार्य मुनि जिनविजय
अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादन समिति :

समिति की ओर से

श्रद्धेय मुनि जिनविजयजी पुरातत्ववेत्ताओं और प्राच्य-विद्या-प्रेमियों में विश्व-विश्रुत विभूति हैं।

मुनिजी ने अनेक शोध-संस्थान, ग्रन्थ-संस्थान, ग्रंथ-भण्डार प्राचीन पुस्तक-माला आदि का संस्थापन, निर्देशन, संयोजन, संचालन किया है।

विविध विषयों के बड़े-छोटे नाना ग्रन्थों के परिश्रमपूर्वक गहन-अध्ययन, संपादन और प्रकाशन के द्वारा उन्होंने एक ओर देश-विदेश के विद्वानों की ज्ञान-पिपासा-पूर्ति का और दूसरी ओर भारतीय-वाङ्मय-निधि को समृद्ध करने व पुराने इतिहास की कड़ियों को जोड़ने का असाधारण काम किया है।

अगणित अलभ्य प्राचीन ग्रन्थों को उन्होंने सुरक्षित कर दिया है।

राष्ट्रीय-शिक्षण और राष्ट्रीय-जन-जागरण भी उनका कार्य-क्षेत्र रहा है।

इस मनीषी का सार्वजनिक-सम्मान व अभिनंदन करने का विचार कुछ वर्षों पूर्व किया गया। इस प्रसंग में अभिनंदन-ग्रन्थ समर्पण के पीछे यह दृष्टि भी रही कि राजस्थान में जन्मी, लेकिन फिर सारे भारत में ख्याति-प्राप्त, इस प्रतिभा की जीवन सेवाएं प्रकाश में लाई जायें, इनकी खास कुछ रचनाएं अप्रकाशित रही हों उनको ग्रन्थ में संकलित कर दिया जाय और मुनिजी का निकट-परिचित, स्नेहीजन का जो विशाल समुदाय है उससे उपयुक्त लेख-सामग्री प्राप्त कर इसमें दी जाय।

मुनिजी ने इस कार्य के लिये बहुत ही कठिनाई से सहमति दी। इस निमित्त से कहीं भी जाने-आने से तो उन्होंने स्पष्ट ही इनकार किया। इसलिये चित्तौड़ में ही यह कार्यक्रम आयोजित करने का निश्चय किया गया।

ग्रन्थ की सामग्री के संचय, संपादन में काफी समय लगा। उससे भी अधिक अप्रत्याशित विलम्ब ग्रन्थ के मुद्रण, प्रकाशन में हुआ।

अर्थ-संग्रह के लिये पूरी शक्ति नहीं लग सकी। इस स्थिति में पत्रं-पुष्पं-फलं तोयं रूप अभिनन्दन-ग्रन्थ-मात्र समर्पण का ही कार्य-क्रम रखना तय रहा।

मुनिजी ने चित्तौड़ में श्री हरिभद्र सूरि स्मारक व पुरात्व-शोध-केन्द्र और श्री भामाशाह-भवन की स्थापना द्वारा जो महत्व का कार्य किया है और जिसके लिये आर्थिक सहायता में सहयोग वे चाहते रहे उसमें यत्किंचित् योग देने का यह ही उपाय सोचा गया कि अभिनन्दन-ग्रन्थ की बिक्री से जो राशि आये उसका, ग्रंथ की छपाई के खर्चे की पूर्ति में लगने वाले अंश के अलावा, शेषांश मुनिजी के परामर्शानुसार स्मारक के काम में ही लगाया जाय।

सम्पादकीय

आजादी के पश्चात् जब राजस्थान का एकीकरण हुआ और जयपुर राज्य प्रजामंडल के प्रमुख नेता श्री हीरालाल जी शास्त्री के नेतृत्व में नव निर्मित राजस्थान सरकार ने कार्यारम्भ किया तो राज्य की बहुमुखी समृद्धि की दृष्टि से राज्याधिकारियों और जन सेवकों के मिले जुले दस मंडल कायम किये गये। उस समय संस्कृत मंडल में पुरातत्वाचार्य श्री जिनविजयजी मुनि भी शामिल हुए और उनकी देख रेख में राजस्थान पुरातत्व मंदिर की स्थापना हुई जिसने राजस्थान की प्राचीन साहित्यिक निधि के संग्रह, सुरक्षा और प्रकाशन की जिम्मेदारी ली। श्री मुनिजी से परिचय तो पहले से ही था, पर तब से उनके व्यक्तित्व से निकट का सम्पर्क बना और उनके विचार और कार्य के प्रति सराहना की भावना उत्तरोत्तर दृढ होती गई। उस समय हम लोग–श्री सिद्धराज जी ढढ्ढा, श्री पूर्णचन्द जी जैन और मैं दैनिक लोकवाणी से सम्बद्ध थे और उक्त माध्यम से मुनिजी के द्वारा राजस्थान में चलाई जाने वाली इस महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को अधिकतम बल देने का प्रयास किया गया।

समय बीतता गया। १९६३ में जब मुनिजी ने अपनी आयु के ७५ वर्ष पूरे किये और उसके पूर्व उन्हें भारत सरकार के द्वारा पद्मश्री की उपाधि से भी सम्मानित किया गया तथा वे राजस्थान पुरातत्व मन्दिर से भी जो अब राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान के रूप में उत्तरोत्तर विकसित और समृद्ध होता जा रहा था अवकाश लेने की चर्चा करने लगे, तो सहज ही मुनिजी का अभिनन्दन करने और उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का विचार उत्पन्न हुआ और इसे परम आदरणीय प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी का आशीर्वाद तथा श्री दलसुख मालवणिया और श्री रतिलाल देसाई का प्रोत्साहन और सहयोग मिला तो मुनि जिनविजयजी सम्मान समिति का संगठन हुआ तथा उसकी प्रबंध समिति और संपादन समिति बनी। कार्यारम्भ हुआ और अच्छी संख्या में लेख श्री दलसुखभाई तथा अन्य मित्रों के प्रयास से प्राप्त हुये।

यहीं से कठिनाइयों का प्रारम्भ हो गया। स्वाभाविक रूप से इस काम की जिम्मेदारी श्री पूर्णचन्द जी जैन पर और मुझ पर आई, हमें यह भार उठाने में प्रसन्नता भी थी और रुचि भी। पर हम लोग विविध प्रवृत्तियों में बहुत अधिक फंसे हुये थे। अतः इस काम के लिए समय निकालना बहुत कठिन पड़ा और फिर अर्थ संग्रह का काम तो इतना कष्टमय और निराशापूर्ण रहा कि कई बार हम लोग हिम्मत हार गये और समिति के ही विसर्जन का विचार करने लगे, पर विसर्जन की भी हिम्मत नहीं हुई और जैसे भी हो इस कार्य को सम्पन्न करने का ही तय किया। इस निर्णय को राजस्थान सरकार द्वारा स्वीकृत आर्थिक सहायता से भी बहुत बल मिला। प्रेस की कठिनाइयां भी अत्यधिक रही और विलम्ब भी इतना हो गया कि प्रारम्भ के छपे अनेक फार्म ही मैले हो गये और कुछ फार्म तो दुबारा छापने पड़े। प्रेस के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के कारण काम भी काफी समय तक रुका रहा। खैर, कुछ भी परिस्थितियां बनीं, अब यह अभिनन्दन ग्रन्थ आपके सम्मुख है।

प्रास्ताविक

आजन्म विद्योपासक आचार्य श्री जिनविजयजी के अभिनन्दन की योजना का एक मूर्तरूप प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ है। आचार्य श्री ने भारतीय पुरातत्व के संशोधन में अपना समग्र जीवन खपा दिया है, यह कहें तो अनुचित न होगा। श्री मुन्शीजी के भारतीय विद्या भवन के पाये के पत्थर ये ही हैं और महात्मा गांधी जी द्वारा स्थापित पुरातत्व मंदिर के भी ये ही संचालक रहे और जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की आत्मा भी आचार्य श्री ही हैं। भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना में भी इनका बलवत्तर योगदान था। केवल विद्याकार्य ही किया हो यह नहीं। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी इन्होंने भाग लिया है और धरासणा के सत्याग्रह में लाठियां भी खाई और जेल भी गये। आधुनिक संशोधन की पद्धति का परिज्ञान करने के लिये जर्मनी भी गये और लौट कर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन में भी कुछ वर्ष रहे। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों का संपादन किया और अनेक ग्रन्थों को लुप्त होने से बचाया। परिणाम है कि आज उनकी आंख की शक्ति नहींवत् रह गई है।

आचार्य श्री जिनविजय जी की अनिच्छा के बावजूद मित्रों ने ई० १९६३ में जब उन्हें ७५ वां वर्ष पूरा होने वाला था ई० १९६२ में एक योजना उनके अभिनन्दन की बनाई। उन मित्रों के उत्साह के होते हुए भी देश के कार्य में वे इतने व्यस्त थे कि अब जब आचार्य श्री जिनविजय जी ८३ वर्ष के हो चुके उनका अभिनन्दन ग्रन्थ छप कर तैयार हुआ है। यह भी एक संतोष की बात है और हमें उनका धन्यवाद ही करना चाहिये कि अन्य कार्यों में रत उन मित्रों ने एक विद्वान के अभिनन्दन के लिये उत्साह तो दिखाया। इस अभिनन्दन ग्रन्थ के लेखकों का मैं यहां विशेष रूप से आभार मानना चाहता हूं कि उन्होंने मेरी प्रार्थना को ध्यान में लेकर अपना अमूल्य समय निकाल कर इस ग्रन्थ के लिये लिखा ही नहीं किन्तु दीर्घ समय तक छपने की प्रतीक्षा भी करते रहे और अपने लेखों को वापस नहीं मांगा। इसकी छपाई का सारा कार्य जयपुर में ही हुआ है और प्रूफ मेरे पास आये नहीं है। अतएव छपाई में कोई क्षति रह गई हो तो उसके लिये भी लेखकगण कृपा पूर्वक क्षमा करें।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ में आचार्य श्री जिनविजय जी के विषय में लिखे गये प्रशस्ति लेखों के अलावा स्थायी मूल्य रखने वाले संशोधनात्मक लेख भी हैं। लेखों की भाषा गुजराती, हिन्दी, और अंग्रेजी है। अतएव भारतीय प्राचीन विद्याओं में रस रखने वाले अभ्यासिजनों के लिये भी यह ग्रन्थ उपादेय होगा ऐसा

प्रास्ताविक

आजन्म विद्योपासक आचार्य श्री जिनविजयजी के अभिनन्दन की योजना का एक मूर्तरूप प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ है। आचार्य श्री ने भारतीय पुरातत्व के संशोधन में अपना समग्र जीवन खपा दिया है, यह कहें तो अनुचित न होगा। श्री मुन्शीजी के भारतीय विद्या भवन के पाये के पत्थर ये ही हैं और महात्मा गांधी जी द्वारा स्थापित पुरातत्व मंदिर के भी ये ही संचालक रहे और जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की आत्मा भी आचार्य श्री ही हैं। भांडारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की स्थापना में भी इनका बलवत्तर योगदान था। केवल विद्याकार्य ही किया हो यह नहीं। राष्ट्रीय आन्दोलन में भी इन्होंने भाग लिया है और धरासणा के सत्याग्रह में लाठियां भी खाई और जेल भी गये। आधुनिक संशोधन की पद्धति का परिज्ञान करने के लिये जर्मनी भी गये और लौट कर कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शांतिनिकेतन में भी कुछ वर्ष रहे। अनेक बहुमूल्य ग्रन्थों का संपादन किया और अनेक ग्रन्थों को लुप्त होने से बचाया। परिणाम है कि आज उनकी आंख की शक्ति नहींवत् रह गई है।

आचार्य श्री जिनविजय जी की अनिच्छा के बावजूद मित्रों ने ई० १९६३ में जब उन्हें ७५ वां वर्ष पूरा होने वाला था ई० १९६२ में एक योजना उनके अभिनन्दन की बनाई। उन मित्रों के उत्साह के होते हुए भी देश के कार्य में वे इतने व्यस्त थे कि अब जब आचार्य श्री जिनविजय जी ८३ वर्ष के हो चुके उनका अभिनन्दन ग्रन्थ छप कर तैयार हुआ है। यह भी एक संतोष की बात है और हमें उनका धन्यवाद ही करना चाहिये कि अन्य कार्यों में रत उन मित्रों ने एक विद्वान के अभिनन्दन के लिये उत्साह तो दिखाया। इस अभिनन्दन ग्रन्थ के लेखकों का मैं यहां विशेष रूप से आभार मानना चाहता हूं कि उन्होंने मेरी प्रार्थना को ध्यान में लेकर अपना अमूल्य समय निकाल कर इस ग्रन्थ के लिये लिखा ही नहीं किन्तु दीर्घ समय तक छपने की प्रतीक्षा भी करते रहे और अपने लेखों को वापस नहीं मांगा। इसकी छपाई का सारा कार्य जयपुर में ही हुआ है और प्रूफ मेरे पास आये नहीं है। अतएव छपाई में कोई क्षति रह गई हो तो उसके लिये भी लेखकगण कृपा पूर्वक क्षमा करें।

इस अभिनन्दन ग्रन्थ में आचार्य श्री जिनविजय जी के विषय में लिखे गये प्रशस्ति लेखों के अलावा स्थायी मूल्य रखने वाले संशोधनात्मक लेख भी हैं। लेखों की भाषा गुजराती, हिन्दी, और अंग्रेजी है। अतएव भारतीय प्राचीन विद्याओं में रस रखने वाले जिज्ञासुओं के लिये भी यह ग्रन्थ उपादेय होगा ऐसा

आचार्य श्री जिनविजय मुनि : संक्षिप्त परिचय

पुरातत्वाचार्य श्रीजिनविजय मुनि का जन्म राजस्थान के भीलवाड़ा जिले की हुरड़ा तहसील के अन्तर्गत रूपाहेली नामक ग्राम में माघ शुक्ला १४ सं० १९४४ तदनुसार २७ जनवरी सन् १८८८ ई० के दिन सूर्योदय के पश्चात हुआ। परमारवंशीय क्षत्रिय कुलीन श्री बिरधीसिंह (बड़दसिंह) इनके पिता थे तथा सिरोही राज्य के देवड़ा वंशीय चौहान घराने के एक जागीरदार की पुत्री राजकुंवर इनकी माता थी। इस बालक का नाम किसनसिंह रखा गया, यद्यपि मां दुलार से इन्हें रणमल के नाम से पुकारती थीं।

मुनिजी के पूर्वजों ने १८५७ के स्वातंत्र्ययुद्ध के समय अजमेर-मेरवाड़ा जिले में अंग्रेजों के विरुद्ध आचरण किया था, अतः प्रतिशोध के रूप में अंग्रेज सरकार द्वारा इनकी जमीन-जायदाद, जागीर आदि सब सम्पत्ति जब्त कर ली गई और इनके परिवार के अनेक लोगों को मार भी डाला गया। इनके दादा अपने दो पुत्रों—इन्द्रसिंह और बिरधीसिंह के साथ किसी तरह बच निकले और उन्होंने लगभग सारी जिन्दगी अज्ञातवास में इधर-उधर घूमते-फिरते ही व्यतीत की। वे भटकते-भटकते रूपाहेली पहुँचे और वहां के ठाकुर से सहानुभूति प्राप्त करके वहां अपने पुत्रों को रख गये। वृद्धिसिंह सिरोही राज्य में जंगलात विभाग के अधिकारी बने। वहीं उनका विवाह हुआ। तत्पश्चात् वे रूपाहेली लौट आये।

बुढ़ापे में वृद्धिसिंह को संग्रहणी रोग हो गया जिसका इलाज उन्होंने एक जैनयति श्री देवीहंस से कराया। श्री देवीहंस ने बालक की बुद्धिमत्ता और प्रत्युत्पन्नमति को देखकर उनके पिता से कहा—किसनसिंह को अच्छी तरह पढाओ-लिखाओ। यह बालक कुल का मुख उज्वल करने वाला होगा। सं० १९५५ में वृद्धिसिंह का देहावसान हो जाने पर परिवार एकदम निराश्रित हो गया और फलतः किसनसिंह की पढ़ाई की कुछ व्यवस्था न रही। यह देखकर यतिदेवीहंस ने किसनसिंह को पढ़ाने के लिए अपने पास रख लिया। उनके यहां ऐसे ही ८-१० बालक और भी थे, पर कुछ समय बाद ही यतिजी अकस्मात् ऊंची [illegible] पर से नीचे गिर पड़े जिससे उनकी पिंडली के पास की हड्डी टूट गई। कुछ दिन बीमार रहने के बाद [illegible] के एक यति वहां आये जो श्री देवीहंस को सेवा-सुश्रुषा के लिए अपने गांव ले गए। किसनसिंह ने [illegible] [illegible] तीन महिने बाद उनका देहावसान होने [illegible] बालक फिर निराश्रित हो गया।

श्रीधर रामकृष्ण भाण्डारकर भी वहां आये हुये थे। उन्होंने किसनसिंह को बुलवाया। किसनसिंह ने उसे पूरा पढ़ा और उसे उत्तराध्ययन सूत्र बतलाया, जिसे श्री भंडारकर ने नोट कर लिया।

यहां किसनसिंह को यह आवश्यकता अनुभव हुई कि उन प्राचीन लिपियों का ज्ञान और अधिक प्राप्त करना चाहिए, पर जैन साधु स्वयं तो अधिक पढ़े-लिखे थे नहीं और गृहस्थ अध्यापक से पढ़ना पाप मानते थे, इसलिए उसके लिए नए ज्ञान प्राप्ति के द्वार अवरुद्ध लगे। कुछ समय बाद संस्कृत भाषा के एक ब्राह्मण पंडित से मिलना हुआ। उसने इनके उच्चारण की अशुद्धियां बतलाई और व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता पर जोर दिया तो किसनसिंह के मन में ज्ञान की जिज्ञासा और भी तीव्र बनी। अगले साल महाराष्ट्र के चातुर्मास के समय किसनसिंह ने मराठी भाषा सीखी और तुकाराम तथा ज्ञानदेव के अभंग कंठस्थ किये। यहां इसका परिचय एक ऐसे साधु से हुआ जो श्वेतांबर मंदिरमार्गी संप्रदाय को छोड़कर स्थानकवासी बना था। उसने बतलाया कि उस सम्प्रदाय में बड़े बड़े विद्वान हैं तथा ब्राह्मण पंडित उन्हें व्याकरण काव्य, अलंकार, पिंगल आदि पढ़ाते हैं, तो उनका झुकाव भी उस संप्रदाय की ओर हुआ, पर वे देखते थे कि मंडली से भागने की चेष्टा करने वाले साधु-साध्वियों को किस तरह मारा-पीटा जाता था और उस मंडली से निकल भागना कितना कठिन था, पर अब वे अधिकाधिक उद्विग्न होने लगे और वहां से चुपचाप किसी दिन रात को निकल भागने की सोचने लगे।

इस साधु मंडली में से निकल भागने की कहानी अब आप उन्हीं की जबानी सुनिए :—

"ज्यों ज्यों मेरा अनुभव बढता गया और कुछ ज्ञान भी बढ़ता गया त्यों त्यों मेरे मन में उस जीवन-चर्या के संबंध में अनेक संकल्प विकल्प उठने लगे। मेरा मन उस चर्या में स्थिर नहीं होने लगा। अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न विचारों का अध्ययन, मनन करता हुआ मैं कई प्रकार के व्यक्तियों के सम्पर्क में भी आता रहा। परिणाम में उस सम्प्रदाय से निकल जाने की मेरी भावना बलवती बनी और एक दिन मैंने संवत् १९५९ के आश्विन शुक्ला १३ के उस दिगठान गांव के बाहर की बगीची में हजारों लोगों के सम्मुख बड़े उत्सव के साथ जो साधु भेष मैंने पहना था उसको एक अंधेरी रात में गुपचुप उज्जैन के पास बहने वाली क्षिप्रा नदी में बहा दिया और मैंने फिर बदनावर के उस जैन मंदिर में रहते समय जैसा वेश धारण कर लिया अर्थात् एक फटी हुई धोती और शरीर ढकने के लिए एक मामूली पुरानी चादर के सिवाय कोई चीज उस समय मेरे पास नहीं थी। मैं उसके दूसरे दिन उज्जैन से नागदा जाने वाली रेल की पटरी पर चलने लगा। कहां जाना चाहिए इसका कोई लक्ष्य नहीं बना और मन में यह भय हो रहा था कि पिछली रात को गुपचुप मैं उज्जैन के जिस धर्म स्थान से निकल पड़ा उस स्थान वाले लोग मेरी खोज करने के लिए इधर उधर दौड़ते हुए मेरे पीछे न आ जावें और मुझे जबर्दस्ती डरा धमकाकर वापस अपने स्थान में ले जाकर बंद न कर दें इसलिए मैंने दो चार मील रेल की सड़क पर चलने के बाद खेतों का रास्ता पकड़ा। बारिश के दिन थे, इसलिए बीच बीच में खूब वर्षा हो जाती थी। मेरे पास सिवाय एक पुरानी लट्ठे की चद्दर के और कोई वस्त्र नहीं था नीचे पहनने के लिए वैसी ही एक मामूली धोती थी। वैसी हालत में मैं जब जब पानी की मूसलाधार वर्षा आ जाती थी तो किसी एक दरख्त के सहारे बैठ जाता था। वर्षा कम होने पर फिर चल देता था। नजदीक में कहां पर कोई गांव है या नहीं इसका मुझे कोई पता नहीं था। न कोई उस बारिश की सघन झाड़ी में व्यक्ति ही दिखाई देता था। भूख अलग लग रही थी और ठंडी वर्षा के कारण शरीर भी

उस रात के व्यतीत होने पर सवेरे ही उस दयालु किसान को अपना हार्दिक धन्यवाद देता हुआ वहाँ से आगे के लिए चल पड़ा।"

किसनसिंह जैसे तैसे घूमता-फिरता अहमदाबाद पहुंचा। वहां १०-१५ दिन भटकते रहने के बावजूद कोई मार्ग नहीं मिला। एक दिन रात को जब यह एक दुकान के सामने सो रहा था तो चोर होने के संदेह में पुलिस पकड़ कर ले गई। पूछताछ करने पर उसे छोड़ दिया गया। कोई सहारा न देखकर किसनसिंह एक होटल में चार आने रोज की मजदूरी पर प्याले-रकाबी धोने का काम करने लगा, ताकि पेट की चिंता से मुक्त होकर लिखने-पढ़ने की ओर कुछ ध्यान दे सके। खाली समय में किसनसिंह जैन उपासरों का चक्कर लगाता और तलाश करता कि कहां पढ़ाई की अच्छी व्यवस्था है। वहां से पता चला कि पालनपुर में कोई अच्छा केन्द्र है। किसनसिंह अहमदाबाद छोड़कर पालनपुर चला गया, पर वहां भी निराशा ही हाथ लगी। किसी साधु ने वहां बतलाया कि पाली में ऐसा उपासरा है जहां पंडितगण पढ़ाते हैं। किसनसिंह वहां जा पहुंचा और मुनि सुन्दर विजय के पास रहने लगा। मुनि स्वयं तो खास पढ़े-लिखे नहीं थे, पर उन्होंने किसन सिंह की पढ़ाई की समुचित व्यवस्था करवा दी। यहां मार्गशीर्ष शुक्ला ७, १९६६ के दिन पाली के पास भाखरी पर बने जैन मंदिर में उन्होंने इस बार जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय की साधु-दीक्षा स्वीकार की, मुनि वेष धारण किया और इस बार सम्प्रदाय के व्यवहार के अनुसार उनका नाम जिनविजय रखा गया और उस दिन से वे इस नाम से संबोधित होने लगे।

दीक्षा के कुछ समय बाद मुनिजी ब्यावर गये जहां उनकी भेंट आचार्य विजयवल्लभ सूरि से हुई जो अपने शिष्यों के साथ गुजरात जा रहे थे। उनके साथ २-३ पंडित भी थे। अपनी अदम्य ज्ञान-पिपासा के कारण मुनिजी इनके साथ हो लिये। फिर पालनपुर होकर बड़ौदा आये। इस समय तक उनका अध्ययन काफी विस्तृत हो गया था और इतिहास तथा शोध संबंधी रुचि भी परिपक्व होती जा रही थी। "टाड राजस्थान" के पढ़ने से राजस्थान तथा मेवाड़ के अतीत की ओर भी उनका आकर्षण बढ़ा। पाटन में हस्तलिखित ग्रन्थों, तथा ताड़पत्र पर लिखे प्राचीन ग्रन्थों का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया। मेवाड़ के प्रसिद्ध जैन तीर्थ श्रीऋषभदेव केसरयाजी की यात्रा भी इन्होंने की। इसके बाद मेहसाना में चातुर्मास किया। इन्हीं दिनों मुनिजी का परिचय आचार्य श्री कांतिविजय, उनके शिष्य श्री चतुरविजय तथा प्रशिष्य श्री पुण्य विजय से हुआ। ये सब इनकी प्रेरणा तथा सक्रिय सहयोग के स्रोत रहे हैं। मुनिजी ने आचार्यवर के स्मारक रूप में श्री कांतिविजय जैन इतिहास माला का प्रारम्भ किया। इसमें अनेक महत्वपूर्ण ग्रंथों का प्रकाशन हुआ और विद्वानों के द्वारा इनका अच्छा अभिनन्दन हुआ।

मुनिजी १९०८ से ही 'सरस्वती' पढ़ने लगे थे। गुजराती में लेख भी दीक्षा के पश्चात् लिखने लगे थे जो साप्ताहिक 'गुजराती' 'जैन हितैषी' तथा दैनिक 'मुंबई समाचार' में छपते थे। मुनिजी ने प्रसिद्ध जैन वैयाकरण शाकटायन के पाटन भंडार में प्राप्त अन्य ग्रंथों के संबंध में एक लेख सरस्वती में छपने भेजा। इस पर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पाटन के जैन भण्डारों के संबंध में विस्तृत जानकारी मांगी, जो लेख के रूप में सरस्वती में छपी। इन लेखों तथा अपने संपादित ग्रंथों के कारण मुनिजी न केवल गुजराती साहित्याकाश में बल्कि हिन्दी जगत में भी चमकने लगे।

बड़ौदा-निवास के समय में ही मुनिजी का वहां नवस्थापित गायकवाड़ ओरिएन्टल सिरीज के मुख्य कार्यकर्ता श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल से परिचय हुआ जो समानशील और समव्यसन के कारण प्रगाढ़ मैत्री में बदल गया तथा परिणामस्वरूप कुमारपाल प्रतिबोध नामक बृहत्काय प्राकृत ग्रन्थ मुनिजी द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हुआ।

इसी समय पूना में भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मंदिर की स्थापना हुई। इस संस्थान के संस्थापकों का एक शिष्ट मंडल बम्बई के जैन समाज से मिलने आया। मुनिजी इस समय बम्बई में ही चातुर्मास कर रहे थे। मंडल का परिचय इन से भी हुआ और उसने मुनिजी को पूना आने का निमन्त्रण दिया। चातुर्मास के पश्चात् मुनिजी पदयात्रा करते हुए पूना पहुंचे। इस संस्थान को देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और स्वयं भी उसके विकास में यथाशक्ति योग देने का निश्चय करके वहीं रह गए। यहीं उन्होंने जैन साहित्य संशोधक समिति की स्थापना की और जैन साहित्य संशोधक नामक त्रैमासिक खोज पत्रिका और ग्रन्थमाला का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया।

मुनिजी का पूना-निवास उनके जीवन में नया मोड़ देने वाला साबित हुआ। १९१६–१७ से वे पूना में रहने लगे थे। उनके निवास का स्थान लोकमान्य तिलक के निवास के निकट ही था। इतिहास, प्राचीन संस्कृति तथा शोध में लोकमान्य की रुचि और ज्ञान भी अगाध था, अतः दोनों में शीघ्र ही परिचय हो गया और मुनिजी लोकमान्य की देश की स्वाधीनता के लिए तड़प तथा उनके राजनैतिक विचारों से अत्यन्त प्रभावित हो गए। कुछ क्रांतिकारी विचारों के युवकों के संसर्ग में भी वे आये। राजस्थान के प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्री अर्जुनलाल सेठी से भी उनका वहीं परिचय तथा मैत्री हुई। उनकी विचार धारा भी उसी ओर बहने लगी।

मुनिजी के हृदय में फिर अंतर्द्वन्द्व खड़ा हो गया। जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक साधुचर्या भी उन्हें खलने लगी। देश की पराधीनता की परिस्थिति में निष्क्रिय से तथा बाह्य त्यागी जीवन से उन्हें अरुचि हो गई और वे पुनः कोई नया मार्ग खोजने लगे। १९१९ में वे पूना में ही सर्वेंट्स ऑफ इण्डिया सोसाइटी के भवन में महात्मा गांधी से मिल चुके थे और उनके साथ विचार विनिमय करके उनके आश्रम में प्रविष्ट होने का विचार भी बना था, पर अंत में जब असहयोग आंदोलन उन्होंने प्रारम्भ किया और अंग्रेजी शिक्षा के बहिष्कार के साथ तथा उसके स्थान पर राष्ट्रीय शिक्षा के विचार को मूर्त रूप देने के लिए अहमदाबाद में राष्ट्रीय विद्यापीठ स्थापित करने की योजना बनने लगी तब गांधीजी ने मुनिजी को याद किया।

को ध्यान में रखते हुए मैंने तुरंत ही बम्बई जाने का निश्चय कर लिया। यह दिन भी आश्विन शुक्ला त्रयोदशी का था। जिस बोडिंग हाउस में मैं रहता था उसमें कई कालेज के विद्यार्थी भी रहते थे जो फर्गुसन कॉलेज और एग्रीकलचर कॉलिज आदि में पढ़ रहे थे। वे विद्यार्थी मेरे सब भक्त थे। मैंनें उनमें से एक विश्वस्त विद्यार्थी को अपने पास बुलाया और कहा कि मुझे आज किसी विशेष कार्य निमित्त रेलगाड़ी में बैठकर जाना है सो तुम मुझे स्टेशन पर लेजाकर टिकट लेकर गाड़ी में बिठा दो और यह बात किसी से कहना मत। बोडिंग हाउस के जिस कमरे में मैं रहता था उसमें मेरी पुस्तकें वगैरह का बहुत कुछ सामान था। उसके ताला लगाकर उसकी चाबी मैंने उस विद्यार्थी को दे दी और मैं केवल अपने पहने हुए साधुवेश वाले कपड़ों के साथ स्टेशन पर चला गया। विद्यार्थी ने मुझे टिकट लाकर गाड़ी में बिठा दिया और उस आश्विन शुक्ला त्रयोदसी के दिन तीन बजे की गाड़ी में बैठकर बंबई के लिए रवाना हो गया। पिछले ९ वर्षों तक पाद भ्रमण करते रहने के बाद 'केवल एक दफे प्राणघातक बीमारी के प्रसंग को छोड़कर यह मेरी प्रथम रेल यात्रा थी। इस यात्रा के साथ ही मेरी जीवन यात्रा ने भी और नया मोड़ लिया जो मेरे जीवन के सिंहावलोकन की दृष्टि से अधिक महत्व की बनी। गाड़ी में बैठने के साथ ही मेरे मन में कई प्रकार की तरंगे उछलने लगीं। उस समय १९५९ वाला वह आश्विन शुक्ला त्रयादेशी का स्मरण हुआ जिस दिन मैंने साधु जीवन की चर्या के पथपर चलना प्रारम्भ किया था और आज का यह आश्विन शुक्ला त्रयादशी का दिन अब किसी और ही प्रकार के जीवन पथ पर ले जाने की सूचना दे रहा है। बंबई आने तक रास्ते में मुझे अनेक प्रकार के विचारों का ऊहापोह होता रहा। महात्माजी के पास जाकर क्या बातचीत होगी और अहमदाबाद में स्थापित होने वाले राष्ट्रीय विद्यापीठ में मेरा क्या उपयोग हो सकेगा इत्यादि बातें मैं सोचता रहा। शाम को ७ बजे गाड़ी जब बोरी बंदर स्टेशन पर पहुँची तो मैं गाड़ी मे से उतरकर घोड़ा गाड़ी कर गिरगांव में चंदावाड़ी नामक स्थान में जा उतरा। उस बाड़ी में मेरे अत्यंत घनिष्ट मित्र श्री नाथूरामजी प्रेमी रहते थे। प्रेमीजी का संबंध मेरे साथ बहुत वर्षों से था। वे बारंबार पूना में मेरे साथ आकर रहा करते थे और साहित्य विषयक अनेक कामों में योग देते रहते थे। उनको मेरी भावना और विचार की अच्छी कल्पना थी और आगामी स्थापित होने वाले गुजरात के राष्ट्रीय विद्यापीठ आदि के विषय में भी वे सब बातों से सुपरिचित थे। मुझे उसका संदेश पहुँचाने की भी सब खबर देने वाले स्व. सेठ श्री जमनालालजी बजाज उस समय बंबई ही में थे और उन्हीं के द्वारा मुझे महात्माजी से मिलने का सदेश मिला था और उन्होंने प्रेमीजी से भी इस बात का जिक्र कर रक्खा था अतः मेरा वहां पहुँचना उनके लिए कोई आश्चर्यजनक न था। दूसरे दिन सवेरे प्रेमीजी के साथ मैं महात्माजी जिस मणि भवन में ठहरे हुए थे उनसे मिला। महात्माजी ने प्रसन्न भाव से मुझे पूछा कि कब आ गए? मैंने सक्षेप में सारी बात कही, तो उन्होंने कहा यहां मैंने आपको संदेश भिजवाया था और अहमदाबाद में आपके सब साथी गुजरात विद्यापीठ में आपको सहयोग लेना चाहते हैं इसलिए उनके साथ मिलकर विद्यापीठ की सारी योजना बनानी है. अतः मैंने आपको बुलाया है। आज रात को ही यहां से अहमदाबाद चलना है सो आप भी मेरे साथ चलो। सेठ जमनालालजी बजाज भी उस समय वहां बैठे थे। महात्माजी ने उनसे कहा कि इनकी टिकट वगैरह का इन्तजाम कर दिया जाय क्योंकि महात्माजी जानते थे कि मैं अपने पास कोई रुपया-पैसा नही रखता तथा रेलगाड़ी में बैठने का भी यह पहला ही प्रसंग है। सेठजी ने मेरे लिए एक II Class का टिकट ले दिया और मैं चंदावाड़ी से प्रेमीजी के साथ कोलाबा स्टेशन पर पहुँच गया जहां से उन दिनों गुजरात मेल अहमदाबाद के लिए चलता था। गाड़ी में मेरी सीट II Class के उस कम्पार्टमेन्ट के बगल में थी

जिसमें महात्माजी की सीट रिजर्व थी। महात्माजी के साथ उस समय कौन थे इसका मुझे ठीक स्मरण नहीं है। मैं तो गाड़ी में जाकर बैठ गया और प्रेमीजी तथा एक अन्य मेरे वैसे ही आत्मीय स्वजन भी वहां पहुंचा गए थे। महात्माजी ठीक गाड़ी चलने के पहले ५ मिनट वहां पहुंचे—सेठजी जमनालालजी वगैरह उनके साथ थे। जैसे ही महात्माजी अपने बैठने के डिब्बे के पास पहुँचे तुरंत उन्होंने जमनालालजी से पूछा कि जिन विजय जी आगए या नहीं और मालूम होने पर कि मैं पहुंच गया हूं तुरंत वे मेरी सीट के सामने आए और पूछा कि क्यों ठीक आ गए हो ना, बैठने करने की पूरी सुविधा है न ? मैंने नम्रता के साथ कहा कि आपकी कृपा से सब कुछ ठीक है और फिर बोले कल सुबह तो अपने को आनंद स्टेशन पर उतरना है क्योंकि वहां से शरद पूर्णिमा के निमित्त डाकोर में बड़ा मेला लगता है वहां पर सभा रक्खी गई है अतः वहां जाना आवश्यक होगा। वहां से फिर अहमदाबाद जावेंगे। इतने ही में गाड़ी के इंजन ने सीटी दे दी और महात्माजी अपने कम्पार्टमेन्ट में जाकर बैठ गए. मैं शायद जिन्दगी में पहली बार रेल के II Class में बैठा। सारी रात मुझे अपने मनोमन्थन में डूबे रहने का आनंद आता रहा, इसलिए मैने नींद को अपने पास नहीं आने दिया।

सवेरे गाड़ी आनंद स्टेशन पर पहुँची। वहां पर कई लोग अहमदाबाद से भी आये हुऐ थे उनमें स्व. C. F. Andrews भी शामिल थे। हम लोग स्टेशन के पास कोई छात्रालय या विद्यालय था वहां पर ठहराये गए। महात्माजी ने श्री Andrews को मेरा परिचय कराया क्योंकि उस समय मेरा वेष जैन साधु का था जो उपस्थित अन्य लोगों में विलक्षण सा लग रहा था। महात्माजी ने श्री Andrews से कहा कि यह एक जैन साधु हैं और पूना में शिक्षा और साहित्य विषयक बहुत कुछ काम कर रहे हैं। अहमदाबाद में जो हम राष्ट्रीय विद्यापीठ की स्थापना करने जा रहे हैं उसमें इनकी सेवा की आवश्यकता है इत्यादि। उसके दो-तीन घंटे बाद सब लोग डाकोर गए जहां पर सभा हुई और महात्माजी ने अपने असहकार विषयक कार्यक्रम की योजना लोगों के सामने रक्खी। सरदार वल्लभ भाई पटेल भी वहां उपस्थित थे। दूसरे दिन सवेरे की गाड़ी से अहमदाबाद पहुंचे। महात्माजी ने मुझे अपने साथ ही मोटर में बिठाया और साबरमती आश्रम में ले गए वहां पर स्व. सेठ पून्जाभाई हीराचंद उपस्थित थे जो गुजरात प्रांतीय कांग्रेस समिति के कोषाध्यक्ष थे। वे सुप्रसिद्ध तत्वज्ञ श्रीमद् राजचंद्र के अनुयायियों में से एक प्रमुख व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीमद राजचंद्र के नाम से कोई ज्ञान प्रसारक संस्था की स्थापना के लिए महात्माजी को ५०,००० का दान दे रखा था। महात्माजी ने उनको कहा कि जिन विजयजी जैन साहित्य और तत्वज्ञान के विद्वान हैं, पूना में साहित्य और शिक्षा विषयक अच्छी प्रवृत्ति करते रहते हैं, वहां के विद्वानों में इनका अच्छा आदर है, ये आप यहां स्थापित होने वाले राष्ट्रीय विद्यापीठ में अपनी सेवा देना चाहते हैं और इसलिए मैंने इनको यहां बुलाया है। श्री किशोरलाल भाई, नरहरिभाई आदि से इनको मिलाना है जिनके साथ बैठकर विद्यापीठ की योजना का विचार किया जायगा। पून्जाभाई को खासकर के कहा कि इन्होंने मुझे श्रीमद् राजचंद्र के कोई स्मारक निमित्त जो ५०,०००रु. दे रक्खे हैं उनका उपयोग कैसे किया जाय उस विषय में भी इनसे तुम विचार विनिमय करो। महात्माजी ने मेरा आसन अपने ही बैठने के कमरे में लगवाया और तुरंत कस्तूरबा से कहा कि ये जिनविजयजी गरम पानी पीते हैं और 'कंदमूल' आदि नहीं खाते हैं क्योंकि, मैं तब तक जैन साधु की जीवन चर्या का ही यथावत् पालन कर रहा था, अतः इस बात को ध्यान में रखकर महात्माजी ने कस्तूरबा को उक्त प्रकार की सूचना दी। मैं वहां महात्माजी के साथ ४-५ दिन ठहरा और जब जब भी समय मिलता था उनसे अनेक प्रकार की बातें होती रहती थी। गुजरात विद्यापीठ की योजना के विषय में मेरी श्री किशोरलाल भाई तथा नरहरिभाई

एवं मेरे अन्य विद्वान मित्र श्री इन्दुलाल याज्ञिक, रामनारायण पाठक, रसिकलाल पारीख आदि से भी यथेष्ट विचार विनिमय और चर्चा-वार्ता हुई। परिणामस्वरूप गुजरात विद्यापीठ में अपनी सेवा समर्पित करने का मैंने निश्चय किया और फिर मैंने महात्माजी से अपनी बातें यथायोग्य निवेदन कीं। मैंने महात्माजी से निवेदन किया कि मुझे अपने जीवनक्रम में आपात परिवर्तन करना अपेक्षित है—मैं अपनी भावना के अनुकूल ही अपना वेष तथा जीवन व्यवहार रखना चाहता हूँ। वर्तमान में जो आचार-व्यवहार है वह मेरे मानसिक मंथन के अनुरूप तथा अनुकूल नहीं है इसलिए मैं अब इस वेष का भी त्याग करना चाहूँगा और अपने आहार-विहार आदि बातों में भी परिवर्तन करना होगा। मैं एक साधु के रूप में अपने आपको प्रसिद्ध नहीं होने देना चाहता, परंतु मैं देश का एक सामान्य सेवक बनना चाहता हूँ और इसके लिए मुझे विद्यापीठ में संयुक्त होने के पहले एक जाहिर वक्तव्य द्वारा अपने मनोभाव स्पष्ट करने होंगे और यह सब मैं अब यहां से वापस पूना जाकर वहीं अपने स्थान में बैठकर तय करूंगा और फिर मैं विद्यापीठ की स्थापना के समय यहां उपस्थित होऊंगा—महात्माजी ने मेरे सब विचार बड़ी सहानुभूति के साथ सुने और कहा कि ऐसा करना तुम्हारे लिए उपयुक्त ही है।

महात्माजी से विदा होकर मैं कठियावाड़ में वढवाण के पास एक छोटे से लींमली नामक गांव में गया वहां पर मेरे अनन्य सुहृद् एवं चिरसाथी पं० सुखलाल जी कुछ बीमारी के कारण टिके हुए थे उनकी तबीयत के समाचार पूछने तथा अहमदाबाद के राष्ट्रीय विद्यापीठ में संयुक्त होने तथा महात्माजी से हुए विचार विमर्श के बारे में सारी बातें करनी थी इसलिए मैं लींमली पहुँचा।"

अहमदाबाद से चलकर मुनिजी काठियावाड़ में वढवाण के निकट लींमली नामक स्थान में गये जहां उनके अनन्य सुहृद तथा चिरसाथी प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलाल बीमारी के कारण ठहरे हुए थे। वहां उन्होंने महात्मा गांधी के साथ हुई सारी बातचीत की चर्चा की और विचार-विमर्श करके अपना अगला कार्यक्रम निश्चित किया। तदनुसार जब गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई, तब उसके अन्तर्गत प्राचीन साहित्य और इतिहास के अध्ययन एवं संशोधन के लिए गुजरात पुरातत्त्व मंदिर का भी निर्माण किया गया और मुनिजी राष्ट्र की सेवा के व्रती बने और मुनि-वेश तथा जीवन-चर्या में आवश्यक परिवर्तन करके उन्होंने राष्ट्र सेवक के रूप में उक्त मंदिर के नियामक का पद स्वीकार कर लिया। यहां भी मुनिजी ने पुरातत्व मंदिर ग्रन्थावली की स्थापना की जिसके अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ।

लगभग ८ वर्ष तक मुनिजी विद्यापीठ में रहे। इस समय गुजरात विद्यापीठ की पुनर्रचना होने लगी और हरेक कार्यकर्ता के लिए एक प्रतिज्ञापत्र भरना लाजमी हुआ जिसमें एक मान्यता यह भी थी कि केवल अहिंसा से ही भारत को स्वराज्य प्राप्त हो सकता है। मुनिजी तो प्रारंभ से ही बंधनों के प्रति विद्रोही रहे थे, अतः उन्होंने विद्यापीठ की सेवाओं से मुक्त होने का निश्चय किया। सुयोग यह भी बना कि कुछ ही समय पूर्व जर्मनी में भारतीय विद्या के कुछ मान्य विद्वान, जिनमें हाइनरिच ल्यूडर्स, ओल्डरिग ल्जिनोव आदि शामिल थे, भारत-भ्रमण के लिए आये थे और उन्हें कुछ महत्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों पर विचार-विनिमय तथा संपादन की दृष्टि से जर्मनी आने का निमंत्रण दे गये थे। इसे स्वीकार कर मुनिजी गांधीजी की सम्मति से १९२८ में जर्मनी चले गये और वहां लगभग डेढ वर्ष रहे। जर्मनी में मुनिजी ने बौन, हाम्बर्ग, और लाइपत्सिग विश्वविद्यालयों के प्राच्य-विद्या के विद्वानों से गंभीर विचार-विमर्श किये और घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। बर्लिन में मुनिजी ने

भारत-जर्मन मित्रता बढ़ाने और दृढ़ करने की दृष्टि से एक राष्ट्रीय भावना-युक्त मुस्लिम मित्र की सहायता से हिन्दुस्तान हाउस के नाम से एक संस्थान की स्थापना की ।

मुनिजी को लगा कि जर्मनी में गांधीजी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा भारत के बारे में जानने की तीव्र जिज्ञासा है, इसकी पूर्ति के लिए विचार-विनिमय का एक केन्द्र आवश्यक है । दूसरी बात यह अनुभव में आई कि जर्मनी में भारतीय काफी संख्या में रहते हैं तथा आते-जाते हैं, इनके आपस में मिलने और ठहरने का भी कोई स्थान नहीं है । तीसरी बात यह कि इस सारे विचार-विनिमय और संपर्क में भोजनालय का महत्वपूर्ण स्थान है जिसमें निरामिष भोजन की भी व्यवस्था हो । इन तीनों कमियों की पूर्ति की दृष्टि से २४ अगस्त १९२८ को इस हाउस का उद्घाटन श्री शिवप्रसाद गुप्त के हाथों हुआ । हिन्दुस्थान हाउस बर्लिन में भारत-जर्मन संपर्क और सुविधा का उत्तम केन्द्र बना और मुनिजी के भारत आ जाने के बाद भी भारत के अनेक गण्य-मान्य नेता, विद्यार्थी, व्यापारी आदि उससे लाभान्वित होते रहे । पिछले महायुद्ध के अवसर पर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस भी कुछ समय वहाँ रहे थे ।

मुनिजी १९२९ के दिसम्बर मास में जर्मनी से वापिस लौटे और लाहौर के कांग्रेस अधिवेशन में शामिल हुये । लाहौर-कांग्रेस के द्वारा पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया । मुनिजी गांधी जी से मिले और उन्होंने पुनः जर्मनी जाने का अपना इरादा प्रकट किया तो महात्मा जी ने कहा—अब हमें देश में ही तुम्हारे जैसे लोगों की अत्यंत आवश्यकता है । मैं तुम्हें विदेश जाने की कैसे सलाह दे सकता हूँ ? फलतः मुनिजी का जर्मनी जाने का विचार समाप्त हो गया ।

कलकत्ते के प्रमुख जैन साहित्यानुरागी श्री बहादुर सिंह सिंघी के निमंत्रण पर मुनिजी १९३० में कलकत्ते गये और वहाँ से वे शांति निकेतन गये और अपने चिर-परिचित मित्र श्री क्षिति मोहन से वहीं मिले । गुरुदेव उस समय बाहर गये हुये थे । शांति निकेतन को देखकर मुनिजी का हृदय हर्षित हुआ और यह भाव उठा कि इस तपोवन में ४-६ महीने रहकर जीवन में समृद्धि एवं मूल्यवान् स्मृतियों की वृद्धि प्राप्त करनी चाहिये । शांति निकेतन से लौटने पर श्री सिंघी ने उनसे कहा कि वे अपने पूज्य पिता की स्मृति में ज्ञान-प्रसार एवं साहित्य-प्रकाशन का कोई सुधार-कार्य करने की सोच रहे हैं । विशद चर्चा और विचार-विनिमय के पश्चात् शांति निकेतन में सिंघी जैन ज्ञानपीठ की स्थापना की योजना बनी और मुनिजी ने अपनी सेवाएं इस कार्य के लिए अर्पित करना स्वीकार किया ।

इसी बीच १२ मार्च को गांधी जी ने नमक सत्याग्रह के लिए 'दांडी कूंच' का प्रारंभ कर दिया । इससे स्वाभाविक रूप से ही गुजरात में बड़ी हलचल मची । धरासना का सरकारी नमक डिपो सत्याग्रहियों के कार्य का मुख्य क्षेत्र बना । मुनिजी भी ७५ स्वयं सेवकों की बड़ी टोली के साथ धरासना के लिए अहमदाबाद से रवाना हुए, पर गाड़ी रवाना होने के १५–२० मिनट बाद ही एक छोटे स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये और वक्तव्य लेकर तुरंत ही उन्हें ६ मास के सपरिश्रम कारावास की सजा दे दी गई । उन्हें 'ए' क्लास दिया गया । उसी रात वे लोग बम्बई में 'वरली चाल' की काम-चलाऊ जेल में लाये गये और कुछ दिन वहाँ रखकर उन्हें नासिक जेल में भेज दिया गया । वहाँ श्री जमनालाल बजाज, श्री नरीमान, डा० चोकसी, श्री रणछोड़ भाई सेठ, श्री मुकुंद मालवीय आदि भी साथ में थे ।

नासिक जेल में ही मुनिजी का परिचय श्री कन्हैयालाल माणिक्य लाल मुंशी से हुआ जो धीरे २ उन्मुक्त सौहार्द में विकसित होता गया । सं० १९८६ की विजया दशमी को वे जेल से छूटे । श्री जमना लाल

बजाज तथा श्री मुंशी ने उन्हें पुनः साहित्य-सेवा की प्रेरणा दी और कलकत्ते से श्री बहादुर सिंह सिंघी का भी बराबर आग्रह बना रहा। परिणामस्वरूप १९३० के दिसम्बर मास में वे अपने कुछ सहकारियों और विद्यार्थियों के साथ शांति निकेतन चले गये और वहाँ सिंघी जैन ज्ञान पीठ तथा सिंघी जैन ग्रन्थ माला का प्रारम्भ हो गया। ग्रन्थमाला का पहला ग्रन्थ प्रबन्ध चिंतामणि उसी समय प्रकाशित हुआ। शांति निकेतन में एक जैन छात्रावास भी मुनिजी ने प्रारंभ कर दिया। इन सब का व्ययभार श्री बहादुर सिंह सिंघी ही उठाते थे। मुनिजी शांति निकेतन में लगभग तीन वर्ष रहे। बंगाल का जलवायु उनके अनुकुल नहीं रहा और वे अस्वस्थ रहने लगे, इस लिए उनका विचार अपना कार्य केन्द्र शांति निकेतन के बजाय अहमदाबाद या बम्बई में रखने का बनने लगा।

उन्हीं दिनों उदयपुर में श्री केसरियाजी तीर्थ के संबंध में जैनों के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर संप्रदायों में विवाद, चर्चा और मुकद्दमें बाजी हुई। इस सिलसिले में पुराने शिलालेखों, ग्रन्थों आदि को पढ़कर प्रमाण तैयार करने की जिम्मेदारी मुनिजी पर आई। इसी दौरान श्री मोतीलाल सीतलवाड और श्री कन्हैया लाल मुंशी जैसे धुरंधर वकील उदयपुर आये। श्री मुंशी ने भारतीय विद्या भवन की स्थापना की बात मुनिजी के सामने रखी और सहयोग देने को कहा।

उदयपुर से लौटते समय मुनिजी तथा श्री बहादुर सिंह सिंघी दोनों चित्तौड़गढ़ गये। वहां से अजमेर की ओर आते समय सूर्योदय के लगभग रूपाहेली स्टेशन के पास से गुजरे तो मुनिजी अपनी जन्मभूमि को देखकर बड़े विह्वल हो गये। मालूम नहीं चित्तौड़गढ़ और रूपाहेली के संबंध में क्या भावना उठी जो बाद में पल्लवित हुई। बामन वाड़ में वे मुनि शांति विजय जी से मिले और वहाँ से अहमदाबाद चले गये।

श्री मुंशी का अनुरोध तीव्रतर होता गया और मुनिजी को अपने परम मित्र पं० सुखलाल के अपेन्डीसाइटिस के आपरेशन के सिलसिले में बम्बई रहना पड़ा। फलतः उन्होंने भारतीय विद्या भवन के कार्य में सहयोग देना तय किया। सिंघी जैन ग्रन्थ माला के कार्य को भी भवन के कार्य के साथ मिला दिया और दोनों काम साथ चलने लगे।

इसी बीच १९४२ का 'भारत छोड़ो आंदोलन' प्रारंभ हुआ और भवन के बहुत से विद्यार्थी इस आंदोलन में शरीक होने चले गये। मुनिजी का मन भी बहुत उत्तेजित और व्याकुल होने लगा। वे स्थान-परिवर्तन करके अहमदाबाद आ गये, पर यहाँ तो आंदोलन और भी तीव्र था। मुनिजी इसी अन्तर्द्वन्द्व में फंसे थे कि उन्हें जैसलमेर से आचार्य श्री जिनहरि सागर का निमंत्रण वहां के ज्ञान भण्डारों को देखने और उन्हें व्यवस्थित करने का निमंत्रण मिला। मुनिजी ने जैसलमेर जाने की तैयारी की और ३० नवम्बर १९४२ को वे अहमदाबाद से जैसलमेर को रवाना हो गये। जैसलमेर में वे लगभग ५ महीने ठहरे। वहां उन्होंने लगभग २०० ग्रन्थों की प्रतिलिपियां करवाई और १ मई १९४३ को वे वापिस अहमदाबाद चले गये और वहां से बम्बई जाकर अपने काम में लग गये।

१९४७ में मुनिजी श्री मुंशी के साथ उदयपुर के महाराणा की इच्छानुसार प्रताप विश्वविद्यालय की योजना बनाने और उसे कार्य रूप में परिणत करने के प्रयास में संलग्न हुये पर वह योजना देश की स्वतंत्रता की घोषणा और देशी राज्यों के विलीनीकरण के साथ ही भविष्य के गर्भ में विलीन हो गई।

और मुनिजी फिर पूर्ववत् भारतीय विद्या भवन के निर्देशक रूप में ग्रन्थों के संपादन-प्रकाशन और विद्यार्थियों को डॉक्टरेट के अध्ययन में मार्गदर्शन करते रहे।

मुनिजी के मन में देश और समाज की कठिनाइयों और समस्याओं के संबंध में सदा चिंतन चलता ही रहता था। आजादी के बाद खाद्य समस्या जैसे-जैसे गंभीर रूप पकड़ती गई, वैसे २ मुनिजी का ध्यान भी कृषि, अन्न उत्पादन, शरीरश्रम और स्वावलंबन की ओर अधिकाधिक होता गया और उनके मन में किसी गांव में जाकर बैठ जाने और कम से कम अपने उपयोग का अन्न स्वयं उत्पन्न करने की भावना तीव्र होती गई। इसके लिए उन्होंने अनेक गांव देखे। अंत में चित्तौड़ के पास चंदेरिया गांव उन्हें पसंद आया, क्योंकि चित्तौड़गढ़ के समीप रहने की हार्दिक इच्छा थी। वे माता की सेवा तो नहीं कर सके थे, पर मातृभूमि की सेवा अवश्य कर सकते थे। उनके मन में राणा प्रताप, भक्त मीरां और आचार्य हरिभद्र सूरि की भूमि के प्रति बड़ा आकर्षण था अतः उन्होंने उस गांव में पुठौली के ठाकुर से कुछ भूमि प्राप्त कर २८ अप्रेल १९५० के दिन वहाँ सर्वोदय साधना आश्रम की स्थापना कर दी।

इधर राजस्थान के एकीकरण के पश्चात् जब प्रथम लोकप्रिय मंत्रि मंडल ने शासन की बागडोर संभाली तो राजस्थान की उन्नति और समृद्धि की अनेक योजनाओं का जन्म हुआ। उन्हीं में एक योजना राजस्थान के प्राचीन हस्तलिखित साहित्य के संग्रह, संरक्षण और प्रकाशन की भी थी। मुनिजी के परामर्श से राजस्थान पुरातत्व मंदिर की योजना ने साकार स्वरूप ग्रहण किया और १३ मई १९५० के दिन इस संस्थान की स्थापना हुई और मुनिजी को इसका सम्मान्य संचालक नियुक्त किया गया। इस प्रकार अब मुनिजी की शक्ति दो कामों में लगी। एक भूमि साफ करना, खेती करना और आवास के स्थान बनाना और दूसरा पुरातत्व भंडार के काम को जमाना और बढ़ाना। मुनिजी पूरे मनोयोग से इन दोनों कार्यों में जुट गये। १९५२ में मुनि जिनविजय जर्मनी की विश्वविख्यात ओरिएन्टल सोसाइटी (Deutsche Morgenlundische Cesellschaft) द्वारा उसके सम्माननीय सदस्य चुने गये। अत्यन्त अल्प संख्या के भारतीयों को यह सम्मान प्राप्त हुआ है। मुनिजी को यह सम्मान भारतीय विद्या की शोध को प्रोत्साहन देने में जो महान् कार्य गत वर्षों में उन्होंने किया उसकी सराहना और मान्यता के रूप में प्राप्त हुआ। मुनिजी ने उक्त सोसाइटी को तत्सम्बन्धी पत्र के उत्तर में लिखा—'मैं स्वयं को सम्मान के योग्य नहीं मानता। मेरा विश्वास है कि यह प्रतिष्ठा मुझे न व्यक्तिगत नाते मिली है न भारतीय होने के नाते, अपितु ज्ञान की भारत-जर्मन सहकारिता के सदस्य होने के नाते ही प्राप्त हुई है।'

१९६१ में मुनिजी को भारत सरकार द्वारा पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किया गया। सारे देश में, खास कर गुजरात और राजस्थान में तथा जैन समाज में, इस सम्मान पर विशेष संतोष और प्रशंसा प्रगट की गई। मुनिजी ने भारतीय विद्या और पुरातत्व की सामान्यतः और राजस्थान के पुरातत्व तथा जैन विद्या की प्राचीन सामग्री के अध्ययन, शोध और प्रकाशन का जो विशाल, मौलिक और ऐतिहासिक कार्य किया है वह सर्वदा ही सम्मान और अनुकरण के योग्य है।

राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के कार्य का प्रारम्भ जयपुर के संस्कृत कालेज में हुआ था जहां बड़ी संख्या में पुरातत्व तथा इतिहास से सम्बन्धित हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थों का संग्रह किया गया तथा प्रकाशन-कार्य

भी बड़े पैमाने पर चालू हुआ। मुनिजी के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप इस कार्य को स्थायित्व देने की दृष्टि से राजस्थान सरकार द्वारा जोधपुर में एक नवीन भवन का निर्माण किया गया। उसका उद्घाटन राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया द्वारा १९५८ में हुआ। यह संस्थान आज राजस्थान में ही नहीं सारे देश में भारतीय विद्या और पुरातत्व सम्बन्धी हस्तलिखित तथा मुद्रित ग्रन्थों का विशिष्ट केन्द्र माना जाता है और इसके प्रकाशनों को इस क्षेत्र में विशिष्ट प्रतिष्ठा तथा आदर प्राप्त है। इनमें से प्रत्येक पर मुनिजी के ज्ञान तथा अध्ययन, शोध और परिश्रम की छाप है। मुनिजी १९६७ में इस संस्थान के सम्मान्य संचालक के उत्तरदायित्व से मुक्त हुए।

मुनिजी ने जिस सर्वोदय साधना आश्रम की स्थापना १९५० में की थी उसे सन्त विनोबा की राजस्थान की पदयात्रा के अवसर पर चन्देरिया आने पर अर्पित कर दिया। वह आश्रम अब एक पंजीकृत समिति द्वारा चलाया जा रहा है। मुनिजी ने आश्रम के सामने की जमीन पर अपना अलग निवासस्थान बना लिया है। वहां वे अब रहते हैं। वहीं मुनिजी ने सर्व-देवायतन के नाम से एक मन्दिर बनाया है जिसमें वैदिक, जैन तथा बौद्ध सभी देवी-देवताओं की स्थापना की है। यह मन्दिर मुनिजी की धार्मिक दृष्टि की विशदता और सर्व-धर्म-समभावना का बहुत सुन्दर और व्यावहारिक प्रतीक है।

मुनिजी की अवस्था अब लगभग ८३ वर्ष की है। उनका स्वास्थ्य काफी कमजोर हो गया है, आंखों की दृष्टि भी मन्द पड़ गई है। पर अब भी भारतीय पुरातत्व, जैन दर्शन और राजस्थान तथा चित्तौड़ के प्राचीन गौरव के प्रति उनकी आस्था और अध्ययन की ओर रुचि कम नहीं हुई है। ज्ञान और कर्म को जोड़ने की जिस दृष्टि ने उन्हें राजस्थान पुरातत्व मन्दिर के साथ सर्वोदय साधना आश्रम स्थापित करने, चलाने और बढ़ाने को प्रेरित किया था वह आज भी कायम है। विद्वानों के साथ ज्ञान-चर्चा वे जितने उत्साह और गहराई से करते हैं उतनी ही रुचि वे कृषि और बागबानी में भी लेते हैं।

मुनिजी का चित्तौड़ के प्रति बहुत गहरा आकर्षण है और उसका विशेष कारण चित्तौड़ के त्याग-बलिदान की अत्यन्त गौरवपूर्ण गाथा तो है ही, साथ ही उसके ज्ञान के प्राचीन केन्द्र होने के कारण भी उन्हें यह प्रिय है। यहीं के महान् जैन विद्वान् और आचार्य हरिभद्र सूरि के जीवन और रचनाओं के प्रति मुनिजी की आस्था बड़ी गहरी है। उनके ग्रन्थों तथा जीवन के सम्बन्ध में मुनिजी ने बहुत खोज की है तथा उनके विशाल, उदार तथा व्यापक दृष्टिकोण के वे बड़े प्रशंसक हैं। मुनिजी ने चित्तौड़ के दुर्ग के सामने ही जमीन प्राप्त करके हरिभद्र सूरि स्मारक मन्दिर की स्थापना की है जो चित्तौड़ का दर्शनीय स्थान बन गया है। वहीं उन्होंने भामाशाह की स्मृति में एक भामाशाह भारती-भवन का निर्माण किया है।

मुनिजी ने अपने जीवन-काल में अनेकों संस्थानों की स्थापना की है, पर अब स्वयं अपने आप में एक संस्था हैं जो विद्वानों और कार्यकर्ताओं दोनों को प्रेरणा के अखंड स्रोत हैं। मुनिजी चिरायु हों।

राजस्थान को मुनिजी की देन

उस दिन राजस्थान सचिवालय में बहुत से आदमियों ने कहा, 'आज तो चक्रवर्ती राजगोपालाचारी पधारे हैं'; दूसरों ने कहा, 'नहीं, यह महोदय तो कोई और ही हैं, परन्तु आकृति राजाजी से बहुत मिलती है।' वास्तव में, मुनि जिन विजय जी को देखकर यह चर्चा हो रही थी। उनकी पार्श्व-झलकी में ऐसा ही आभास होता है। स्वयं राजाजी ने भी भारतीय विद्याभवन, बम्बई के एक समारोह में खींचे गए फोटो पर लिख दिया है 'Who is Muniji and who is I'। विशिष्ट पुरुषों की आकृतियाँ भी विशिष्ट ही होती हैं।

मार्च, १९५० की शायद ८ वीं तारीख थी। उस दिन श्री मुनि जी राजस्थान के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री हीरालाल शास्त्री द्वारा गठित दस मण्डलों के अन्तर्गत 'संस्कृत-मण्डल' की बैठक में भाग लेने के लिए आए थे। बैठक मुख्यमंत्री के कक्ष में ही हुई थी और स्वयं शास्त्री जी इस मंडल के अध्यक्ष थे तथा उनके मुख्य निजी सचिव स्व० पं० श्यामसुन्दर शर्मा मंत्री थे। स्व० म० म० पं० गिरिधर शर्मा, स्व० पं० मथुरानाथ शास्त्री, स्व० विश्वेश्वरनाथ रेऊ, पं० शम्भुदत्त शर्मा, पं० मार्कण्डेय मिश्र, प्रो० कण्ठमणि शास्त्री आदि सदस्यरूप में उपस्थित थे; अन्य भी थे, जिनके नाम मुझे अब याद नहीं हैं; मुनि जी तो थे ही। सचिवालय में पं० श्यामसुन्दर शर्मा के सहायक के रूप में संस्कृत-मण्डल का काम मुझे करना पड़ता था अतः मैं भी उसमें शामिल हुआ था।

बैठक में संस्कृत-मण्डल की विभिन्न प्रवृत्तियों के विषय-निर्धारण के अतिरिक्त मुनिजी का प्रस्ताव बहुत जोरदार रहा। उन्होंने अपनी ओजभरी वाणी में कहा, 'और तो सभी बातें हो रही हैं और चलेंगी, परन्तु मैं आपका ध्यान एक विशेष बात पर दिलाना चाहता हूं। राजस्थान में बहुत बड़ी हस्तलिखित ग्रन्थ-सम्पदा है, जो दिनों-दिन नष्ट होती जा रही है और यदि इस ओर ध्यान न दिया गया तो कुछ दिनों में कुछ भी नहीं बचेगा और हम लोगों को एक महान् सांस्कृतिक खजाने से हाथ धोना पड़ेगा। अतः इसकी रक्षा के लिए समुचित उपाय होना चाहिए।' उनके वक्तव्य का यही आशय था। सदस्यों ने इस प्रस्ताव की हृदय से सराहना की और इस दिशा में ठोस कदम उठाने की आवश्यकता को अनुभव किया। उसी समय यह भी विचार हुआ कि जल्दी ही आगामी बैठक बुलाई जाय और उसमें श्री मुनि जी राजस्थान में ग्रन्थों के संग्रह, सुरक्षा और प्रकाशन सम्बन्धी कार्य करने के लिए अपनी योजना प्रस्तुत करें।

बैठक के बाद पं० श्यामसुन्दर शर्मा ने मुझे मुनि जी से मिलाया और कहा 'यह जयपुर महाराजा के पोथीखाने से आये हैं अतः ग्रन्थों के बारे में आपकी सहायता कर सकेंगे' बस, सब से पहले यही परिचय मुनि जी से हुआ था।

मंडल की दूसरी बैठक शायद २८/२९ मार्च, १९५० को हुई और मुनि जी ने 'राजस्थान पुरातत्व

मंदिर' की स्थापना का प्रस्ताव उसकी एक मोटी रूपरेखा के साथ प्रस्तुत किया, वह सभी को मान्य हुआ। शर्मा जी ने मुझे मुनि जी से मिला कर 'मन्दिर' के लिए बजट और कार्य-क्रम की रूपरेखा आदि तैयार करने का आदेश दिया और यहीं से मैं मुनि जी के सम्पर्क में आने लगा। मुनि जी ने जो रूपरेखा तैयार कराई तदनुसार बजट का ढाँचा बनाकर मैंने शर्मा जी को प्रस्तुत कर दिया और उन्होंने अपने विशेष प्रयास से 'संस्कृत-मण्डल' के अन्तर्गत 'पुरातत्व मन्दिर' की योजना व बजट स्वीकार करा लिया। 'मन्दिर' के संचालक पद पर पहले तो म० म० गिरिधर शर्मा जी को नियुक्त करने की बात सोची गई थी परन्तु वे उस समय काशी में ओरियण्टल स्टडीज् के डाइरैक्टर थे और काशीवास का लोभ छोड़ने को तैयार नहीं थे, इसलिए श्री मुनि जी से यह पद स्वीकार करने के लिए आग्रह किया गया। मुनि जी भी भारतीय विद्याभवन, बम्बई के सम्मान्य डाइरैक्टर थे और उनकी अन्यान्य सामाजिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियाँ चल रही थीं, इसलिए उन्होंने भी इस पद को यहाँ पर नियमित रूप में तो स्वीकार नहीं किया, परन्तु यथावकाश आते रहकर संस्था को जमाने व परामर्श देते रहने की बात मान ली। उस समय मुनि जी की अवस्था यद्यपि ६३–६४ वर्ष की थी और बम्बई, अहमदाबाद तथा चन्देरिया (चित्तौड़) से वहां की परिश्रमसाध्य प्रवृत्तियों मे भाग लेकर लम्बे-लम्बे प्रवास और यात्रा करने में जो श्रम और असुविधा होने वाली थी उसका उनको ध्यान था, परन्तु कार्य की गुरुता और परमावश्यकता को देखते हुए उन्होंने इस बोझ को अपने ऊपर ओढ़ ही लिया। वास्तव में, यह कार्य और किसी से हो भी नहीं सकता था और यदि किसी पर थोप भी दिया जाता तो वह सफलता न मिलती जो मुनि जी के द्वारा प्राप्त हुई है। और, अब देख ही रहे हैं कि मुनि जी की निवृत्ति के उपरान्त जो दशा हो रही है।

अस्तु, मुनि जी ने यह कार्यभार सम्मान्य (ऑनरेरी) संचालक के रूप में स्वीकार कर लिया और १३ मई, १९५० ई० को महाराजा संस्कृत कालिज भवन में एक उत्तराभिमुख कमरे में तत्कालीन प्रिंसीपल पं० पट्टाभिराम जी शास्त्री और पं० सूर्य नारायण जी वेदिया द्वारा अनुष्ठित पूजा सम्पन्न करके 'पुरातत्व मन्दिर' का शुभारम्भ कर दिया। मैं भी उस समय उपस्थित था। कोई विशेष समारोह नहीं किया गया, किसी मंत्री को आमन्त्रित नहीं किया गया और न कोई प्रचार-प्रसार ही किया गया। मुनि जी को दिखावा पसन्द नहीं है, ठोस काम करने में ही उनकी आस्था है।

बजट के अनुसार 'पुरातत्व मन्दिर' में दो सहायक, एक अंशकालीन लेखक और दो चपरासियों के ही पद स्वीकृत हुए थे। मुनि जी ने अपनी सुविधा और रौब-दाब सहित दफ्तर जमाने की परवाह न करके सब से पहले कुछ आवश्यक सन्दर्भ-ग्रन्थों और कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों को खरीदने तथा पाँच दुर्लभ्य अप्रकाशित ग्रन्थों को प्रकाशित करने की योजना प्रस्तुत की जो स्वीकार कर ली गई और इस प्रकार पुरातत्त्व मन्दिर का कार्यारम्भ अकेले मुनि जी ने ही कर दिया; सहायकों आदि की नियुक्तियाँ तो बाद में होती रहीं। उन्होंने अपने ही दम पर तो यह दयित्व संभाला था, वे जानते हैं—

'सतां सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'।

मई मास से काम चालू होकर आगे बढ़ा परन्तु दिसम्बर में शास्त्री-सरकार डगमगाने लगी और जनवरी, ५१ में वह अपदस्थ हो गई। नई अन्तरिम सरकार ने बैठते ही पिछले तन्त्र के किए को अनकिया करने का उपक्रम आरम्भ कर दिया और पहला कदम यह उठाया कि दसों विद्वास मण्डलों को समाप्त कर

दिया गया। संस्कृत-मण्डल का भाग्य भी इन सभी के साथ बंधा हुआ था और 'पुरातत्त्व मन्दिर' भी उसी में अटका हुआ था। परन्तु मुनि जी अपने संकल्प पर दृढ़ थे। उन्होंने और पं० श्यामसुन्दर शर्मा ने, जो शास्त्री जी के त्यागपत्र दे देने के बाद भी सरकार में चालू थे, प्रयत्न जारी रखे। अन्तरिम सरकार के गृह एवं शिक्षा मंत्री श्री भोलानाथ झा को 'पुरातत्त्व मन्दिर' के उद्देश्य और कार्यक्रम से अवगत कराया गया। वे 'मन्दिर' को देखने और मुनि जी से मिलने स्वयं 'संस्कृत कालेज भवन' में आए। उस दिन मुनि जी ज्वर-पीड़ित थे परन्तु फिर भी उन्होंने झा-महोदय को संक्षेप में सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट रूप से कह सुनाई। वे मुनि जी के व्यक्तित्व और वक्तव्य से बहुत प्रभावित हुए और उस समय से पहले साक्षात्कार न कर सकने का पश्चात्ताप प्रकट किया। श्री झा साहब ने सहृदयतापूर्वक 'मन्दिर' को राजकीय शोध-संस्थान विभाग के रूप में चालू रखने की स्वीकृति प्रदान कर दी और १ अप्रेल, १९५१ से यह एक सरकारी विभाग बन गया। श्री मुनि जी यथावत् इसके सम्मान्य संचालक रहे तथा मन्दिर का बजट, किञ्चित् काट-छांट के बाद, सरकारी बजट में सम्मिलित हो गया।

इसके बाद ही पुरातत्त्व मन्दिर का कार्य दिनों-दिन नियमित रूप से आगे बढ़ने लगा और सरकार का ध्यान भी उत्तरोत्तर इधर आकृष्ट हुआ। संस्कृत कालेज भवन के दो तीन कमरे अपर्याप्त सिद्ध हुए और मन्दिर का एक निजी भवन निर्माण कराने की बात भी स्वीकृत हुई।

मुनि जी की उपयोगिता और प्रभावशीलता उस समय और भी प्रबल रूप में सामने आई जब उनकी अध्यक्षता में गठित आबू समिति ने अपने प्रतिवेदन में तथ्यपूर्ण और अकाट्य भौगोलिक, ऐतिहासिक प्राचीन साहित्यिक सन्दर्भों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि आबू राजस्थान का ही अंग रहा है और है, न कि गुजरात का। इस पर प्रान्तीयता की संकुचित भावना से ग्रस्त मुनि जी के कुछ मित्रों ने नाक भौं सिकोड़ी परन्तु उन्होंने न्याय्य पथ को नहीं छोड़ा—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।

सरकार ने पुरातत्त्व मन्दिर के लिए भवन-निर्माण की योजना स्वीकार करली और १ अप्रेल, १९५५ ई० को जोधपुर में भारत के प्रथम राष्ट्रपति माननीय डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने उसका शिलान्यास किया। उस समय राष्ट्रपति महोदय ने कहा था 'देश में अन्यान्य वस्तुओं के उत्पादन और प्राप्त करने के काम में अनेक लोग लगे हुए हैं और उनके निमित्त बहुत-सा धन भी व्यय किया जा रहा है परन्तु हमारी पुरातन संस्कृति के अनुसन्धान और उद्धार के काम में मुनि जी जैसे कर्मठ, त्यागी और तपस्वी विरले ही लोग लगे हुए हैं; मेरा वश चले तो इस काम के लिए अधिक से अधिक धन देने की व्यवस्था करूँ।' स्व० राजेन्द्र बाबू के ये उद्गार इस बात के प्रमाण हैं कि मुनि जी के उदात्त चरित्र और सदुद्देश्य की प्रशंसा देश के सर्वोच्च स्तर पर की जाती रही है।

जोधपुर में भवन तैयार होने में तीन वर्ष से अधिक समय लगा। इस बीच में मन्दिर का ग्रन्थ-संग्रह, सन्दर्भ-पुस्तकालय और प्रकाशित ग्रन्थों का स्टाक काफी बढ़ गया था। अन्त में १४ दिसम्बर, १९५८ को राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने नए भवन का उद्घाटन किया और सम्पूर्ण संग्रह

के साथ मन्दिर का मुख्य कार्यालय जोधपुर स्थानान्तरित हो गया। यहां पर कार्य और भी अधिक उत्साह से चला और सरकार ही नहीं, अन्य कतिपय संग्रह-स्वामियों ने भी श्रीमुनिजी की प्रेरणा से बहुजनहिताय अपने बड़े बड़े संग्रह पुरातत्व मन्दिर (जिसका अब राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान नाम हो गया था) को भेंट कर दिये, इनमें विद्याभूषण पुरोहित हरिनारायण संग्रह, स्व. लक्ष्मीनाथ शास्त्री संग्रह, विश्वनाथ शारदानन्दन संग्रह, जयपुर में और मोतीचंद खजाञ्ची संग्रह, श्री पूज्यजी संग्रह, यति जतनलाल संग्रह, हिम्मतविजयजी संग्रह, बीकानेर में विशेष उल्लेखनीय हैं। सरकार ने भी अपने संग्रहालयों और पुस्तकालयों में रखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थ-संग्रहों को प्रतिष्ठान के ही आयत्त कर दिया। इस प्रकार प्रतिष्ठान ने बढ़ कर एक विभाग का रूप ले लिया और जयपुर, अलवर, टोंक, कोटा, उदयपुर, चित्तौड़ और बीकानेर में शाखा-कार्यालयों की स्थापना हुई। इन सभी संग्रहों के ग्रन्थों की संख्या ५५ हजार से ऊपर है जिनमें बीकानेर में ही २२ हजार ग्रन्थ हैं और मुख्य कार्यालय में प्रतिवर्ष की खरीद से जो संग्रह होता रहा वह भी ३५ हजार से ऊपर पहुंच गया था।

प्राचीनतम ग्रन्थों के संग्रह के लिए जैसलमेर के जैन-ग्रन्थ-भण्डार प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में आगमन से पूर्व मुनिजी ने वहां रह कर ग्रन्थों का निरीक्षण करके उद्धार-योजना बनाई थी। उस समय उनके साथ ८-१० साथी भी वहीं रहे थे। बाद में, मुनिजी के गुरुभाई मुनिवर्य पुण्यविजयजी ने यह कार्य अपने हाथ में ले लिया और वे अब भी वहां की सूचियों तथा ग्रन्थों के प्रकाशन-कार्य में संलग्न हैं। परन्तु राजस्थान की इतनी बड़ी शोध-संस्था प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान को इस महान कार्य में योगदान देने से मुनिजी अलग कैसे रख सकते थे? उनके प्रस्ताव पर, प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में ही सरकार ने प्रतिष्ठान के लिए समुचित धनराशि का प्रावधान किया और उससे जैसलमेर ग्रन्थ-भण्डारों में से प्रायः सभी महत्वपूर्ण ग्रन्थों की फोटोस्टाट कापियां तैयार करवा कर प्रतिष्ठान के संग्रह में सुरक्षित कर ली गईं तथा उनमें से अनेक का प्रकाशन भी किया गया। इतने बड़े दायित्वपूर्ण और दुरूह कार्य को सफलता से सम्पन्न करना मुनिजी का ही कार्य था। अब जैसलमेर जा कर ग्रन्थावलोकन की अ-सरल प्रणाली का सामना किए बिना ही अनुसन्धित्सु विद्वान् प्रतिष्ठान में बैठकर आसानी से अभीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन कर सकते हैं।

व्यवस्था और कार्यालयीय मुद्दों को वे तुरन्त समझ कर हाथों-हाथ निर्णय ले लेते थे और किसी प्रकार की उलझन पैदा नहीं होने देते थे। कभी किसी कर्मचारी अथवा सहयोगी से कोई भूल या प्रमाद बन जाता तो आत्मीय की तरह समझा-बुझा कर ही उसका समाधान कर देते थे—कभी किसी को दण्ड देने की बात सोचते भी न थे; उनके कार्यकाल में निलंबन, निष्कासन तो दूर रहा, किसी कर्मचारी को कठिन चेतावनी देने तक का अवसर नहीं आया।

मुनिजी अपना काम अपने हाथ से ही करते थे—जो कुछ लिखना होता स्वयं लिखते—डिक्टेशन देना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। आंखों से बहुत कम दिखाई देने लगा तो भी रात में तेज पावर के बल्ब लगाकर एकाकी पढ़ते ही रहते थे। मनन तो उनका चलता ही रहता था, जब लिखने पढ़ने के काम में जुटते तो रात दिन एक कर देते थे, परन्तु यह सब कुछ वे स्वयं ही करते थे, सहयोगियों को इससे कोई कष्ट या असुविधा नहीं होती थी। और, अब भी उनका यही हाल है; दृष्टि अत्यन्त क्षीण हो जाने पर भी कोई न कोई जुगत लगाकर जितना हो सकता है उतना पढ़ते ही रहते हैं; आने जाने वालों से साहित्यिक, शैक्षणिक और खोज सम्बन्धी बातें बडे उत्साह से करते हैं; उनकी वाणी में कोई शिथिलता नहीं आई है।

मैंने मुनिजी के सामने बहुत बड़े-बड़े आदमियों को प्रणत होते हुए देखा है, यहाँ तक कि भू० पू० भारत-राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी भी उनको बहुत आदर देते थे और अति विनम्रतापूर्वक सम्बोधित करते थे, परन्तु इससे मुनिजी में किसी प्रकार का हर्ष या अभिमान उत्पन्न नहीं हुआ—प्रतिष्ठान के कार्य के लिये वे सचिवालय के किसी भी सामान्य से लेखक के सामने जा खड़े होते और उसको बड़े सौजन्य और सद्भाव से कर्तव्य-बोध कराकर काम पूरा करा लेते थे। एक बार एक अधिकारी से भेंट करने गए—उन महोदय ने बार-बार सूचना देने पर भी दिन के बारह बजे से शाम के चार बजे तक मुनिजी को अन्दर बुलाया ही नहीं। इधर मुनिजी थे कि डटकर खड़े हो गए और उनके कमरे के बाहर अविचल होकर खड़े ही रहे, चार बजे तक टस से मस नहीं हुए और अन्त में अधिकारी महोदय से मिल कर ही आये। प्रतिष्ठान का कार्य था, कोई निजी प्रार्थना-पत्र लेकर नहीं खड़े थे। इसके विपरीत यह भी देखा कि मुनिजी कभी किसी मिनिस्टर से मिलने उसके दरवाजे पर नहीं जाते थे, जैसा कि प्रायः अन्य अधिकारी लोग करते हैं।

मुनिजी आडम्बर और थोथे दिखावे को कभी पसन्द नहीं करते। सराहनीय और महत्वपूर्ण कार्यों को लक्ष्य में लेकर भारत सरकार ने उनको पद्मश्री से अलंकृत किया। इसके लिए उन्हें दिल्ली जाना पड़ा। हम लोग भी साथ गये। वहाँ मुख्य समारोह के बाद कुछ प्रशंसकों और संस्थाओं ने सम्मान-समारोह करने की इच्छा प्रकट की परन्तु मुनिजी ने इसे अनावश्यक आडम्बर समझा और तुरन्त ही लौट आये।

इसी प्रकार जब राजस्थान साहित्य अकादमी ने तत्कालीन राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्दजी और शिक्षामंत्री हरिभाऊ जी उपाध्याय के साथ मुनिजी को 'मनीषी' पदवी से विभूषित किया तो मुख्य समारोह में डॉ० सम्पूर्णानन्दजी के दायीं ओर मुनिजी बैठे थे और बायीं ओर उपाध्यायजी। स्वागत भाषण का उत्तर देने जब मुनिजी खड़े हुए तो उन्होंने कहा 'मैं तो इस योग्य कदापि नहीं था, आप लोग यह हाथी की भूल ऊंट पर डाल रहे हैं।' सम्पूर्णानन्दजी और मुनिजी के शरीरों को देख कर पूरी सभा में हंसी के फव्वारे चल गए।

मुनिजी सामान्यतया जितने सरल और नम्र हैं, मौका पड़ने पर उतने ही दृढ़निश्चयी और हठ ठान कर बैठने वाले भी हैं। सन् १९६५ ई० में जब पाकिस्तान ने भारतीय क्षेत्रों पर गोला-बारी शुरू की तो उत्तर पश्चिमी सीमा पर जोधपुर पहला स्थान था जो उसकी चपेट में आता था। वहां १५-१६ दिन तक प्रायः नित्य ही गोले पड़ते रहे। मुनिजी उस समय प्रवास में थे परन्तु सूचना मिलते ही तुरन्त वहां आ धमके और वीर सेनानी की भांति मैदान में डट गए। प्रतिष्ठान के सभी कर्मचारियों का मनोबल बढ़ गया और हम सब के सब मुनिजी के साथ सुरक्षा कार्यवाही में भाग लेने लगे। कुछ लोग सुरक्षा दल में तो, कुछ नागरिक रक्षा टुकड़ियों में प्रशिक्षण प्राप्त करने लगे। मुनिजी और कुछ साथी प्रतिष्ठान के प्रांगण में ही रात दिन खाइयों में और पेड़ों तले बने रहते थे। परन्तु मुनिजी एक दिन भी खाई में नहीं बैठे। जब शत्रुओं का हवाई जहाज आता और anti-aircraft guns चलने लगतीं तो वे भवन से बाहर आकर मैदान मे खड़े हो जाते और इस तरह तमाशा देखने लगते जैसे कोई आतिशबाजी देख रहा हो। अन्य सभी लोग बैठते और उनसे भी निवेदन करते परन्तु वे कहते—'इन ग्रन्थों की रक्षा करते हुए इनके भवन के साथ स्वाहा हो जाने से अच्छा मरण और किस तरह हो सकता है ?'

अब से पहले राजस्थान के इतिहास के नाम से जो कुछ लिखा गया था वह अधिकतर वर्तमान एकीकृत राजस्थान की घटक रियासतों के राजाओं के विवरणों से ही भरा पड़ा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति और राजस्थान के एकीकरण के अनन्तर मुनिजी ने राजस्थान का एक ऐसा इतिहास लिखाने की कल्पना की जिसमें इस देश की भौगोलिक इकाई को लेकर यहां की संस्कृति, साहित्य, अर्थनीति और राजनीति का विशद् विश्लेषण हो। उन्होंने इस विषय में अपने मित्र स्व. नाथूरामजी खड़गावत (निदेशक, राजस्थान अभिलेखागार) से परामर्श करके उन्हीं के द्वारा इस प्रसंग को राजस्थान सरकार में चालू कराया। डॉ० मोहनसिंह मेहता, तत्कालीन उपकुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय के सभापतित्व में एक इतिहास-समिति गठित की गई और मुनिजी की अध्यक्षता में सम्पादक-मण्डल का गठन हुआ। तदनुसार डॉ० सत्यप्रकाश और दशरथ शर्मा द्वारा तैयार किया हुआ ग्रन्थ 'Rajasthan Through the Ages' राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर से प्रकाशित किया गया।

मुनिजी ने अपने कार्यकाल में राजस्थान के लिए जो कुछ किया है उसका मूल्याङ्कन करना कठिन है। सवाल यह है कि इतने से समय में क्या कोई इतना कर सकता था ? और यदि कोई करता भी, तो मुनिजी पर जो कुछ नाममात्र व्यय हुआ है इससे दस गुना व्यय करना पड़ता। फिर, मुनिजी ने तो जो कुछ उनको मिला उसे कई गुना करके वापस ही लौटा दिया है। चित्तौड़ में हरिभद्र सूरि स्मारक मन्दिर, भामाशाह भारती भवन और चन्देरिया मे सर्वोदय साधना आश्रम, सर्वदेवायतन तथा अपने जन्मस्थान रूपाहेली

में महात्मा गांधी स्मृति मन्दिर आदि इमारतें कई लाख रुपयों की लागत से मुनिजी ने निर्मित कराई हैं जिनका सार्वजनिक उपयोग हो रहा है।

वास्तव में राजस्थान के लिए मुनिजी ने बहुत किया है जिससे इसका नाम ऊंचा हुआ है; इनके कार्यों से किसान से लेकर आचार्य तक लाभान्वित हुआ है।

सन् १९६३ के आरम्भ में ही श्री मुनिजी बहुत बीमार हो गए थे। बात यह हुई कि अहमदाबाद से जोधपुर आते समय रेल की खिड़की का कांच उनके बाएं हाथ की तर्जनी पर आ गिरा और घाव बन गया। वह घाव बाद में सैप्टिक हो गया और मुनिजी बहुत कमजोर हो गए। जोधपुर और अहमदाबाद में दो तीन महीने इलाज के बाद घाव तो ठीक हो गया परन्तु कमजोरी बढ़ती ही गई। उस समय ही मुनिजी ने राजस्थान सरकार को एक पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि वे अब प्रतिष्ठान के कार्य से निवृत्त होना चाहते हैं। परन्तु सरकार के ध्यान में उस समय कोई विकल्प नहीं आया और मुनिजी के परामर्श से ही कुछ ऐसे प्रबन्ध कर दिए गए कि मुनिजी को श्रम कम करना पड़े और उनका मार्ग-दर्शन प्रतिष्ठान को निरन्तर मिलता रहे। कार्य चलता रहा और कोई विशेष अड़चन नहीं आई। सरकार को मुनिजी का स्थान लेने के लिए कोई उपयुक्त व्यक्ति नहीं मिल रहा था और न इस दिशा में सोचने की किसी को आवश्यकता ही अनुभव हो रही थी। परन्तु सन् १९६७ में राजस्थान सरकार ने राजकीय कर्मचारियों की सेवा-निवृत्ति की आयु-सीमा ५८ से घटाकर ५५ वर्ष की कर दी और सभी पञ्चपञ्चाशतोत्तरवर्षीयों को एक साथ सेवा-निवृत्त करने के अनिवार्य आदेश जारी कर दिए गए। इस आदेश की परिधि में मैं भी आ गया और १ जुलाई, १९६७ ई० से मेरी निवृत्ति का आदेश प्राप्त हो गया। उस समय मुनिजी ने तत्कालीन शिक्षा-सचिव स्व. विष्णुदत्तजी शर्मा के पास जा कर स्पष्ट कह दिया कि अब मैं प्रतिष्ठान का काम बिल्कुल नहीं करूंगा और मुझे भी निवृत्त कर दिया जाय। तदनुसार वे भी १ जुलाई, १९६७ ई० से ही प्रतिष्ठान के कार्य से निवृत्त हो गए। परन्तु अब भी चन्देरिया में रहते हुए वे कोई न कोई रचनात्मक कार्य करते रहते हैं; नये निर्माण कराते हैं, बालवाड़ियों को देखते हैं, खेतीबाड़ी को सम्हालते हैं और उनके तीर्थ-स्थान-कल्प आश्रम में आते रहने वाले दर्शनार्थियों से मिल कर विविध चर्चाएं करते रहते हैं।

राजस्थान में कहावत है कि नाम या तो 'भींतड़ों' से रहता है या 'गीतड़ों' से; अर्थात् नाम अमर करने के लिए या तो सुन्दर इमारतें बनवाये या फिर ऐसा यश उपार्जित करे कि गीतों में बखान हो या स्वयं काव्य-निर्माण करे। मुनिजी ने राजस्थान की कीर्ति को भींतड़ों और गीतड़ों, दोनों ही के द्वारा चिरस्थायी बनाने के कार्य किये हैं। चित्तौड़, चन्देरिया और रूपाहेली में जो इमारतें उन्होंने बनवायी हैं वे चिरकाल तक मुनिजी की यशोगाथा तो गाती ही रहेंगी, साथ ही महात्मा गांधी, हरिभद्र सूरि और भामासाह के नामों से सम्बद्ध होने के कारण राजस्थान के पूर्व गौरव को भी प्रतिदिन पुनरुज्जीवित करती रहेंगी। यही नहीं, इन इमारतों की रचना-कल्पना में जिस प्राचीन भारतीय स्थापत्य को आधार-भूमि बनाया गया है वह भी युग-युग के संशोधक के लिए अध्ययन की वस्तु बना रहेगा।

इसी प्रकार शोध कार्य में सतत् संलग्न रह कर मुनिजी ने जो अज्ञात एवं दुर्लभ्य विपुल साहित्यिक सामग्री सामने ला दी है वह भी संशोधक विद्वानों को कई पीढ़ियों तक शोध-ग्रन्थ लिखने में प्रेरणा और

पृष्ठभूमि उपलब्ध करानी रहेगी। विविध ग्रन्थमालाओं, सामयिक पत्रिकाओं और अभिनन्दन ग्रन्थों आदि में प्रकाशित मुनिजी के सम्पादित ग्रन्थों और लेखों की संख्या बहुत बड़ी है। कितनी ही ग्रन्थमालाओं के तो जन्मदाता ही स्वयं मुनिजी रहे हैं। 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' और 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' से विश्व के भारतीय-साहित्यिक-अनुसंधित्सु-जगत् में जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, वह बहुत बड़ी है। देश में और विदेशों में भारतीय-विद्या सम्बन्धी लिखे गये शोध-निबन्धों में शायद ही कोई ऐसा हो जिसमें मुनिजी अथवा उनके सम्पादित ग्रन्थों का उल्लेख न किया गया हो। इस माध्यम से राजस्थान प्रान्त को जो मान प्राप्त हुआ है वह किसी भी राजनीतिक अथवा अन्य उपलब्धि की तुलना में कम नहीं है।

अपने कार्यकाल में राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान से प्रकाशित 'राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला' में प्रकाशनार्थ मुनिजी ने शताधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अपने प्रधान सम्पादकत्व में तैयार कराये जिनमें से अनेक का सम्पादन देश के जाने-माने भारतीय-विद्या-विशारद विद्वत्तज्जनों ने किया है। प्रायः ८६ ग्रन्थ मुनिजी के सामने ही सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित हो चुके थे और शेष भी उस स्थिति में पहुँच चुके थे कि बाद में आने वालों को उन्हें यथावत् प्रस्तुत कर देने में न अधिक श्रम करना पड़ा और न अधिक समय ही लगा। इन ग्रन्थों पर मुनिजी द्वारा लिखे गये प्रधान सम्पादकीय और सम्पादकीय मार्मिक वक्तव्य तथ्योद्‌बोधक और स्थायी महत्त्व के हैं। यों तो सभी ग्रन्थों के सम्पादन में रीति-नीति-निर्धारण और मार्ग दर्शन मुनिजी का ही रहा है परन्तु इस ग्रन्थमाला के लिए जिन ग्रन्थों का सम्पादन स्वयं मुनिजी ने किया है उनकी सूची इस प्रकार है :—

१. त्रिपुराभारतीलघुस्तव (सं०), लघ्वाचार्य प्रणीत, सोमतिलक सूरि कृत एवं एक अज्ञात कर्तृक टीका सहित।
२. कर्णामृतप्रपा (सं०), सोमेश्वर भट्ट रचित।
३. बालशिक्षा व्याकरण (सं०), ठक्कुर संग्रामसिंह विरचित।
४. प्राकृतानन्द (सं० प्रा०) रघुनाथकविकृत प्राकृतव्याकरण।
५. उक्तिरत्नाकर (सं०) साधुसुन्दर गणि विरचित।
६. पदार्थरत्नमञ्जूषा (सं०), श्री कृष्णमिश्र प्रणीत।
७. हम्मीर-महाकाव्य (सं०), नयचन्द्र सूरि कृत।
८. शकुन-प्रदीप (सं०)
९. गोरा बादल चरित्र (रा०), कवि हेमरतन रचित।
१०. मधुमालती सचित्र कथा (रा०)
११. ए कैटलॉग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्क्रिप्ट्स (३ जिल्दों में)

मुनि जी के इन बहुविध कार्यकलापों से राजस्थान का जो उपकार हुआ है वह चिरस्मरणीय रहेगा।

दुर्गा महिषासुरमर्दिनी आदि देव-देवियों की संगमरमर की जयपुर के कारीगरों द्वारा निर्मित नयनाभिराम मूर्तियां स्थापित हैं। साथ ही वर्तमान युग के महापुरुष महात्मा गांधी तथा श्री जवाहर लाल नेहरू, स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधान मंत्री की मूर्तियां भी प्रतिष्ठित है।

सर्वदेवायतन मन्दिर में और क्या क्या प्रवृत्तियां आप रखना चाहते हैं ?—हमारे इस प्रश्न पर वे गंभीर हो गये और भाव-विभोर होकर एक गुजराती भजन की कड़ी लहजे के साथ दोहराने लगे—

> टूट्यो म्हारा तंबूरानु ं तार
> अधूरो रह्यू ंरे भजन भगवाननु ं।

इसके बाद उन्होंने यह भी बताया कि वे अपने जीवन का सिंहावलोकन गद्यपद्य रचना में कर रहे हैं। उसकी भी कई कड़ियां आपने सुनाई—और यह भी बताया कि, अपने विद्वान मित्रों के आये हुये पत्रों को छांटकर के मैंने अजमेर के श्री जीतमलजी लूणियां को प्रकाशनार्थ दे दिये हैं।

बस के लौटने का समय हो चुका था इसलिए हम लोगों ने उनसे विदा ली। वे आश्रम के दरवाजे तक पहुँचाने आये। अवस्था के कारण उनका शरीर दुर्बल और दृष्टि क्षीण हो चुकी है किन्तु उनकी वाणी में वही ओज भरा हुआ है।

श्री मुनिजी महाराज कृतकर्मा हैं और उनका समस्त जीवन सरस्वतीजी की अखण्ड साधना में लगा रहा है। इस अवस्था में भी हमने उनको कार्यनिरत पाया। वास्तव में वे देवकल्प हैं।

———

द्वितीय खण्ड
प्रशस्ति

आचार्य जिनविजयजी

गुजरात पुरातत्व मंदिरना भूतपूर्व अचार्य श्रीमान जिनविजयजी आचार्य तरीकेना जीवनमां सीधी रीते परिचयमां आवनार के अेमनी साहित्य कृतिओ द्वारा परिचयमां आवनार बधा मोटे भागे तेमने गुजराती तरीके ओलखे छे अने जाणे छे। अने तेथी हरेक अेम मानवा ललचाय के गुजरातनी व्यापार जन्य साहस वृत्तिए ज अेमने दरिया पार मोकल्या हशे, पण खरी बिना जुदी ज छे। तेवी ज रीते, तेमनीसाथे सीधा परिचय बिनाना माणसो, मात्र तेमनां नाम उपरथी तेमने जैन अने तेमां पण जैन साधु माने अने तेथीज कदाच तेमने वैश्य तरीके ओलखवा पण प्रेराय, परन्तु ते बाबतमां पण बिना जुदी छे।

आचार्य जिनविजयजीना जीवनमां आ विदेश यात्राना प्रसंगथी तद्दन नवु प्रकरण शरु थाय छे अने तेथी आ प्रसगे तेमना अत्यार सुधीना जीवननो अने तेनाँ मुख्य प्रेरक बलोनो परिचय आपवो उचित गणाशे।

तेमनु जन्मस्थान गुजरात नहि पण मेवाड छे। तेओ जन्मे वैश्य नहि पण क्षत्रिय रजपूत छे। परदेशमां जनारा घणाखराओ पाछा आवी अहीं इष्ट कारकीर्दि शरू करवा जाय छे। आ जिनविजयजीनु तेम नथी। तेमणे इष्ट दिशानी एटले प्राचीन संशोधननी कारकीर्दि अहीं क्यारनी शरू करी दीधी छे। पोतानी शोधो, लेखो, निबंधों द्वारा आ देश मां अने परदेशमां तेओ मशहूर थई गया छे अने हवे, तेमने पोताना अभ्यासमां जे कांई बधारो करवों आवश्यक जणायो ते करवा तेओ परदेश गया छे।

तेमनी जन्म अजमेरथी केटलेक दूर रूपाहेली नामना एक नाना गामडामां थयेलो। ते गाममां एकसो वरसथी वधारे ऊमरनां जैन यति रहेतां। तेमना उपर तेमनां पितानी प्रबल भक्ति हती, कारण के अे जैन यतिश्री वैद्यक ज्योतिष आदिना परिपक्व अनुभवनो उपयोग मात्र निष्काम भावे जनसेवामां करता। जिनविजयजीनु मूलनाम किसनसिंह हतुं। किसनसिंह ना पगनी रेखा जोईने अे यतिअे तेमना पिता पासेना तेमनी मागणी करो। भक्त पिताअे विद्याभ्यास माटे अने वृद्ध गुरुनी सेवा माटे ८-१० वरसना किसनने यतिनी परिचर्यानां मूक्या। जीवनना छेल्ला दिवसोमां यतिश्रीने कोई बीजा गाममां जई रहेवु पड्यु। किसन साथे हतो। यतिजीनां जीवन अवसान पछी किसन अेक रीते निराधार स्थितिमां आवी पड्यो। मां बाप दूर अने यतिनाशिष्य परिवारमां जे संभालनार ते तद्दन मूर्ख अने आचारभ्रष्ट। किसन रातदिवस खेतरमां रहें, काम करे अने छनां तेने पेट पूरु अने प्रेमपूर्वक खावानु न मले अे बालक उपर आं आफतनु पहलु बादलु आव्यु अने तेमांथीज विकासनु बीज-नंखायु। किसन बीजा एक मारवाड़ी जैनस्थानकवासी साधुनी नोबतमां आव्यो। अनी वृत्ति प्रथमथी ज जिज्ञासा प्रधान हती। नवु नवु जोवु, पूछवु अने जाणवु अे तेनो सहज स्वभावहतो। अेज स्वभावे तेने स्थानकवासी साधु पासे रहेवा प्रेर्यो। जेम दरेक साधु पासेथी आशा राखी शकाय तेम ते जैन साधुअे पण अे बालक किसनने साधु बनाव्यो। हवे अे स्थानकवासी साधु तरीकेना जीवनमां किसननो अभ्यास शरू थाय छे।

अेमणे केटलांक खास जैन धर्म-पुस्तको थोड़ा समयमां कंठस्थ करी लीधां अने जाणी लीवां; परन्तु जिज्ञासाना वेगना प्रमाणमां त्यां अभ्यासनीं सगवड न मली । अने प्रकृति स्वांतंत्र्य न सहन करी शके अेवा निरर्थक रूढिबंधन खटक्यां । तेथीज केटलांक वर्ष बाद घणाज मानसिक मंथन ने अंते छेवटे अे सम्प्रदाय छोड़ी ज्यां वधारे अभ्यासनी सगवड होय तेवा कोइ पण स्थान मां जवानो बलवान संकल्प कर्यो ।

उज्जयिनीनां खडरोमां फरतां फरतां संध्याकाले सिप्राने किनारे तेणे स्थानकवासी साधुवेष छोड्यो । अने अनेक आशंकाओ तेम ज भयना सखत दाबमां रातोरात ज पगपाला चाल नीकल्या । मोढे सतत बांधेल मुंमतीने लीधे पडेल सफेद डाघाने कोइ न ओलखे माटे भूंसी नाखवा तेमणे अनेक प्रयत्नों कर्या । पाछलथी कोइ ओलखी पकडी न पाडे माटे अेक बे दिवसमां घणा गाउ कापी नाख्या । अे दोड़मां राते अेकवार पाणी भरेला कूवामा तेओ अचानक पडी गयेला ।

रतलाम अने तेनी आजुबाजुनां परिचित गामो मां थी पोतानी जातने बचावी लई क्यांक अभ्यास योग्य स्थान अने सगवड शोधी लेवाना उद्वेगमां तेमणे खावा पीवानीं पण परवा न राखी । पण पुरुषार्थीने वधुं अचानक ज सांपडे छे । कोई गामडमा श्रावको पजुसणमां कल्पसूत्र वंचाववा कोई यति के साधुनी शोध मां हता । दरमियान किसनजी पहोंच्या । कोईमां नहि जोयेलुं अेवुं त्वरित वाचन अे गामडियाओअे अेमनामां जोयुं अने त्यांज तेमने रोकी लीधा । पजुसण बाद थोड़ी दक्षिणा बहु सत्कार पूर्वक आपी । कपडा अने पैसा विनाना किसनजी ने मुसाफरीनु भातुं मल्युं अने तेमणे अमदावाद जवानी टिकिट लीधी । अेमणे सांभलेलुं के गुजरातमाँ अमदावाद मोटुं शहेर छे अने त्यां मूर्तिपूजक सम्प्रदाय मोटो छे । अे संप्रदायमां विद्वानो बहु छे अने विद्या मेलववानी वधी सगवड छे। आ लालचे भाई अमदावाद आव्या, पण पुरुषार्थनी परीक्षा अेक ज आफते पूरी थती नथी । अमदावादनो प्रसिद्ध विद्याशाला आदिमाँ क्यांय घडो थयो नहिं । पैसा खूट्यां । अेक बाजु व्यवहारनी माहिती नहि अने बीजी बाजु जातने जाहेर न करवानी वृत्ति अने त्रीजी बाजु उत्कट जिज्ञासा, अे वधी खेंचताणमां अेमने बहु ज सहेवु पड्युं । अंते भटकतां मारवाडमां पाली गाम मा अेक सुंदरविजयजी नामना संवेगी साधुनो भेट थयो । जेओ अत्यारे पण वृद्धावस्थामां विचरे छे, अने अत्यार सुधीनां वधां परिवर्तनोमां सरल भावे अेम कहेता रहे छे के ते जे करशे ते ठीक ज हशे । अेमनी पासे तेमनी संवेगी दीक्षा लीधी अने जिनविजयजी थया । अेमना गुरु तरीकेनो आश्रय तेमणे विद्वाननी दृष्टिअे नहि पण तेमणे आश्रयथी विद्या मेलववामां वधारे सगवड मलशे अे दृष्टिअे लीधेलो । आ बीजुं परिवर्तन पण अभ्यासनी भूमिका उपर ज थयुं । थोड़ा बखत बाद मात्र अभ्यासनीं विशेष सगवड मेलववा माटे जिनविजयजी अेक बीजा जैन सुप्रसिद्ध साधुना सहवासमां गया । परन्तु विद्वता अने गुरुपदना मोटा पट्ट उपर बेठेल सांप्रदायिक गुरुओमांथी बहुज ओछाने अे खबर होय छे के शयुं पात्र केवुं छे अने तेनी जिज्ञासा न पोषवाथी के पोषवाथी शुं शुं परिणाम आवे ? जो के अे सहवासथी तेमने जोवांजाणवानुं विस्तृत क्षेत्र तो मल्युं पण जिज्ञासानी खरी भूख भांगी नहि । वली अे उद्वेगे तेमने बीजाना सहवास माटे ललचाव्या अने प्रसिद्ध जैन साधु प्रवर्तक कांतिविजयजीना सहवासमां तेओ रह्या । त्यां तेमने प्रमाणमां घणीज सगवड मली अने तेमनी स्वतः सिद्धि अैतिहासिक दृष्टिने पोषे अने तृप्त करे अेवां घणांज सहायना साधनो मल्यां । गमे त्यां अने गमे तेवा प्रतिकूल के अनुकूल सहवासमां तेओ रहेता छतां पोतानी जन्मसिद्ध मितभाषित्व अने अेकान्त प्रियतानी प्रकृति प्रमाणे, अभ्यास वाचन अने लेखन चालु ज राख्या ।

पूनाना विद्यामय वातावरणे आकर्पी । तेओ पूज्य वृद्धसाधुओनो साथ छोड़ी दुःखित मने अेकला पड्या, अने पगे चालता पूना पहोंच्या । अहीं भंडार अने विद्वानोना इष्टतम परिचयथी तेमने खूब गोठी गयुं । त्यानी प्राकृतिक रमणीयता, सादुं जीवन अने विद्यार्थी तथा विद्वानोनी बहुलताओ तेमने पूनाना स्थायी निवास मांटे ललचाव्या । भारत जैन विद्यालयनी चालु संस्थाने तेमणे स्थायी रूप आपवा प्रयत्न कर्यो, अने बीजी बाजु भांडारकर इन्स्टीट्यूटमांनो लिखित जैन पुस्तक संग्रह जोइ काढ्यो: आमांथी तेमनी शोधक बुद्धिने पुष्कल सामग्री मली ।

अत्यार सुधी तेओ मने के कमने दृढ जैनत्वना आश्रय तले विद्याव्यासंग पोषी रह्या हता, ते जैनत्व हवे पूनाना राष्ट्रीय वातावरणमां, अने देश व्यापी हीलचालनां वावाझोडामां ओसरवा मांड्युं । असहकारनां मंडाणना दिवसो आव्या, अने तेमनी वधु विशाल कार्यक्षेत्र शोधवानी वृत्ति ने जोइतु नवुं कार्यक्षेत्र मली आव्युं । आ अेमनो त्रीजो मंथनकाल । अने ते सौथी वधारे महत्वनो । कारण, आ वखते कांइ नानी उंमरमां जैन साधुवेष फेंकी दीधो लेवी स्थिति न हती । अत्यारे तेओ जैन अने जैनेतर विद्वांनोमां अेक प्रसिद्ध लेखक तरीके जाणीता थया हता । जैन साधु तरीकेनुं जीवन समाप्त करवुं अने नवुं जीवन शुरू करवुं, ते केम अने केवी रीते तथा शा माटे अे विकट प्रश्नोअे घणा दिवस तेमने उजागरो कराव्यो ।

उजागरानां आ कारणोमां अेक विशेष कारण हतुं जे नोंधवा योग्य छे । पिता तो पहेलां गुजरी गयेला तेनी तेमने खबर हती । पण माता जीवित तेथी तेमनुं दर्शन करवुं अे इच्छा प्रबल थइ हती । अेकवार तेओअे मने कहेलुं के हुं माने कदी जोइ शकीश के नहि ! अने जाउं तो माताजी ओलखशे के नहि ? शुं मारे माटे अे जन्मस्थान तद्दन पुनर्जन्म जेवुं थइ गयुं नथी ? स्वप्ननी वस्तुओ जेवी पण जन्मस्थाननी वस्तुओं मने आजे स्पष्ट नथी' । माताने मलवा ट्रेनमां बेसवानुं जे पगलुं भरी शक्यां नहि ते पगलुं राष्ट्रीयता मोजाना वेगमा भर्युं । जैन साधुजीवननां बंधनो छोड़ी देवानो पोतानो निश्चय तेमणे वर्तमान पत्रोमां प्रसिद्ध कर्यो अने गुजरात विद्यापीठनी स्थापनां साथे पुरातत्व मन्दिरनी योजनाने अंगे तेमने अमदावाद बोलाव्या त्यारे ते ओ रेलवे ट्रेनथी गया अने त्यार थी तेमणे रेलवे विहार शरू कर्यो छे । महात्माजीअे अने विद्यापीठना कार्यकर्ताओअे तेमनी पुरातत्व मंदिरमां नीमणूक करी अने तेमना जीवननो नवो युग शरु थयो । जैन साधु मटी तेओ पुरातत्त्व मंदिरना आचार्य थया ।

मंदिर शरु करवाना काममां तेअे माताजीने मलवा तरत तो न जाइ शक्या, पण अेकाद वर्ष पछी गया त्यारे माताजी विदेह थयेलां । जिनविजयजी आ आघातथी रडी पड्या । जिनविजयजी अे संसार पराङ्मुख संन्यासनां आटलां वरस गाल्यां छे पण तेमनामां मानवताना सर्व कुमला भावो छे । तेमने अनुयायीओ करतां सहृदय मित्रो वधारे छे तेनु आ कारण छे ।

लगभग आठ वर्षना पुरातत्व मंदिरना कार्यकाल दरमियान तेओनी भावना अने विचारणामां तेमना क्रांतिकारी स्वभाव प्रमाणे मोटुं परिवर्तन थयुं ।

तेमना परिचितो ज जाणे छे। तेमनो प्रिय विषय प्राचीन गुजरातनो इतिहास अने भाषा ए छे। तेने अंगे तेमणे जे जे ग्रन्थो छपाववा शरु कर्या तेमां तेमने जर्मन भाषाना ज्ञाननी ऊणप बहु ज सालवा लागी अने संयोग मलतां एज तेमने वृत्तिए तेमने जर्मनी जवा प्रोत्साहित कर्या। तेमना उत्साहने तेमना आत्मज्ञ विद्याप्रिय मित्रोए वधावी लीधो। एक बाजु मित्रो तरफथी प्रोत्साहन मल्युं अने बीजी बाजु खुद महात्माजीए एमनी विदेश गमननी वृत्तिने सप्रेम सींची। दरमियान जर्मन विद्वानो अहीं आवी गया। तेमनी साथे निकट परिचय थइ गयो। बीजी बाजु तेमनी ऐतिहासिक गवेषणाथी संतुष्ट थयेल प्रो० याकोबीए तेमने पत्र द्वारा जर्मनी आववा आकर्ष्या अने लख्युं के तमे जल्दी आवो। तमारी साथे मली हुं अपभ्रंश भाषामां अमुक काम करवा इच्छुं छुं।

आ रीते आंतरिक जिज्ञासा अने साहसनी भूमिका उपर बहारनुं अनुकूल वातावरण रचायु अने परिणामे जैन साधुवेषनां रह्यां सह्यां चिन्होनुं विसर्जन करी तेमणे अभ्यास माटे युरोपयोग्य नवीन दीक्षा लीधी।

वाचक जोइ शकशे के आ बधां परिवर्तनोनी पाछल तेमनो ध्रुव सिद्धान्त विद्याभ्यास ए ज रह्यो छे। जैन तत्त्व ज्ञान मां कह्युं छे, के प्रत्येक वस्तुमां ध्रुवत्व साथे उत्पाद अने नाश सकलायेल छे। आपणे आ सिद्धान्त आचार्य जिनविजयजीना जीवनने अंगे बरोबर लागु पडेलो जोइ शकीए छीए। छेक नानी उंमरथी अत्यार सुधीमां तेमनां क्रांतिकारी अनेक परिवर्तनोमां तेमनो मुख्य प्रवर्तक हेतु एक ज रह्यो छे, अने ते पोताना प्रिय विषयना अभ्यासनो। ए तो कोइ पण समजी शके तेम छे के जो तेओ एक ने एक स्थिति मां रह्या होत तो जे रीते तेमनुं मानस व्यापक पणे घडायेलुं छे ते कदी न घडात अने अभ्यासनी घणी बारी ओ बंध रही जात, अथवा सहेज विकासगामी संस्कारो गूंगलाइ जात।

आज काल नी सामान्य मान्यता छे के उच्च अभ्यास तो युनिवर्सिटीनी कोलेजोमां अने ते पण अंग्रेजी प्रोफेसरोनां भाषणो सांमलीने ज थइ शके; अने ऐतिहासिक गवेषणा तो आपणे पश्चिम पासेथी शीखीए तो ज शीखाय। आचार्य जिनविजयजी कोइ पण निशाले पाटी पर धूल नाख्या वगर हिन्दी, मारवाडी, गुजराती, दक्षिणी भाषाओमां लखी-वांची-बोली शके छे अने बंगाली पण तेमने परिचित छे। आटली नानी वयमां तेमणे वीसेक ग्रंथो संपादित कर्या छे। प्राच्यविद्यापरिषदमां 'हरिभद्रसूरिनो समय निर्णय' ए उपर एमणे एक लेख वांच्यो जेथी प्रखर विद्वान याकोबीने पण पोतानो अभिप्राय आयुष्यमां पहेली ज वार बदलाववो पड्यो छे। जूना दस्तावेजो, शिलालेखो, संस्कृत, प्राकृत के जूनी गुजरातीना गमे ते भाषाना लेखो ते ओ उकेली शके अने विविध लिपिओनो तेमने बोध छे। खारवेलनो शिलालेख बेसाडवामां प्रो० जयस्वाले पण तेमनी सलाह अनेक वार लीधी छे। तेमने शिल्प अने स्थापत्यनी घणी माहिती छे। पर्यटन करी ने पश्चिम हिन्दनी भूगोलनूं तेमने एवुं सारु निरीक्षण कर्युं छे के जाणे जमीन तेमने जवाब देती होय तेम तेओ इति-हासना बनावो तेमांथी उकेली शके छे। पुरातत्त्वमां पण तेमणे एक प्राचीन गुजराती भाषनो 'गद्यसंदर्भ' संपादित कर्यो छे। उपरांत गुजरातना इतिहासनां साधनोना ग्रंथो बहार पाडवा मांड्या छे, जे काम तेओ जर्मनी जई आव्या पछी वधारे वेग थी आगल चलावशे।

तेमणे चलावेल जैन साहित्य संशोधक नामना त्रैमासिक पत्रनुं बीजुं वर्ष पूरुं थवा आवे छे। जैन समाजना कोइ पण फिरकामां ओ कोटिनुं पत्र अद्यापि नीकल्युं नथी। ओ पत्र जैन साहित्य प्रधान होवा छतां तेनी प्रतिष्ठा जैनेतर विद्वानोमां पण घणी छे। तेनु कारण तेमनी तटस्थता अने ऐतिहासिक निष्णाततां छे। जैन समाजनां लोको तेमने जाणे छे ते करतां जैनेतर विद्वानो तेमने वधारे प्रमाणमां अने मार्मिक रीते पिछाने छे।

जो के जैन समाज तद्दन रूढ जेवो होवाथी बीजा बधा लोको जाग्या पछी ज पाछलथी जागे छे, छतां संतोषनी वात छे के मोडां मोडां पण तेनामां विद्यावृत्तिनां सुचिह्नो नजरे पडवा लाग्यां छे। अेक तरफ थी, अंग्रेजी भाषा अने पाश्चात्य वस्तुमात्रनो बहिष्कार करवा तत्पर अेवो संकीर्ण वर्ग, जे मुंबईमां रहे छे ते-ज मुंबईमां बीजो विद्यारुचि अने समय सूचक जैन विद्वान वर्ग पण वसे छे। विदायगीरीना मित्रोअे करेला छेल्ला नानकडा मेलावडा प्रसंगे में जे दृश्य अनुभव्युं ते जैन समाजनी क्रांतिनुं सूचक हतुं। जे लोको आचार्य जिनविजयजी ने आज सुधी वलवाखोर मानी तेमना थी दूर भागता अगर तो पासे जवामां पापनो भय राखता तेवा लोको पण तेमनी विदायगिरीना मेल।वडा प्रसंगे उपस्थित थइ साक्षी पूरता हता के हवे जूनुं काश्मीर अने जूनी काशी अे विदेशमां वसे छे। आचार्य हरिभद्रे बौद्ध मठमां शिष्योने भणवा मोकलेला। आचार्य हेमचन्द्रे काश्मीरनी शारदानी उपासना करेली। उपाध्याय यशोविजयजी अे काशीमां गंगा तटने सेवेलुं। हवे परिस्थिति प्रमाणे जो जैन साहित्ये अने जैन संस्कृतिअे मानपूर्वक स्थान मेलववुं होय तो देशनां प्रसिद्ध स्थलो उपरांत विदेशमां पण ज्यांथी मले, त्यांथी दरेक उपाये विद्या मेलववी अने हरिभद्र, हेमचन्द्र के यशोविजयजी नी पेठे नवीन परिस्थिति प्रमाणे नवी विद्याओ देशमां आणवी। आ वस्तु तद्दन रूढ गणाता जैन साधु वर्गमां पण केटलाकने समजाई गई होय अेम लागे छे। तेथीज अभ्यासने अंगे थता आ विदेशगमनने केटलाक प्रतिष्ठित जैन साधुओ अे पत्र थी अने तारथी अभिनंदन मोकल्यां हतां।

अत्यारसुधी आत्माना कोई अदम्य साहसथीज तेमणे अभ्यास आगल चलाव्यो छे अने अत्यारे पण अंग्रेजीना अधूरा अभ्यासे अने फ्रेंच के जर्मनना अभ्यास विना युरोपनी मुसाफरी स्वीकारी छे। अेमनुं आ साहस पण अत्यार सुधीनां तेमनां बधां साहसनी पेठे सफल नीवडशे।

परिपूर्ति

१९२८ सुधीनां लगभग तेरवर्षना मारां संस्मरणो मुनिजी विषे लखेलां प्रसिद्ध थयेलां ज छे। अे मां अेमना अंगनी पायानी वातो टूंकमां पण आवी गई छे अेना अनुसंधानमांज प्रस्तुत लखाण छे।

१९२८ थी आज सुधीनो लगभग ३८ वर्षनो गाळो अे पहेला गाळा करतां घणो मोटो छे, अने आ गाळा दरम्यान मुनिजीनी अनेक विधि प्रवृत्तिओ अनेक दिशामां फंटाई अने विकास पण पामी छे अे बधी प्रवृत्तिओनुं सांगोपांग दर्शन तो तेओ पोते ज करावे अे योग्य गणाय। हुं तो अे प्रवृत्तिना केटलाक सीमा चिन्ह जेवा मुद्दाओनो ज संक्षेपमां निर्देश करी आ परिपूर्ति लखवा धारुं छुं।

१९२८ ना उनाळामां मुनिजी जर्मनी गया, अने त्यांथी १९२९ ना छेल्ला भागमां पाछा फर्या। तेओ अमदावाद पाछा आवी पोतानी उपार्जित विद्या-साहित्यनी प्रवृत्तिमां जोडाय ते पहेलां तेमनी वीरवृत्तिने आह्वान करतुं वातावरण आ देशमां रचायु हतुं। पंडित श्री नेहरुना प्रमुखपणा नीचे लाहोर कोंग्रेसमां पूर्णस्वातंत्र्यना ठरावनी पूर्व भूमिका मक्कमपणे रचाती हती। लाहोर कांग्रेस आवी अेमां मुनिजी गया हता। हुं अने बीजा अमारा साथीओ साथे हताज। त्यां कोंग्रेसे जे सम्पूर्ण-स्वातंत्र्य प्राप्तिनो ठराव पास कर्यो तेवे लीधे देशना सजीव मानसमां अेक नवो चमकार प्रगट्यो। मुनिजी आमांना अेक हता हवे १९३० मां अेमनी सामे बे मार्ग हताः अेक विद्या-साहित्यना वर्तुलमां पुराई पलोठी वाळी बेसी जवानो, अने बीजो स्वातंत्र्यनी हाकलने सेवक तरीके वधावी लेवानो मुनिजीअे तत्काल निर्णय करी बीजो मार्ग स्वीकार्यो, अने पहेला मार्गने अमुक समय लगी मुलतवी राख्यो।

१९३०ना मार्चमां गांधीजीनी विश्वविख्यात दांडी कूच शरु थई। देशना खूणे खूणे मीठानो सत्याग्रह शरु थयो। मुनिजी अे सत्याग्रहने परिणामे जेलमां गया। नासिकनी जेलमां अेमनो अने श्री के. अेम. मुनशीजीनो परिचय वधारे दृढ थयो। अने त्यां बन्ने वच्चे अमुक अंशे विद्या विषयक विचारोनी आपले पण थई।

जेलमांथी छूट्या पछी हवे पहेलां मुलतवी राखेल मार्गेज जवानुं अेमने माटे निर्मायेलुं। आ मार्गनी पूर्व भूमिका तो अेमना जर्मनी थी पाछा आव्या पहेलांज तैयार थई चुकी हती। अजीमगंज निवासी श्री बहादुरसिंहजी सिंघीअे जैन विद्या-साहित्यना व्यापक विकास माटे अमुक निश्चित विचार करी राखेलो, अने तेना केन्द्रमां मुनिजी हता। मुनिजी कलकत्तामां, शांतिनिकेतनमां के अन्यत्र ज्यां क्यांय आवी प्रवृत्ति करवा इच्छे त्यां अे प्रवृत्तिने लगती बधी आर्थिक जवाबदारी उठाववानो भार सिंघजी अे स्वेच्छाथी ज स्वीकारेलो। मुनिजीअे शांतिनिकेतन पसंद कर्यु। टागोर जेवी विभूतिना सन्निधानमां रहेवानुं मन्युं अने श्री विधुशेखर शास्त्री जी तथा श्री क्षिती मोहनसेन अेवा मनयं परिचित विद्वानोनुं साहचर्य मळाय अे अेमने

माटे मुख्य आकर्षण हतुं । तेथी तेओ १९३१ नी आसपास शांतिनिकेतन गया अने त्यां आसन बांधी पोतानी विद्या विषयक करवा धारेली प्रवृत्तिओनी तेमणे योजना घडी, जेमां जैन विद्यार्थीओ माटे संपूर्ण फ्री अेवा अेक विद्यार्थी गृहनुं अने सिंघी जैन ग्रंथमाला नामक सिरीजनुं स्थान हतुं; उपरांत यथासंभव जैन तत्व अने साहित्यना अध्ययन-अध्यापन माटेनी पण विचारणा हती । आ रीते शांतिनिकेतनमां, काम प्रारंभायुं ।

मुनिजी अने अमारा वधानुं मकान अमदावादमां, अेमनुं रहेवानुं शांतिनिकेतनमां अने ग्रंथोनुं मुद्रण कार्य करावववानुं मुंबइमां: आ दूर दूरनी अगवडमांथी छुटवा छेवटे १९३४ मां अेमणे नक्की कर्युं अने अमदावाद आवी सिंघी जैन ग्रंथमालनुं काम चालुं राख्युं ।

१९३८ सुधी आ क्रम चाल्यो । दरम्यान अेक नवो प्रसंग उपस्थित थयो । श्री के. अेम. मुनशी ते वखते मुंबई राज्यना गृह प्रधान हता । अेमने अेक विशिष्ट दान मलता भारतीय विद्याभवन नामक संस्था स्थापवानो विचार आव्यो । अेमणे मुनिजी ने पोता तरफ खेंच्या, अने अेमने पोताने इष्ट अने फावतुं काम करवानी पूर्ण स्वतंत्रता आपी । अेटले मुनिजीने मुंबइमां रही सिंघी जैन ग्रंथमालनुं काम करवानी वधारे अनुकूलता थई आवी त्यार बाद १९४२ नो 'Do and Die' ना संग्रामनो देश मां घोष जाग्यो । मने लागे छे के आ वखते मुनिजी अे घोषमां न तणाया अेनुं कारण, मोटे भागे ते ओ जेसलमेरना भंडारोना अवलोकन आदिमां गू थायेला अने त्यांथी अेटली वधी नवी अने उपयोगी साहित्य-सामग्री लावेला के जेमां अेमनुं विद्यावृत्तिनुं पासुं वधारे प्रवल वनेलुं अे होवुं जोइअे । भारतीय विद्याभवननी वीजी प्रवृत्तिओमां भाग लेवानुं पण अेमने शिर आवेलुं । अेटले तेओ भवन साथे अेकंदर अेकरस जेवा थइ गयेला । मुनशी जी जेवा भार्गववंशी अने परशुराम भक्त अने मुनिजी जेवा क्षत्रिय वृत्तिना परमार—आ बन्नेनुं जोडाण विस्मय उपजावे अेवुं तो हतुं ज, पणचाल्युं । आगलजतां मुनिजीनुं मन मुंबइ अने भारतीय विद्या भवन थी कांइक दूर ने दूर खसतुं गयुं, पण सिंघी जैन ग्रंथमालानी प्रवृत्ति तो तेओ पूरा उत्साहथी चलाव्ये ज ।

मुनिजीनुं मानस मुख्यपणे तार्किक छे । रूढिओमां ऊछर्या अने रह्या छतां मन अेमनु अेथी संतोषातु नथी । वीजीवाजु हिटलरना जर्मनीमां थोडो वखत रह्या पछी अेमनु मन अेवा कोई मार्गने जांखतुं में वारंवार जोयेलुं के मात्र अकेला पोथी-पानां अने ग्रंथोना ढगलाथी शुं ? लोको वच्चे, खास करी गरीबो वच्चे रहेवुं, अेना संस्कार घडतरमां अने गरीवी निवारणमां यथाशक्ति भागलेवो अेवा मनोरथो सेवता में अेमने जोया छे । तेमनुं मन हवे पोताना जन्मस्थान अने प्रदेश भणी जवा लाग्युं । तेमने जोईतुं तद्दन अेकान्त ग्राम्य प्रदेश अने वीजी प्राथमिक सगवड चित्तोड पासे चंदेरिया नामना नानकडा स्टेशननी नजीक अणधारी रीते मली गई । त्यांना एक भला सखी ठाकोरे मुनिजीने जमीन आपी । त्यां मुनिजीअे पोतानो तंवुवास शरू कर्यो अने त्यां ज अे कांटाली अने पथरीली जमीननो थोड़ो भाग खेती लायक अने रहेवा लायक वनावी त्यां ज खेती शरू करी, पशु-पालन साथे हतुं ज । अने आसपासनां गामडांना साव गरीव लोकोना बालको माटे अेक नानीशी निशाल पण शरू करी । आ वधुं चालतुं त्यांरे पण तेओ पोतानी प्रिय ग्रंथमालानुं काम तो चलाव्ये राखता ज । अलवत्त, अेमां अेकधारी जोइतो वेग आपी न शके, अे पण देखीतुं ज छे ।

क्रमे क्रमे अे आश्रम विकसतो गयो अने मुंबइनो विद्या भवन साथेनो संबंध पण मात्र उपर उपरनो ज रह्यो । चंदेरियाना अे सर्वोदय सेवाश्रमनो विकास पण चडती पड़तीना क्रममांथी पसार थया वगर न रही शक्यो । पण अंते अनी स्थिति घणी सारी अने स्पृहणीय वनी । पण मुनिजी अे कोइ अेक वंधियार

स्थितिमां रहेवा सर्जायेलाज नथी, अेटले जे जे नवां स्वप्नो आवे तेने साकार करवा पूरो पुरुषार्थ पण करे। अेमने पोताना काम बदल जे वलतर मले ते तो अेमां खर्चीज नाखे, पण ववारामां अेमने जाणनार अेमना चाहक मित्रो जे कांई मदद करे ते पण आवा सेवाकार्यमां तेओ खर्चीने ज संतोष माने।

मुनिजीनी वृत्ति अने प्रवृत्तिमांथी अेक तत्त्व तारववु होय तो ते अेज छे के तेमना अेक हाथमां जे आवक पडे ते अेमना बीजा हाथने लीधे हमेशा ओछीज पडवानी। संग्रहमां अेमनी श्रद्धा नहीं, अने नवां नवां कामो उपाड्या विना अेमने जंप नहीं। आ तत्त्वने लीधे तेमणे अे आश्रमनी आसपास बीजी पण केटलीक प्रवृत्तिओ शरू करी अने विकसावी छे।

मूले मेवाडना, विद्यापुरुष तरीके जाणीता, इतिसास, शिल्प, स्थापत्य आदिना रसिक अने निष्णात जेवा; अेटले राजस्थानमां अने त्यांनी सरकारमां जे केटलाक विद्वानो अने प्राच्य विद्याना रसिको तथा पुरातन वस्तु संग्रहना उपासको हता अने छे अे बधानु ध्यान क्रमे क्रमे मुनिजीने राजस्थाननी आवी कोइ सर्वव्यापक प्रवृत्तिमां जोडवा तरफ खेंचायु। अने ते प्रमाणे समग्र राजस्थाननो समावेश थाय अेवी अेक योजना तैयार करी तेमां मुनिजीने निर्णायक स्थाने गोठव्या; जेने परिणामे राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान नामे संस्थानो जन्म थयो, अने तेनु मुख्य केन्द्र जोधपुरमां अने केटलीक साखाओ राजस्थनना जुदा जुदा भागोमां आजे काम करे छे। आ मुख्य केन्द्र अने तेनी जुदी जुदी शाखाओमां प्राच्य तत्त्वना साहित्य, शिल्प आदि नमूनाओना अने वस्तुओना अेवां विपुल संग्रह थयो छे के जेने जोनार अे रीते आश्चर्य पामे छे के आटला टूंका गला मां मुनिजीअे केवो भगीरथ पुरुषार्थ कर्यो छे। साथे साथे सिंघी जैन ग्रंथमाला कामने संभालवा उपरांत आ संस्था द्वारा प्रकाशित थनारा विविध विषयना संख्याबंध ग्रंथोनी जवाबदारी पण अेमने शिरे रहेली छे। अत्यार लगीमां आवी बधी ग्रंथमालाओ मारफत तेओअे आशरे बधो जेटला ग्रंथो संपादित-प्रकाशित कर्या छे।

मुनिजी पोतानी कांचली अेक पछी अेक छोड़ता ज रया छे, ते प्रमाणे पेला सर्वोदय साधनाश्रमनु बधु ज सर्वस्व भूदानना प्रवर्तक श्री विनोबाजी ने अर्पी दइ अेनी नजीकमां पोताने अने पोताना आश्रितोने रहेवा आदिनी सगवड माटे जोइतां नवां मकान वगेरे पोतानी ज कल्पनाथी पोताना नकशाप्रमाणे ऊभा करी लीधां छे। अने राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठाननु काम त्यांथी जोधपुर अने बीजा स्थलोमां जता रही सतत करता रहे छे।

आ बधु थतु हतु त्यारेज अेमना मनमां अेमनी वीर प्रकृति, इतिहास ज्ञान अने विद्योपासना आदिने लीधे नवां मनोरथ पुष्पो खीली रह्यां हता। तेमां चित्तोडने मुख्य स्थान हतु। मुनिजी चित्तोडने वीरत्वनु तेमज विद्यानु पण तीर्थ माने छे। तेमना मनमां अे संस्कार दृढ़ छे के राणा प्रताप अने तेमना पूर्वजो तेमज वंशजोअे जे क्षात्रतेज मेवाडमां प्रगटाव्यु अने चित्तोडमां जे विशेषरूपे दीप्यु ते क्षात्रतेज अे मात्र मेवाडनी संपत्ति नथी; ते तो अेक भारतीय संपत्ति छे। बीजु अेमना मनमां अे पण छे के शस्त्र पकडनार अने प्राणोनी कुरबानी करनार वर्ग होय त्यारे पण कोइ अेवा कुबेरनी जरूर रहेज छे के जे वीरत्वनी पोषक बधा गोठवण करे। मुनिजी अे आवी कुबेरनी प्रतिक भामाशामां जोइ वलो मुनिजीनी मूल विद्योपासनानी वृत्ति तो समदर्शी आचार्य हरिभद्र उपरना तेमना अैतिहासिक निबंधथी लोकोनो ध्यानमां आवी हतो। अने मुनिजीनो आचार्य हरिभद्र प्रत्ये अेटलोबधो दृढ आदर छे के तेओ तेमने जैन परंपराना नव संस्कारक गणी हृदयमां उपासे छे। आवा बधा जुदा जुदा मनोरथो मांथी तेमनु क्रियाशील मन अे मार्गे विचरतु हतु के कोइ पण रीते चित्तोड

अने त्यांना ऐतिहासिक आचार्य हरिभद्र तेमज उदारमना भामाशानी स्मृति रूपे कांइक स्थायी काम करवुं। आ दृष्टि ए तेमणे हरिभद्र स्मृति मंदिर अने भामशा भारती भवन ए बे स्मृति मंदिरो चित्तौडमां ऊभां कर्यां छे, अने त्यां कांइक काम पणथइ रह्युं छे।

आ मुनिजीनी प्रवृत्तिनु साव टूंकु सांकलियुं छे। विशेष जिज्ञासु तो एमना परिचयमां आवे एमनां कामो जुए अने ए पाछल रहेली दृष्टिने समजे तोज एमना विशेनो स्पष्ट ख्याल मेलवी शके।

सरित्कुंज, अमदावाद. ९

२१-१-६७

आचार्य जिनविजयजी

विद्यामूर्ति प्रकट मुखमां शांत गंभीर जोइ ।
विद्याभिक्षी जिन पट विटी क्षात्रसत्त्वाद्वितीया ॥

(स्मृति)

(१)

मानवजीवनमां प्रयत्नथी अलभ्य अेवा लाभो अर्थात् सद्‌भाग्यो अनेक मनायां छे । मारे मन सौथी मोटुं सद्‌भाग्य सज्जन मनीषीओनो समागम थवो, सत्संग थवो, अंगत परिचय थवो–मैत्री थवी, वडीलवत्सनो संबंध थवो अे छे । आ बाबतमां हुं मारी जातने भाग्यशाली मानुं छुं । जे सज्जन मनीषीओनां वात्सल्य मने मळ्यां छे तेमां पंडित सुखलालजी अने आचार्य श्री जिनविजयजी छे । बन्नेने हुं कॉलेज कालना अंतिम वर्षोमां अने अनुस्नातक अध्ययनना प्रसंगे प्रथम मळेलो ईश्वरनी कृपा थी अे बन्ने मनीषीओनुं वात्सल्य झरणुं हजु पण मने स्नेहार्द्र करे छे ।

(२)

आचार्य जिनविजयजीने हुं प्रथम मळ्यो त्यारथीज तेमनो भक्त थई गयो पूनामां भारत जैन विद्यालयमां तेमनो वास हतो । सौ प्रथम आकर्षायो तेमना समृद्ध ग्रंथसंग्रहथी । जराक वधारे परिचय थतां तेमना उल्लास भर्यां स्नेहथी तेमनी साथे स्निग्ध थई गयो । हेमचन्द्रनुं प्राकृतव्याकरण तेमनी पासे भणतांभणतां तेमनी साथे जे विविध वार्तालापो थतां तेमांथी तेमनी सरलता, उदारता, तेजस्विता, विद्वत्ता अने संशोधन वृत्तिनो परिचय थतो गयो परन्तु अेमनी साथे प्रवाहमां खेंची जाय अेवोतो अेमनो प्राच्यविद्याओना अध्ययन–संशोधन माटे संस्थाओ स्थापवानो उत्साह हतो । आ १९१९ नी सालनुं संस्मरण ।

आ उत्साहनो लाभ सौ प्रथम भांडारकर ओरिअेन्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटने मळ्यो । मुनिजीने ते समय पण मोटा मोटा विद्वानो-संशोधको मळवा आवता । पूनाना अे समयना प्रतिष्ठित विद्वानो डॉ. गुणे, डॉ. बेल्वेलकर आदि पण अेमां हता । अे बधा विद्वानो अे साथे मळी भांडारकर ओ. रि. ई. स्थापवानो उपक्रम कर्यो हतो । परन्तु मकान करवा पैसानी ताण हती । आचार्य जिनविजयजीअे अेमने सहायक थवानुं योग्य धार्युं अने मदगत श्री लालभाइ कल्याणभाइ जवेरीनी मदद थी मुंबइना जैन धार्मिको पासेथी सारी अेवी मदद करावी । अेना परिणामें मुंबइ सरकारनो हस्त लिखित प्रतिओनो भंडार जे डेक्कन कोलेजमां हतो अने जे ते समये भां. ओ. रि. ई. मां. सोंपायेलो तेनां हस्तलिखित पुस्तकोनुं डीस्क्रीप्टीव केटलोग करवानुं काम तेमने सोंपायुं । अे काम माटे अेमना सहायक तरीके तेमणे मने राख्यो हतो । १९१९ ना फागण-मार्चथी जून-दरमियान अेमनी दोरवणी नीचे काम करतां ह. लि. प्रतिओनो प्रथम परिचय थयो अने तेमनी पुष्पिकाओ

तथा प्रशस्तिओमां सांस्कृतिक इतिहासनी केवी सामग्री भरी छे तेनो ख्याल आव्यो। ओमांथी मने इतिहास संशोधननो-खासकरीने गुजरातना इतिहासनो रस थयो।

संस्थाओ स्थापवाना ओमना उत्साहनो बीजो लाभ भारतीय जैन विद्यालय (पूना) ने मल्यो। संशोधन वृत्तिओ 'जैन साहित्य संशोधक' त्रैमासिक संपादित कराव्युं। आज अरसामां महात्मा गांधी ओ गुजरात विद्यापीठनी स्थापना करी हती। तेमां सस्कृत-पाली- प्राकृतना साहित्यना तेमज आर्य संस्कृतिना अभ्यास ने महत्त्वनुं स्थान मल्युं हतुं। ते अंगे ओक अलग विभाग गुजरात विद्यापीठ मां करवानो अने भा. री. इ. जेवी संस्था बनाववानो श्री काका साहेब कालेलकर, श्री इन्दुलाल याज्ञिक, श्री रामनारायण पाठक आदि ने विचार थयो हतो। तेनुं संचालन करवा गांधीजीओ आचार्य जिनविजयजी ने पूनाथी अहीं बोलाव्या। अही आवी तेमने गुजरात पुरातत्त्व मंदिरनुं नाम करण करी ते संस्थानुं वर्षो सुधी संचालन कर्युं अने ओमां श्रीमद् राजचन्द्र ज्ञान भंडार ने संगृहीत कर्यो, जेमां ते समये प्राप्य संस्कृत प्राकृत, पाली आदि साहित्यना ग्रंथो तेमज संशोधन विषयक अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, हिन्दी, बंगाली, गुजराती, पुस्तको जर्नलो आदि अमूल्य संशोधन सामग्री ओकत्रित थई हती। ओमा पं. सुखलालजी. पं. धर्मानन्द कोसंबी, पं. बेचरदास, मौलाना अबुझफर नदवी, श्री रामनारायण पाठक आदि समर्थ विद्वानो अध्यापन-संशोधननुं कार्य करता हता। आ संस्था द्वारा तेमणे पुरातत्त्वमदिर ग्रंथावलीनुं सम्पादन प्रारंभ्युं अने 'पुरातत्त्व' त्रैमासिक पण चलावराव्युं।

(३)

आचार्य जिनविजयजी जन्मे रजपूत छे। तेमनो क्षात्र स्वभाव तेमना परिचयनां आवेला बधा जाणे छे। ओक प्रसंगे पूनांथी मुंबइ जवा पूनाना स्टेशने तेओ अंदर जवाना दरवाजा आगलना टोलानी पाछल ऊभा हता तेमनी पाछल हुं ऊभो हतो। दरवाजा आगलनो टिकिट चेकर ओनी मरजी मुजब मुसाफरोने दाखल करतो हतो; अने बीजाओने धक्का मारी पाछल राखतो हतो। ओमां ओणे ओक बाइने छाती उपर धक्को मारी पाछी काढी। मुनिजीओ आ जोयुं अने तरतज आगल धसी ओ टिकिटचेकर ने पकड्यो अने धमधमाव्यो, अने ओने नरम बनावी दीधो।

आ ज प्रकृतिना बले ज्यारे गांधीजीओ मीठानी लडत उपाडी अने विरम गाममां स्त्रीओ उपर ते समयना हिंदी अमलदारोओ घोड़ा दोडाव्या त्यारे तेमनो जीव ऊकली उठ्यो अने लडतमां जोडाइ जेलवास स्वीकार्यो।

आ ज साहसिक प्रकृतिओ तेमने जर्मनी मोकल्या अने त्यां जर्मन विद्वानोनुं मान पाम्या। पण ते वखते हिंदीओने त्यां रहेवा—जमवानी अगवड जोइ तेमणे 'हिन्दुस्तान हाउस' नामनी संस्था स्थापी।

जर्मनी थी पाछा आवी तेओ शांति निकेतनमां जोडाया। ओज अरसा मां तेमणे कलकत्ताना श्रीमंत शेठ बहादुरसिंह जी सिंघीना उदारदान थी सुप्रसिद्ध 'सिंघी जैन ग्रन्थमालाना संपादननुं कार्य आरंभ्युं। आ ग्रंथमाला भारतनी प्राच्य ग्रंथमालाओ मां ओनुं विशिष्ट स्थान धरावे छे। तेमां ५० उपरांत विविध विषयना दुर्लभ ओवा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओमां लखायेला ग्रंथो प्रसिद्ध थया छे।

श्री कनैयालाल मुनशीए भारतीय विद्या भवननी मुंबइमां स्थापना करी त्यारे तेनुं संचालन करवा तेमणे आचार्य श्री जिनविजयजी ने निमंत्री तेमने संस्थाना डिरेक्टर पदे स्थाप्या। आचार्यश्रीए पोतानो अमूल्य ग्रंथभंडार आ संस्थाने समृद्ध बनाववा समर्पित कर्यो। सिंघी जैन ग्रंथमालानुं सम्पादन-प्रकाशन पण ए संस्था द्वाराज कर्युं उपरान्त "भारतीय विद्या" नामनुं त्रैमासिक पण संपादित करवा मांड्युं।

(४)

स्वराज्य प्राप्त थया पछी एमना वतन राजस्थाने एमने अपनाव्या। एमनी प्रौढ विद्वान-संशोधक-संपादक तरीके रूढ थयेली प्रतिष्ठाथी आकर्षाइ राजस्थान सरकारे एमना अध्यक्षपद नीचे राजस्थान पुरातत्त्व मंदिरनी स्थापना करी। एमां एमणे लगभग लाख जेटली संख्या मां हस्तलिखित प्रतिओनो भंडार कर्यो छे। एनी ग्रंथावली मां संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश राजस्थानी आदि भाषाओ मां लखायेलुं विविध विषयोनुं साहित्य लगभग ६० ग्रंथोमां प्रकाशित थयुं छे। हजु पण तेओए संस्थानुं सुकान संभाले छे। हुं आशा राखुं छुं के राजस्थान सरकार एमने जोइए तेवी अनुकूलता करी आपी राजस्थान पुरातत्त्व मंदिरनुं संचालन तेमना हस्तक ज राखशे।

आचार्य हरिभद्रनुं चित्तोडगढ मां उचित स्मारक करवानो तेमनो उत्साह हजु ऊभोज छे। राजस्थान सरकार एमने ए महान कार्यमां सहकार आपशे एवी आशा राखवी ववारे पडती न गणाय।

भारत सरकारे एमने 'पद्मश्री' बनावी कंइक कदर करी छे। असंतोष एटलोज छे के प्राच्यविद्याना संशोधन मां आटलुं विपुल अने समर्थ काम करनारनी आटलीज कदर!

(५)

आचार्य जिनविजयजीनुं व्यक्तित्व एमना परिचयमां आवेला सौ कोइना चित्त ऊपर मुद्रित थाय एवुं छे। एमनी ऊंची, पातली पण भव्य आकृति, मोटा पगलां भरती एमनी चाल, काला चश्मा थी अंकित एमनी प्रभावशाली मुख मुद्रा, एमनी अस्खलित वाणी—सौम्यभावे सस्मित अने रोषाविष्ट होय त्यारे उग्र-आ बधुं एमना व्यक्तित्वने अंकित करे छे।

गुजरात-राजस्थाननां आ विद्यामूर्ति युवान विद्वान संशोधकोने चिरकाल मार्गदर्शन करावे एवी अभिलाषा एमनो आ कृपापात्र अंतेवासी जे वो आ प्रसंगे सेवे छे। एमनी जे छबि मारा मनमां रही छे ते—

"विद्याभेखी जिन पटविटी क्षात्रसत्त्वा विद्यामूर्ति" नी छे। एवानो प्रेम प्राप्त थवा थी हुं मारी जातने धन्य गणुं छुं।

———

मुनिजीनां बे एक स्मरणो

परम आदर पात्र मुनिजीनी साथे मारो प्रथम परिचय घणे भागे सद्गत करुणाशंकरना सानिध्यम थयो हशे एम स्मरण छे। करुणाशंकर तेमने महाराज कहीने उल्लेखता तेओश्रीना पूर्वजीवननी तेमज तेमना स्वाध्याय वगेरेनी वातो कोई कोई वार मारो ते सांभलवानो अधिकार नहि होवा छतां पर तेओ करता आ रीते परोक्षभावे तेमनी प्रतिभानां दर्शन थयेलां।

पछी तो शान्ति निकेतनमां प्रत्यक्ष रीते मुनिजीने मलवानुं थतुं, कोई कोई वार वातो पण थती, अलवत अभ्यास विषयक ज्यारे ज्यारे तेओ मलता त्यारे त्यारे ऐक माताना जेवा हुंफाला स्नेहथी मारा जेवा बालकने बोलावता, कोई कोई वार तेओश्रीनी आंखामांथी प्रभाव पण झरतो। कदाच आ मारी अंगत समज के लागणी होई शके छे।

ते समये (इ०स० १९३१-३४) जैन दर्शनने माटे रवीन्द्रनाथे विद्याभवन (अनुस्नातक संस्था) मां स्थान आपेलुं परिणामे विद्यार्थीओ अभ्यासीओ त्यां रहेता। मारी पडखे तेवा बे अभ्यासी ओ रहेता। दलसुखभाई मालवणिया अने शांतिलाल वनमालीदास शेठ मुनिजी ज्यां रहेता त्यां एक नानकडुं रसोडुं पण चालतुं, तेनी व्यवस्था एक बहेन करतां। सोनुबहेन पू० नंदलाल वसुना कला भवनमां कलानो अभ्यास करतां, जयंतीलाल झवेरी पण फोटोग्राफी तेमज चित्रो करता। मुनिजी नी साथे बीजा बे एक छोकाराओ पण रहेता। आ तेओश्रीनो एक नानकडो परिवार हतो।

मुनिजी तो पोताना संशोधनना कार्यमांज प्रवृत्त रहेता; एटले कोई कोई वार सवारे के सांजे अथवा गुरुदेव कांई वांचवाना होय त्यारे तेमना क्षणिक दर्शन थतां। गुरुदेव तेमना प्रत्ये आदरथी जोता अने वर्त्तता, एवुं स्मरण छे।

तेओ एक जैन सुधारक साधु छे, एटले शुष्कताना साधक हशे, कायक्लेश भावनानुं पालन करता हशे एवी एक भ्रांति हती अे भ्रांति तूटी गई एक प्रसंगे। दूर दूर गामथी आवेला एक वृद्ध दाढ़ीवाला सतारना बजवैयाने बजावता तेमने त्यां जोया। मुनिजीने संगीतविद्यामां तल्लीन दीठा। ते ओ संगीतना अनुरागी छे, ते त्यारे समजायुं। ए वृद्ध बजवैया सतार पर विशिष्ट काबु बरावता जाणे वीणा न वागी रही होय एवो ख्याल आवतो। कदाच गुरुदेव पण तेमने सांभलता। हजु पण तेमनी आकृति मारा मनमां स्पष्ट छे। मारा मित्र भाई कृष्णलाले एक वृद्ध संगीतकारनुं केटलुं चित्र जोयुं त्यारे हुं आश्चर्य पामी गयो के तेमणे एक वृद्धनुंज जाणे आलेखन न कर्युं होय। मुनिजीना जीवनना आ एक पासानी मारे माटे उपलब्धि हती।

पछी तो वर्षो वीती गयां। अमदावाद आवीने एक शालानी स्थापना करवाना विचारो आववा लाग्या। तेनुं नामकरण पण कर्युं 'भारती विद्यालय' ए नाम नक्की थयुं। शालानी स्थापनानो एक दिवस एक महूरत, पण निर्मयां। ते प्रसंगे दीप पण मुनिजीने हाथेज प्रगटावेलो। तेओश्रीना आशीर्वाद शालाने मलेला। ते अनुष्ठाननुं एक नानकडुं आप्तमंडल साक्षी हतुं।

त्यार पछी पण कोई वार मलवानुं थाय छे त्यारे एक पिताना वात्सल्यथी वधुं पूछे छे।

तेओश्रीने अंतरनां भाववंदन।

ता० ३१-१-१९६७

प्रेरणामूर्ति आचार्य जिनविजयजी

आचार्य श्री जिनविजयी नी इतिहास पटुताथी आकर्षाईने शान्तिनिकेतन जइ तेमनो शिष्य बन्यो अने विशुद्ध इतिहास अने पौराणिक इतिहास वच्चेनु अंतर जाणवा भाग्यशाली थयो तेओ ते काले एटले के इ० स० १९३१ मां अमने आवश्यकचूर्णि भणावता, ए पहेला पण तेमनो परिचय जैन साहित्य संशोधक द्वारा परोक्षरीते हतो ज। अने ज्यारे श्री पू० पं० बेचरदासजीना घरे रही अमदावाद मा भणवानु शरु कर्यु, त्यारे अमदावाद मां सौ प्रथम बार १९३० मां ज तेमनो साक्षात् परिचय थयेलो। एनेज परिणामे ज्यारे पू० पं० बेचरदासजी जेलमां गया त्यारे अन्य गुरुनी शोधमां शान्तिनिकेतन जवानु बन्यु आ रीते आधुनिक जैन समाजना त्रण विख्यात पडितोमांथी बीजा श्री जिनविजयजीने पण गुरु बनाववानु सद्भाग्य सांपड्यु।

श्री पं० बेचरदासजीनी प्रतिष्ठा ते काले अने आज पण जैन आगमो अने तेनी प्राकृत भाषाना अद्वितीय विद्वान तरीके छे। त्यारे आचार्य श्री जिनविजयजीनी प्रतिष्ठा जैन इतिहासना अद्वितीया पंडित तरीके छे। तेमनी समग्र कारकीर्दीनो ज्यारे विचार करूं छु त्यारे तेमनी इतिहास दृष्टि ज तेमना जीवनमां समग्र रीते व्याप्त थई गई जणाय छे। तेओ साहित्यमां संस्कृत अपभ्रंश के जूनी हिन्दी राजस्थानी के गुजरातीमां कार्य करे छे पण तेमनु प्रथम ध्येय ए बधी भाषानु साहित्य इतिहासना अंकोडा मेलववामां केवी रीते उपयोगी थई पडे ए होय छे। आथी ज आपणे जोई शकीये छीए के तेमणे ज्यारे पत्रकार तरीकेनी कारकीर्दी शरूकरी त्यारे पण तेमणे सर्व प्रथम विदेशी विद्वानोए जैनधर्म अने साहित्य विषे जे कांई इतिहास दृष्टिए लख्यु होय तेनो परिचय अनुवाद या सार द्वारा वांचको समक्ष मूकवानु उचित मान्यु अने तेमणे जैन साहित्य संशोधक द्वारा पीरसेलु ते वाङ्मय आजे पण महामूलु छे।

आचार्य जिनविजयजी ए एकले हाथे करेल सम्पादकोनी यादी एटली विस्तृत छे अने एटली वैविध्य पूर्ण छे के तेमांना घणा पुस्तकोए तो इतिहास सर्ज्यो छे एम कहेवु जोइये। तेमांना घणां एवा छे के ते ते विषयमां अपूर्व गणाय अने घणीवार ते एकमात्र होय। प्राचीन पुस्तकोना विद्वान संपादकोनी गणतरी करवामां आवे तो अने तेमां सौथी श्रेष्ठ अने आधुनिक सम्पादक शैली अपनावीने कार्य करनारा सम्पादकोने गणवामां आवे तो तेमां आचार्य जिनविजयजीनो क्रमांक प्रथम अने तेम ज्यारे हु कहु छु त्यारे ए अतिशयोक्ति नथी। एकेक ग्रंथना अनेक उत्तम कोटिना सम्पादको छे एकेक विषयना ग्रंथोना पण अनेक सम्पादको छे पण विविध विषयना अने विविध भाषना अनेक पुस्तकोना उत्तम सम्पादकोमां तो आचार्य जिनविजयजी ज सर्वोत्तम छे ए निःसंशय छे। एमनी ए कोटिये पहोंचनार हजु सुधी जोयो नथी, अने आगल तेवु कोई करी बतावे एमां पण संदेहज छे। सम्पादकनी तेननी धगश आजे पंचोतरे वर्षनी उम्र वटावी गया पछी अने बन्ने आंखोना तेज लगभग हणाय गया पछी पण एवीने एवी तीव्रज छे। आजे पण कोई पुस्तक तेमनी दृष्टिये सम्पादन योग्य जणाय नो ते माटे तेमनो प्रयत्न एटलाज तीव्र वेगे चालु थई जाय छे। जेटलो वेग पहेला जोवामां आवतो हतो। तेमणे पोतेज सम्पादित करेला संदेशरासक जेवा इतिहास सर्जक पुस्तकनु नवी सामग्री उप-

स्थित थये पुनः सम्पादन करवानी तेमनी धगश आजे ज्यारे जोउं छुं त्यारे खरेखर तेओ प्रेरणामूर्तिरूपे वंदनीय ज नहि अनुकरणीय पण बनी जाय छे। आवो छे तेमनो सम्पादननो रस।

तेमणे आ सम्पादननो रस कहो के चेप कहो घणांने लगाड्यो छे। अने परिणामे आपणे जोइये छीये के तेमना द्वारा सम्पादित ग्रंथमालाओमां अनेकनो सहकार तेओ लई शक्या छे।

सम्पादनोनी संख्याना प्रमाणमां तेमनुं स्वतंत्र लखाण ओछुं गणाय। पण तेमणे जे कांई लख्युं छे ते आजे पण अकाट्य ज छे। इतिहासनी बाबतमां एवी तेमनी चीवट प्रारंभथी ज हती। आचार्य हरिभद्रना समय विषे तेमणे प्रथम निबंध लख्यो हतो ते पूनामां इ० स० १९१९ मां भरायेल ओरियेन्टल कोन्फरंसना प्रथम अधिवेशन मां वांच्यो। आजे लगभग पचास वर्ष पछी पण ते निबंधनु मूल्य घट्युं नथी, पण डॉ० जेकेबी जेवा विद्वानों पण पोताना मंतव्यो ए निबंध ने आधारे बदल्या छे, आवुं एनुं मूल्य छे। तेमना जैन विषेना ऐतिहासिक लखाणो नो संक्षेप करीने हमणा ज 'जैन इतिहासनी झलक' नामे एक पुस्तक प्रकाशित थयुं छे, ते जोवाथी ख्याल आवे छे के जैन इतिहास क्षेत्रे आचार्य श्री जिनविजयजी ए केवुं वैविध्यपूर्ण लख्युं छे।

आचार्य जिनविजयजी केवल विद्वान नथी पण साथे भारतीय जीवनना जे विविध पासां छे तेमां सक्रिय रस पण ले छे। जर्मनीमां विद्या अर्थे गया त्यारे पण त्यां आ सदीना प्रथम बीशीमां तेमणे बर्लीनमां इन्डिया हाउसनी स्थापना करेली। पाछा आवी भारतनी राष्ट्रव्यापी स्वातंत्र्य लडतमां जोडाया अने धरासणामां मीठुं पकवनार टूकडीनां नेता पण बन्या हता। आजे पण तेमणे चितोड पासे चंदेरिया नामना नाना गामडामां सर्वोदय आश्रम स्थाप्यो छे अने त्यां बाल मंदिरनी अने रोगीओने दवा-दारुनी सगवड पण करी छे। खेतीनो अने बगीचानो शोख तेमणे जे प्रकारे केलव्यो छे, तेथी तो तेओ छोडनी मावजत करनार माली थी जरा पण ओछा उतरे एवा नथी। विद्या साथे आम रचनात्मक सक्रिय कार्योनो रस भाग्येज अन्यत्र जोवा मले छे।

आचार्य जिनविजयजीनुं जीवन अने तेमनी विचारणाओनो ज्यारे विचार करीये छीए त्यारे तेमनुं एक लक्षण जडी आवे छे ते ए छे के तेओ एकज वस्तु के विचारने चोटी रहता नथी, पण नित्य नूतन जणाय छे। जीवनमां तेमणे अनेक वेशो बदल्या, तेम अनेक विचारसरणीओ पण खुल्ले मने स्वीकारी अने छोडी। अने आज सर्वोदयनी साधनामां आवीने ऊभा छे। तेमणे पोताने हाथे अनेक मकानोनुं ज निर्माण कर्युं छे एम नथी, अनेक विद्यासंस्थाओनुं निर्माण पण कर्युं छे। पण स्वभाव प्रमाणे तेओ क्यांई मूढ थई चोटी शकता नथी। स्व माननी जाणवणी ए मुख्य वस्तु छे, एमां कांई बाधा आवे ते गमे तेवी प्रतिष्ठानुं स्थान होय पण ते छोडता जरा पण आंचको अनुभवता नथी।

परिभाषामां विचार करीये तो तेमने फकीर कहेवा के संसारी ए नक्की करी शकाय तेम नथी। जैन साधुनो वेष नानपणमां स्वीकार्यो हतो, पण ते वेशमां पण अनेक वेश थया पण मन क्यांई रम्युं नहि, वेश परिवर्तन कर्युं एटले कहेवाय तो संसारी अने श्रमण नहीं छता तेमना जीवनमां संसार अने श्रामण्यनो जे सुमेल छे ते कोई पण परिभाषामां बांधी शकाय तेवो नथी। पैसा कमाय छे, घर बांधे छे, पण पैसा पैसा के घरनो मोह नथी। गृहस्थ जेम रहे छे पण ब्रह्मचारी छे, परण्या नथी। जया जयंतनो लग्ननो आदर्श

चोपडीमां वांचीये छीए पण तेथी ऊंचो आदर्श जीवनमां तेमणे सिद्ध करी बताव्यो छे। लग्ननी भावना विना पण पुरुष अने स्त्री साथे रहे अने अन्यनां छोकराओने संसारी जेम उछेरे आवो अद्‌भूत संसार तेमनां जीवनमां जोवा मले छे। अनासक्त आश्रम जीवन गृहस्थना घरमां खडुं करवुं ए आश्चर्यजनक बीना छे। एमनुं घर ए चालु अर्थमां गृहस्थनुं घर नथी तेम आश्रम पण नथी। अने छतां बन्ने छे। संसारीओनां वसवाटथी दूर जई तेमणे कोई आश्रम बनाव्यो नथी। पण बाह्य देखावे एक संसारीना घर जेवुं ज घर होय अने ते पण सौ संसारी घरोनी वच्चे, छतां वातावरण आश्रमनुं होय आवुं विरल दर्शन तो आचार्य जिनविजयजीना घरमां ज थाय। मुनिजीनी आ साधनामां श्री मोती बेननो फालो नजीवो नथी। मुनिजीए नानपणमां वगर समजणे जे संसार त्याग करेलो ते समज्या त्यारे नवे रूपे त्याग्यो एम कही शकाय। अने ते रूप तेमनुं पोतीकुंज छे। संसार त्यागी साधु बननार अने पाछा साधुमांथी संसारी थनार अनेक श्रमणो ने जोया छे. पण आ श्रमण कोई जुदी ज माटीनो घडायो होय एम जणायुं छे। श्रमणमां जे त्याग भावनानुं प्राबल्य जोइये ते तेमना जीवनमां एवुं ते चणाई गयुं छे के गमे ते वेशमां तेओ होय त्यागनी भावना तो उभरो तट स्फटिक जेम विशुद्ध रूपे विकसती ज गई छे। आथी तेमणे पोतानी कमाणीनो उपयोग पोताना जीवन वैभवमां नहि पण लोकहित अने समाज हितना काममां कर्यो छे। आजे तेओ आचार्य हरिभद्रनुं, भामाशाहनुं अने सर्वधर्म समन्वनुं स्मारक रची रह्या छे। तेमां तेमनी ज कमाणीनो मोटो भाग खरचाई गयो छे। छतां पण तेओ तो धार्युं कार्य करवाना ज। तेमनी कमाणीना प्रमाणमां तेमनी जीवन जरूरियातो घणी ज ओछी कहो के न जीवी। एटले जे कांई बचे ते पोतानी धून प्रमाणे खर्च करता तेमने जरा पण संकोच नथी। भावी छे तेमनी त्याग भावना आवा पुरुषोना सम्पर्कमां आववुं अने तेमना जीवनमांथी कांईक यथा-शक्ति शीखवुं ए जीवननो लहावो छे। ए मने मल्यो छे, ते बदल तेमनुं ऋण स्वीकारता आनंद ज थाय छे। आपणे सौ ईच्छीये के आवा महापुरुष ने दीर्घायु मले, अने आदर्या पूरा करे।

मुनि श्री जिनविजयजी की कहानी उनके स्वलिखित पत्रों की जबानी

किसी भी व्यक्ति के पत्र उसके सही मूल्यांकन के बहुत बड़े और महत्त्वपूर्ण साधन होते हैं। समय समय पर मनुष्य की प्रकृत्ति, रुचि, विचार, प्रगति एवं प्रवृत्ति में जो परिवर्तन होता रहता है उसका यथार्थ परिचय इन पत्रों के माध्यम से भलीभांति मिल जाता है। इतना ही नहीं पत्र लेखक की भावी योजनाओं, कल्पनाओं, उसकी कार्य-पद्धति और सूक्ष्मभावों का पता भी इन पत्रों से ही सर्वाधिक मिलता है। पत्र लिखते समय व्यक्ति सहज और सरल बनकर अपने सारे सुख-दुख, हर्ष शोकादि की अनुभूति को व्यक्त कर देता है। अतः व्यक्ति के स्वयं के लिखे हुये पत्र-साहित्य का बड़ा महत्व है।

सस्ता-साहित्य मंडल से प्रकाशित कुछ पुरानी चिट्ठियां (श्री जवाहरलाल नेहरू के संग्रह की) नामक पुस्तक के प्रारम्भ-प्रकाशकीय में लिखा है—"संसार की सभी विकसित भाषाओं में पत्र साहित्य को बड़ा महत्व दिया जाता है और उसके भंडार में वृद्धि करने के लिये बराबर गम्भीर प्रयत्न होते रहते हैं। अनेक भाषाओं में ऐसे पत्र संग्रह निकले हैं और निकल रहे हैं। जो पाठकों का मनोरंजन तो करते ही हैं, उनको प्रेरणा भी देते हैं"।

सच बात यह है कि पत्रों की अपनी विशेषता होती है। वे दिल खोलकर लिखे जाते हैं। उनमें लिखनेवालों का हृदय और व्यक्तित्व बड़ी सच्चाई के साथ बोलते हैं। बनावट अथवा सजावट की उनमें गुंजाइश नहीं होती यही कारण है कि पाठकों के मन पर उनका सीधा और गहरा असर पड़ता है। पत्र साहित्य की लोकप्रियता भी इसी वजह से है।

सस्ता साहित्य मंडल, हिन्दुस्तानी अकादमी, आदि कई स्थानों से गांधी, विनोबा, जमनालाल बजाज, महावीर प्रसाद द्विवेदी, गालिब, आदि के पत्र संग्रह निकल चुके हैं। पर वे मण में कण की तरह और समुद्र में बिन्दु की तरह हैं।

पत्र लेखन पद्धति के रूप में कई संस्कृत ग्रन्थ मिलते हैं उनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुके हैं। उन ग्रन्थों में किन किन व्यक्तियों को किस-किस तरह से पत्र लिखे जाने चाहिये उसके मजमून हैं। विशिष्ट व्यक्तियों के लम्बे लम्बे विशेषण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

किस समय वे कहां थे ? कब-कब उनका स्वास्थ्य कैसा रहा ! कब कहां गये, कौनसे विशिष्ट कार्य किये, उनकी क्या इच्छा व योजना रही, उनकी रुचि एवं प्रकृति कार्य पद्धति आदि अनेक बातों पर इन पत्रों द्वारा प्रकाश मिलता है । अत: प्राप्त पत्रों के कुछ आवश्यक अंश यहां उद्दृत किये जा रहे हैं । वास्तव में इन समस्त पत्रों तथा ऐसे ही मुनिजी के लिखे अन्य पत्रों का संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित होना आवश्यक है ।

अहमदाबाद
२३-११-३७

आप जानते न हों तो जान रक्खें कि मेरा किसी गच्छ या संप्रदाय के साथ न राग है न द्वेष है । मैं तो गुणानुरागी हूं और सब गच्छों को और सब संप्रदायों को समान भाव से देखता हूं । हां ऐतिहासिक दृष्टि से और प्रमाणों से जो मुझे ठीक मालूम दे उसका विवान करना चाहता हूँ । सच्ची ऐतिहासिक दृष्टि हमें सम्यग्ज्ञान प्रदान करती है । सांप्रदायिक मोह हमें मिथ्या ज्ञान की ओर ओर भी लेजा सकता है । मुज्ञेपु किमधिकम् ।

हमारा ध्येय तो गच्छ संप्रदाय आदि के परे रहकर जैन धर्म के गौरवशाली पुरुषों का जगत् में यश फैलाने का है । वह किसी भी गच्छ का हो या संप्रदाय का हो ।

बम्बई
१४-६-३८

'राजस्थान' में आपका लेख पढ़ा । प्रसन्न हुआ । राजस्थान के योग्य आपके पास बहुत सामग्री है उसे निकलवाइये । मैं तो यहां पर ग्रन्थों के सम्पादन में फंसा हुआ हूं । खरतरगच्छ के आचार्य और विद्वानों की वे कृतियां जो इतिहासोपयोगी हों तथा सार्वजनिक दृष्टि से साहित्यिक विशेषता रखती हों, उन्हें हम प्रगट करना लाभदायक समझते हैं । यहां ओनरेबुल मिस्टर मुन्शी के प्रयत्न से एक रिसर्च इन्स्टिट्यूट खोलने का प्रयत्न हो रहा है । इसका संचालन करने में हमारा विशेष योग रहेगा और इसलिये हमको अभी यहां पर ही ज्यादा ठहरना पड़ेगा ।

साबरमती,
अहमदाबाद
१७-११-३८

यहां पर कल परसों दो दिन हेमचन्द्र जयन्ति निमित्त उत्सव है उसी प्रसंग के लिये आना पड़ा है आप जानते ही हैं कि ऐसे ग्रन्थों का संशोधन कोई आठ पन्द्रह दिन का थोड़ा ही काम है । उसके पूरा होने में कोई तीन चार महिने चाहिये । सिवाय हमारे हाथ में तो बीसियों काम है वह प्रति मोहन भाई के पास योंही

छः महिना पड़ी रही। अगर हमारे पास होती तो उद्धार हो जाता। हमारी इच्छा तो यही रहती है कि ऐसी दुर्लभ अलभ्य कृतियां हैं उनका उद्धार हो जाये तो अच्छा है। हमारी दृष्टि में इन मणियों की जो कीमत है वह औरों के लिये काँच भी नहीं है और हम जिस ढंग से इसका उद्धार कर सकेंगे वैसा औरों के लिये अशक्य है।

वम्बई

२७-९-३९

"राजस्थानी" में मेरे परिचय के विचार को सुनकर मैं आपके सौजन्य का वहुत ही कृतज्ञ हूं-लेकिन मुझे अपने विषय में कहने लिखने का खूब संकोच होता है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के लिए पांच वर्ष तक उनका तकाजा रहा तो भी मैं एक अक्षर भी उन्हें न दे सका। स्वय ही इधर उधर से उन्होंने इकट्ठा किया था। वडौदे सरकार की ओर से जो व्याख्यान माला निकली और जिसकी नकल आप अहमदावाद से ले गये हैं उसमें पण्डित श्री लालचन्द जी गांधी ने और डा० हीरानन्द जी शास्त्री ने कुछ लिखा है—डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने अंग्रेजी में सिंघी जैन ग्रन्थमाला के बुलेटिन में कुछ लिखा है—और भी वहुत से मित्रों ने इधर उधर लिखा है—लेकिन मेरे पास नहीं है। लेखों वगैरह की सूची भी मेरे पास नहीं है और सव कुछ याद भी नहीं है—'सरस्वती' में सबसे पहले लेख लिखने शुरू किये थे स्वयं आचार्य द्विवेदी जी ने उनकी वड़ी प्रशंसा की थी और मेरे दो एक गुजराती लेखों का खुद उन्होंने हिन्दी करके अपने नाम से प्रकाशित कर मुझे आत्मीय कह कर लिखा है। यह तो ठीक तव हो सकता है कि आपके जैसा सन्मित्र पास में वैठकर कुछ नोट करले और फिर लिख लें। मेरे से यह होना कठिन है।

वम्वई

३-१०-३९

पहले के प्रारम्भ के लेख जैन हितैषी, आत्मानन्द प्रकाश, वम्वई समाचार, गुजराती कान्फ्रेंस हैराल्ड आदि में निकलते थे, उनकी तो मुझे पूरी स्मृति भी नहीं रही है; मेरे पास उनके कटिंग वगैरह भी नहीं है। सम्पादित ग्रन्थों के नाम प्रायः मिल जायेंगे।

वम्वई यूनिवर्सिटी में दिये व्याख्यान अभी छपे नहीं—मेरी तरफ से ही विलम्ब है लेकिन क्या किया जाये। आप जानते ही हैं कि अपना काम कितना श्रमदाय और सामग्री की अपेक्षा रखता है। इस वर्ष उनको भी तैयार करने का प्रोग्राम है।

वम्वई

७-१०-३९

हमारी इच्छा तो केवल साहित्य के उद्धार की है और यह सब कृतियां प्रायः आपके ही गच्छ की हैं तो उद्धार करें यश आपको भी होगा ही।

एक और बोझ मेरे ही सिर पर आ पड़ा है वह है यहां नवीन स्थापित भारतीय विद्या भवन की ओर से 'भारतीय विद्या' नामक त्रैमासिक का प्रगट करना ।

इसमें कोई शक नहीं कि यह (युगप्रधानाचार्य खरतर) 'गुर्वावली' एक अद्वितीय प्रसिद्ध कृति है और इसे अच्छी तरह सम्पादित कर सुन्दररूप में प्रगट करने से अपने इतिहास की अच्छी महत्ता होगी ।

बम्बई
ता० २२-१२-३९

काम बहुत है और सब अकेले हाथ करना पड़ता है मेरी प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि दूसरों का किया हुआ पसन्द ठीक नहीं आता । सब प्रूफ मुझे ही देखने चाहिए, सब प्रकार का गैटअप मुझे ही ठीक करना चाहिए । इस प्रकार सब बातें मुझे ही करनी पड़ती है ।

बम्बई
२०—७—४०

कोई २॥–२ महिने से मेरा स्वास्थ्य कुछ गड़बड़ा रहा है । खास बीमारी तो कोई नहीं है लेकिन कार्याधिक्य के कारण अशक्ति और मंदता बहुत आ गई है । मस्तिष्क शून्य सा हो गया है और कार्य करने का उत्साह बहुत मंद हो गया है । इस सबब से दो एक महिने से लिखना पढ़ना प्रायः बन्द कर रखा है ।

बीकानेर से श्रीमान् स्वामी नरोत्तमदासजी ने मेरे पास कुछ रिप्रिंट भेजे हैं जिनमें उन्होंने मेरी जीवनी छापी है । आप लोगों ने मुझ पर इतना अत्यधिक ममत्वभाव बतलाकर मेरे लिये जो यह 'राजस्थानी' में लेख दे दिया है—मैं उसके बारे में आप लोगों का किन शब्दों से मेरा हार्दिक भाव प्रकट करूं, सो समझ में नहीं आता ! मैं तो आपही में से एक हूं ऐसा अपने को समझ रहा हूं इसलिये मेरे लिये कुछ लिखना अपने मुंह अपना ही बखान करने जैसा है । खैर—यह तो आप सज्जनों का है—मैं उसे कैसे नागवार कर सकूं ।

बम्बई
४–८–४०

मेरा कुछ स्वभाव ठेठ ही से अकेले आप ही काम करने का आदी हो गया है सो बिना स्वयं किये किसी काम में संतोष नहीं होता । दर असल मैंने अपने शरीर से बहुत अधिक काम लिया है इससे अब इस बेचारे के कमजोर होने में कोई दोष भी नहीं है ।

बम्बई

२७-११-४०

आजकल काम की बड़ी भरमार है। और आप जानते ही हैं देश में राजकारी विषय की बड़ी गड़-बड़ी मच गई है। हमारी इस संस्था के संस्थापक मुंशीजी भी जेल में जाने की तैयारी में हैं—सो भवन की पीछे की व्यवस्था कैसे की जाय इस विषय में दिन-रात परामर्श करने में लगे रहना पड़ता है। मुझे आपका खजाना देखना है और वहां के विद्वान मित्रों से मिलने की भी बड़ी उत्कंठा है। देखें यह इच्छा कब पूरी होती है।

शायद मेरे जैसे से जो एक दफह चित्त उचट गया और इन पोथी पन्नों को फेंक दिया तो फिर जिन्दगी तक हाथ में लेने का जी नहीं होगा। आजकल भी मन को मैं बड़े जोर से दावे बैठा हूं—सब साथी और नेतागण जेल में जा रहे हैं और मेरे से यों कैसा बैठा जाय पर मुंशीजी आदि बड़ा दबाव डालकर कह रहे हैं कि तुम जेल में गये तो फिर यह सारा साहित्य का काम बिगड़ जायगा और लाखों रुपयों का नुकसान होगा। अभी भा० वि० भ० में ८-१० स्कॉलर काम कर रहे हैं, वे सब निकम्मे हो जायेंगे इत्यादि—सो मैं मन को मारकर इस काम में मर रहा हूं। इधर शरीर भी अब बड़ी परेशानी कर रहा है लेकिन सोच रहा हूं कि यदि काम बन्द हो गया तो फिर सदा के लिए हुआ समझिये। और सामग्री जो इतनी इकट्ठी हुई पड़ी है वह सब निरर्थक हो जायगी—खैर।

हमारे पुराने यतिलोग साहित्य के क्षेत्र में कितना महान और अनेक विध कार्य कर गये हैं इस दृष्टि से ऐसे साहित्य का बड़ा उपयोग है और हमें अपने पूर्व पुरुषों की कृतियों को प्रकाश में रख कर अपना ऋण चुकाने का लाभ उठाना चाहिए।

साबरमती, अहमदाबाद

२०-४-४१

मैं कुछ बीकानेर आने की इच्छा से यहां पर रुक रहा—पर यहां पर पिछले ४ दिन से हिन्दु-मुसल-मानों का बड़ा भयानक झगड़ा शुरू हो गया है जिससे सारा शहर आंतक में घिरा हुआ है। सब प्रकार का व्यवहार बन्द है और लूट-मार, आग आदि के भयंकर काम चल रहे हैं। जो जहां बैठा वह वहीं बैठा हुआ है। मकान में से बाहर निकलने की किसी की हिम्मत नहीं है। सो इस तरह मेरा मनसूबा जहां था वहीं रह रहा है। आप हैं इसलिए आने की बड़ी उत्कंठा बनी हुई है--पर कौन जाने विधि का क्या संकेत है? मामला शान्त हो गया तो मंगल या बुध के दिन निकल आने का इरादा है—नहीं तो फिर आना संभव नहीं। आने के विषय में जो निर्णय होगा वह आपको सूचित कर दूंगा।

वम्बई
२०-५-४१

ग्रापकी सामग्री बड़ी सुरक्षितता के साथ रखी हुई है। ग्रापने ऐसी ग्रनमोल चीजे जिस विश्वास के साथ मुझे दी है उसका स्वपन में भी कोई दुरुपयोग नहीं होगा।

पं० सुखलाल जी यहीं हैं ग्रौर यशोविजयजी के बारे में कुछ विस्तृत निबन्ध सामग्री इकट्ठी कर रहे हैं।

भाई हजारीलाल को सप्रेम शुभाशीर्वाद—उनका मेरा उस व्याख्यान का सार वाला लेख ग्राज ही मैंने 'ग्रनेकान्त' में पढ़ा। बड़ी जल्दी से लेख तैयार कर डाला ग्रौर छपवा भी दिया सो जानकर हैरान सा हो गया कि यह कहां से ग्रौर कैसे ग्रा गया। सार यों तो बहुत ही ठीक ग्रौर व्यवस्थित है पर बीच में जहां गड़बड़ होगई है ग्रौर उससे कुछ भ्रमसा हो जाता है। ग्रच्छा होता यदि यह मुझे जरा दिखला दिया जाता तो जरा सुधार देता, क्योंकि सार्वजनिक संस्थाग्रों ग्रौर ग्रन्य व्यक्तियों का उल्लेख करते समय जरा पूर्वापर का विचार रखना पड़ता है। कई विघ्न संतोषी होते हैं जो ग्रर्थ का ग्रनर्थ करने ही में तत्पर रहते हैं। खासकर मूंगालाल सेठ के विषय में जो एक वचन का प्रयोग ग्रादि किया गया है वह ठीक नहीं। दिवालिये ग्रादि वाली भाषा भी जरा ग्रोछी लगती है। सो इस विषय में भविष्य में पूरा ख्याल रखना ग्रौर ऐसी भाषा ग्रौर शब्दों का व्यवहार करना चाहिए जिससे किसी को कुछ खटके नहीं। भाई हजारीलाल होनहार हैं ग्रौर इसे खूब तैयार होना चाहिए यही हमारी शुभकामना है। मूलचन्द्र ग्रहमदाबाद में है ग्रौर मजे में है।

विशेष श्रीमान् प्रो० स्वामी नरोत्तमदासजी से मेरा स्नेह प्रणाम कह दीजियेगा। ग्रौर राव जयतसीरा छंद की तारीफ करते 'रहिये'। श्रीमान् ठाकुर रामसिंहजी से भी मेरा सादर प्रणाम कह दीजियेगा ग्रौर जल्दी होने के कारण मैं उनसे फिर नहीं मिल सका ग्रौर उनके साथ वार्तालाप ग्रादि का लाभ नहीं उठा सका इसका मुझे खेद ही रहा पर देखूं कभी फिर इसका निवारण हो जायगा। ग्राप उनसे मेरी ग्रोर से बहुत ग्रादर के साथ यह बात कहदें ग्रौर राजस्थानी साहित्य का स्रोत जैसा कि स्व० पारीकजी के जाने से बहता बन्द हो गया है उसे फिर से चालू करियेगा। उस साहित्य के प्रकट करने का भार मैं ग्रपने सर पर उठा लूंगा।

वम्बई
३०-८-४१

ग्रगर ग्राप मेरे हाथ से कुछ उपयुक्त साहित्य सेवा के होने की ग्राशा रखते हैं तो ग्रापको तो ज्यो बने त्यों मुझे उत्साह देना दिलाना चाहिए ग्रौर सहायता करनी चाहिये। ग्राप ही जैसों के उत्साह से तो मैं ग्रपने शरीर का सर्व तरह से क्षय करता हुग्रा इस व्यसन में डूबा रहता हूं—नहीं तो यह पुस्तक प्रकाशन ग्रौर गरीबों के मूमूत घोना दोनों एक से प्रिय ग्रौर ग्रात्मोन्नति साधक प्रतीत होते हैं इसलिए मेरे वास्ते इसका कुछ ग्रधिक महत्व नहीं है। ग्रापतो गृहस्थ हैं, कुटुम्ब वाले हैं, व्यापारी स्वभाव के वणिक हैं-इसलिये ग्रापके लिये

कोई यह कार्य प्रधान कार्य नहीं है—केवल अवकाश में करने जैसा शौक का काम है—पर मेरे लिये तो यह जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया है और इसीलिये शरीर की सर्वथा उपेक्षा करके, मृत्यु को निकट निकटतर बुलाता हुआ इसके व्यामोह में फंसा हुआ हूं। इस परिस्थिति को देखकर आपको धैर्य और औदार्य रखना चाहिए। बाकी मेरे पास तो इतना साहित्य पड़ा है और सुलभ है कि इस एक जन्म में तो क्या २–३ जन्म तक भी पूरा नहीं हो सकता।

अहमदाबाद

३–४–४२

आत्मानन्द शताब्दी स्मारक फण्ड की तरफ से आगमों के प्रकाशन की कोई योजना सोची जा रही है। उसमें मेरी सलाह वगैरह की आवश्यकता है।

यहां पर आणंदजी कल्याणजी ने मेरी प्रेरणा से जैन आर्कियोलॉजीकल डिपार्टमेंट खोलना लगभग निश्चय किया है और उसकी व्यवस्था मेरे ही निरीक्षण नीचे रखने का तय किया है।

आप मेरे काम के साहित्य को तो यथावकाश भेजते ही रहियेगा। आप ज्यों ज्यों लिखते हैं त्यों त्यों मेरा उत्साह बढ़ता जाता है और मैं पड़ा हुआ, बैठ कर खड़ा हो जाता हूं।

बम्बई

६–७–२२

भारतीय विद्या भवन का वह भव्य मकान जो अंधेरी में २॥ लाख रुपये के खर्च से बना है, सरकार ने मिलीटरी के रहने के लिये मांग लिया है। इसलिये हमको अपना यह विद्या भवन दूसरी जगह किराये के मकान में ले आना पड़ा है।

पो० साबरमती

१५–९–४२

जैसलमेर जाने की मेरी इच्छा तो बहुत उत्कट है पर देखूं यह इच्छा कब पूर्ण होती है। अभी तो देश का मामला बड़ा गड़बड़ी में पड़ा हुआ है। ऐसे समय में कुछ काम करने में दिल नहीं लगता। एक महिने से यहां पर बैठा हूं। नित नये उलट पुलट समाचार और वारदात होते रहते हैं। लोगों के दिल बड़े क्षुब्ध हैं। यहां पर सवा महिने से बिलकुल सब काम धन्धे बन्द से हैं। मिलें सर्वथा बन्द हैं। बाजार भी बन्द हैं—स्कूल कालेज भी बन्द हैं। अभी इस गोलमाल में कुछ भी करने की सूझ नहीं हो रही है। मामला कुछ शान्त पड़े बाद ही सब व्यवस्था हो सकेगी।

जैसलमेर

२६–१२–४२

हमारा यहां का काम खूब अच्छी तरह चल रहा है। साथ में ५ आदमी भी हैं जो नकलें वगैरह का काम कर रहे हैं। आपके अक्षर जरा बहुत गड़बड़ी वाले होते हैं। कल परसों लोद्रवा जाने का विचार है—श्री आचार्य महाराज भी आज जा रहे हैं।

बम्बई

५–७–४३

जैसलमेर के भंडार के ताड़पत्रीय पुस्तकों की रक्षा के लिए पेटियां बनानी बहुत ही आवश्यक हैं नहीं तो वे ग्रन्थ बहुत ही शीघ्र नष्ट हो जायेंगे उसके लिए हमारे दिल में उत्कंठा तो बहुत ही है पर उसमें जरूरत है कुछ उदार दिल के धनिकों की।

जैसलमेर के भाइयों के तथा अन्य ग्रामजन और श्री महारावलजी के साथ हमारा अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है। उस विषय में कोई कहने की बात नहीं है। वे तो सब हम कहें वैसे खड़े पैरों करने के लिए तैयार हैं, पर जरूरत है बाहर से रुपयों के आने की।

बम्बई

६–११–४३

मेरे पास ऐसे तो सैकड़ों काम पड़े हैं। कितना काम का ढेर है यह तो आप कभी आंखों से देखें तब कुछ पता लग सके। कितने ग्रन्थ छप रहे हैं—कितनों के प्रूफ आ रहे हैं—कितनों की कापियां आ रही हैं, कितनों की प्रतियां मंगाई और देखी जा रही हैं और उसके उपरान्त वहां भवन का कितना विशाल कार्य चल रहा है। आपकी कल्पना के बाहर की ये सब बातें हैं। १० प्रोफेसर मेरे नीचे काम कर रहे हैं, १२ एम. ए. पास स्कॉलर पी. एच. डी. की तैयारी मेरे गाइडेंस नीचे कर रहे हैं। बम्बई यूनिवर्सिटी ने तीन विषयों का एक साथ P. H. D. का रिकगनेशन मुझे दे रखा है जो आज तक किसी प्रोफेसर को नहीं दिया गया।

इसके साथ अहमदाबाद की गु० व० सोसायटी के उच्च अभ्यास विभाग में मैं मुख्य परामर्शदाता हूं। ऐसी प्रवृत्ति में मुझे पत्र लिखना भी बड़ा कठिन हो जाता है। कई बड़े बड़े विद्वानों के दूर दूर से पत्र आते हैं जिनका उत्तर महिनों तक नहीं दे सकता।

सामग्री तो बहुत है, पर काम में सहायक हों ऐसे विद्वान व्यक्तियों का बड़ा अभाव है। अकेले हाथ से जितना काम हो सकता है।

भारतीय विद्या भवन ने दो बहुत बड़े काम और अपने हाथ में लिये हैं जिनमें एक तो ८ लाख रुपये के खर्चे से आर्टस कॉलेज स्थापित किया जायगा और दूसरा भारतवर्ष का बृहदितिहास जो बड़े बड़े १०-१२ भागों में संकलित होगा, प्रकाशित किया जायगा। श्री बिड़ला ने उसके लिए डेढ़ लाख रुपया देने का वचन दिया है। और शीघ्र ही इसका कार्यालय स्थापित होगा। बड़ा भारी कार्य होगा।

बम्बई
२२-११-४३

विक्रम के विषय में मैं कोई खास विचार स्थिर नहीं कर सका हूं क्योंकि इस विषय का जितना भी साहित्य है उसको मैंने अभी तक संकलित रूप से नहीं देखा। विक्रम के विषय में मुझे भी दो तीन जगह से खास करके डा० राधाकुमुद मुकर्जी का विशेषाग्रह है कि मैं कुछ न कुछ लिखूं। इस मौके पर विक्रम विषयक जितने महत्व के जैन कथा ग्रन्थ हैं उन सबको ३-४ भागों में विक्रमोत्सव के उपलक्ष में प्रकट कर दिए जाय। इससे अच्छी विक्रम श्रद्धांजलि और क्या हो सकती है ? पर इस समय सबसे बड़ी समस्या कागज की हो रही है।

बम्बई
३०-११-४३

मैं यहां से आगामी ता० ७ को कानपुर के लिए जाऊंगा। वहां हिन्दुसंघ की ओर से विक्रमोत्सव है जिसमें देश के मुख्य मुख्य विद्वानों को बुलाया है। मुझे भी जाना जरूरी है। वहीं पर, भारतवर्ष के बृहदितिहास की योजना निश्चित की जाएगी शायद वहां से मुझे कलकत्ता जाना पड़े और फिर ता० ३१ डी. को बनारस में ओरिएन्टल कान्फ्रेन्स में यहां की यूनिवर्सिटी की ओर से जाना होगा।

बम्बई
१०-२-४४

गत ७ दिसम्बर को मैं यहां से विक्रमोत्सव के निमित्त कानपुर गया था। वहां से वापस आकर फिर बनारस ओरिएन्टल कान्फरेन्स में वहां से डालमिया नगर और फिर वहां से कलकत्ता, वहां से फिर इधर ता० १४ जनवरी को पहुँचा। प्रवास के परिश्रम के कारण शरीर बड़ा शिथिल हो गया—१०-१२ दिन अस्वस्थता में चले गये और साथ में यहां पर भवन का कार्य भार भी बहुत बढ़ गया। भारतवर्ष के बृहद् इतिहास की जो योजना की जा रही है उसका काम कई दिन तक लगा रहा।

डालमियानगर से श्री शांतिप्रसादजी जो बनारस लेने के लिये आये थे इसलिये उनके आग्रह से एक दिन वहां जाना हुआ उन्होंने भारतीय विद्या भवन में रहकर अध्ययन करने पोस्ट ग्रेजुएट स्टुडेंटों के—एम० ए० और पी० एच० डी० का अभ्यास करने वालों के लिए माहवार ३००) रुपया फेलोशिप देने का वचन दिया है। इससे अब भवन में ६-७ विद्यार्थी जैन साहित्य का अध्ययन करने वाले रह सकेंगे।

बम्बई
९-१२-४५

ता० २६ नवम्बर को यहां से उदयपुर (मेवाड़) जाना पड़ा सो कल वापस आया हूं। उदयपुर में महाराणा से मिलना था। आपको मालूम होगा कि कुछ राजपूत स्टेटस् एक राजपूत यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं। उसी के सिलसिले में मुझे और श्री कन्हैयालालजी मुंशी को वहां जाना पड़ा, वहां पर उदयपुर डूंगरपुर, पन्ना के महाराजा से मिलना हुआ और यूनिवर्सिटी की स्कीम की चर्चा की गई इसलिए मैं और श्री मुंशीजी दोनों वहां पर गये थे कल ही वापस आये हैं। इसी सबब से मेरा बीकानेर जाना, जो मैंने स्वामी जी को ता० १५ दिसम्बर निश्चित लिखा था बन्द रखना पड़ा।

शरीर भी निकम्मा हो रहा है पर उसकी उपेक्षा करके चल रहा हूँ, यदि प्रताप यूनिवर्सिटी की स्कीम कुछ अमल में लाने का अवसर आया तो उसके संगठन और संयोजन का बहुत बड़ा भार मुझे उठाना पड़ेगा। उसके प्रेसीडेंट पन्ना महाराजा वगैरह मुझे ही उस काम का संयोजक बनाना चाहते हैं और ऐसा हुआ तो मुझे कुछ समय मेवाड़ उदयपुर–चित्तौड़ जाकर आसन जमाना पड़ेगा।

मेरे दिल में ओसवाल महाविद्यालय की कायम करने के कई कारणों से बड़ी आवश्यकता प्रतीत हो रही है वे कारण प्रत्यक्ष ही में विशेष बताये जा सकते हैं। मैं अभी चित्तौड़ दो दिन ठहरा था, वहां ऊपर नीचे खूब घूमा। यूनिवर्सिटी के लिए उपयुक्त स्थान कौन सा हो सकता है। इस दृष्टि से सब देखा-भाला।

मेरे दिल में तो यह भी आया कि खरतरगच्छ की मूल जन्मभूमि चित्तौड़ है। चित्तौड़ का महत्त्व जैन इतिहास में बड़ा भारी है। यदि खरतरगच्छ में कोई जानदार व्यक्ति हो और गच्छ के गौरव की जिसको किंचित भी श्रद्धा हो तो उसके लिए तो चित्तौड़ सबसे पवित्र और पूजनीय तीर्थ स्थान है। मैं चाहता हूं कि श्री जिनदत्तसूरि और जिनवल्लभसूरि के नाम का वहां बड़ा भारी स्मारक बनाया जाय[1] और बड़ा भारी कोई साहित्यिक और शिक्षा विषयक केन्द्र स्थापित किया जाय आप जैसे ५–१० उत्साही भाई जो मेरा जी खोलकर साथ करें तो मैं इसमें अपनी पूरी शक्ति देना पसन्द करूं। क्या आप लोगों के दिल में कुछ भावना पैदा हो सकती है ?

पूना
२२-८-४६

एक तो इच्छा होती है—अब इस प्रपंच को छोड़कर एकान्त निवास करूं—दूसरी साथ में कुछ सामाजिक प्रवृत्ति का भी कार्य करने की ऊर्मि उठती रहती है। देश की और समाज की जो वर्तमान दशा है उसमें कुछ करने जैसा मेरे लिए विशिष्ट कार्य पड़ा है। और मैं मानता हूं कि मुझे यह करना चाहिए,

---

१ हरिभद्रसूरि स्मृति मंदिर मुनिजी ने स्थापित कर जिनदत्तसूरि सेवा संघ को सौंप दिया है उसमें इन आचार्यों की मूर्तियां भी स्थापित होंगी।

उससे अधिक मैं अपनी शक्ति का लोगों को लाभ दे सकता हूं। यह साहित्यिक कार्य तो और भी करते रहेंगे। आगामी २-४ महिने में इसी मनोमन्थन में व्यथित रहूंगा ऐसा मालूम दे रहा है। सो क्या हैं यह तो आप कभी मिलेंगे जब समझेंगे।

मेरे मन में बहुत समय से यह बात घुल रही है कि चित्तौड़ में जिनदत्तसूरिजी की स्मृति में कोई छोटा-बड़ा स्मारक स्थापित करना चाहिए। खरतरगच्छ के गौरव की निदर्शक कोई वस्तु हमें करना चाहिये जैन इतिहास की अमरता के लिए ऐसा कोई प्रयत्न करना बहुत आवश्यक है। वरना सब काल के प्रवाह में विलुप्त हो जायगा और अब बहुत ही शीघ्र वैसा विनाश होगा।

अब यह शरीर कहां तक काम करेगा कह नहीं सकता। मन तो वैसे ही दौड़ता रहता है और ज्यों-ज्यों नये ग्रन्थ हाथ में आते रहते हैं त्यों-त्यों उनका उद्धार करने का मनोरथ भी बढ़ता ही रहता है परन्तु आयुष्य तो अब अपने अन्त के समीप पहूंच रहा है। न मालूम वह किस दिन समाप्त हो जायगा—सो इसका विचार आते ही मन को दूसरी तरफ भी सोचना पड़ता है। करीब ५८ वर्ष हो चुके। कार्यकाल प्राय. पूरा होने का समय समझा जा सकता है। जितना भी आयुष्य अब हो वह विशेष ही समझना चाहिए। और इस लेखन, संशोधन के सतत परिश्रम से शरीर को जो क्षति पहुँच रही है वह तो विचार के बाहर की बात है। इस कार्य ने मेरे आयुष्य के कम से कम २ वर्ष तो यों ही खा लिए हैं। डाक्टर लोग वर्षों से मुझे कह रहे हैं कि तुम्हें ९-१० वर्ष और जीना हो तो इस परिश्रम को सर्वथा छोड़ दो परन्तु मैं इसका व्यसनी जो रहा-छोड़ा कैसे जाय सो ही कल्पना में नहीं आता।

बम्बई
१४-१०-४६

इसी वर्ष ता० २०-२१-२२ को नागपुर में ऑल इण्डिया ओरिएन्टल कोन्फरेंन्स है। मुझे प्राकृत विभाग का उन्होंने अध्यक्ष भी नियुक्त कर रखा था— परन्तु मेरा जाना कठिन हो गया।

कलकत्ता
३०-३-४७

यहां पर कल ही सुनीति बाबू मिले थे। वे भी उदयपुर होकर आये हैं और उनके अध्यक्षत्व में उन लोगों ने निर्णय किया और मुझे दबाव कर रहे हैं। मुझे यह सर्वथा पसन्द नहीं है। मैं तो काम चाहता हूं। राजस्थान की कुछ उपयुक्त सेवा कर सकूं तो सार्थक हो—नहीं तो खाली आडम्बर का क्या अर्थ है?

बम्बई

व्यवस्थित करना है। मैंने उसका डायरेक्टर होना स्वीकार किया है। प्रताप विश्वविद्यालय का प्रधान महामात्र होना भी मैंने स्वीकार कर लिया है। उदयपुर महाराणा ने बड़ी भारी उदारता दिखलाई है और आशा है कि भारत भर में एक नई चीज होगी। महाराजा ने कोई ६७ लाख की स्थावर जंगल सम्पत्ति विश्वविद्यालय को देना उद्घोषित किया। मेरी स्थिति बहुत ही व्याकुल रहेगी। ग्रन्थमाला के ग्रन्थ भी इसी तरह बीच में लटक रहे हैं। सम्भव है उदयपुर में उनका निपटारा होगा। वहां मुझे कुछ नये सहायक भी मिल सकेंगे। मेवाड़ के इतिहास और ऐतिहासिक सामग्री का उद्धार करना मेरा प्रधान लक्ष्य रहा है। उसे हाथ में लेने का ईश्वर ने सुयोग उपस्थित किया है। जिनेश्वरसूरि के बारे में कुछ लिखते हुए चित्तौड़ का मुझे अत्यन्त आकर्षण हुआ।

अहमदाबाद
२९-९-४७

मन में तो बहुत कुछ करने की उमंगे दौड़ती रहती हैं परन्तु होता वही है जो निर्मित है—इससे होने न होने का हर्ष-शोक करना निरर्थक है—मैंने सोचा था उदयपुर में रहने का प्रसंग आया तो चित्तौड़ में जिनेश्वर सूरि का कोई बड़ा भारी स्मारक स्थापित करने कराने का प्रयत्न करूंगा लेकिन यह स्वरूप अभी तो यों ही सुप्त ही सा रह गया है—देखें भावि क्या करता है।

बम्बई
४-१०-४८

मेरे पास जो बहुमूल्य सामग्री थी वह भी मैंने तो इस भवन को दे दी है—जिसका मूल्य एक्सपर्ट विद्वानों ने ५० हजार के ऊपर ही कोती है। मेरा कुछ लोभ इस साहित्य को प्रकाशन में लाने का रहा है इसलिये मैंने आपकी इस सामग्री को संभाल के रख छोड़ा। आपको तो ज्ञात है ही कि ऐसी सामग्री जो मेरे लिये इतनी उपलब्ध है कि जिससे मेरे जैसे सौ भूखों का पेट भर सकता है। जो पड़ी है—जिसका मैंने छपवाने की दृष्टि से संग्रह कर रखा है वह भी अपरिमेय है। तब भी मेरा लोभ जो कि हेय है–जिसने मेरा जीवन एक प्रकार से यों ही नष्ट कर दिया–स्वास्थ्य भी बिगाड़ दिया–आयुष्य भी अल्प कर दिया–मन में से हटता नहीं है–एकाधा फटा पन्ना देखकर उसमें लिखा भ्रष्ट दूहा भी ज्ञात कर मुझे उसके उद्धार की लालसा हो आती है। और इस लालसा के वश होकर जिसके आज कोई ४० वर्ष पूरे होने आये……। अब तो यह जीवन अपने निर्वाण के समीप पहुँच रहा है। न जाने किस दिन विलीन हो जायगा। इसलिये इस लालसा को भी हटाना है। जो कुछ काम हाथ में लिया हुआ है उसे समाप्त करना है।

मैं सुबह ७ बजे से काम पर बैठता हूं और रात को ९ बजे बन्द करता हूं। इसमें ३-४ दिन में कभी घंटा-दो घंटा बाहर जाता हूं और कहीं नहीं जाता। तब भी काम पूरा नहीं होता। कुछ विचार लिखने हुए तो उसके लिये पचासों ग्रन्थ उथलाने पड़ते हैं। महिनों के परिश्रम के बाद ५-१० पत्र लिखने की सामग्री दिमाग में जमती है। उसे व्यवस्थित लिखना भी एक काम है। आपके जैसा मनुष्य कोई साथ में दो-चार महिने रहे तो बहुत-सा काम जल्दी निपट सकता है। खैर! ज्ञानी ने जो देखा है वही होना है और

वही होगा। मैं तो सिर्फ उदयाधीन कर्म का फल भोगने वाला हूं। इतना तो निश्चित है कि जो कुछ समय इसमें जा रहा है वह लाभदायक न हो तो भी आत्मा को हानिकर तो नहीं है।

बम्बई
११-७-४६

मेरा ऐसा स्वभाव है कि जिस समय जिस कृति को लेकर बैठता हूं तब ही उसकी सब सामग्री का संकलन या तारण आदि करने की सूझ पड़ती है। पहले से ही अनेक ग्रन्थों की सामग्री तैयार करना असंभव है। जब जिस काम को शुरू किया जाता है तब ही उसकी विचारधाराएं आंखों के सामने आकर उपस्थित होती हैं। यदि उसके बीच में कुछ व्यवधान आ गया तो फिर वह सब बिखर जाती है और स्मृति से भी निकल जाती है।

हमारे इस भवन के नये मकान का काम पूरा होने पर है। आगामी ८ अगस्त को श्रीमान् राज-गोपालाचार्य जी के हाथों इसका बड़े समारोह के साथ उद्घाटन होना निश्चित हुआ है। उसकी तैयारियां चल रही हैं। मकान बहुत भव्य और दर्शनीय बना है। बम्बई भर में एक प्रेक्षणीय स्थान बना है रुपया तो करीब २० लाख के खर्च हो जायेंगे।

आपके वहां भी आपका ज्ञान मंदिर बन गया है सो जानकर बहुत प्रसन्नता हुई। आपके संग्रह में भारी सामग्री है उसे खूब रक्षा के साथ रखने की व्यवस्था आवश्यक थी ही। क्या भवन के उद्घाटन के समय यहां आने का विचार करेंगे।

बीकानेर आने का आपका आमंत्रण तो बहुत प्रिय लगता है लेकिन जब निकल पड़ूं तब तो। इच्छा तो जरूर रहती ही है कि आपकी सब सामग्री को ठीक से देखूं। फिर मन में यह आता है कि अब देखकर भी क्या करना है—कार्यकाल अब प्रायः बीत चुका है।

सर्वोदय साधना आश्रम, मु. चन्देरिया जि. चित्तोड़गढ
वर्तमान मुकाम राजस्थान पुरातत्व मन्दिर, जयपुर ७-८-५०

मैं पिछले मई में ता. १३ को यहां आकर यहां के पुरातत्व मन्दिर का काम चालू किया है। धीरे-धीरे काम जम रहा है। सरकारी काम है। किसी को फिक्र तो है नहीं। ओफिसियल ढंग से सब काम होता रहता है। राजस्थान में कुछ ऐसी संस्था बने तो अच्छा है इस प्रलोभन से मैंने यहां का कुछ भार लेना स्वीकार किया है बाकी मेरा लक्ष्य तो अब चन्देरिया के आश्रम की ओर है। मैं यहां बीच-बीच में आता जाता रहता हूं। स्थाई रूप से नहीं। चन्देरिया में भी बैठकर तो वही मुख्य करता रहता हूं। अभी तो वहां कुछ भी साधन नहीं जमा। स्टेशन पर एक झोंपड़ी किराये पर रखकर उसके आश्रय में काम चालू किया गया है। वहां मुख्य उद्देश्य तो खेती का है। स्वयं परिश्रम भी करने का ध्येय है। अभी कुआ खुद रहा है और एक छोटासा मकान बन रहा है। ××× राजस्थान पुरातत्व मन्दिर का कार्य क्षेत्र बहुत ही संकुचित रखा गया है। राजस्थान में संस्कृत साहित्य की खोज और कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन बस इतना ही–इसकी कार्य सीमा निर्धारित की गई है। यहां के पुराणे ब्राह्मणों की वृत्ति को इस निमित्त से कुछ रुपया मिल जाय तो ले लेना–इस दृष्टि से काम कर रही है। इनको साहित्य, संस्कृति या इतिहास के उद्धार की कोई चिंता नहीं है–कल्पना भी नहीं है।

भारतीय विद्याभवन
बम्बई–७
ता. १५-७-५३

मैं भोजन के लिये उठने वाला ही था और भवन के ४ मंजिल उतर कर अपने रहने के मकान में पहुंचने को उठा ही था कि आपका पो. का. हाथ में आया उसी क्षण वापस टेबिल पर बैठकर आपकी आज्ञा का पालन कर रहा हूं और यह पत्र लिख रहा हूं। भोजन और चाय अब तीन बजे एक साथ ही लूंगा कल सायंकाल से सिर में दर्द हो रहा है इसलिये सुबह भी कुछ नहीं लिया था—टेबिल पर प्रूफों का ढ़ेर पड़ा है इसलिये निपटाने की दृष्टि से सुबह के ७ बजे से एकासन पर बैठा हूं – ××× आप लिखते हैं–मैं कुछ रुष्ट हुआ हूं ! सो कैसे जाना ? हां कभी कभी रोष आने जैसा आपका तकाजा होता है पर वह तो काम की दृष्टि से आप मुझे चाबुक दिखाते रहते हैं ऐसा मानकर रोष को छुटकार देता हूं–पर इतनी बात जरूर मन में आजाती है कि आप नितान्त लोभी प्रकृति के और एक मार्गी हैं—जो आया उसे उठाया और कोठार में रखा—वाली कहावत के आप उदाहरण दिखाई देते हैं और जो कुछ थोड़ा बहुत जैसा वैसा भी काम कर रहा हूं उसकी कोई खास कद्र आपको है नहीं और आप सदैव—यह नहीं हुआ—वह नहीं हुआ के चाबुक मुझे लगाते रहते हैं सो जरा मेरे जैसे अल्पज्ञ और अल्प प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति के लिये आकर लगना स्वाभाविक है। पर मैं यह जरूर समझता हूं कि आपका आशय तो ठीक है–उसमें विवेक की कमी है। मेरे लिये तो आशय ही ग्रहणीय है और उसी को नजर सामने रखकर मैं आपके मान ममत्व भाव रखता हूं और रखता रहूंगा।

× × × × ×

केवल अपनी मूर्खता भरी धुन के कारण उनके (प्रतियों) पीछे पड़ गया और न शरीर, न ममान, न खानपान, और आरोग्य-आनन्द आदि का ध्यान रखा और न किसी के प्रोत्साहन या प्रशंसा की आकांक्षा

की—केवल स्वान्त संतोष की दृष्टि से— ज्ञानोपासना की दृष्टि से यह मजूरी करता रहा हूं।

यहाँ पर कई ग्रन्थों का काम एक साथ चल रहा है उन सबके प्रूफादि देखने पड़ते हैं–रोज ३-३,४-४, फर्मों के प्रूफ आते हैं उनका मूल से मिलान करना, ठीक करना आदि बड़ी झंझट है आपको इस काम के करने की तो कोई कल्पना है नहीं–यदि मेरे साथ दो महिने बैठकर इस काम का कुछ अनुभव कर लें तो फिर आपको ज्ञान होगा कि किस तरह काम किया जाता है। आप हर दफह लिखते रहते हैं कि वह छप गया होगा-वह छप गया होगा परन्तु इस छपने में किस तरह पिसना पड़ता है आकर देखिये और फिर कुछ ख्याल करिये–शरीर की इस क्षीण अवस्था में भी मैं १४-१४ घंटे यहां पर काम कर रहा हूं साथ में अमृतलाल, लक्ष्मण, रसिकलाल, प्रो० मायाणी वगैरह भी हैं—परन्तु ये सब थक जाते हैं और मैं रात को १२-१२ बजे तक काम करता रहता हूं।

लिखते लिखते थकसा गया हूं और इसी बीच कई जनें आगये ३-४ बज रहे हैं मैं अपनी जगह से हिला तक नहीं हूं—चाय भी यहीं बैठकर पी ली है—अब उठकर प्रेस में जाना है—सो अब यहीं खतम करता हूं मैंने सहजभाव से जो मन में आगया सो लिख डाला आप उस पर कोई गौर नहीं करें—हम समव्यसनी जो रहे।

जयपुर

२१-४-५५

मेरी आंखें अब दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है इसलिये पत्रादि का लिखना कष्ट सा प्रतीत होता रहता है। जो कुछ थोड़ा बहुत काम हो सकता है वह कुछ व्यवस्यात्मक और संपादनात्मक रहता है।

राजस्थान सरकार ने इस कार्यालय को जोधपुर ले जाना सोचा है—वहां पर इसके लिये नया भवन बनाने की योजना भी बनाई गई है और गत ता. १ अप्रेल को राष्ट्रपति के हाथों से उसका शिलान्यास भी किया गया है। × × मैंने तो गत फरवरी में सरकार को सूचित कर दिया था कि मैं अब इस कार्यालय के काम में अपना विशिष्ट योग देने में असमर्थ हो रहा हूं अतः मैं निवृत्त होना चाहता हूं पर मुख्यमंत्रीजी ने विशेष अनुरोध किया कि अभी इस कार्यालय को ठीक जम जाने दीजिये और इसे जमाइये—हम इस विषय में आप चाहेंगे वैसा करने को तैयार हैं—इत्यादि।

जोधपुर

३०-१२-६४

विज्ञप्ति चरित के विषय में आपने जो सूचना दी, उसके लिये आभार। × × मैं कल चित्तौड़ जा रहा हूं।

किसी साधनाशील-जीवन, कर्मयोग मय पुरुषार्थ और प्रकाण्ड पांडित्य की त्रिपुटी के तपोमय व्यक्तित्व का ख्याल आता है तो राजस्थान में मेरे सामने मुनि जिन विजय जी महाराज की मूर्त्ति खड़ी हो हो जाती है। जब मैंने सर्व प्रथम सावरमती आश्रम में लगभग आज से कोई ४५ वर्ष पूर्व उनके दर्शन किये थे तो मेरे मन पर उनके व्यक्तित्व की एक अमिट छाप बन गई थी। उसके बाद मेरे राजस्थान चले आने पर और मुनि महाराज के भी विदेश यात्रा काल तथा अधिकतर भारतीय विद्या भवन बम्बई, शान्ति निकेतन एवम् अहमदाबाद में अपने शोध कार्यों में संलग्न रहने से प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं बना रह सका।

इसके बाद मेरा उनका निकटवर्ती सम्पर्क उदयपुर में होने वाले राजस्थान हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर १९४० में हुआ। तब तक वे संभवतः चित्तौड़ के पास चन्देरिया आश्रम में आ गये थे या आने वाले थे। बाद में तो कई बार उनके सत्संग का लाभ मिलता रहता है। पिछले वर्षों बम्बई, अजमेर, जयपुर, जोधपुर में सम्पर्क के कई अवसर मुझे मिले। पिछले वर्ष ही जनवरी मास में उनके अनुरोध पर मैं उनकी जन्मभूमि के ग्राम रूपाहेली में उनके नव निर्मित गांधी ग्राम भवन को खोलने गया, तब उनके दर्शनों का लाभ मिला था।

रूपाहेली (मेवाड़) ग्राम के एक राजपूत परिवार में जन्म लेने वाले आठवर्षीय बालक के मन में साधना की ऊंची तड़प और जिज्ञासा होना तथा इसके लिए उचित संयोग जुड़कर अहिंसा मार्ग को अपनाते हुए उस पर चल पड़ना किसी पूर्व संस्कार का ही सुयोग माना जा सकता है। अपने साधना शील जीवन में मुनि जी ने विविध स्थानों पर रह कर अपनी जिज्ञासापूर्ति के लिए अथक परिश्रम द्वारा कई भाषाओं का अध्ययन किया। हिन्दुस्तान के कई हिस्सों में पुरातत्व की खोज और प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन की दृष्टि से तो वे घूमे ही, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों में भी इनका इसी काम के लिए जाना हुआ था। आज हम देख रहे हैं कि पुरातत्व के बारे में उनका ज्ञान कितना व्यापक और ऊंचा है।

अपने मन में निरन्तर बने रहने वाले कर्म योगी भावों और वीर पूजा के संस्कारों ने आखिर उन्हें अपनी मातृभूमि की वीर स्थली चित्तौड़ की ओर आकर्षित किया। पुरातत्व और इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन ने उनकी अन्त प्रेरणा को जागृत करके जीवन के उत्तरकाल में उनको प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगरी चित्तौड़ के प्राङ्गण में ला बिठाया। यों राजस्थान और मुख्यतः मेवाड़ भूमि से उनका आकर्षण बना रहना स्वाभाविक ही था परन्तु १९४० में तो बम्बई, अहमदाबाद के अपने संग्रहालयों, पुस्तकालयों और विद्वद् गोष्ठी की स्वजन मंडली के मनमोहक माया को छोड़कर चित्तौड़ के पास के छोटे से ग्राम चंदेरिया के जंगल में आ बसे। चंदेरिया स्टेशन के समीप एक बियाबान सा जंगल जहां ढाक, खेजड़े और बबूल के पेड़ खड़े थे, अन्देशियों से

रूप में ऊँचे पद पर आसीन किया। आज इस विभाग में मुनिजी महाराज से ही प्रेरणा पाये हुए उनके साथी काम कर रहे हैं। उनकी विद्वत्ता और पुरातत्व के महाविज्ञाता होने के कारण ही तो वे अहमदाबाद के गुजरात विद्यापीठ के प्राच्य प्रतिष्ठान के आचार्य रहे, भारतीय विद्या भवन बम्बई के डाईरेक्टर पद को सुशोभित किया तथा शान्ति निकेतन में मुख्याधिष्ठाता रूप में वहां के जैन आसन को सुशोभित किया।

८५ वर्ष से अधिक उम्र होने पर भी आज उनमें जो कार्यशीलता, उत्साह और प्रेरक शक्ति दृष्टिगोचर होती है, वह अद्भुत है। परमेश्वर इस मनीषी पुरुष को राष्ट्र और जनसेवा के लिए चिरकाल तक स्वस्थ-सुखी रखे, यही मनोकामना है।

मुनि श्री जिनविजयजी

मुनिश्री जिनविजयजी: एक सांस्कृतिक साधक—

राजस्थान में जब प्राच्य विद्या की चर्चा करते हैं, तब मुनि श्री जिनविजयजी का नाम बरबस हमारे सामने उभर आता है। यों तो हमारे देश के इस सपूत ने राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी प्राप्त की है, किन्तु राजस्थान के सांस्कृतिक और बौद्धिक जगत में प्राच्य विद्या की सामग्री का संकलन कर एक महत्व के प्राच्य विद्या संस्थान की स्थापना उन्होंने की है, वह उनकी राष्ट्र को विशिष्ट देन है।

वे एक बौद्धिक आन्दोलन हैं—

कहने को तो जोधपुर स्थित राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अब एक सरकारी संस्थान है, किन्तु उसकी कल्पना करने और उस कल्पना को मूर्त रूप देने में हमारे मुनिजी का कितना महान योगदान रहा है, उसके प्रति आभार-प्रकट करना भी सम्भव नहीं है, शब्दावलि में उस योगदान को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इस संस्थान को सरकारी दृष्टि से भी अवलोकन कर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मनीषी ने सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध राजस्थान की विपुल सांस्कृतिक और कलात्मक थाती की किस प्रकार रक्षा की है। उन्होंने एकाकी होते हुए भी वह कार्य कर दिखाया है, जो अनेकों के लिए भी सहज सम्भव नहीं है। यह कार्य भी इस कारण से सम्भव हुआ कि श्रीमुनि जिनविजयजी एक व्यक्ति नहीं, एक संस्थान हैं, एक विद्वान् मात्र नहीं, बल्कि एक बौद्धिक आन्दोलन हैं, एक साहित्यिक साधक नहीं, बल्कि देश की समग्र भावधारा के प्रतीक हैं। उनका समस्त जीवन इस बात की पुष्टि करता है कि मुनि जिनविजयजी का व्यक्तित्व देश की सामुदायिक और सामाजिक भावधारा को आगे बढ़ाने में क्रियाशील रहा है।

राष्ट्रीयता के पालने में पले थे—

श्रीमुनि जिनविजयजी का जन्म राजस्थान के एक ग्राम रूपाहेली में हुआ था। वे जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु साधना और सेवा से जैनावलम्बी बन गये। वे पैदा तो राजस्थान में हुए थे, किन्तु उनका कर्मक्षेत्र राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि क्षेत्रों की सीमाओं को पार कर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विस्तीर्ण हो गया। इसका कारण था कि मुनि जिनविजयजी मां भारती और सरस्वती की सेवा निरन्तर करते रहे। आज भी उनकी साधना का दीपक जाज्वल्यमान है। साधक का क्रम रुका नहीं है।

सरस्वती और राष्ट्रीयता के सेवक—

श्री मुनि जिनविजयजी जितने सफल सरस्वती की साधना में हुए, उतने ही प्रबल पुजारी राष्ट्रीय देवता के रहे हैं। देश-भक्ति उन्हें स्वभाव और पैतृक दोनों स्रोतों से प्राप्त हुई है। भारतीय स्वाधीनता के

संग्राम में श्री मुनि जी के पूर्वजों का विशिष्ठ योगदान रहा है। तत्कालीन विदेशी शासन के विरुद्ध आक्रमणात्मक आचरण के कारण सन् १८५७ में इनके पूर्वजों की जमीन, जायजाद और जागीर आदि सरकार ने छीन ली थी। उनके अनेक संबन्धियों को अपने प्राणों का उत्सर्ग भी करना पड़ा था। अपने पूर्वजों की इसी राष्ट्र भक्ति की परम्परा में पलने के कारण मुनिजी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य, आन्दोलन की ओर स्वभाव और संस्कारों से आकर्षित हुए। सन् १९१९ में वे स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के और सन् १९२० में वे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के सम्पर्क में आये। इसके परिणामस्वरूप श्री मुनि जिनविजयजी हमारे उस राष्ट्रीय आन्दोलन के अंग बन गये, जो न केवल भारत की राजनीतिक आजादी के लिए चलाया गया था; बल्कि जिसने एक नई राष्ट्र धारा को भी जन्म दिया था। भारतीय जागरण के इस महायज्ञ में श्री मुनि जी निरन्तर सक्रिय रहे। राजनीतिक आन्दोलन के मध्य रहते हुए भी श्री मुनि जिनविजयजी की साधना का केन्द्र मुख्य रूप से एक ही दिशा की ओर रहा। और यह दिशा थी, प्राच्य विद्या के कार्य को संगठित और विकसित करना।

बहुमुखी प्रतिभा—

श्री मुनिजी बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं किन्तु प्राच्यविद्या के क्षेत्र में उन्होंने जो साधना की है, उससे उन्होंने न केवल स्वयं का प्रत्युत देश के नाम को गौरवान्वित किया है। इस क्षेत्र में श्री मुनिजी द्वारा की गयी सेवाओं के लिए जहाँ भारत सरकार ने उन्हें "पदम श्री" की उपाधि से अलंकृत किया था, वहाँ दूसरी ओर जर्मनी की विश्व विख्यात "ओरीएन्टल सोसाइटी" का "ओनेरेरी सदस्य" बनने का भी सम्मान प्राप्त किया है, यह सम्मान प्राप्त करने वाले केवल श्री मुनि जी दूसरे भारतीय हैं।

प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान हैं, उनमें राजस्थान प्राच्य विद्या-संग्रहालय देखने योग्य हैं। इस संस्थान की स्थापना श्री मुनि जिनविजयजी के अथक और अकथ प्रयासों का ही परिणाम है। सन् १९५० में इस संस्थान का आरम्भ श्री मुनिजी की प्रेरणा से हुआ था। तब इसका नाम "राजस्थान पुरातत्व मन्दिर" था। इस संस्थान की कल्पना को साकार रूप प्रदान करने के लिए श्री मुनिजी इसके प्रथम ऑनरेरी डाइरेक्टर बने। संस्थान की ओर से "राजस्थान पुरातन ग्रन्थ माला" नामक जो महत्वपूर्ण कार्य हाथ में लिया गया उसका भी सुसंचालन मुनि जी द्वारा किया गया। इसके परिणामस्वरूप उनकी देखरेख में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, प्राचीन हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, आदि विभिन्न भाषाओं में अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। अब श्री मुनिजी संस्थान के निदेशक नहीं है। किन्तु उन्होंने जो प्रकाशन क्रम आरम्भ किया था, वह आज भी प्रगति पर है। श्री मुनि जी ने जब इस प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान को आरम्भ किया था, तब इसके पास अपना कोई संग्रह नहीं था। किन्तु उन्होंने राज्य भर से प्राच्य विद्या संबंधी अत्यन्त दुर्लभ सामग्री का बहुत वृहद् भण्डार बना डाला जिसे देखने के लिए देश विदेश के विद्वान्, अनुसंधानकर्ता और कला मर्मज्ञ जोधपुर आने लगे हैं। इस अलभ्य संग्रह और संस्थान के कार्यों की सभी विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। निःसंदेह, श्री मुनि जिन विजय जी के द्वारा लगाया गया यह ज्ञान का वृक्ष आज राजस्थान की बौद्धिक वसुंधरा पर राज्य का गौरव बढ़ा रहा है।

किन्तु जोधपुर स्थित प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान की स्थापना कर ही श्री मुनि जिनविजयजी शान्त नहीं बैठ गये। साधक की साधना अब भी चल रही है। आज भी एक पतला-दुबला, लम्बे शरीर वाला वयोवृद्ध व्यक्तित्व एक महान साधक के रूप में अब भी प्राच्य विद्या की सामग्री के अध्ययन-मनन करने के लिए पोथियों और पत्रिकाओं में भारत की सांस्कृतिक आत्मा को टटोलने में लीन है। उनका यह क्रम युगों तक चलता रहा है और वर्षों तक जन-मानस पर इस महान साधक की तस्वीर, थिरकती रहेगी। ईश्वर उन्हें और अधिक आयु प्रदान करें ताकि उनके परिपक्व ज्ञान का लाभ आने वाली पीढ़ियों को प्राप्त होता रहे....

— ०० —

तृतीय खण्ड:
लेख संग्रह

Religious Back-ground of the Kuvalayamālā

The importance of the great Prākrit Campū, namely, the Kuvalayamālā of Uddyotanasūri (A. D. 779), caught the attention of Orientalists primarily through the researches of Muni Shri Jinavijayaji. Further, as the General Editor of the famous Singhi Jaina Series, he made all arrangements, almost with personal interest, for its inclusion and publication in that Series. It was critically edited by the present writer, and was published by the Bhāratīya Vidyā Bhawana, Bombay, in 1959, as No. 45 of the above Series. The Sanskrit Digest of the Prākrit Campū by Ratnaprabhasūri was also issued as a Supplement. The Introductions etc. are ready and on way to the press. I could work on this great Campū only through the encouraging help of Muniji. and I contribute this paper on the religious aspects of that work as an humble tribute to the scholarly achievements of Muni Shri Jinavijayaji.

Jainism is called Ethical Realism, and this brings out its salient traits to the fore. The theory of rebirth, the Karma theory which automatically operates, moral responsibility of the individual and allied doctrines were the characteristics of Śramaṇic culture; and they are all inherited in Jainism. The Jaina Karma doctrine is most uncompromising and undiluted : every one is responsible for, and can never escape without reaping the consequences of, his Karman : a sort of vibration operating through mind, speech and body as a result of which the soul incurs material Karmic bondage. Thus the Jaina teachers, therefore, have evolved philosophy of conduct and pattern of behaviour uninfluenced by any reliance on Supernatural intervention or guidance. First, the individual is made highly self-reliant, and the Teacher leaves no opportunity to put him on the right track of religion. The erring soul is shown the correct path through religious instruction. Secondly, the Kuvalayamālā is primarily a Dharmakathā, if it is called, and has become, Saṃkīrṇakathā, it is because the author has incidentally added contexts and topics of Artha and Kāma ; and even these, in the long run, are conducive to the practice of Dharma. In this pattern of narration, the various facets of Dharmakatha are as well included. Thirdly, the very objective of the tale is to illustrate the effects of morbid temper, i.e., of Krodha, Mana, Māyā, Lobha and Moha under the sway of which are acting the chief characters in this story. If they are to be brought on the right track, religious instruction is the most effective remedy. Lastly, moral instruction is the chief aim of the author, and the entire tale is narrated in such a manner that the erring man and woman should learn the pattern of good behaviour by seeing and hearing what is happening to the characters under various circumstances. The

Śramaṇic teacher is an adept in this art. The result is that the Kuvalayamālā has become a huge repository of religious discourses put in the mouth of religious Dignitaries; and the elements of story will not suffer much, even if these are excluded from the narration. All such discourses may be put together here to see what a vast range of Jaina dogmatics is covered by Uddyotana. First the pages and lines are noted, and against them are enumerated the topics under broad heads:

35.30 f.: The major types of Hiṃsā and the reasons or pretexts with which they are committed.
36.14 f.: Hells, the tortures etc. therein.
39. 1 f.: The sub-human births (according to the number of Indriyas) and the miseries etc., therein.
40.13 f.: Human birth, its causes, grades, miseries etc.
42.29 f.: Gods, their anxieties etc.
44.15 f.: A discourse on Krodha, Māna, Māyā, Lobha and Moha, and their fourfold gradation (Anantānubandhi etc.) with illustrations.
90.8 f.: An explanation of Abhavya, Kāla-bhavya and Bhavya.
92.12 f.: A conventional description of (Saudharma-) Kalpa and (Padma-) Vimāna, the birth of a Jīva there, the local environments etc.
95.12 f.: Some details of Pūjā; see also 132.27 f.
95.24 f.: Five Parameṣṭhins and the duties of laymen and monks.
96.28 f.: Details of the Samavasaraṇa; See also 217.21 f.
97.27 f.: A discourse on Jīva, its nature, its relation with Karman, its migration through various births and its liberation.
142.21 f.: A discussion about Dharma, its practice and its objective.
177.28 f.: A graphic glorification of Samyaktva.
185.22 f.: A detailed picture of hellish, human and divine beings: their acts and consequences.
192.27 f.: Symbolically spiritual interpretation of various vocations etc.
201.33 f.: A succinct exposition of the fundamentals of Dharma.
209.18 f.: Rarity of religious enlightenment in human birth, explained by Yuga-śamilā-dṛṣṭānta.
217.27 f.: Discourse on twofold Dharma.
219. 9 f.: A discourse on five Mahāvratas and the attendant Bhāvanās.
227.19 f: An exposition of twelve Anuprekṣās.
230. 5 f.: A Samyag-dṛṣṭi and his traits.
.20 f.: Elaboration of the types of Karmas and their consequences.
242. 1 f.: An exposition of Udaya, Kṣaya, Kṣayopaśama of the Jñānāvaraṇīya and other Karmas with reference to Dravya, Kṣetra, Kāla, Bhāva and Bhava.
243.13 f.: A contrasted picture of the conditions in the Aparavideha and Bharata-kṣetra.

245. 6 f.: An exposition of the Leśyā doctrine, typically illustrated by the *lesyavrksa* how the same act can incur different quantity of sin according to the temperamental state.

253.18 f.: Through the medium of a divine voice, a few religious discourses on the following topics are presented:

(i) One's benefit in the next world has to be ever remembered. (ii) Virati or detachment is necessary even in the midst of pleasures. (iii) The practice of Dharma leads to Puṇya which brings pleasures ; so Dharma is important. (iv) Dharma alone, and not the lures of Indriyas, can save one from the pangs in hell. (v) One thirst quenched leads to another ; and there is nothing like satisfaction in this Saṃsāra. (vi) One should get rid of the infatuation for pleasures recollecting the manifold tortures, ailments, humiliations and sufferings of the past. (vii) The pleasures of sense-organs are fatal in their consequences ; so one should be circumspect with restraint on mind, speech and body.

261. 8 f. ; A discourse on the causes which lead to life in hell.

269.23 f. : A doctrinal exposition of the fourfold Ārādhanā, namely, Jñāna, Darśana, Caraṇa and Vīrya.

271. 1 f. : A discourse on Sāmāyika.

272. 7 f. : An exposition of what may be called in general Pratikramaṇa.

273.25 f. : Explanation of the two types of Death, namely, Paṇḍita-and Bāla-maraṇa.

277. 7 f. : Here is an elaborate salutation to Arhat, Siddha, Ācārya, Upādhyāya and Sarvasādhu, a good many details about whom are recorded.

279.26 f. : Details about a soul's ascent on the Kṣapaka-śreṇī.

All this shows that the author has snatched every opportunity to introduce Jaina dogmatical details to make his tale worthy of the name of Dharmakathā. The structure of the narrative would remain in-tact, in most of the cases, even if these contexts are skipped over. There are, besides, casual references to Jaina ideas here and there. A Jaina monk, who has pulled out his hair on the head, wears white garments and has a bunch of feathers (*piccha*), is distinguished from Tāpasa and Tridaṇḍin and considered to be honoured in view of his ascetic emblem. He blesses dharmalabhā (185) ; and some details about his entry into the order and equipments are available (194.19). The Pañcanamaskāra is a shelter and has great miraculous potency in adversity (137) ; and the karṇa-jāpa (uttering of the Pañca-namaskāra in the ear) given even to an animal leads it to a better future birth (11.32). The way in which one takes to asceticism and becomes a *Pratyeka-buddha* is interesting (141. 1-5, 142. 17 f.) The idea of Sādharmika-Vātsalyatva (116. 23, 137. 20) clearly indicates that Jaina religion was not a theoretical philosophy, but a way of living tending to community life. A Cāraṇa-śramaṇa is gifted with certain miraculous powers : he has no *gaccha*-

parigraha ; and he does not initiate others into the order. (80. 17 f.). The Jaina Tīrthakaras and saints are introduced here and there more than once. The saints staying in the forest have an atmosphere of peace and amity around them; and their routine of living is also interesting (28. 22, 34).

Besides the insertion of Jaina dogmatical details, there are contexts in the Kuvalayamālā in which the author either criticises the views of other creeds or casually refers to them whereby we get a good glimpse of the contemporary religious ideas.

According to the Lokaśāstra, or Scriptures current among the people, a son is necessary for the parents to reach better worlds and to satisfy the ancestors; so, for securing an issue (13.5f), various cults were current : flesh from one's body, dripping with blood, was offered as oblation in from of Iśvara; one's head was offered to Kātyāyanī who was stepping on a buffallo felled with Triśūla; human flesh was sold on the burial ground; *guggula* resin was burnt on the head as an act of devotion; Bhūtas, gods Mātṛs were appeased with blood: and prayers were offered to Indra. These are all risky practices (§32). Advised by wise ministers, king Dṛḍhavarman offers prayers, after due rituals (§34), to Rājalakṣmī (addressed by various names 14.16) and urges her to grant him audience within three days, otherwise he would offer his head. This Rājalakṣmī is the spouse of ancient kings like Bharata, Sagara, Mādhava, Nala, Nahuṣa, Māṃdhātṛ, Dilīpa and others; and after a little joke with her, the king gets the promise of a son from the Kuladevatā. Once prince Chandragupta passes through a fatal test and satisfies a Vetāla (§379) from whom he gets the required details about a robber who could not be spotted by the city guards. The deities, the author tells us, are twofold; Sarāga and Virāgin (§395); and for worldly ends, the credulous people worship the latter of different names : Govinda, Skandha, Rudra, Vyantara, Gaṇādhipa, Durgā, Yakṣa, Rākṣasa, Bhūta, Piśāca, Kinnara, Kiṃpuruṣa, Gandharva, Mahoraga, Nāga, astral bodies, natural phenomena etc. Sailors in difficulty offer prayers and make propitiative promises to different deities (68. 17f.). A lady about to commit suicide appeals for grace to Lokapālas (53.6). Yakṣa worship is referred to; and there were Yakṣa statues with Janas on their heads.

There is a substantial section (§322) in which the author reviews various tenets and practices of different religious schools rather than religious systems as a whole, and those too as contradistinguished from the Jaina ones. It is quite likely that these views are picked up and stated with the object of showing them to be contradictory and not acceptable to Jainism. Taking them seriatim, some of the systems reviewed are Buddhism, Tridaṇḍin, Sāṃkhya, Upaniṣadic. Vedic sacrifice, Vānaprastha creed, gifts to Brāhmaṇa, the alleged Advaita creed, extreme Bhakti cult, self-immolation or torture for divine propitiation. Digging of wells, etc., washing sins in the holy Ganges etc., Caturvarṇya-dharma, erecting earthen deity etc. extravagant Dhyāna, Vainayika creed, Cārvāka view, gift of cows etc. to Brāhmaṇa, Karuṇā-dharma, killing of harmful beings,

the Paṇḍarabhikṣū's view, Fatalism, Īśvara as the guiding spirit, extreme Jñānamārga etc. As against these the Dharma consisting of Five vows is said to be acceptable.

A servere attack is levelled against the Brahmanic prescription of Prāyaścitta which is backed by great saints like Manu, Vyāsa, Vālmīka, Mārkaṇḍeya, which has the sanction of Bhārata, Purāṇa and Gitā and which consists in giving one's all possessions to Brahmins, in wandering a begging, cleanly shaven and in bathing and offering oblations at holy places like Gāṅgā (–dvāra ?), Bhadreśvara, Vīrabhadra, Someśvara, Prabhāsa, Puṣkara etc. (§§ 94, 107). As against this, the Śramaṇic prescription is different and consists of repentance, mental purification and penance in a proper perspective of religious virtues (49. 14 f., 55. 24f., 90. 21f.).

Some interesting sidelight is available on the temples and holy places (p. 82); the ormer dedicated to Rudra, Jina, Buddha, Koṭṭajjā (Durgā?) Ṣaṇmukha etc. and the latter, such as the sacrificial enclosures, Brahmanic schools, residences of Kāpālikas and lodges in which the Bhagavadgītā was recited. In the evening, Brahmanic houses resounded with Gāyatri-japa. Elsewhere there is a nice glimpse of the Mathas or colleges for higher learning where students from different parts of India (150.20) flocked and were trained in handling weapons and in various fine arts, crafts and miracles (151.6f.). There were held classes (Vakkhāṇa-maṃḍali) as well in advanced branches of learning such as grammar, Buddhism, Sāṃkhya, Vaiśeṣika, Mīmāṃsā, Naiyāyika, Jainism and Lokāyata the characteristic topics of which are enumerated (§244). The description of the students is quite typical; and some of them mastered Vedic recitation (151.12f.)

The author makes a distinction between 72 Kalās and 64 Vijñānas (15.11f.). Among the miraculous lores Prajñapti and Mahāśābarī-vidyās are mentioned (236.22, 132.2, 133.5). The prince Kuvalayacandra knows Dhātuvāda or alchemy, turning baser metal into gold; and he comes across a group of people who are attempting that experiment, but without success. Their activities are described and we get at good sketch of what is done in this process (§311f.). The text Joṇipāhuḍa is said to be the source of this Vidyā (196. 32,197.6 & 19). The Lakśanasāstra is elaborated more than once (116.9f.. 129.3f.); a branch of it is called Samudra (129.3). There is mentioned a lore of detecting treasure-trove (Khanyavāda) from the plant above; some characteristics of the latter are described as if some source is being quoted (187; 104.23f.). There is a prince highly skilled in the art of painting, and he has painted an elaborate scroll of the Saṃsaracakra. (185.18f.). There are repeated references to belief in astrology, and an astrologer is consulted on various occasions (§47, 273). There is a good discourse on Rāśi-phala (§§ 48–9), giving the traits and longivity of a child born on a particular Rāśi, on the authority of Vaṁgāla-riṣi : may be that the name of his treatise was Vaṃgāla-jāyaga (20.2,3,24). The prince explains why one should not eat food or drink water or even bathe immediately after one is over exerted and is hungry and thirsty;

and he refers to Āusattha in this context, (114.23f.). The author has his own ideas about the digestive process inside (228.11f.); and in one context, he describes graphically the predelivery signs (76.1f.). Horse-riding was quite necessary for princes. Possibly using some manual on Aśvaśāstra, the author enumerates eighteen breeds of horses (23.20--1); and he gives details about some of them with reference to their Varṇa and Lāñchana (§56). Here and there we have dreams and their symbolic interpretations (41; 269.7f.). The Nimitta--jñāna, which is a branch of Śrutajñān, is potent enough to indicate Śubha and Aśubha of the past, present and future; and it is illustrated in details (§412). Besides the reference to Bhūrjapatra which was used for writing (the script being Avara-livi) a love-letter *(160.13f.)* there is a graphic and detailed description (a bit dignified) of a palm-leaf MS. written in Brāhmi-lipi (201.28f.).

What were the contents of the Dṛṣṭivāda?

Jaina tradition is unanimous as to the complete and irretrievable loss of the twelfth Anga, the Dṛṣṭivada, at an early date-yet it is able to furnish surprisingly exact and detailed particulars about its divisions, subdivisions, and contents. A good deal of these statements are obviously fictitious : nobody is likely to believe that e. g. the Nānappavāya-puvva consisted of 9999999, or the Saccappavāya-puvva of 10000006 (or 10000060) words [1] But even apart from such monstrosities, it is quite generally speaking the very exactness and detailedness of the statements concerning an avowedly long lost text that renders those statements suspicious; as A. Weber aptly put it as early as in 1883[2], "one can indeed give very rich details if one consults only one's imagination". Actually Western scholars have come to regard the tradition about the contents of the Dṛṣtivāda as spurious in that sense that, though the (partly unintelligible) titles of some sections and sub-sections may be genuine, the lost Anga did not contain what is ascribed to it by the canonical table of contents and by the claims of a great number of most diverse texts and subjects to be derived from or based on the Dṛṣtivada; in the words of Schubring [3] : 'The 12th Anga, under the title of a 'discourse on (heterodox) views'..........., was an instruction to apology and quite naturally fitted closely in the doctrine laid down in Angas 1-11. In the course of time it was lost. Jacobi (SBE 22, XLV) explains this fact by saying that later generations thought the discourses of their early predecessors not to be important any longer. It is more likely that their preservation appeared to be undesirable since the study of such disputes was apt to arouse heretical thoughts and activities."

The traditional claims to descent from the Dṛṣtivada include those of the (post canonical) Svetāmbar Karmagranthas and of their Digambar counterparts, the famous "Siddhānta" texts of Mudbidri, the Ṣakṭhanḍāgama and the Kaṣāyaprabhṛta. When

1) No less fantastic, completely unreal figures are given in Samavāyanga and Nandī for the existing Angas 1-11.

2) Indische Studien vol. 16, p. 353.

3) The Doctrine of the Jainas, p. 75.

these texts were at last made accessible through the indefatigable endeavours of Hiralal Jain, they were hailed by him on the title-page of his first edition as "throwing light for the first time upon the only surviving pieces of the lost Dṛṣṭivāda, the 12th Anga of the Jain canon." His opinion is shared by another leading Jain scholar of India, A. N. Upadhye. In a paper read at the XXVI International Congress of Orientalists in Delhi and entitled "The problem of the Purvas : their relics traced", he accepts the claim of the Mudbidri texts to be based on portions of the 2nd and 5th Purvas and ascribed the loss of these Purvas to the intricacy of their subjects : "The details contained in these works are highly elaborate and difficult and deal with the intricacies of the Karma doctrine..................Even from these relics, of which only one or two (allied) Mss. are preserved only in one locality, it can be justly surmised that such Purva texts were not studied on a very large scale, because they dealt with dry details of the Karma doctrine which were not of general interest and the study of which was even-denied to many. In course of time the number of monks studying such texts gradually dwindled down; and when the Sangha pooled together the entire canonical literature, this minority of monks perhaps did not cooperate in this work with the result that even these relics of Purvas remained in isolation and were studied in a very small circle."

I must confess that I am not convinced by these arguments. The very intricacy of the Mudbidri texts speaks against, not for their high antiquity. In contents and style, they are typical products of later scholasticism. far removed from the much simpler language and spirit of old canonical texts.[1] Further, though these Digambar Karman texts actually ceased to be studied in modern times and were kept secret, the same is by no means true of their counter-parts and very close relations, the Śvetāmbar Karma-granthas (which have actually a number of stanzas in common with them), they were always known and accessible and never ceased to be read and studied though they are certainly no less intricate and technical than the Mudbidri texts. The intricacy and technicality of these late scholastic works can have nothing to do with the early loss of the ancient Dṛṣṭivāda.

That any real knowledge of the contents of the 12th Anga had vanished at a relatively early time is shown with particular clearness by a hitherto unnoticed passage of the Āvaśyaka Cūrṇi, that extremely rich but as yet hardly tapped source of early medieval Jain scholarship. It seems interesting enough to be quoted in full and is offered here as a modest contribution to the Dṛṣṭivāda problem. On p. 35 of the printed edition[1] we read :

1) For the contrast in style and spirit between old canonical and later scholastic texts of. my "Āryā stanzas of the Uttarajjāhāy" (Academy of Mainz, 1966), p. 179 f., 184 ff.

2) Published by the sri Ṛṣabhdevji Keśrimalji Śvetāmbar Samsthā Ratlām, Indore 1928.

iyāṇiṃ aṇgapaviṭṭhaṃ bāhiraṃṃ co doṇṇ. vi bhaṇṇanti aṇgapavṭṭhaṃ Āyāro jāva Diṭṭhivāo, aṇangapaviṭṭhaṃ Avassagam tav-vairittaṃ ca. Ā vasagaṃ Sāmāiya-m-ādi Paccakkhāṇa-pajjavasāṇaṃ; vairittaṃ kāliyam ukkaliyaṃ ca. tattha ukkāliyaṃ aṇegavihaṃ, tam jahā : Dasa-veyāliyamṃ Kappiyākappiyaṃ evem-ādi, kaliyaṃ pi anegavihaṃ taṃ jahā : Uttarajjhayṇaṇi evam-ādi,

ettha siso āha jahā : Ditthivāe savvam ceva vaomayaṃ[1] atthi, tao tassa ceva egassa psrūvaṇam jujjai." āyario āha : "jai vi evaṃ, tahàvi dummeha-appàuya-itthiyà-diṇi ya kāraṇāi pappa sesassa parāvaṇā kirai" tti. tattha bahave dummedhā asattā Ditthivāyaṃ ahijjiuṃ; appāuyana ya āuyaṃ ṇe pahuppai; itthiyāo puṇa pāeṇa tucchāo gārava-bahulāo cal 'indiyāo dubbala-dhilo. ao eyāsiṃje aises' ajjhayaṇā Aruṇovavāya-Nisiha-m-āiṇo Ditthivāo ya te na dijjanti ! tattha "tucchā ṇāma puvvāvarao vakkhāṇe asamattā, 'gārava-bahulā' ṇāma gavvamantio tti, cal'indiyāo ṇāma indiya-vaisaya-ṇiggahe Bhūyāvādaṃ pappa asamatthāo, "dubbala-dhilo" ṇāma calacittāo iti mā tam suyaṇāṇa laddhiṃ uvajivissanti, tao tesiṃ aises' ajjhaynaāni vārijjanti tti.

"Now will be taught Angapravista and (Anga) bahira. Angapravista is(the Angas from) Ācāra to Drstivada; non-Angapravista is Āvaśyaka and non-Āvaśyaka. The Āvaśyaka begins with the Sāmāyika and ends with the Prātyākhyāna; non-Āvaśyaka is kālika (to be studied during regular study hours) and utkalika (to be studied outside regular study hours). Of these utkālika is a plurality (of texts) viz. Dasavaikālika, Kalpikākalpika and so on; kālika, too, is a plurality (of texts), viz. Uttaradhyāyana etc.

Here the disciple raises the following objection : 'The Drtsivāde contains the totality of speech (i. e. all that has ever been, or can ever be, expressed in words), therefore it would have been appropriate (for the Jina)to teach that alone[2] The Ācārya answers 'That is quite right; yet the rest (of the sacred texts, the srutajnāna) is taught for the sake of the dull-headed, the short-lived, the women, etc. In this (enumeration), there are many dull-headed people who are unable to study the Drstivada; of the short-lived, the life time would not suffice; and women are as a rule empty, given to haughtiness, sensual and inconstant; therefore the Pre-eminent Texts[1]) such as Arunovavāya, Nisiha etc. and Drstivāda are withheld from them. Here 'empty' means: unable to interpret coherently; 'given to haughtiness' means : arrogant; 'sensual' means; unable to restrain sensual passions in connection with the Bhutavāda[3] ; 'inconstant means : fickle-minded; therefore they shall not

---

(1) Edition wrong ; vaogatam (being the "takara", ga misread for ma); cf. below the quotation from Visesavsasyakabhsaya.

(2) Cf. Hemacandra's rendering as atisayanty adhyayanani in his commentry on Visesavasya-kabnasya 552 quoted below.

(3) Bhusavaya is one of ten names of the Ditthivaya enumerated, Thananga sutra 742; Abhaya-deva explains very briefly: bhutah, sadbhutah, padarthas, tesam vado Bhutava dah. If this explanation is correct, the title Bhutavada stresses the refutation of the heretical drstis exclusively named in the ordinary title Drstivada. Cf. also the two longer explanation of Hemachandra ad Visesavasyakabhasya 551 quoted below.

profit *from obtaining* that(part of) śrutajñana, For this reason the Pre-eminent Texts are forbidden to them."

The above passage is versified by Jinabhadra in the two stanzas Viśesavasyaka bhāsya 551 f. and expatiated upon by Maladhari Hemacandra as follows :

..............Pūrvāṇy abhīdhiyante. teṣu ca niḥśeṣam api vāṇmayam avatarati; ātaś caturdaśa-pùrvatmakam dvādaśām evangam astu, kim śeṣanga-viracanena angabāhya-sruta-racanena vā ? ity áśankyaha :

jai - vi ya Bhūyăvâe savvassa vaomayassa oyāro
nijjūhaṇà, tahavi hu dummehe pappa itthì ya. 551

aśesa-viśeṣanvitasya samagra-vastu-stomasya bhūtasya, sadbhūtasya, vādo, bhanaṇaṃ, yatrasau Bhūtavādah; athavā: anugata vyāvṛttapriśesa-dharma-Kalāpanvitānāmm sabheda-prabhedānāṃ bhūtānāṃ: prāṇināṃ vādo yatrasau Bhūtāvado, Dṛṣtivadāḥ, dirghatvam ca tākarasyarsātvāt. tatra yady api Drstivāde sarvasyapi vānmayasyavatāro 'sti, tathapi durmedhasāṃ, tad-avādharaṅady-ayogyānām mandamatināṃ, tathā śravakadinām striñam canugrahartham niryūhaṅā, viracana śeṣa-śrutasyeti-

nanu striñaṃ Dṛstivādaḥ kim iti na diyate ? ity āha :
tucchā gārava-bahulā cal indiyā dubbalā dhiìè ya
iya aises' ajjhayaṅā Bhūyāvḍo ya no 'tthiṅaṃ. 552

yadi hi Dristivadāḥ striyāh katham api dìyeta, tadā tucchadi-svabhāvatayā 'aho aham, yā Drstivadàm api pathàmi !' ity evam garvadhmāta-mànasasau purusa-paridhava disv api pravritim vidhàya durgatim abhigachet. ato niravadhi-krpa-nira-niradhibhiḥ paranugraha-pravrttair bhagvadbhis tirthakrair Utthàna-Samutthà-nà srutadiny atisayavanty adhyayanani Drstivadas ca strinam nanu-janatah. anugrahartham punas tàsàm api kincic chrutam deyam ity ekàdasangadi-viracanam saphalam.

The passages quoted here might at first sight suggest that at the time of their composition the Drstivada still was a regular object of study for able-minded males; a more attentive reading will soon make it clear that on the contrary they merely testify to a firmly established if somewhat naive belief that "the Drstivada contains everything" a belief obviously betraying complete ignorance of the real contents of the long-lost text and, on the other hand, conveniently permitting to derive from "the Drstivada" or "the Purvas" any text or subject which it was desired to invest with canonical dignity. I know of no other paasage where the universality of contents of the Drstivada is claimed so openly and so bluntly, And this bluntness and naivety is no doubt the reason why, significantly; the great Haribhadra in his Āvasyaka Tikà omits our passage altogether : as in many other cases, he eliminates what he feels to be obsolete or what does not come up to his more exacting standard of refined scholarship; he may also have been reluctant to reproduce the somewhat scathing remarks about women, For the modern scholar, just what led him to reject the passage is apt to enhance its interest.

purpose was to record the erection of *yûpa* for *Aptoryâmâ* sacrifice, performed by Dhanatràta, son of Hastin-the Maukhari. It is a variety of one day *soma* sacrifice; but occupied like the *Atiràtrà*, a whole day, extending through next day. It is one of the *sapta-soma-samsthà*.

The second Barnalà *yúpa* was dedicared on the 15th day of bright fortnight of Jyeshtha of 325 V. S. (=298-99 A. D.), in connection with the performance of Gàrgàtriràtra sacrifice, performed by Bhatta in Trita forest. 90 Cows, accompanied by their calves were given as *dakhshinà*. Sacrificial *yúpàs* have also been found in the peripheral regions of Ràjasthàn and even in Antervedì and Vatsa countries. There is an ancient fort called Bijayagarh in the neighbourhood of Bàyàna. in Bharatpur district. There is a red sandstone pillar standing near the south wall of the fortress. It is inscribed and records that in the (Krita *Mālava Vikrama* year 428 (=371-372 A.D.) expired, Vārlika Rājā Vishṇuvardahaṇa, son of Yasovarddhana, grandson of Vyāghrāràtas erected the *yûpa* in commemoration of *Pundarika* sacrifice in *Purvami-mamsa Sutra* (Chap. X *Pada 6, Sutras 62* etc.) The next two *yúpas* were found at Isapur in the bed of river *Yamuna*, each of them measures 19' 19". They were dedicated in the 24th regnal year of Emperor Vasheshka. Allahbad Museum has a *yúpa* collected from the neighbourhood of Kosām, commemorating the performance of *sapta-soma-samsthā*, by one Sivadatta.

An evaluation of the various find spots enable us to appreciate, that it was a very close knit area, in which those sacrifices were being performed, at an age, when northern India had suffered repeatedly from alien invasions. Bijayagarh, in Bharatpur district, is about 5 miles south east of Isapur. in Mathura district, Bādvā is 146 miles south-south-east of Bijayagarh, in Kota district. Nāgarī, in Chittorgath district, is 90 miles east of Bādvā. Nandsā, in Sawai Madhopur district, is 40 miles north-east of Nāgari, ancient Madhyamikā.

Yûpà is a sacrificial post, a principal element in any sacrifice. They were invariably made of wood. The following classes of trees were permitted to be utilised *Palàsa, Khadira, Bilva, Rauhitakà*. Only in some sacrifices *yúpa* must be of *Khadira* wood. The trees to be cut must not be half dried but full of foliage, must be straight and growing on a level spot, branches turned upwards and if bent. not in the southern direction. They must be cut in such a way that they did not fall on the south side. The *yupa* could be of any length from one à*ratni* to 33 à*ratni*s. The portion which remained embedded and was not chiselled was called *upara*. It would be recalled that portions of Mauryan pillars, which remained underground were also

8. *Corpus Incriptionum Indicarum*, Vol. III, p. 252.

9. *AR., ASI.*, 1910-11, pp. 40ff. plate XXIII.

by *Vedangas*, *Srutis* etc., containing rules for sacrifices and *Grihya sutra* governing the sacraments had also received final redaction. With these two, we are concerned in this paper. The *Dharmas Sastras* were the corpus of conduct, morals, religious and social manners. A syneretic type was developed by incorporation of alien dogmas, cults and philosophies The best proof of this syncreticism are the great encyclopidae the *Mahabharata* and the new message of the *Upanishads*. The contradiction to the theory that sacrifice became less and less important in the *Upanishads* is furnished by the *yupa* inscriptions of Rājasthān. The asceticism of *Yoga* known to *Patanjali* and his predecessorsand traces of which are found on Harappa and Mohenjodaro seals and sealings, claimed that the knowledge of the absolute could be obtained by following its discipline; and it was this dogma that created ultimately the gods: Siva, Bramhā and Vishṇu, and finally the ten *avataras* of the latter and and triune aspects: *sattva*, *tamas* and *rajas* of the first named, in the conception of Mahesamurti.

The Ghosundi stone inscription with its revised reading[23] the text of the Hathivada inscription (being three inscriptions but copies of one and the same text) testify to a different type of religious practices in ancient Rājasthān. Ghosundi text now informs us that it commemorates the erection of a *puja-sila-prakara* for the (temple of) Samkarshana-Vasadeva at Narayanavata (in Madhyamika) by King Sarvatrata, a performer of Asvamedha who belonged to Gajayāna *gotra*, and a son of Parāśara. According to the *Matsya Purana* the Gajāyana *gotra* belonged to the Kānva *sakha*. The cult of Vasudeva-Samkarshana is of great antiquity, not merely that, but heralds the dawn of later Vaishnavism. It is called *Bhagavatism*. Many scholars feel rightly or wrongly, that Bhāgavata cult was then natural reaction of Vedic practices. But the evidence of yūpa inscriptions are not in favour of this hypothesis, Secondly, the Ghosundi inscription clearly shows that in C. 3rd Century B.C.,[24] Vāsudevaism had not then merged with Bhāgavatism or to be more correct Samkarshana worship, under the influence of *vyuha* doctrine. Panini, who lived about C. 5th Century B. C., states that along with *bhakti* (IV. 3. 95), the affix *vun* is used in the sense of "this is the object of *bhakti*" after the words Vāsudeva and Arjuna (XIX. 3. 98). Therefore, cults of Vāsudeva and Arjuna originated somewhere before C. 5th Century B. C., whose deeds were to be celebrated in the *Mahabharata*.

Dr. H. C. Ray Chandhury, concluded that in Ç. 4th Century B. C., Mathurā was a stronghold of Vāsudeva worship. The conclusion is based upon the evidence of Megasthenes.[25] But the Ghosundi and Besnagar pillar inscriptions prove that this cult had gained a firm foothold in Mewar and Central India (i. e. Malwa).

---

23. EI., Vol. XXII, pp. 204-.05

24. *Ibid.*

25. *Materials for the Study of Early History of Vaishnava Sect*, 1920. pp. 55-56

What is more, the Besnagar Pillar inscription supplies objective evidence, that the cult had influenced the imagination of Greeks to such an extent, that Heliodrus, a member of the diplomatic corps, had embraced it at the expense of Hellenic paganism. This is but one instance, which has survived. Whether there were other instances like the evidence about Buddhism, furnished by the western Indian caves cannot be proved now. The present writer feels that the Ghosuṇḍi and Besnagar inscriptions do not merely prove the existence of the Bhāgavata cult in 3rd or 2nd centuries B. C., but their possible existence in the preceeding centuries too.

That the Bhāgavata religion was very old, is proved by reference to it by Pāṇini Pāṇini does not treat the name Vāsudeva as that of a divinity but as a proper name. But the attachment of the term *bhakti* to his name shows that by his times he was already about to attain divine ranks. The founder's name was Krishna-Vāsudeva-it was monotheistic. Possibly he was a pupil of Ghora-Aṅgirasa, mentioned in *Chhandogya Upanishad* (III. 17. 6). Grierson was of opinion that long afterwards, his proper name Krishna received the same honour. Other names given to the Supreme in later times were "Purusha," or the Male (probably borrowed from *Sāṁkhya Yoga* Narayana and so forth, but, the oldest and original name was, as has been said, "Bhagavat." In Pāṇini's time they were also called Vasudevakas and Arjunakas.[26] The supreme deity was infinite, eternal, *prasada* (full of grace). At a later date, we find that Kautalya was acquainted with the cult of Saṁkarshaṇa. In course of time, they absorbed the message of the 'Upanishads' loosely, never weaving it securely in their doctrine. This later form of Bhāgavata cult is best illustrated by the *Narayaniya* section of the *Santis Parvan* of the *Mahabharata*. It alludes to the doctrine as Bhāgavata or *Pancharatras*. The creed being *bhakti*, as illustrated by the story of Ambarisha and Vishnu. *Mahabharata* (Ś. Parva) states that Saṁkarshaṇa is Jiva, while Vasudeva is *paramatman*. The creed defined the one God, *Bhagavat*, Nārāyana *Purusha* or Vāsudeva, who was *Ananta achyuta* and *avinasin* according to Sāṁkhya, *prakriti*, *pradhana* and *avaykta*. He created Brambā, Śiva etc. They believed in the immortality of the soul.

The principles of creation resemble that of *Samkhya* but the spiritual supreme is not brought in connexion with matter. The *Santi Parvan* of the *Mahabharata* is divided into several sections the later half of which is called *Mokshadharma Parvan* and portion of this is called Nārāyaniyā, which gives, a graphic account of the development of Pancharatra and Vyuha doctrines while purporting to discuss *Samkhya-Yoga*. The joint mention of Vāsudeva and Saṁkarshana in Ghosundi inscription. proves that in C. 3rd Century B. C. during the formative period of the Bhagavata cult and Vyuha doctrine. S. E. Rajasthan or Mewar played an important part. The late Sir George Grierson defined *Vyuha* doctrine as follows: Vāsudeva in the act of creation not only produced *prakriti* the indiscrete (*avyakta*) prlmal matter of *Samkhya*, but also a *vyuha* or phase of conditioned

26. Grierson-The Narayaniya and the Bhagauitas—*Ind. Antiq*. vol, XXVIII (0908) p. 253.

spirit, called Samkarshana. From the combination of Samkarshana with prakriti was born a second phase of conditioned spirit, called *manas*, or Prādyumna. From the association of Pradyumna with *manas* sprang, *Samkhya ahamkara* or consciousness, a phase of third conditioned spirit, known as Aniruddha. From the association of Aniruddha with ahamkara sprang Samkhya mahamanas or elements and also Bramha.[27]

That *vyuha* doctrine influenced the religious life of Rajasthan even in Rajput period, is proved by the finds of images ot Vaikuntha-Narayana at Bijholya, Jhalarpatan, Ahar, Nagda (Sas-Bohu Temples) and Eklingaji.[28]

These inscriptions throw, therefore, valuable sidelights on religious conditions of S. E. Rājasthān in the centuries before the birth of Christ, demonstrating that many streams met to create modern Bramhinism in its formative period. The particular point to be borne in mind is that Rajasthan worshipped two *Kshattriva* heroes: Vāsudeva and Saṁkarshana, who by C. 150 B.C., when Patanjali compiled his *Mahadhashya*, were no longer human beings but divinitties. This ultimately merged with Vishṇu-Narayaṇ and Krishna cults.

---

27. *Ind. Anti*, Vol. XXVIII, p. 261.

28. Cf. my forthcoming paper 'Insteresting Images from S. E. Rajasthan in *Lalit Kala* Nos. 11-12

Pārasaka the fifth varna

P. V. Bapat

In the *Assalayana sutta* No. 93 of the *Majjhimanikaya*, there is a discussion between Gotama Buddha and a young Brahmana, Assalāyana by name, about the superiority of the Brahmanas, claimed by the latter, over the other three social groups, Ksatriyas, Vaiśyas and Śūdras. He maintained that only the Brahmanas can be considered to be pure as against the view held by Gotama Buddha, that purity can be attained by all the three groups of Ksatrivas, Vaisyas and Sudras as much as by the Brahmanas.

In this connection Buddhaghosa tells us that, apparently, in his time there were not merely four social groups (varṇas), but actually there were five varnas–Brāhmaṇas, Kssatriyas, Vaiśyas, Sudras and a group, which he calls Pārasaka.

The Commentator, Buddhaghosa, tells us that the fifth group was the result of a mixed marriage between persons belonging to different varṇas. One who is born of a Ksatriya man and a Brāhmaṇa woman is called Ksatriya Pārasaka and one who is born of a Brāhmana man and a Ksatriya woman is called a Brahman Pārasaka. Both the kinds of progeny are considered to be of low birth (*hīna-jati*). They are considered to be an independent group, the fifth group *(pancamassa vannassa atthitaya.)* Here he definitely asserts that there was a fifth varna. Thus in his time, the theory of four varnas only was definitely exploded and a fifth varna had already come to be recognised *(Ettha catuvanno ti niyamo natthi; Pancomo hi Parasika—vanno pi atthi)*. *Manusmrti* (X. 4) denies the existence of a fifth group *(nasti tu pancamah)*

Now about the name Pārasaka, There is no certainty about the correctness of this reading. The variants found are *(Parisaka Padasaka.)* I am inclined to believe that the reading here is corrupted, and the original may be Pārasava, corresponding to the Sanskrit word Pārasava. This word is found in *Manusmrti* and other Dharmasastra[1] texts which all confirm that this is a name given to the progeny of a mixed marriage *Manusmrti*, however, restricts this word to the progeny of a Brahmana father and a Sudra mother. This progeny is also described in *Manu* (X. 8) as Nisāda. Even in the *Mahabharata* (BORI ed. 13. 48. 5) Parasava is described as follows—

Param savad Brahmanasy esa putrah
Sudraputram Parasavam tam ahuh

Vidura is also spoken of as Parasava (Sorensen's Index to the Mbh. I. 4361)

The identification of Parasava with Nisada has perhaps led to the use of this term *(pancama varna)* in south India for the out-caste people. And it is evident from the evidence of Buddhaghosa that this term had already come into existence by the time of Buddhaghosa.

---

1. See p. 140 in the *Glossarial Index to Prastra Smrti* by Suresh chandra Bannerji *(Annals)* of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, XL. 1960

जहांगीर नो विधर्मी पवित्र पुरुषो प्रत्येनो आदर

विद्वानो जोड़े धर्म अंगेनी चर्चा मां रस अने अनेक संप्रदायोना आचार्यो साथ नों संपर्क अने व्यवहार, शेख मुबारक अने तेना पुत्र अबुल फजल ना धर्म सहिष्णुता अंगे ना विचारो नो प्रभाव अने सौ करतां विशेष ते समये चालतां धार्मिक सुधारा माटे नां आंदोलनोए कुटुम्ब मां चाली आवती मजहबी भावनाओ बाबत मां अकबर मां परिवर्तन आण्युं हतु । तेना दरबारीयो उपर ए कार्यनी भारे असर हती. बादशाहे सर्व धर्मनो अभ्यास करी अंतःकरण ने योग्य लागता सिध्धांत मुज्जब वर्तन राखवानुं मन साथ विचारी लीधुं । तेनो पुत्र सलीम तख्तनशीनी पछी जहांगीरनां टूंका खिताब थी ओलखायो ते पण तेना बाप अकबरनी की पेठे धर्म चुस्त मुसलमान रह्यो न हये, शबे–बरात (१) अये ईदना तहेंवारो तो ते पालतो हतो; परंतु ते साथे पारसीओना नवरोज (२) अने हिन्दुओना दिवाली, दशेरा, रक्षाबंधन अने शिवरात्रि ना मोटा हिन्दु तहेवारो पण हिन्दु राजवीओनीजेम उत्साहपूर्वक अने दबदबाथी ते उजवतो हतो (३)

सलीमना जन्म (ई० सं० १५६९) अंगे कहेवाय छे के अकबर ओगणत्रीस के त्रीस बरसनी उमरे पहोंचे ते अगाउ तेने अनेक बालको थयां हतां; परन्तु तेमानु एक पण हयात रह्युं न हतुं. आथी तख्त माटे ना तेना उत्तराधिकारी अंगेनी चिंता तेना दिलने सतावबा लागी हती, अधीरो बंनो अल्लाहनी रेहमत ने पहोंचेला (अेटले के मृत) तेमज तसव्वुफना राह उपर चालनारा (हयात) सूफीओनी दरमियानगीरी ते अे सिद्धि माटे शोधता फरतो हतो—दर बरसे अजमेर मां आवेली

---

१. मुसलमानों नी मान्यता मुजब अे रात्रि दरमियान खुदाना हुक्म मुजब फरिश्ता मनुष्यों ना जीवन ना कार्यो नो हिसाब करे छे अने तेमने जीविका वहेंचे छे, मुसलमानो नमाज पढे छे, जागरण करे छे, अने ते पछीना दिवसे रोजो राखे छे.

२. ईरान मां उत्सव नो दिवस छे. ए पछी वसंत नी शरुआत थाय छे. ए मार्च नी २२ मी तारीखे पड़े छे.

३. जहांगीर नी आत्मकथा, तुजुके जहांगीरी मां अंगेना आधारो अनेक ठेकाणे मले छे.

शेख मुईनुद्दीन चिश्ती (मृ० ई० स० १२३६) नी दरगाहे जातो (१) अने ख्वाहिश बर आवशे तो पगपाला तेनी ज़ियारत करवानी मानता पण तेणे मानी, ए संयोगे दरमियान ओ साथे शेख सलीम चिश्ती (मृ० ई० स० १५७२) नामना नेवुं वरसना वृद्ध सूफीनो सहारो मेलववाते तेने मलयो ।

जहांगीरे पोतेज तेनी आत्मकथा तुजुके जहांगीरीमां (२) ओ अंगेनी विगत आपी छे के "हज़रत अर्श-आशियानी (स्वर्गस्थ अकबर) सलतनत नी संस्थाजारी राखवाने अल्लाह पासे थी तख्त माटे योग्य पुत्रनी मागणी कर्या करता हता, त्यारे तेना मानीता दरबारीयो मां थी कोईक जणाव्युं के शेख सलीम नामनो एक दरवेश आ तरफना सूफीयो मां पवित्रता माटे मशहूर छे अने अकबराबाद (आग्रा) थी बारकोस उपर आवेला सीक्री कस्बा मां रहे छे आपजो आपनीआ आरजू तेमनी आगल प्रदर्शित करो तो मुरादनु झाड़ तेमनी दुवाना सिंचण थी फलाऊ बनशे. ते पछीते हज़रत (अकबर) शेखनी मंजिल ऊपर गया अने नम्रता अने निष्ठा साथे दिलनी आ वात तेनी आगल जाहेर करी. तेनी मुराद फलशे एवा शुभ समाचार तेमने शेखे आप्या. त्यारे तेमणे कह्युं के "हवे हुं बाधाराखुं छुं के ते फरजंदने आपना दामन मां उछेर माटे मूकीश. जेम ते आपनी बाह्य तेमज आंतरिक बरकत थी महान थाय. शेख ओ प्रस्ताव मान्य राख्यो अने ते बोल्या कि मुबारक रहे अने तेनु नाम अमे अमारा पोताना नाम उपरज राखी दीधुं" थोड़ाज समय मां निष्ठाने परिणामे उमेद बर आवी. जन्नत मकानी(४) (स्वर्गस्थ वालिदा) ने प्रसव नो समय नजीक आव्यो त्यारे तेने शेखने त्यां मोकलवा मां आवी अने मारो जन्म फतेहपुर मां शेख सलीम नी मंजिल मां थयो. त्यारे करार कर्या मुजब नाम सलीम राखवा मां आव्यु"

जहांगीर नो चारित्र्य बाबत मां सामान्य रीते जे कोई इतिहासों मां नोधायुं होय ते लक्षमां लेवा मां आवे तो तेना जन्म समय ना मजकूर रुपेला अने तेना पिता अकबर ना दरबार ना धार्मिक सहिष्णुता भर्या वातावरण ना प्रभाव ने लई ने मुसल्माने तेमज हिंदु अने अन्य धर्मोना पवित्र पुरुषो मां तेणेत्यारे श्रद्धा दाखली हती.

ए बीजी दृष्टिए विचार करतां ते समये हिंदुओ अने मुसलमानो मां जाहेर मां आवता नवा सुधरेला संप्रदायो अंगेनु तेनु ज्ञान नहिवत हतुं. एकज अल्लाह नी मान्यता थी अने मजहब नी चालु आवती रूढ़िना

---

१. अकबर नामा तबकाते अकबरी, मुन्तखबुत्तवारीख, जहांगीर नामा

२. पृष्ठ ३ (दीबाचो)

३. अल्लाह तालानुं लोक ऊंचा आसमान उपर तख्तहोवानुं मनाय छे अने त्यां जेनो मालो छे ते मोगल सल्तनत दरमियान गुजरेला शहेनशाहोने आवा खिताबो आपवा मा आवता ।

४. कोई इतिहास मांतेनुं नाम मलतुं न थी. मुजनराये (खुलास-तुत तवारीख पृष्ठ ३७४ दिल्ली) मा मरियमुज्जमानी (जमाना नी मरियम एटले औरमकाल इसानी माता अंग्रेजी में मेरी) नमेद तरीके ते हयातने होवाथी जहांगीर तेने माटे जन्नत मकानी (एटले के जन्नत मां हवे जेनु स्थान छे ते) शब्द वापर्यो छे. मरियमुज्जमानी तेनु अधिकार युक्तनाम हतुं, अकबर नी ए बेगम मूल रजपूत राजकुंवरी हती.

पालन थी ते संतोष मानतो हतो. अने, संतो, सूफीयो, सन्यासीओ अने धर्माचार्यो ने मलवा मां अने तेमनी साथे वात अने चर्चा करवा मां तेनो रस पड़तो हतो. परन्तु ते साथे खटपटी लोकप्रिय धर्माचार्यो अने धर्मांध लोको ने सामाजिक अने राजकीय व्यवस्थानी स्थिरता मलववामां ते खतरनाक लेखतो हतो.

शीख गुरु अर्जुन ऊपर तेना शासन दरमियान थयेलो जुलम चर्चास्पद छे. ए गुरु (जन्म ई. स १५६३) गोविंद वाल मां रहेतो हतो. ते चोथा शीख गुरु रामदास नो पुत्र हतो. बालवय थीज आध्यात्मिक स्वभाव अने ध्यानी चित्त ते धरावतो होवानी वात प्रचलित हती. ई. स. १५८१ मां शीख गुरु तरीके तेणां पिता नो ते उत्तराधिकारी बन्यो. तेना पूर्वगामीओं नां हिंदु अने मुसलमान सुधारको ना अने तेमनां पोतानां भजनो अने कथनो नो संग्रह आदिनाथ ग्रंथ मां तेणे कर्यो हतो. तेनु निरीक्षण करतां अकबर ने अर्जुन नी आदर्श प्रतिभा नी भांकी थई हती. ते शहेनशाह ना अवसान पछी अर्जुन गुरु ए परेशान हालत मां रहेता बंडखोर शाहजादा खुसरो ने सहाये आपवानी भूल करी पाड़ी[1] जेने लईने तेने माथे आफत उतरी. गुरु ना विरोधीओ एवो पूरो लाभ उठाव्यो अने जहांगीर आगल राज्यद्रोह अने दुराचार ना रंग थी रगी ने ए बाबत रुजु करी. परिणाम शहेनशाहे शत्रुओ नी जाल में फंसाई पड्यो. तेणे तेने सजा करी अने तेनी माल-मिल्कत जप्त करावी (ई० स० १६०६).

जहांगीरे पोतानी तुजुक मां आ बनाव नी विगत आपी छे. तेणे बताव्युं छे[1] के "बिआह नदी ने किनारे आवेला गोविंदवाल मां एक हिंदु रहतो हतो तेनुं नाम अर्जुन हतुं. ते संत रूपे रहेतो हतो. अनेक भोला भला हिंदुओ बल्के अज्ञान अने मुर्ख मुसलमानों ने पण तेणे पोतानी रीति-नीति मां बांध्याजहता. तेओ तेना संत-जीवन अने तेनी पवित्रता नी बुलंद आवाजे जाहेरात करता हता. तेओ तेने गुरु कहेता हता. आजु बाजुथी बेवकूफ लोको अने मुर्ख भक्तो तेने आवी मलता रहता. अने तेनामां तेओनी अंध श्रद्धानी ऐ रीते प्रतीति करावता हता. गुरुनी त्रण चार पीढी थी आ दुकान चालु आवती हती. लांबा समय थी मने विचार आव्या करतो हतो के आ दुकान काढी नांखवी जोइए अथवा तो तेने मुसलमानो नी जमात मां लाववु जोइए. अंते एवुं बन्युं के आ रस्ते खुसरो प्रसार थयो अने आ नालायके तेनी सेवा मेलव वानो इरादो कर्यो. जे स्थले ते रहेतो हतो त्यां तेणे मुकाम कर्यो. ते तेने मल्यो अने तेने केटलीक बाबतो जणावी. ते पछी तेणे तेनो कपाल उपर तिलक कर्युं. एने हिंदुओ शुकनियाल माने छे. आ वात मारा सांभलवामां आवी. में तेने सम्पूर्ण रीते पोकल गणीने तेने मारी आगल हाजर करवाना हुकम कर्यो. तेना आश्रम तथा तेना बालकों ने में मुर्तजा खान(नामना अमलदार) ने सोंप्या अने तेनां माल मिल्कत जप्त कराव्यां. तेने में सजा फरमावी"

---

१. शीख अनुश्रुति परा मुजब अकबरे तख्त माटे खुसरोनी नीमणु कह करी हती. ते वखते ते काबुल रह्यो हतो. तेणे अर्जुन गुरु ने नाणांनी मदद आपवा आजीजी करी हती. गुरु ए जवाब मां कह्युं के 'मारुं नाणुं गरीबो माटे छे अने शाहजदाओ माटे नथी. खुसरो बोल्यो के हुं अत्यारे गरीब, तंग अने निराधार हालत मां छुं अने मारी पासे मुसाफरी करवामाटे खर्चना पैसा न थी" गुरु अर्जुन ते पछी तेने पांच हजार रुपिया आप्या (Macauliff-Sikh Religion Vol. III pp 84-5; Cunningham—History of the Sikhs & Garrett pp. 53)

१. तुजुके जहांगीरी पृ० ३५

शीखोनी अनुश्रुतिमा आ बनाव नीचे प्रमाणे नोधवामां आवेलो छे:—

जहांगीरे गुरु ने तेनी सामे बोलाव्या अने कह्युं के 'तुं एक महान् संत छे, एक महान् उपदेशक छे अने पवित्र पुरुष छे, तुं गरीब अने तवंगर ने समान गणे छे, ते थी मारा दुश्मन खुसरोने तें पैसा आप्या ए योग्य न कर्युं' अर्जुने जवाब आप्यो के हुं हिन्दु के मुसलमान, तवंगर के गरीब, दोस्त के दुश्मन एम तमामने मोहबत के नफरतनी (पक्षपात) दृष्टि थी जोतो न थी, अने आज कारण थी तारा पुत्र ने में थोड़ा पैसा तेनी मुसाफरीनो खर्च माटे आप्या अने नहि के ते तारो विरोधी हतो ते थी, जो में तेने तेनी जलती परिस्थितिमां सहाय न करी होत अने तारा पिता शहेन शाह अकबरनी मारा तरफ नी माया ध्यान में राखी होत तो आम जनता ए मारा हृदयनी कठोरता माटे मने धिकार्यो होत, अने तेओ कहेत के हुं डरतो हतो, दुनियांना गुरु, गुरुनानक ना अनुयायी ने माटे ए विना अरण घटती बनत" ते पछी जहांगीरे तेने बे लाख रुपियानो दंड कर्यो अने हिंदु अने मुसलमान धर्मो विरुद्धनां भजनो तेनां ग्रंथमाथी काढी नांखवानो तेने हुकम कर्यो। त्यारे अर्जुन गुरु बोल्या के 'जे कई धन मारी पासे छे ते रंक निराधार अने अजाण्या लोकोने माटे छे, जो तारे धन जोइतुं होय तोतुं मारी पासे जे छे ते लई ले; परंतु जोतुं दंड तरीके ते मांगतो होय तो हुं एक कोडी पण तने आपीश नहि; कारण के दंड दुष्ट दुन्यवी लोको उपर लादवामां आवे छे अने नहि के धर्माचार्यो अने सन्यासीओ उपर। ग्रंथसाहेबमांना भजनो काढी नांखवा बाबत मां जे कई तें कह्युं ते अंगे जणाववानुं के हुं सहेज पण ते मांथी काढी नांखीश नहि, के बदलीस नहि, हुं शाश्वत ईश्वर अने परमात्मा नो भक्त छुं, तेना सिवाय कोई शासक न थी, अने तेणे जे कंई गुरु नानक थी मांडी गुरु रामदास सुधीना गुरुओना अने ते पछी मारा हृदय मा प्रगट कर्युं छे ते पवित्र ग्रन्थ साहेब मां नौंधवामां आवेलुं छे, जे भजनो तेमां स्थान लीधेलुं छे ते कोई हिंदु अवतार के कोई मुसलमान पैगम्बर ने माटे अपमान युक्त न थी, पेगम्बरो धर्माचार्यो अने अवतारो असीम शाश्वत् ईश्वर तरफ थी कार्यो करे छे एम तेमां श्रद्धापूर्वक लखेलुं छे, मारु ध्येय सत्नो प्रचार अने जूठ नो विनाश करवानुं छे अने ए कार्यनी सिद्धि मां आ क्षणभंगूर देहनो लय थाय तो हुं मारुं अहो भाग्यलेखीश.

कंई जवाब आप्या विना मुलाकातनो ओरडो छोडी जहांगीर चाल्यो गयो, काजी ते पछी गुरुने जणाव्युं के 'तमारे दंड भरवो जोइए अने नहि तो केद भोगववी जोइए; अर्जुन दंड भरवा माटे फांलो उघराववानी मनाई तेमना अनुयायीनो तुरतज करी, काजीअने अने पंडितो तेमना ग्रंथ मांथी वांधा भरेलां भजनो काढी नांखे तो तेमने मुक्ति आपवानी दरखास्त पेशकरी, त्यारे अर्जुन जवाब आप्यो के 'मनुष्यो ने आ अने बीजी दुनियां मा मुक्त अने नहि के आपत्ति आपवा ग्रंथ साहेबनी रचना करवामां आवेली छे, तेने नवे नरथी लखवुं अने तमो मांगों छो ते प्रमाणे तेमाथी काढी नाखवुं अने तेनां फेरफार करवो असंभवित छे. ते पछी शत्रुओए जे त्रास तेमना उपर गुजार्यो ते सर्व गुरुए शांत चित्ते अने खामोशी पूर्वक सहनकर्यो अने न तो निसासो नांख्यो अने न तो दुःखनो अवाज काढयो, बदले मुं वचन उच्चारवा तेमने बीजी तक आपवामां आवी त्यारे निडरपणे तेणे जवाब आप्यो, 'मूर्खाओ! हुं तमारा आवर्तन थी कदी डरवानो

1. Gokul Chand Narang—Transformation of Sikhism, pp. 31–41.

नथी. आ सर्व ईश्वरेच्छा थीज बने छे. जे कारणने लईने आ जुलम तमो मारा उपर करो छे, तेमां मने आनंदज आवे छे, शहेनशाह नी जाण अने मंजूरी विना वधारे ने वधारे त्रास तेने आपवामां आव्यो. अंते एक दिवसे गुरु ए नदी मां नहावानी परवानगी मेलवी अने किनारे जई देह त्याग कर्यो !"

दबिस्ताने मजाहिब[1] मां जणाववामां आव्युं छे के गुरु अर्जुन ने जे दंड करवा मां आव्यो हतो ते ते भरी शक्यो नहि, ते थी तेने लाहोर मा केदखाना माँ राखवामां आव्यो. गरमी ने कारणे अने तेओने दंड तेनी पासे थी वसूल करवानुं काम सोंपवामां आव्युं हतुं तेमणे तेना उपर करेला जुलम ने लईने तेवुं मृत्युं थयुं.

जहांगीरे अर्जुनगुरु ने करेली सजा बाबत मां 'सियासत' अने 'यासा' शब्दो वापरेला छे[2]. 'सियासत नो अर्थ सजा थाय छे. अने यासा नो अर्थ मोंगोलिया नी भाषा मां 'फांसी' थाय छे. परतु ते समय वपराती प्रशिष्ट फारसी भाषा मां समानार्थ शब्दो एक साथे वापरवानी चालु आवती रूढि मुजब अे बंने नो उपयोग 'सजा' नाज अर्थ मां थयो होवानी संभावना छे अने न के देहांत दंड अर्थ मां. जेम के केटलांक पुस्तकों माँ नोंधवा माँ आव्युं छे; मजकूर अनुश्रुतिमां पण देहांत दंड कर्यो होवानो उल्लेख नथी.

अहि जहांगीर अने खुस्रो ना संबंध बाबतमां थोड़ी स्पष्टत करवुं आवश्यक छे, जे उपर थी अर्जुन गुरु ने करेली सजाना कारण नो ख्याल आवशे. बन्युं हतु एवुं के जहांगीर नो मोटो पुत्र खुस्रो तेनी रजपूत बेगम मानबाई ने पेटे अवतरेलो हतो. रजपूतो नो तेनी तरफ पक्षपात हतो. अने अकबर पछी तेने तख्तनशीन करवानी पेरवी तेमणे करवा मांडी हती. खुसरो ए छडे चोक बापनी निंदा करवा मांडी. ए मान बाई सहन करी शकी नहि अने दिवानी बनी. ई०स० १६०४ मां तेणे अपघात कर्यो. अकबर बादशाह पण गभराई गयो हतो-तेथी तेणे तमाम सरदारो अने विशेष करीने मानसिंह पासे जहांगीर ने वफादार रहेवानां सोगंद लेवडाव्या. अकबर मांदो पड़नां काबत्रां शरु थयां अने जहांगीर तख्तनशीन थतां खुस्रोए बंड कयुं. अर्जुन गुरु ए तेने सहकार आप्यो. जहांगीर नां अति विपरीत संजोगो मां ए बन्यु अने तेने सजा थई. अर्जुन गुरु ए बंडखोर खुस्रो ने मदद करी ने पक्षपाती वलण न प्रदर्शित कयुं होत तो तेने छेड़वानुं कोई कारण जहांगीर माटे उपस्थित थातज नहि. पोतानुं जीवन पोतानी रीतेज ते जीवी शक्यो होत.

जहाँगीर ने पवित्र पुरुषो माटे अति आदर हतो. आध्यात्मिक ज्ञानविशे माहितीं मेलववा बाबत मां तेने त्यारे आकर्षण हतुं अने ए अंगेना अनेक दृष्टांतो तेनी तुजुक मां मले छे. हि०स० १०१६(ई०स० १६०७) मा ते काबुल मां हतो[3] त्यां तेने थयेला अनुभव नी विगत आपतां ते जणावे छे के–'बुधनो दिवस हतो. सरदार खान नो बाग परशावर (पेशावर ?) नजीक आवेलो छे. त्यां में मुकाम कर्यो. ते पछी तेनी नजीक आवेला गोरखरी तीर्थ स्थान तरफ हुं गयो, मने आशा हती के एकाद संत नजरे पडशे अनें तेना संपर्क थी कईक फायदो

---

१. हस्तप्रत, गुजरात विद्यासभा संग्रह नं० ३१४

२. तुजुके जहांगीरी, पृ० ३५

३. तुजुके जहांगीरी पृ० ५०

थशे. परंतु एवो संत तो उन्का [1] अने कीमिया समान छे. ते तो एकांतवास सेवनारी होय छे, ते आ भरेली ठठ मां क्यां थी होय ? एक मंडली में थई. ते मां ना साधुओ ने मलतां दिलमां अंधकार सिवाय कंईज प्राप्त थयुं नहि" आगल उपर जहांगीरे लख्युं छे के त्यां अन्य घणां संतो हता; परंतु ए सन्यासी थी उत्तम ते मंडली माँ कोई जोवा मां आव्यो नहि.

हि० स० १०२५ (ई० स० १६१६) नो एक बनाव छे ते वखते जहांगीर उज्जैन माँ हतो, त्यां ते गोंसाई जदरूप ने मल्यो. तेनी पाछल तो ते घेलो थई गयोहतो. तेनी साथेनी मुलाकात अंगे तेणे जणाव्यु छे के[1] "होडी मां बेसीने हुं आगल चाल्यो. में अनेक वार सांभल्युं हतुं के जदरुप नाम नो एक योगी केटलाक वरसो थी उज्जैन नजीकना जंगल मा एक खूणामां वस्ती थी दूर परमात्मानी भक्ति मां लीन रहे छे. तेने मलवानी मारी घणी आतुरता हती. हुं आग्रा पायतख्त मां हतो, त्यारे तेने बोलावी तेने मलवानी मारी इच्छा थई हती; परंतु तेम करवां माँ तेमने तकलीफ पड़े एवो ऊंडो विचार करी में तेमने बोल्यावो नहि. हुं मजकूर शहेर नी नजीक मां पहोंच्यो. होडी मांथी उतरी पगपाला तेने मलवा गयो। जे जगाए ते रहे छे ते एक गुफा छे. ते तेणे एक टेकरी मांथी खोदीने बनावेली छे. तेनो प्रवेश मेहरावना आकारे देखाय छे. तेनी लंबाई एक गज अने पहोलाई दस गिरेह छे.[2] गुफा ना ए प्रवेश आगल थी तेना रहेवानु स्थल सुधीनो भाग लंबाई मां बेगज अने पांच गिरेह अने पहोलाई मां सवा अगियार गिरेह छे. अने जे गुफा मां ते रहे छे तेनी लंबाई साड़ा पांच गिरेह अने पहोलाई साड़ा त्रण गिरेह छे. तेनु शरीर पातलु छे.ते गुफामां ते मुश्केली थी समाई सके छे. ते मां न तो चटाई अने न तो घासी नी पथारी. ते सांकड़ी अने अंधारी गुफामां ते एकलोज रहे छे. शियालानी ठंडी हवातां कंई ओढतो नथी, टाटनो टुकड़ो आजु बाजु विटाली राखे छे, ते सिवाय बीजुं कंई कापड़ तेनी पासे न थी ते आग सलगावतो नथी. मौलाना रूमीए एक दरवेश ना मोंमां नीचेनी शेर मूंकी छे, ते एनी हालत ने अनुरूप छेः

'पोशिशे मा रोज, ताब आफताब

शब निहालीए, लिहाफ़ अज माहताब ।

[दिवस अमारुं वस्त्र छे, सूर्य अमारी गरमीं छे; रात्रि (अमारी) सादड़ी छे अने चांदनी (अमारी) रजाई छे.]

तेना स्थाने पासे एक तलाव छे त्यां जई ने ते दर रोज बे वार नहाय छे. दिवस मां एक वखत ते उज्जैन नगरी मां आवे छे, त्यां सात ब्राह्मणो मांथी त्रण बाल बच्चा वाला छे. अने तेओ गरीब अने संतोषी हालत

---

१. फारसी साहित्य मां एक कल्पित पक्षी नुं नाम उपमा माटे वपराय छे. ते अंगे एकी मान्यता छे के तेनु नाम जाणमां छे अने तेना शरीर विशे माहिती न थी. एक समय तेनी संख्या एकनीज होय छे. ते हवामां कायम उडतुं रहे छे, तेना जीवन नो अंत नजीक आवे छे त्यारे ते बली मरे छे अने तेनी राख मांथी बीजुं उत्पन्न थाय छे. कोई दुर्लभ, असाधारण विरल अने अप्राप्त वस्तु नी उपमा ए नामथी आपवा मां आवे छे,

२. तुजुके जहांगीरी पृ० १७६–७७२. एक गिरेह बराबर त्रण आंगल पहोलाई नु मापथाय के. ए गजनो सोलमो भाग छे

मां आनंद मले छे. तेमनां घर पसंद करीने तेमने त्यां ते जाय तेओ जे भोजन पोताने माटे तैयार करे छे तेमांथी पांच कोलिया भीख तरीके तेओ पासे थी तेनी हथेली मां ले छे अने खाध्या विना ते ओगाली जाय छे. तेम करी तेनी स्वादेन्द्रिय ने तेनी लहेजत प्राप्तथया देतो नथी ? ते भीख माटे जाय ते मां शरतो छे के आपनारने मुसीबत न पडे अने तेना घर मां कोई स्त्री प्रसव वाली तेमज मासिक धर्म मां न.होय.—एनु नियमो आ त्रण घरो मां पलाय छे. मैं जे आलख्यु ते मुजब तेनु जीवन चाले छे. ते कोई ने मलवानी इच्छा राखतो न की; परंतु तेनी घणी ख्याति थई गई ते थी लोको तेनां दर्शन करवा तेनी पासे जाय छे. ते ज्ञान सम्पन्न छे. वेदांत नु ज्ञान जे तसव्वुफ (सूफीवाद) नु ज्ञान छे ते मां ते निष्णात छे, छः घड़ी तेनी पासे हु रह्यो अने घणी वातो तेनी साथे करी, तेनो मारा उपर भारे प्रभाव पड्यो. मारी चर्चानी तेना उपर पण असर थई. मारा वालिदे (अकबर) असीरगढ़ अने खानदेश (ई० स० १५९९—१६००) जीत्यां अने आग्रा गया ते वखते एजस्थले तेमणे तेने जोया हता अने तेने घणी सारी रीते याद करता हता".

जहांगीर हि० स० १०२७ (ई० स० १६१८) मां अहमदावाद थी पाछी उज्जैन गयो त्यारे फरीथी तेनी मुलाकाते गयो. हजी[1] तेअंगे तेणे लख्युं छे के "जदरुप ने मलवाने मारुं दिल तलपापड़ थयुं. बपोरनी नमाज पछी होड़ी मां वेसने तेनी मुलाकात करवा उतावलो हुंगयो. अने सांजना तेने एकांतवास ना खूणां मां हुं दोड़ी पहुंच्यो. तेनी साथे में वात करी.

इलाही ज्ञानना चार भेद विषे तेनी पासे थी अनेक बाबतो में सांभली—ने तसव्वुफ अंगेनी वातो निर्मल दिल थी स्वाभाविक पद्धति ए करे छे. तेनी साथ चर्चा करवा मां आनंद आवे छे. तेनी वय साठ साल जेटली छे. बावीस वरस थी तेणे दुन्यवी संबंध तोड़ी नाखेला छे. अने ब्रह्मचर्य ना धोरी रस्ता उपर कदम मोकेलो छे. आठ साल थी ते नग्नजेवी अवस्था मां रहे छे. में विदाय लीधी त्यारे तेणे कह्यु के 'हुं अल्लाह ना आ उपकार कई भाषा मां मानुं के आवा इन्साफमन्द बादशाह ना जमाना मां हुं शांतिमय दिल थी परमात्मानी भक्ति मां लीन रहुं छुं. अने कोई पणरीते तकलीफ नी धूल मारा मकसदना दामन उपर पोंहची नथी".

"हि० स० १०२८ (ई० स० १६१९) मां जहांगीर मथुरा मां पहोंच्यो त्यारे जदरूप त्यांहतो. ए समाचार मलतां तेना आनन्द नो पार रह्यो नहि. ए अंगेनी नोंध करता ते जणावे छे[2] के, "उज्जैन थी गोसाई जदरूपे हिंदुओना तिर्थ स्थान मथुरा मां स्थलांतर कर्युं छे अने ते परमात्मा ना ध्यान मां लीन रहे छे. ए खबर मने मली त्यारे तेमना दर्शन करवा मारु दिल अधीर बन्यु. शुक्रवार ने दिवसे हुं उतावले पगे गयो. अने लांबो समय एकांत मां निरांते कोई पण प्रकारनी वातचीत कर्या विना त्यां रह्यो. खरे खर तेनी हस्ती गनीमत छे. तेनी साथे बेसवा मां आनन्द आवे छे. अने लाभ थाय छे।

---

१. तुजुके जहांगीरी पृ० २५४—२५५

२. वही पृ० २८२

सोमवार[1] ने दिवसे फरीथी गोंसाई जदरुप ने मलवा दिल आकर्षायुं. निःसंकोच हुं तेनी कुटीर तरफ उतावलो उतावलो गयो. अपने तेने मलयो. तेनी साथे उच्च कक्षानी घणी वात थई, अल्लाह् ताला तेने ताजुबी उत्पन्न करे एवी शक्ति अर्पेली छे. तेनी समज उमदा प्रकारनी, तेनो स्वभाव उन्नत कोटिनो अपने तेनी परख शक्ति प्रचंड छे. ते साथे तेना मा इलाही ज्ञान संग्रहित छे. दुनियां नी माया मां थी तेणे तेनुं दिल मुक्त करी दीधेलुं छे. संसार तथा तेमां जे कंई छे ते तरफ तेतो पूंठ फेर वेली छे. ते एकांत खूणांमां निःस्पृह जीवन गाले छे. सृष्टि नी चीजो मा थी अर्वोगज पुराणुं टाट तेनी पासे छे. जेवडे ते तेनुं गुप्त अग ढांके छे. पाणीं पीवा माटे तेनी पासे माटींनु वासण छे. शियाला उनाला अने चोमासा मां ते उघाडो नग्न सिरे अने नग्न पगे रहे छे, अति मुश्किली थी घावतु वालक दाखल थई शके एवी (सांकड़ी) गुफा मां ते रहे छे.

बुधवार ने दिवसे फरीथी हुं गोसांई ने मलवा गयो. अने पछी तेवायी छूटो पडयो. निःसंकोच तेनी संगतमां रही ने तेनाथी थयेली जुदाई मारा निष्ठावान दिल उपर बोज समान रही.

जहांगीर हि० स० १०२७ (ई० स० १६१८) मां अमदावाद मां हतो ते दरमियान पण तेदे एक सन्यासी कांकरियानी पाल ऊपर मली गयो हतो. तेणे नोंध्यु छे के "कांकरिया तलाव नी पाल उपर एक सन्यासी तूटी फूटी कुटिर मां रहेतो हतो. ते हिंदु हतो. मारु दिल संतोनी संगत तरफ आकर्षातुं रहे तु होवायी कोई पण प्रकारना संकोच विना शाही तंबु मांथी नीकलीने फकीरना जेवा तेना वसवाट तरफ हुं गयो. लांबो समय तेनी पासे हुं वेसी रह्यो. तपास करतां जाणवानुं मलयुं के ते सन्यासी ज्ञान, सज्जनता अने त्याग वृत्ति धरावे छे अने परमात्मा अंगेना मर्म अने अध्यात्म ना भेद थी वाकेफ छे. वाह्य रीते ते फकीरी अने दरवेशों जेवो रहे छे अने आंतरिक रीते तेणे संसारी माया नो त्याग करे लो छे". आगल उपर जहांगीर तेने विशे लख्युं छे के 'त्यां अन्य अनेक संतो हता; परंतु ते सन्यासी थी चढे एवो ते मंडली मां कोई बीजो नजरे पडयो नहि".

जैन मुनिओना प्रत्ये पण जहांगीर आदरनी लागणी धरावतो हतो. जैनाचार्यो मां हीर विजय सूरि,[2] विजयसेन सूरि[3] अने विजय देवसूरि जैन समाज ना गोरव-रत्नो छे. जहांगीर ना समय मां एक एवो बनाव बन्यो के हीर विजय सूरि ना पट्ट धर विजयसेन सूरि ए विजयदेव सूरि ने पोताना पट्ट धर बनाव्या हता. तेना केटलाक शिष्यो ए ते नीमणूंक सामे वांधो उठाव्यो अने विरोध कर्यो, ए समये जहांगीर ने एवा ए विजय देवसूरि ने मलवानुं मनथयुं अने तेथी तेणे तेमने पोताना दरबार मां पधारवानुं आमंत्रण एक फरमान द्वारा पाठव्युं । जहांगीर मालवा मां मांडू (मांडवगढ़) मांहतो अने सूरि खंभात मां चोमासुं पालता हता. फरमान मलतां तेमणे मांडू तरफ विहार कर्यो अनेत्यां पहोंची शहेनशाह

१. तुजुके जहांगीरी पृ० २८२-८३

२. अकबर आ मुनि ने रमेशां पोतानी पासे राखतो रतो अनेदर त्रिवारे सवारे एमना मुखे थी बोलाना सूर्य सर स्वनाम मालानुं एकाग्रता पूर्वक श्रवण करतो रतो. (पद्मश्री मुनिजिन विजयजी—जैन इतिहासनी झलक पृ० १८१)

३. पद्मश्री जिनविजय जी—जैन इतिहास नी झलक-१८७

ने मल्या. जहांगीर तेमनी विद्वत्ता, तेजस्विता अने क्रिया-निष्ठा जोई खुश थयो. अने तेओ हीरविजय सूरिना साचा उत्तराधिकारी होवानी खातरी थतां तेणे तेमने 'जहांगीरी महातपा' नी पदवी अर्पण करी अने गच्छना साचा अधिनायक तरीके तेने जाहेर कर्या.

सिद्धिचंद्र जहांगीर ना समय मां एक विद्वान जैन साधु हता. जहांगीर ना दरबार मां सिद्धिचंद्र नी हाजर जवाबी खीली नीकली हती. ते थी एक वार तेणे तेने साधु जीवन नो त्याग करीने पोताना दरबार मां सारो दरज्जो स्वीकारवा दबाण कर्युं. अने नूरजहां ने पण तेना तरफ थी तेने ललामण करी. सिद्धिचंद्रे ए प्रलोभन नी दरखास्त पूर्वक टाली. अने तो पोतानां साधु जीवन ने दृढ़ता पूर्वक वलगी रह्या. सिद्धिचंद्र नु आ वलण जहांगीर ने पसंद पड्युं नहि. अने तेणे अने पोतानी इच्छा नो अनादर कर्यो ते थी रोषे भराईने तेने जंगल मा चाल्या जवानो तेणे हुक्म कर्यो. सिद्धिचंद्रे सहर्ष ते प्रमाणे कर्युं.

परंतु सिद्धिचंद्र ना गुरु भानुचन्द्रे [1] दरबार मां जवानुं चालुज राख्युं, जहांगीरे पण तेना प्रत्येना आदर मां कई कमी करी नहि. परंतु तेमना शिष्य ने थयेला गेर-इन्साफ ने लई ने तेमनो चहेरो उदास रहेतो हतो. तेनुं साचुं कारण जहांगीर ने समजमां आवतां तेने घणो पस्तावो थयो. अने ते विद्वान जैन साधु ने फरीथी दरबार मां पधारवा तेणे आमंत्रण मोकल्युं ते पछीते 'जहांगीर-पसंद' कहवाया.

शीख गुरु अर्जुन एक पवित्र पुरुष हतो. अने जहांगीर तरफ थी तेने हेरानगति थई हती ए बनाव तेना चारित्र्य ना प्रस्तुत पासा उपर डाघ तरीके. गणवो न गणवो ए एक चर्चास्पद विषय छे. परंतु ए तो निर्विवाद छे के मुसलममान फकीरो अने दरवेशों अने हिंदु सन्यासीओ अने योगीओ ने मलवानी तेनी धुन हती, एवी व्यक्ति कोई ठेकाणे रहेती होवानी खबर पडतां ते तेने मलवा बेकरार थतो अने त्यां दोडी पहोंची तेने मलीने जंपतो. पवित्र पुरुषोनां निर्मल अने तेजस्वी व्यक्तित्व अने विद्वत्ता मां ते रहे तो अने तेमनो पूरो आदर करतो.

---

१. एमनी प्रतिभाना अद्भुत प्रयोग जोईने बादशाहे एमने 'खुश-फेहम' नो खिताब आप्यो हतो (आईने अकबरी)

समाधि-पूर्वक मरण

देह के स्वतः छूटने, छुड़ाने तथा त्यागने को 'मरण' कहते हैं, जिसका आयु क्षय के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।[1] जो जन्मा है, उसका एक-न-एक दिन मरण अवश्य होता है, चाहे वह किसी भी विधि से क्यों न हो। ऐसा कोई भी प्राणी संसार के इतिहास में नहीं, जो जन्म लेकर मरण को प्राप्त न हुआ हो। बड़े-बड़े साधन-सम्पन्न राजा-महाराजा, चक्रवर्ती, देव-दानव, इन्द्र-धरणेन्द्र, वैद्य-हकीम, डाक्टर और ऋषि-मुनि तक सब को अपना-अपना वर्तमान शरीर छोड़ कर काल के गाल में जाने के लिए विवश होना पड़ा है। कोई भी दिव्य-शक्ति-विद्या-मणि-मंत्र-तंत्र-औषधादिक किसी को भी काल-प्राप्त मरण से बचाने में कभी समर्थ नहीं हो सके हैं। इसी से 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्'—मरना देहधारियों की प्रकृति में दाखिल है, वह उनका स्वभाव है, उसे कोई टाल नहीं सकता—यह एक अटल नियम बना हुआ है।

ऐसी स्थिति में जो विवेकी हैं—जिन्होंने देह और आत्मा के अन्तर को भली प्रकार से समझ लिया है—उनके लिए मरने से डरना क्या? वे तो समझते हैं कि जीवात्मा अलग और देह अलग है—दोनों स्वभावतः एक दूसरे से भिन्न हैं—जीवात्मा कभी मरता नहीं, मरण देह का होता है। जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर उसी प्रकार धारण कर लेता है जिस प्रकार कि मैले कुचैले तथा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण किया जाता है। इसमें हानि की कोई बात नहीं, वह तो एक प्रकार से आनन्द का विषय है और इसलिए वे भय, शोक तथा संक्लेशादि से रहित होकर सावधानी के साथ देह का त्याग करते हैं। इस सावधानी के साथ देह के त्याग को ही 'समाधि-मरण' कहते हैं। मरण का 'समाधि' विशेषण इस मरण को उस मरण से भिन्न कर देता है जो साधारण तौर पर आयु का अन्त आने पर प्रायः सांसारिक जीवों के साथ घटित होता है अथवा आयु का स्वतः अन्त न आने पर भी क्रोधादिक के आवेश में या मोह से पागल होकर 'अपघात' (खुदकुशी Suicide) के रूप में उसे प्रस्तुत किया जाता है और जिसमें आत्मा की कोई सावधानी एवं स्वरूप-स्थिति नहीं रहती। समाधि-पूर्वक मरण में आत्मा की प्रायः पूरी सावधानी रहती है और मोह तथा क्रोधादि कषायों के आवेश में कुछ नहीं किया जाता, प्रत्युत उन्हें जीता जाता है तथा चित्त की शुद्धि को स्थिर किया जाता है और इसी से कषाय तथा काय के संलेखन—कृषीकरण—रूप में इस समाधि मरण का दूसरा नाम

---

१. आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं। (समयसार)
आउक्खयेण मरणं आउं दाउं ण सक्कदे को वि। (कार्तिके०)

'सल्लेखना-मरण' भी है जिसे आम तौर पर 'सल्लेखना' कहते हैं। यह सल्लेखना चूंकि 'मारणान्तिकी होती है'[1]—मरण का अवश्यम्भावी होना जब प्रायः निश्चित हो जाता है, तब की जाती है—इसलिए इसे 'अन्तक्रिया' भी कहते हैं, जो कि जीवन के अन्त में की जाने वाली आत्म-विकास-साधना-क्रिया के रूप में एक धार्मिक अनुष्ठान है और इसलिए अपघात, खुदकुशी (Suicide) जैसे अपराधों की सीमा से बाहर की वस्तु है। इस क्रिया-द्वारा देह का जो त्याग होता है वह आत्म-विकास में सहायक अर्हदादि-पंचपरमेष्ठी अथवा परमात्मा का ध्यान करते हुए, बड़े यत्न एवं सावधानी के साथ होता है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के 'पंच-नमस्कार-मनास्तनुंत्यजेत्सर्वयत्नेन, इस वाक्य से जाना जाता है—यों ही विष खाकर, कूपादिक में डूब कर, पर्वतादिक से गिरकर, अग्नि में जलकर, गोली मारकर या अन्य अस्त्र-शस्त्रादि से आघात पहुँचाकर सम्पन्न नहीं किया जाता।

इस सल्लेखना अथवा समाधि-मरण की योग्यता-पात्रता कब प्राप्त होती है और उसे किस उद्देश्य को लेकर किया जाता है इन दोनों का बड़ा ही सुन्दर निर्देश स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना के अपने निम्न-लक्षण में अन्तर्निहित किया है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतिकारे।
धर्माय तनु-विमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ १२२ ॥

—समीचीन धर्मशास्त्र

इसमें बतलाया है कि 'जब उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा (बुढ़ापा) तथा रोग प्रतीकार (उपाय-उपचार) रहित असाध्य दशा को प्राप्त हो जाय अथवा (चकार से) ऐसा ही कोई दूसरा प्राणघातक अनिवार्य[2] कारण उपस्थित हो जाय तब धर्म की रक्षा-पालन के लिए जो देह का विधिपूर्वक त्याग है उसको सल्ले-खना-समाधिमरण कहते हैं।'

इस लक्षण-निर्देश में निःप्रतीकारे और 'धर्माय' ये दो पद खास-तौर से ध्यान देने योग्य हैं। उपसर्गादिकका 'निःप्रतीकार' विशेषण इस बात को सूचित करता है कि अपने ऊपर आए हुए चेतन-अचेतन कृत उपसर्ग, दुर्भिक्ष तथा रोगादिक को दूर करने का जब कोई उपाय नहीं बन सकता तो उसके निमित्त को पाकर एक मनुष्य सल्लेखना का अधिकारी तथा पात्र होता है, अन्यथा उपाय के संभव और सशक्य होने पर वह उसका अधिकारी तथा पात्र नहीं होता।

दूसरा 'धर्माय' पद दो दृष्टियों को लिए हुए है—एक अपने स्वीकृत समीचीन धर्म की रक्षा-पालना की, और दूसरी आत्मीय धर्म की यथा शक्य साधना-आराधना की। धर्म की रक्षादि के अर्थ शरीर के त्याग की बात

---

१. मारणान्तिकीं सल्लेखना जोषिता।—त०सू० ७-२२.

२. भगवती आराधना में भी ऐसे दूसरे सहज कारण की कल्पना एवं सूचना की गई है; जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है—

'अण्णं पिचावि एदारिसम्मि अगाढ कारणे जा दे।'

सामान्य रूप से कुछ अटपटी-सी जान पड़ती है, क्योंकि आम तौर पर 'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं मतम्' इस वाक्य के अनुसार शरीर धर्म का साधन माना जाता है, और यह बात एक प्रकार से ठीक ही है, परन्तु शरीर धर्म का सर्वथा अथवा अनन्यतम साधन नहीं है, वह साधन होने के स्थान पर कभी-कभी बाधक भी हो जाता है। जब शरीर को कायम (स्थिर) रखने अथवा उसके अस्तित्व से धर्म के पालने में बाधा का पड़ना अनिवार्य हो जाता है तब धर्म की रक्षार्थ उसका त्याग ही श्रेयस्कर होता है। यही पहली दृष्टि है जिसका यहाँ प्रधानता से उल्लेख है। विदेशियों तथा विधर्मियों के आक्रमणादि-द्वारा ऐसे कितने ही अवसर आते हैं जब मनुष्य शरीर रहते धर्म को छोड़ने के लिए मजबूर किया जाता है अथवा मजबूर होता है। अतः धर्मप्राण मानव ऐसे अनिवार्य उपसर्गादिक का समय रहते विचार कर धर्म-भ्रष्टता से पहले ही बड़ी खुशी एवं सावधानी से उस धर्म को साथ लिए हुए देह का त्याग करता है जो देह से अधिक प्रिय होता है।

दूसरी दृष्टि के अनुसार जब मानव रोगादि की असाध्यावस्था होते हुए या अन्य प्रकार से मरण का होना अनिवार्य समझ लेता है तब वह शीघ्रता के साथ धर्म की विशेष साधना-आराधना के लिए प्रयत्नशील होता है, किए हुए पापों की आलोचना करता हुआ महाव्रतों तक को धारण करता है और अपने पास कुछ ऐसे साधर्मीजनों की योजना करता है जो उसे सदा धर्म में सावधान रक्खें, धर्मोपदेश सुनावें और दुःख तथा कष्ट के अवसरों पर कायर न होने देवें। वह मृत्यु की प्रतीक्षा में बैठता है, उसे बुलाने की शीघ्रता नहीं करता और न यही चाहता है कि उसका जीवन कुछ और बढ़ जाय। ये दोनों बातें उसके लिए दोष रूप होती हैं; जैसा कि इस सल्लेखना व्रत के अतिचारों की कारिका (१२९) के **'जीवितमरणाशंसे'** वाक्य से जाना जाता है।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने उक्त धर्म-शास्त्र में **'अन्तक्रियाधिकरणंतपः फलं सर्वदर्शिनः स्तुयते** इत्यादि कारिका (१२३) के द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि 'तप का फल अन्तःक्रिया के—सल्लेखना, संन्यास अथवा समाधिपूर्वक मरण के—आधार पर अवलम्बित है। अर्थात् अन्तःक्रिया यदि सुघटित होती है—ठीक समाधि-पूर्वक मरण बनता है—तो किये हुए तप का फल भी सुघटित होता है; अन्यथा उसका फल नहीं भी मिलता। अन्तःक्रिया से पूर्व वह तप कौन-सा है जिसके फल की बात को यहाँ उठाया गया है? वह तप श्रावकों का अणुव्रत-और शिक्षाव्रतात्मक चारित्र है और मुनियों का महाव्रत-गुप्ति-समित्यादि रूप चारित्र है। सम्यक चारित्र के अनुष्ठान में जो कुछ उद्योग किया जाता है और उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' कहलाता है।[1] इस तप का परलोक-सम्बन्धी यथेष्ट फल प्रायः तभी प्राप्त होता है जब समाधि-पूर्वक मरण होता है; क्योंकि मरण के समय यदि धर्मानुष्ठान रूप परिणाम न होकर धर्म की विराधना हो जाती है तो उससे दुर्गति में जाना पड़ता है और वहाँ पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों के फल को भोगने का कोई अवसर ही नहीं मिलता-निमित्त के अभाव में वे शुभ कर्म बिना रस दिये ही खिर जाते हैं। एक बार दुर्गति में पड़कर बहुधा दुर्गति की परम्परा बन जाती है और पुनः धर्म को प्राप्त करना बड़ा ही कठिन हो जाता है। इसी से श्री शिवार्य जी अपनी भगवती आराधना में लिखते हैं कि 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला

---

१. जैसा कि भगवती आराधना की निम्न गाथा से प्रकट है :—
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणो य जो होई।
सो चेव जिणेहि तवो भणिदो असढं चरंतस्स ॥ १० ॥

मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है तो वह अनन्त संसारी तक–अनन्त कालपर्यन्त संसार भ्रमण करने वाला हो जाता है—

सुचिरमपिनिरदिचारं विहिरित्ता णाण-दंसण-चरित्ते।

मरणे विराधयित्ता अणंतसंसारिओ दिट्ठो ।। १५ ।।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि अन्त समय में धर्म-परिणामों की सावधानी न रखने से यदि मरण बिगड़ जाता है तो प्रायः सारे ही किये कराये पर पानी फिर जाता है। इसी से अन्त समय में परिणामों को संभालने के लिए बहुत बड़ी सावधानी रखने की जरूरत है और इसी से उक्त कारिका के उत्तरार्द्ध 'तस्माद्योवद्विभवं समाधि मरणे प्रयतितव्यम्' में इस बात पर जोर दिया गया है कि जितनी भी अपनी शक्ति हो, उसके अनुसार समाधिपूर्वक मरण का पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

इन्हीं सब बातों को लेकर जैन-समाज में समाधिपूर्वक मरण को विशेष महत्व प्राप्त है। उसका नित्य की पूजा-प्रार्थनाओं आदि में **'दुक्खखओ कम्म-खओ समाहि मरणं च बोहिलाहो वि'** जैसे वाक्यों-द्वारा समाधि मरण की बराबर भावना की जाती है, और भगवती-आराधना जैसे कितने ही ग्रन्थ उस विषय की महती चर्चाओं एवं मरण-सम्बन्धी सावधानता की प्रक्रियाओं से भरे पड़े हैं। लोक में भी 'अन्तसमा सो समा' अन्तमता सो मता, और 'अन्त भला सो भला' जैसे वाक्यों के द्वारा इसी अन्त-क्रिया के महत्व को ख्यापित किया जाता है। यह क्रिया गृहस्थ तथा मुनि दोनों के लिए विहित एवं निर्दिष्ट है।

ऐसी स्थिति में जो मरणासन्न है, जिसने सल्लेखनात्मक संन्यास लिया है अथवा समाधिपूर्वक मरण का संकल्प किया है उसके परिणामों को ऊँचा उठाने की–गिरने न देने की–बड़ी जरूरत होती है; क्योंकि अनादि, अविद्या तथा मोहममतादिक के संस्कार-वश और रोगादि–जन्य वेदना के असह्य होने पर बहुधा परिणामों में गिरावट आ जाती है, परिणामों की आर्त–रौद्रादिरूप परिणति होकर संक्लेशता बढ़ जाती है और उससे मरण बिगड़ जाता है। अतः सुन्दर, सुमधुर तात्त्विक वचनों के द्वारा उसके आत्मा में भेद-विज्ञान को जगाने की जरूरत है, जिससे वह अपने को देह से भिन्न अनुभव करता हुआ देह के छूटने को अपना मरण न समझे, रोगादिक को देहाश्रित समझे और देह के साथ जिनका सम्बन्ध है, उन सब स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादिको 'पर' एवं अवश्य ही वियोग को प्राप्त होने वाले तथा साथ न जाने वाले समझकर उनसे मोह-ममता का त्याग कर चित्त में शान्ति धारण करे; उसके सामने दूसरों के ऐसे भारी दुःख-कष्टों के और उनके अडोल रहकर समताभाव धारण करने तथा फलतः सद्गति प्राप्त करने के उदाहरण भी रखने चाहिए, जिससे वह अपने दुःख कष्टों को अपेक्षाकृत बहुत कम समझे और व्यर्थ ही आकुल-व्याकुल न होकर हृदय में बल तथा उत्साह की उदीरणा करने में समर्थ होवे। साथ ही इस देह के छूटने से मेरी कोई हानि नहीं; यह तो चोला बदलना मात्र है, पुराने जीर्ण अथवा रोगादि से पीड़ित शरीर के स्थान पर धर्म के प्रताप से नया सुन्दर शरीर प्राप्त होगा, जिससे विशेष धर्म-साधना भी बन सकेगी, ऐसी भावना भाता हुआ मरण को उत्सव के रूप में परिणत कर देवे। इसी उद्देश्य को लेकर 'मृत्यु-महोत्सव' और 'समाधिमरणोत्साह दीपक' आदि अनेक प्रकरण-ग्रन्थों की रचना हुई है। अस्तु।

जो सज्जन किसी के भी समाधि मरण में सहायक होकर—अपनी आवश्यक सेवाएं प्रदान कर उसे विधिपूर्वक सम्पन्न कराते हैं उनके समान उसका दूसरा कोई उपकारी या मित्र नहीं है। और जो इष्ट-मित्रादिक उस मरणासन्न के हित की–कोई चिन्ता तथा विधि–व्यवस्था न करके अपने स्वार्थ में बाधा पड़ती देखकर रोते–पीटते-चिल्लाते हैं तथा ऐसे वचन मुंह से निकालते हैं जिससे म्रियमाण–आतुर का चित्त विचलित हो जाए, मोह तथा वियोग-जन्य दुःख से भर जाय और वह आत्मा तथा अपने भविष्य की बात को भुलाकर संक्लेश–परिणामों के साथ मरण को प्राप्त होवे, तो वे इष्ट मित्रादिक वस्तुतः उसके सगे सम्बन्धी नहीं, किन्तु अपने कर्तव्य से गिरे हुए अपकारी एवं शत्रु होते हैं। ऐसे ही लोगों को स्वार्थ के सगे अथवा मतलब के साथी कहा जाता है। अतः मरणासन्न के सच्चे सगे सम्बन्धियों को चाहिए कि वे अपने कर्तव्य का पूर्णतत्परता के साथ पालन करते हुए उसके भविष्य एवं परलोक सुधारने का पूरा प्रयत्न करें। अपने रोने-रड़ाने के लिए तो बहुत समय अवशिष्ट रहता है, मरणासन्न के सामने रो-रडाकर तथा विलाप करके उसकी उस अमूल्य मरण-घड़ी को नहीं बिगाड़ना चाहिए, जिसे समता भाव तथा शुभ परिणामों के अस्तित्व में कल्प वृक्ष के समान मन की मुराद पूरी करने वाली कहा गया है और इसलिए इसे उत्सव, पर्व तथा त्यौहार के रूप में मनाने की जरूरत है।

कबीर और मरण-तत्व

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नांहि ।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि ॥१६॥

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध ।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ॥२०॥

इसी प्रकार निम्नलिखित साखियों में भी प्रकारान्तर से शीश उतार कर देने की बात कही गई है—

सीस काटि पासंग दिया, जीव सरभरि लीन्ह ।
जाहि भावे सो आइ ल्यौ, प्रेम आट हम कीन्ह ॥२२॥

सूरे सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस ।
आगैं थैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास ॥२३॥

कबीर की मान्यता है कि प्रेम न तो किसी खेत में उत्पन्न होता है और न किसी बाजार में बिकता है । राजा-प्रजा कोई हो, इसे तो शीशदान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है :—

प्रेम न खेतों नींपजै, प्रेम न हाटि विकाइ ।
राजा परजा जिस रुचे, सिर दे सो ले जाई ॥२१॥

जायसी ने भी अपने "पद्मावत" में सिर काट कर रख देने की बात कही है :—

साधन सिद्धी न पाइअ, जौ लहि साध न तप्प ।
सोई जानहिं बापुरे जो सिर करहिं कलप्प ॥

(प्रेम खण्ड)

पेम पहार कठिन विधि गढ़ा । सो पै चढ़ै सीस सों चढ़ा ।

जहां तक मेरी जानकारी है, संस्कृत-साहित्य में ऐसा कोई प्रसंग उपलब्ध नहीं होता जहां मरण को इस प्रकार काम्य और स्पृहणीय माना गया हो । श्री दिनकर के शब्दों में "मृत्यु को काम्य मानने का भाव भारतीय साहित्य में कबीर के पहले नहीं मिलता है । वह देश निवृत्तिवादी था । यहां के दर्शनाचार्य लोक को असत्य और परलोक को सत्य बताते थे । लेकिन, इस दर्शन का सहारा लेकर कबीर से पहले के किसी भी भारतीय कवि ने यह नहीं कहा था कि चूंकि परलोक सत्य और लोक असत्य है, इसलिए साधक को चाहिए कि वह, शीघ्र से शीघ्र, मृत्यु को प्राप्त हो जाय ।"

विरह की स्थिति है, यह दार्शनिक सिद्धान्त था। जब इस विरह की वेदनाओं का वर्णन कल्पना की भाषा में किया जाने लगा, साधक इस विरह की समाप्ति के लिए बेचैन हो उठे और उसके अनेक मार्गों में से एक मार्ग उन्हें मृत्यु में भी दिखाई देने लगा। ×

आगे चलकर मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य में अवश्य ही मरण का महोत्सव के रूप में चित्रण किया गया जिससे "मरण–त्यौहार" राजस्थानी का एक कहावती पदांश ही बन गया। जो मध्ययुगीन योद्धा देश तथा धर्म की रक्षा के लिए युद्ध-भूमि में अपने प्राणों को न्योछावर कर देते थे, उनका विश्वास था कि इसके परिणाम-स्वरूप वे अप्सराओं के साथ स्वर्ग-सुख का उपभोग करेंगे। महाभारत में भी इस प्रकार के योद्धा को "सूर्य मंडल भेदी" की संज्ञा दी गई है :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल भेदिनौ।
परिव्राड योगयुक्तश्च रणे यश्चामुखे हतः॥

प्रसाद के "चन्द्रगुप्त" नाटक की अलका के निम्नलिखित उद्बोधन में भी उक्त विश्वास की ही अभिव्यक्ति हुई है :—

"भाई ! तक्षशिला मेरी नहीं और तुम्हारी भी नहीं ; तक्षशिला आर्यावर्त्त का एक भू-भाग है ; वह आर्यावर्त्त की होकर ही रहे, इसके लिए मर मिटो। फिर उसके कणों में तुम्हारा ही नाम अंकित होगा। मेरे पिता स्वर्ग में इन्द्र से प्रतिस्पर्धा करेंगे। वहां की अप्सराएं विजयमाला लेकर खड़ी होंगी, सूर्यमण्डल मार्ग बनेगा और उज्ज्वल आलोक से मण्डित होकर गांधार का राजकुल अमर हो जायगा।"

गीता में भी इस प्रकार के युद्ध को "स्वर्गद्वारमपावृतम्"–खुला हुआ स्वर्गद्वार कहा गया है। किन्तु कबीर आदि सन्तों ने अनेक उल्लासोक्तियों द्वारा जिस मरण को काम्य ठहराया है, वह अवश्य ही उपरोक्त युद्धजन्यमरण से भिन्न है। इस सम्बन्ध में गोरखनाथ की एक उक्ति लीजिए :–

"मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा।
तिस मरणीं मरौ, जिस मरणीं गोरख मरि दीठा॥

अर्थात् हे जोगी ! मरो, मरना मीठा होता है। किन्तु वह मौत मरो जिस मौत से मरकर गोरखनाथ ने परमतत्व के दर्शन किये। प्रश्न यह है कि वह मरण कौनसा है जिसके द्वारा परमतत्व के दर्शन होने से मरण का ही मरण हो जाता है ?

ऊपर "सबद–बाण" के चलाने से शिष्य की मरण–दशा का उल्लेख किया गया है। गोरखनाथ ने भी मुसलमान काजी को समझाते हुए कहा था कि मुहम्मद के हाथ में जो तलवार थी, वह लोहे या फौलाद की बनी हुई नहीं थी, वह प्रेम अथवा "सबद" की तलवार थी :–

महमद महमद न कर काजी, महमद का विषम विचारं।
महमद हाथि करद जे होती, लोहै गढ़ी न सारं॥

× साहित्य और भाषा पर इस्लाम का प्रभाव (श्री रामधारीसिंह दिनकर) परिषद्-पत्रिका, वर्ष-२, अंक-२, पृ० ३३–३५।

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तुकाराम ने मरण–दशा के प्रत्यक्षीकरण का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है --

आपुले मरण पाहिले म्या डोला, तो झाला साहेला अनुपम ।
आनन्दे दाटली तिन्हीं त्रिभुवने, सर्वात्मउपणे भोग झाला ।
एकदेशी हो तो अहंकारे आथिला त्याचरा त्यागे झाला सुकाल हा ।
फिटले सुतक जन्मा मरणांचे, मी मापया संकोचे दूर झालो ।
नारायणे दिला वसतीस ठाव, ठेवोनिया भाव ठेलो पायी ।
तुका म्हणे दिले उमटूनी जगी, घेतले ते अंगी लावूनिया ।।

अर्थात्– आज अपने दिव्य नेत्र से हमने अपनी मरण-दशा का प्रत्यक्षीकरण किया । यह एक अनुपम आनन्द महोत्सव हुआ । तीनों भुवन आनन्द से भरे हैं, आज हमें सर्वात्मभाव से उनका भोग हुआ । आज तक देहाभिमान से हम एकदेशी बन बैठे थे, उस अहं भाव का त्याग होते ही सर्वात्मभाव का उदय हुआ । आनन्दमय रूप चारों ओर खुल गया । जन्म-मरण परम्परा का अशुचि–सम्बन्ध टूट गया । अब हमारे लिए परिच्छिन्न भाव कहीं रहा ही नहीं । भगवान् ने हमको अपने यथार्थ रूप में रहने के लिए विशाल जगह दी । अब हमें भगवान के चरणों के सिवाय और कोई नहीं देख पड़ता । तुकाराम कहते हैं कि यह तो हमारा अपरिच्छिन्न आनन्दमय नित्य रूप प्रकट हुआ, वही हम हैं–यह निश्चय अब त्रिकाल में भी मलिन नहीं हो सकता ।

तुकाराम की उक्त वाणी से सिद्ध है कि सन्त लोगों ने जिस मरण का वर्णन किया है, वह शरीर-त्याग नहीं है, शरीराभिमान का त्याग है । यह वस्तुत: संकुचित अहं का मरण है जिसके द्वारा साधक उच्च भाव–भूमि पर प्रतिष्ठित होकर स्वरूपानन्द का लाभ प्राप्त करता है । यहां यह भली भांति स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह मरण सामान्य मरण नहीं है, इस मरण के द्वारा भौतिक अस्तित्व की समाप्ति नहीं हो जाती । यह मरण एक प्रकार से "जीवन्मरण अथवा जीवन्मुक्ति" है ।

जन्म-मरण के सम्बन्ध में कही हुई कबीर की निम्नलिखित उक्ति को रवि बाबू ने बड़ा चमत्कार-पूर्ण कहा था–

"जनम औ मरण बीच देख अन्तर नहीं दच्छ औ वाम यूं एक आही।
कहे कबीर या सैन गूंगा तई वेद औ कातेब की गम्य नाहीं ॥

हिन्दी–साहित्य में भी कामायनी के मनु ने "मृत्यु अरी चिर–निद्रे ! तेरा अंक हिमानी–सा शीतल" कह कर मृत्यु के सम्बन्ध में अपने उद्‌गार प्रकट किये थे। श्रीमती महादेवी वर्मा ने भी "अमरता है जीवन का ह्रास, मृत्यु जीवन का चरम विकास" द्वारा मृत्यु का जय जयकार ही किया है। यदि पंतजी के शब्दों में "जीवन–नौका का विहार चिर जन्म-मरण के आरपार" है तो मृत्यु पूर्ण विराम भले ही न हो, वह नवीन प्रस्थान के लिए आवश्यक विराम तो है ही।

एक बार किसी ने काका कालेलकर से पूछा कि भगवान ने अगर मृत्यु छीन ली और आपको अजर–अमर बना दिया तो आप क्या करेंगे ? यह सुन कर उन्होंने उत्तर दिया, "इस जीवन का अन्त होने वाला नहीं है, ऐसा डर अगर मेरे मन में छा गया तो मैं इतना घबरा जाऊंगा कि उस संकट से बचने के लिए मैं आत्म-हत्या ही करूंगा। मैं तो मानता हूँ कि खुदा की अगणित न्यामतों में सबसे श्रेष्ठ है मौत। मैं नहीं मानता कि परम दयालु परमात्मा मरने के हमारे अधिकार से हमें वंचित करेगा।"×

ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है कि आधुनिक युग में ऐसे कवि और विचारक तो हुए हैं जिन्होंने मृत्यु को वरदान के रूप में ग्रहण किया है किन्तु जिस मरण को उन्होंने वरदान के रूप में देखा है, वह मरण कबीर आदि निर्गुण सन्तों द्वारा निरूपित मरण नहीं है। कबीर तथा अन्य सन्तों द्वारा विवेचित मरण-तत्व एक प्रकार से प्रतीकात्मक है और अपने ढंग का अनूठा मरण है जिसमें शरीर का मरण नहीं होता, मरण होता है भौतिक वासनाओं का और व्यक्ति के क्षुद्र संकुचित अहम् का। *

×मौत सचमुच है मीत (मंगल प्रभात, १ अप्रैल, १९६५)

* हिन्दी के यशस्वी कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने अवश्य अपनी 'छाया' शीर्षक कविता में प्रकारान्तर से कबीर तथा अन्य संतों द्वारा निरूपित मरण से मिलते–जुलते विचार प्रकट किये हैं। छाया के प्रति निम्नलिखित कथन में:—

हां सखि ! आओ बांह खोल हम लग कर गले जुड़ालें प्राण
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में, हो जावे द्रुत अंतर्धान।

छाया रूप सखी से अभिप्राय छायारूप जगत् से ही है जिसे कवि (आध्यात्मिक जगत् में प्रवेश से पहले) प्यार कर लेना चाहता है क्योंकि आत्मा के प्रियतम में मिल जाने के बाद फिर छाया से मिलना कहां होगा ? यहां भी ऐसा नहीं लगता कि शारीरिक मरण होने पर ही प्रियतम से मिलने की बात कही जा रही है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि मरणतत्वविषयक संत–शैली और पंत–शैली में पर्याप्त अन्तर है। एक में जहां मरणोल्लास की अभिव्यक्ति हुई है तो दूसरी में प्रियतम से मिलन के पूर्व भौतिक जगत् के आकर्षणजन्य मोह को वाणी दी गई है।

—लेखक

जैनधर्म और उसके सिद्धान्त

भारतवर्ष की प्राचीनतम संस्कृतियों में श्रमण संस्कृति का अत्यन्त महत्वपूर्ण योग रहा है। विभिन्न देश और कालों में यह विशिष्ट नामों से व्यवहृत रही है। यद्यपि इतिहास के विद्वान् तथा मनीषी इसकी प्राचीनता लगभग तीन सहस्र वर्ष ही स्वीकार करते हैं किन्तु वैदिक साहित्य, जैन आगम साहित्य तथा अन्य देशों के साहित्य एवं परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग के पूर्व आर्हत संस्कृति का प्रसार भली-भांति इस देश में व्याप्त था। वेदों में हमें जिस यज्ञपरायण संस्कृति के दर्शन होते हैं वह वेद और ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करती है और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए यजन-कर्म को परम पुरुषार्थ निरूपित करती है। परन्तु इस मान्यता का वेदकाल में और उसके बाद भी घोर विरोध हुआ। वैदिक काल के पहले से ही ब्राह्मण संस्कृति तथा सृष्टिकर्तृत्व विरोधी व्रात्य तथा साध्य श्रेणी के लोग आर्हत संस्कृति के प्रसारक थे। वे ईश्वर को सृष्टि का कर्ता नहीं मानते थे। इनका विश्वास था कि सृष्टि प्रकृति के नियमों से बनी है। प्रकृति के नियमों को भली भांति जान कर मनुष्य भी नये संसार की रचना कर सकता है। मनुष्य की शक्ति सबसे बड़ी शक्ति है। वह समस्त शक्तियों में श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि साध्यों ने सरस्वती और सिन्धु के संगम पर विज्ञान भवन स्थापित कर सूर्य का निर्माण किया था। उस विज्ञान भवन में बैठ कर समस्त ब्रह्माण्ड का साक्षात्कार किया था[1]। आर्हत लोग कर्म में विश्वास रखते थे। और यही उनके सृष्टिकर्ता ईश्वर को न मानने का मूल कारण था। आर्हत लोग मुख्य रूप से क्षत्रिय थे। राजनीति की भांति वे धार्मिक प्रवृत्तियों में विशेष रुचि रखते थे और समय पड़ने पर वे वाद-विवादों में भी भाग लेते थे। आर्हत 'अर्हत्' के उपासक थे। उनके देवस्थान पृथक् थे और पूजा अवैदिक थी। इस आर्हत परम्परा की पुष्टि "श्रीमद्भागवत", पद्मपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराण और शिवपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थों से होती है। इसमें जैनधर्म की उत्पत्ति के संबंध में भी अनेक आख्यान उपलब्ध होते हैं[2]। यथार्थ में आर्हत धर्म जिस परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है वही वेदों, उपनिषदों, तथा पुराण-साहित्य में किंचित् परिवर्तन के साथ स्पष्ट रूप से झिलमिलाती हुई लक्षित होती है। निश्चय ही तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय तक जैनधर्म के लिए "आर्हत" शब्द ही प्रचलित था। बौद्ध पालि ग्रन्थों में तथा अशोक के शिलालेखों में "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग मिलता है। निग्गंठ या निर्ग्रन्थ शब्द जैनों

का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है–भीतरी (काम, क्रोध, मोह आदि) और बाहरी (कौपीन, वस्त्रादि) परिग्रह से रहित श्रमण साधु । इण्डो–ग्रीक और इण्डो–सीथियन के समय में यह धर्म "श्रमण–धर्म के नाम से प्रचलित था । मेगस्थनीज ने मुख्य रूप से ब्राह्मण और श्रमण दार्शनिकों का उल्लेख किया है ।[3]

पिछले दो दशकों में जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में कई प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जिनसे पता चलता है कि वेदों के युग में और उसके पूर्व जैनधर्म इस देश में प्रचलित था । वैदिक काल में यह 'आर्हत' धर्म के नाम से प्रसिद्ध था । आर्हत लोग "अर्हत" के उपासक थे । वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे । वेद और ब्राह्मणों को मानने वाले तथा यज्ञ-कर्म करने वाले "बार्हत" कहे जाते थे । बार्हत "वृहती" के भक्त थे । वृहती वेद को कहते थे । वैदिक यजन-कर्म को ही वे सर्वश्रेष्ठ मानते थे । वेदों में कई स्थानों पर आर्हत और बार्हत लोगों का उल्लेख हुआ है तथा "अर्हन्" को विश्व की रक्षा करने वाला एवं श्रेष्ठ कहा गया है ।[4] शतपथब्राह्मण में अर्हन् का आह्वान किया गया है और कई स्थानों पर उन्हें श्रेष्ठ कहा गया है [5] । यद्यपि ऋषभ और वृषभ शब्दों का वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है पर ब्राह्मण साहित्य में वे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं । कहीं उनका अर्थ बैल या सांड है तो कहीं मेघ और अग्नि तथा कहीं विश्वामित्र के पुत्र और कहीं बलदायक एवं कहीं शिक्नों के राजा भी है । अधिकतर स्थलों में "वृषभ" को कामनापूरक एवं कामनाओं की वर्षा करने वाला कहा गया है । सायण के अनुसार "वृषभ" का अर्थ कामनाओं की वर्षा करने वाला तथा 'अर्हन्' का अर्थ योग्य है । किन्तु ऋग्वेद में दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से "वृषभ" परमात्मा के रूप में वर्णित हैं । ऋग्वेद में वृषभ को कहीं-कहीं रुद्र के तुल्य और कहीं-कहीं अग्नि के सन्दर्भ में वर्णित किया गया है ।[6] इसी प्रकार "अरिष्टनेमि" का अर्थ हानि रहित नेमि वाला, त्रिपुरवासी असुर, पुरुजित्सुत और श्रौतों का पिता कहा गया है । किन्तु शतपथब्राह्मण में अरिष्ट का अर्थ अहिंसक है और "अरिष्टनेमि" का अर्थ अहिंसा की धुरी अर्थात् अहिंसा के प्रवर्तक है । अर्हन्, वृषभ और ऋषभ को वैदिक साहित्य में प्रशस्त कहा गया है । वृष को धर्मरूप ही माना गया है । जैनागमों में ऋषभदेव धर्म के आदि प्रवर्तक कहे गये हैं । अन्य देश-विदेशों की मान्यताओं एवं उनकी आचार विचार पद्धति से इस की पुष्टि होती है । कहीं यह वृषभ "धर्म-ध्वज" के रूप में, कहीं कृषिदेवता के रूप में और कहीं "वृषभध्वज" के रूप में पूजे जाते हैं । कहीं यह आदिनाथ है तो कहीं आदि धर्मप्रवर्तक और कहीं परमपुरुष के रूप में वर्णित हैं । वृहस्पति की भांति अरिष्टनेमि की भी संस्तुति की गई है [7] ।

---

३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड अर्रयन, पृ० ९७–९८ ।

४ ऋग्वेद २।३३।१०, २।३।१,३, ७।१८।२२, १०।२।२,९९. ७ ।
तथा–१०।८५।४, ऐआ० ५।२।२, शां १५।४, १८।२,२३।१, ऐ० ४।१०

५ ३।४।१।३–६, तै० २।८।६।६, तैआ० ४।५।७, ५।४।१० आदि ।

६ ऋग्वेद ४।५८।३, ४।५।१, १०।१६६।१

७ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा : स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।

वैदिक युग में पणि और व्रात्य आर्हत धर्म को मानने वाले थे। पणि भारतवर्ष के आदि व्यापारी थे। वे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न थे। धन में ही नहीं ज्ञान में भी बढ़े-चढे थे। इसलिए यज्ञपरायण संस्कृति को नहीं मानते थे। वे ब्राह्मणों को हवि, दक्षिणा-दान नहीं देते थे। देश का लगभग सभी व्यापार उनके हाथों में था। वे कारवां बनाकर अरब और उत्तरी अफीका को जाते थे। बाद में चीन तथा अन्य देशों से भी पणि लोगों ने व्यापारिक संबंध स्थापित कर लिये थे। पणि या पणिक ही आगे चल कर वणिक् बन गये जो आज बनिया रूप में जाने जाते हैं।

व्रात्य आर्य तथा क्षत्रिय थे। इन्हें अब्राह्मण-क्षत्रिय कहा गया है। ये ब्रह्म-ब्राह्मण तथा यज्ञ-विधान आदि को नहीं मानते थे। किन्हीं विद्वानों के अनुसार ये दलित और हीनवर्ग के थे-यह ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पंचविंशब्राह्मण में (१७-१) में व्रात्यों के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। वस्तुतः व्रात्य लोग व्रतों को मानते थे। अर्हन्तों (सन्तों) की उपासना करते थे और प्राकृत बोलते थे। उनके सन्त और योद्धा ब्राह्मण सूत्रों के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय थे।[८] अथर्ववेद में "व्रात्य" का अर्थ घूमने वाला साधु है। व्रात्यकाण्ड में पूर्ण ब्रह्मचारी को "व्रात्य" कहा गया है।[९] इससे भी व्रतों की पूजा करने वालों की पुष्टि होती है। अथर्ववेद में व्रात्य की भांति "महावृष" भी एक जाति कही गई है।[१०] महावृष लोग आर्य जाति के कहे गये हैं। जो भी हो, इससे यह पता लग जाता है कि वैदिक काल में ब्राह्मणविरोधी जातियां भी थीं जो प्राकृतिक नियमों से सृष्टि का वर्तन-प्रवर्तन मानती थीं। वस्तुतः यह अध्यात्मवादी परम्परा थी जो आत्मा को सर्वश्रेष्ठ मानती थी और यह कहती थी कि जब आत्मा ही सर्वोपरि है तो अलग से ब्रह्म या ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता रह जाती है? यद्यपि वैदिक युग में ब्राह्मण जाति की प्रधानता थी पर उस समय साध्यों का पूरे समाज पर पूर्ण प्रभाव और नियन्त्रण कहा जाता है। प्राग्वैदिक साध्यों को देवद्रोही कहा जाता था। ये संसार की रचना प्राकृतिक नियमों से मानते थे।[११] परन्तु प्रत्येक युग-युग में समय-समय पर संघर्ष हुए और उस संघर्ष का परिणाम ब्रह्मवाद की स्थापना में परिलक्षित हुआ।[१२] ज्यों-ज्यों युग पलटते गये, त्यों-त्यों यह अन्तर अधिक बढ़ता गया और विभिन्न सम्प्रदाय एवं धार्मिक विचार-क्रान्तियों का जन्म तथा विकास होता गया। इस प्रकार यह एक ही परम्परा विभिन्न केन्द्रों में विकासशील रही है और सामाजिक तथा राजनैतिक कारणों से इसके विविध रूप कहे जा सकते हैं। परन्तु आर्हत और बार्हत दोनों ही एक परम्परा के दो प्रारंभिक मुख्य केन्द्र-बिन्दु हैं जिनके चिन्ह आज भी परिलक्षित होते हैं।

संस्कृति का प्रचार करने वाले अधिकतर श्रमण साधु और बौद्ध भिक्षु थे। मैगस्थनीज ने अपनी भारत-यात्रा के समय में दो प्रकार के दार्शनिकों का उल्लेख किया है। ब्राह्मण और श्रमण उस युग के प्रमुख दार्शनिक थे।[१३] उस युग में श्रमणों को बहुत आदर दिया जाता था। कालब्रूक ने जैन सम्प्रदाय पर विचार करते हुए मैगस्थनीज द्वारा उल्लिखित श्रमण सम्बन्धी अनुच्छेद को उद्धृत किया है और बताया है कि जिन और बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तों की तुलना में अन्धविश्वासी हिन्दू लोगों का धर्म और संस्थान आधुनिक है।[१४] मैगस्थनीज ने श्रमणों के सम्बन्ध में जो विवरण दिया है उसमें कहा गया है कि वे वन में रहते थे। सभी प्रकार के व्यसनों से अलग थे। राजा लोग उनको बहुत मानते थे और देवता की भाँति उनकी स्तुति एवं पूजा करते थे।[१५] रामायण में उल्लिखित श्रमणों से भी इसकी पुष्टि हो जाती है। टीकाकार भूषण ने श्रमणों को दिगम्बर कहा है।[१६] सम्भव है कि उस समय दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों प्रकार के साधु रहते हों और वस्त्र के रूप में वल्कल परिधानों को धारण करते हों, जैसा कि मैगस्थनीज ने लिखा है। ब्राह्मण साहित्य में भी श्रमणों का उल्लेख मिलता है।[१७] किन्तु इस पर अधिकतर विद्वान मौन हैं।

रामायण की टीका में जिन वातवसन मुनियों का उल्लेख किया गया है वे ऋग्वेद में वर्णित वातरशन मुनि ही ज्ञात होते हैं। उनका विवरण उक्त वर्णन से मेल भी खाता है।[१८] केशी मुनि भी वातरशन की श्रेणी के थे।[१९] वातरशन मुनि उत्कृष्ट कोटि के मुनि थे जो निर्ग्रन्थ साधु थे। ज्ञान, ध्यान और तप में वे सबसे बड़े माने जाते थे। श्री बाहुबलि ने भी इसी प्रकार की तपश्चर्या की थी। तप ही इनकी एक मात्र चर्या रह जाती थी। ब्राह्मण साहित्य में—मुख्य रूप से तैत्तिरीय आरण्यक में इनका विस्तृत उल्लेख मिलता है। कई स्थलों पर इनकी स्तुति की गई है।[२०] इस प्रकार जैनधर्म आर्हत और श्रमण नाम से प्राचीन काल में प्रचलित रहा है। अर्हद् के उपासक आर्हत कहे गये हैं जो आगे चलकर जिन के अनुयायी जैन हो गये। किन्तु यह श्रमण शब्द बराबर प्रचलित रहा है और महावीर को श्रमण होते देख कर बुद्ध को मानने वाले गौतमबुद्ध को "महा-

---

१३ एन्शियेन्ट इण्डिया एज डिस्काइब्ड बाय मैगस्थनीज एण्ड एर्रियन, कलकत्ता, १९२६, पृ० ९७–९८।

१४ वही, पृ० १०१–१०२।

१५ ट्रान्सलेशन आव द फ्रेग्मेन्ट्स आव द इण्डिका आव मेगस्थनीज, बान, १८४६, पृ० १०५।

१६ "नाथवन्तः" दासा : शूद्रादय इति यावत् श्रमणाः दिगम्बराः "श्रमणा वातवसना" इति निघण्टुः। यद्वा "चतुर्थमाश्रमं प्राप्ता : श्रमणा नाम ते स्मृता :" इति स्मृतिः "।

—गोविन्दराजीयरामायणभूषण।

१७ श० १४।७।१।२२, तैआ० २।७।१

१८ "वातरशना: वातारशनस्य पुत्राः मुनयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय : पिशंगा पिशंगानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।"

—सायण भाष्य,१०।१३६।२

१९ वही, १०।१३५।७

२० तैआ० १।२१।३, १।३१।७, २।४।४, ३।१।२७. १।

श्रमण" कहने लगे।[२१] परन्तु जैन परम्परा में "श्रमण" शब्द अपने मूल रूप में आज तक सुरक्षित है।[२२] वस्तुतः ब्राह्मण साहित्य के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि श्रमणों की अपनी परम्परा रही है जो पुराणकाल तक और तब से अब तक अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है। श्री मद्‌भागवत में मेरुदेवी (मरुदेवी) तथा नाभि राजा के पुत्र भगवान् ऋषभदेव वातरशन श्रमणों के धर्मप्रवर्तक कहे गये हैं।[२३] और उन्हें "योगेश्वर" कहा गया है।[२४] इसी प्रकार अन्य पुराणों में भी आर्हत धर्म का उल्लेख मिलता है जिसे कहीं-कहीं जैनधर्म कहा गया है। पदमपुराण, विष्णु पुराण, स्कन्द और शिव पुराणों से आर्हत परम्परा की पुष्टि होती है। इन पुराणों में जैनधर्म की उत्पत्ति तथा विकास के संबंध में कई आख्यान भी मिलते हैं। मत्स्य-पुराण में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि जिनधर्म वेदबाह्य है जो वेदों को नहीं मानता[२५]। इससे यह तो पता लग ही जाता है कि जिस युग में वेदों की सृष्टि हुई थी उस समय आर्हत लोग वेद विरोधी थे और तभी से वेदविरोधी धर्म के रूप में उनका स्मरण एवं उल्लेख किया जाता रहा, क्योंकि किसी वैचारिक क्रान्ति के सन्दर्भ में ही अपने आप को पुराना मानने वाले इस प्रकार का नाम देते आये हैं। किन्तु इससे जैनधर्म की प्राचीनता पर और भी प्रकाश पड़ता है। संक्षेप में- तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के समय तक यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रचलित था। बौद्धग्रन्थों तथा अशोक के शिलालेखों में यह "निग्गठ" के नाम से प्रसिद्ध रहा और इण्डो-ग्रीक तथा इन्डो-सीथियन के युग में "श्रमण" धर्म के नाम से देश-विदेशों में प्रचारित रहा। पुराण-काल में यह जिन या जैनधर्म के नाम से विख्यात हुआ और तब से यह इसी नाम से सुप्रसिद्ध है। जैनागम तथा शास्त्रों में इस के जिनशासन, जैनतीर्थ, स्याद्वादी, स्याद्वादवादी, अनेकान्तवादी, आर्हत और जैन आदि नाम मिलते हैं। देश के विभिन्न प्रान्तों में समय-समय पर यह निम्न नामों से प्रचलित रहा है। जिस समय दक्षिण में भक्ति-आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, उस समय वहां पर यह भव्यधर्म के नाम से प्रसिद्ध था। पंजाब में यह "भावादास" के नाम से प्रचलित रहा।[२६] तथा "सरावग-धर्म" के नाम से आज भी राजस्थान में प्रचलित है। गुजरात में और दक्षिण में यह अलग अलग नामों से प्रचलित रहा है। और इस प्रकार आर्हत, वातवसन या वातरशन श्रमण से लेकर निग्रर्थ और जैनधर्म तक की एक बृहद् तथा अत्यन्त प्राचीन परम्परा प्राप्त होती है।

आत्मधर्म का दर्प एवं तेज है। जैनों ने व्यवहार में ऐसी अहिंसा का सर्वथा विरोध किया है जो डर के मारे अपने या दूसरे के प्राण लेने का पाठ सिखाती हो। जैनधर्म के सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय एवं राजपुत्र थे। अधिकतर तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने जीवन में उन्होंने कई युद्ध किए थे। चन्द्रगुप्त मौर्य, सम्प्रति, खारवेल, अमोघवर्ष, चेटक, श्रेणिक, शिवकोटि तथा कलचुरि, गंग और राष्ट्रकूट वंश के अनेक राजा जैन थे। चन्द्रगुप्त, बिम्बसार, अजातशत्रु, उदयन, महापद्म, बिन्दुसार और अशोक को जैन तथा बौद्ध परम्पराएं अपना मतावलम्बी मानते हैं। जो भी हो, इससे स्पष्ट है कि ज्ञात, अज्ञात न जाने कितने सम्राट और राजा हुए जिन्होंने युद्ध और अहिंसा का सफलता से संचालन किया था।

जैन शास्त्रों में हिंसा के संकल्पी, विरोधी, आरम्भी और उद्यमी—ये चार भेद किए गए हैं। ये हिंसा के स्थूल भेद हैं। इनका मूल है—प्रमाद पूर्वक कार्य न करना, सावधानी रखना।[30] और यही आगे चल कर द्रव्य रूप और भावरूप भेदों से हिंसा मुख्य रूप से दो कोटियों में विभक्त हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपक्ष की मुख्यता को लेकर स्पष्ट रूप से कहा है कि जीव का घात हो या नहीं, यदि असावधानी से प्रवृत्ति की गई है तो निश्चय से वह हिंसा है और सावधानी से प्रवृत्ति करने वाले ने यदि कदाचित् प्राणों का घात भी हो जाये तो उसे हिंसा के निमित्त का बन्ध नहीं होता।[31] वस्तुतः अच्छे और बुरे भावों पर जीवन की नींव टिकी हुई है। जीव को जैसा अन्न और जल मिलता है वैसा ही उसका निर्माण होता है। भाव और प्रवृत्ति जीवन में अन्न और जल की भांति पोषक तत्व हैं जिनसे धर्म की संरचना होती है, धर्म का विग्रह जन्म लेता है।

अहिंसा का सभी धर्मों में महत्व वर्णित है। भारतीय संस्कृति तो मूलतः अहिंसानिष्ठ रही है। वाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में अहिंसा का आचरण करने वाले मुनियों को पूज्य तथा श्रेष्ठ कहा है।[32] वस्तुतः अहिंसा की उपस्कारक श्रमण-संस्कृति थी जिसने सूक्ष्म से सूक्ष्म अहिंसा का निरूपण एवं निर्वचन किया है और समस्त धर्म रूपों को अहिंसा की व्यापक व्याख्या में समाहित कर लिया। यदि हम विभिन्न संप्रदायों एवं धर्मों का इतिहास देखें तो स्पष्ट हो जायगा कि किसी न किसी रूप में सभी हिंसा

---

३० प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा। —तत्वार्थसूत्र, ७।८

३१ मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥ प्रवचनसार, ३।१७

३२ धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेतास्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ वाल्मीकि रामायण, १०९।३

तथा—

अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतत् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्ये ब्रवीन्मनुः ॥
ऋतूनमन्यां गति मित्रस्य यायां पथा।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद, ५।६४।३

का प्रत्याख्यान करते रहे पर किसी न किसी रूप में सभी धर्म मानने वाले हिंसा को करते रहे और अपने प्रमाण में "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" तथा यह धर्म की हिंसा है—कह कर अपने को बचाते रहे। किन्तु जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसने किसी भी रूप में हिंसा को मान्य नहीं स्वीकार किया और उसके विभिन्न स्तरों का सांगोपांग विवेचन किया। आज भी यह जाति अहिंसानिष्ठ एवं आचार-प्रधान देखी जाती है। यथार्थ में यह तप, त्याग एवं आचार-प्रधान संस्कृति है जो अनेक आघातों को सहकर भी आज ज्यों की त्यों स्थिर है।

जैनधर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह शुद्ध रूप में आत्मा को शुद्ध, बुद्ध तथा निरंजन मानता है। परन्तु अनेक जन्मों के कर्मों से आबद्ध होने के कारण आत्मा अशुद्ध एवं मैली होने से संसार के परावर्तनों में भटक रही है। यद्यपि इसमें अनंत शक्ति और गुण विद्यमान हैं और इतनी क्षमता है कि अपनी निवृत्तिप्रधान क्रिया से स्वयं मुक्त हो सकती है किन्तु कर्मों के तिमिर-जाल में उलझी होने से मुक्त होने में समर्थ नहीं हो रही है। इसलिए कर्म-बन्धन से मुक्त होने का नाम ही मुक्ति है। इसके लिए किसी परमात्मा के आने की आवश्यकता नहीं है कि वह अपने स्थान से नीचे उतर कर हमारी सहायता करने के लिए यहां आयें, बल्कि आत्मा में वह परम शक्ति विद्यमान है कि वह "नर से नारायण", आत्मा से परमात्मा बन सकती है। यदि उसमें यह शक्ति विद्यमान नहीं है तो संसार की कोई ऐसी शक्ति नहीं हैं जो उसे ईश्वरत्व प्रदान कर सके। उसमें स्वयं शक्ति का वह प्रकाश है तभी तो वह अपनी ज्योति को ऊर्ध्वगामी बना सकता है। इसी रूप में जैनधर्म आत्मा को स्वीकार करता है। और यह तो सद्वाद का सिद्धान्त है कि जो विद्यमान है, जिसका अस्तित्व है वह कभी अभाव-रूप नहीं हो सकता और सद्भाव का कभी विनाश नहीं होता। इसलिए कर्म-बन्धनों को काटने का अर्थ है उनसे अलग हो जाना, जड़त्व को सर्वथा छोड़ कर आत्मा के यथार्थ को, पूर्ण चेतन रूप को प्राप्त कर लेना।

अहिंसा की भांति कर्मवाद और स्याद्वाद भी जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त हैं। जैनधर्म के अनुसार कर्म एक स्वतन्त्र द्रव्य है। आत्मा के साथ मिल कर चलनशील होने पर यह विभिन्न भावों की सृष्टि करता है। यह अपनी क्रियाओं से जीव को संसक्त कर के रखता है और पूरी तरह से उस पर छा जाता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों में जो परिस्पन्दन होता है उसमें कार्माण वर्गणाओं का योग रहता है। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया कर्मों के अनुसार सम्पादित होती रहती है। गौतम बुद्ध भी कर्मानुसार पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। कर्म अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध कहा जाता है। यह समूचे लोक में व्याप्त रहता है। जिस प्रकार बीज के दग्ध हो जाने पर फिर वृक्ष उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जन्म देने वाला कर्म संसार का बीज है और उसके आत्यन्तिक क्षय या दग्ध हो जाने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म से ही आत्मा में विकृति उत्पन्न होती है। इस विकृति को दूर करने के लिए जिन शासन में ज्ञान, ध्यान और तप का आचरण मुख्य बतलाया गया है। तीर्थङ्कर महावीर ने भी अहिंसा की मुख्य प्रेरक शक्ति को संयम कहा है। संयम एक आन्तरिक साधना है जो भीतरी शुद्धि पर अधिक बल देती है और संशुद्धि को प्रकट करती है।

विज्ञान की भांति कर्म का भी अपना ज्ञान-विज्ञान है जिसके अनुसार यह कर्मस्कन्ध रूप (परमाणु समूह) होने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु रज के सूक्ष्मतम कणों के समान सम्पूर्ण

को अलग-अलग तथा समाहार रूप में समझ कर उसकी अखण्डता का बोध किया जा सकता है। जब तक वस्तु के अनन्त तथा विभिन्न अवयवों का एवं उसके रूपों का ज्ञान नहीं होता, तब तक न तो विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसका सामासिक कथन ही किया जा सकता है। इस प्रकार स्याद्वाद सत्य तक पहुँचने की वह पद्धति है जो जीवन को आत्मा के आन्तरिक व्यापारों से जोड़ती है और जिसमें बाहरी तथा भीतरी जीवन की एक प्रणाली समाहित है जो विविध दृष्टियों को एक केन्द्र में स्थापित कर वस्तु की सत्यता का निर्वचन करती है। सच यह है कि वस्तु को किसी धर्म विशेष के साथ मानना ऐकान्तिक है। और इस एकान्त का परिहार अनेकान्त के बिना सम्भव नहीं जान पड़ता। विभिन्न नयों एवं दृष्टिकोणों से एक ही वस्तु को समझने पर उसकी सचाई समझ में आती है। आचार्य समन्तभद्र ने "आत्म-मीमांसा" में तो यहां तक कह दिया है कि निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय वस्तु को सिद्ध करने वाले होते हैं। जीवन का यह दृष्टिकोण सापेक्षिक एकान्तवाद या अनेकान्त-वाद से प्राप्त हो सकता है जो जैनधर्म के मूलभूत रहस्य को प्रकट करता है।

तीर्थङ्कर महावीर के लिए स्याद्वाद कोई नया सिद्धान्त नहीं था। यह तो बहुत पहले से ही चला आ रहा था। वैदिक युग में विभिन्न दार्शनिक मतवाद थे। ऋग्वेद से पता लगता है कि साध्यों का मूल सिद्धान्त सद्वाद, असद्वाद, सदासद्वाद, व्योमवाद, अपरवाद, रजोवाद, अंभिवाद, आदर्शवाद, अहोरात्रवाद और संशयवाद इन दस सिद्धान्तों पर आधारित था।[३५] सदासद्वाद का सिद्धान्त बहुत ही व्यापक रहा है। दार्शनिक जगत् में किसी ने सत् को स्वीकार किया और किसी ने असत् को। ऋग्वेद के ऋषि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" का उद्घोष करते हैं। वस्तुतः विश्व की व्याख्या करने के लिए विविध मतवादों की दार्शनिक भूमिका पर सृष्टि हुई जिनका समाहार स्याद्वाद की सप्त भंगियों में लक्षित होता है जिसे 'सप्तभंगी स्याद्वाद" कहा जाता है।

इस प्रकार वैदिक काल से और उसके भी पहले से जैनधर्म अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित चला आ रहा है। यह आर्यों की यज्ञपरायण संस्कृति से पृथक, पर आर्य संस्कृति की परम्परा को ही प्रदर्शित करती है जिसमें भारतीय आचार-विचार तथा गरिमा के उत्कृष्ट रूपों का समाहार मिलता है। वास्तव में यह धर्म और संस्कृति तपःपूत अहिंसा मूलक है जो अपनी विशिष्टिताओं के कारण देश-विदेशों में समादृत रहा है और जिसमें जीवन की निश्छल एवं शान्त प्रकृति के दर्शन उपलब्ध होते हैं।

KAUTILYA ON WAR

The *Kautiliya Arthaśāstra* deals with war as one of the instruments of foreign policy. The ideal set before the ruler in this text is that of conquest and of establishment of suzerainty over the *cakravarti-Kṣetra,* that is the whole of the Indian subcontinent. For achieving this objective, the adoption of a policy of war may often be necessary. Kautilya therefore, describes at length how an offensive war should be successfully conducted. At the same time he also explains in detail how the victim of aggression should endeavour to save himself.

Normally the policy of war is the culmination of a policy of hostility (*vigraha*) towards another state. It is, however, regarded as conceivable that in certain circumstances war may be undertaken even against a state with which one is at peace (*saṁdhi*) at the time. The adoption of a policy of aggressive war results in *yāna,* a military expedition against an enemy (7. 4. 14. 18)[1].

The *Arthaśāstra* recommends that a number of factors must be taken into careful consideration before deciding to undertake a military campaign against some enemy. These are principally (1) the relative strength of the two parties between whom the fighting is to take place, (2) the nature of the terrain where it is likely to take place and (3) the season when it is planned to take place. The strength of a state lies in three things—(i) resources in the form of the armed forces and finances needed to keep them going (*prabhavaśakti*); (ii) the personal energy and drive of the rulers of the state (*utsāhaśakti*); and (iii) capacity to arrive at right decisions after careful deliberation together with skill in the use of diplomacy (*mantrasakti*). A state contemplating a military campaign against another state, must satisfy itself about its own superiority in these respects, especially in the matter of *mantraśakti* (9.1.14-15).

Besides, the state must calculate beforehand the gains likely to be obtained and the losses likely to be suffered in the course of the campaign as well as the expenses that would be necessary for its successful conclusion. It is only when the gains expected far outweigh the likely losses and expenses that a military campaign is recommended (9.4,3).

· The references in brackets are to the new edition of the Kautiliya Arthasastra published by the Bombay University.

Moreover, it is essential to take certain precautions before the start of the campaign. It is necessary to see that no troubles arise in the rear while the bulk of the armed forces, with the ruler at their head, are campaigning away from home. The troubles may be caused by some state dignitaries rising in revolt against the ruler when the latter is absent from the state. They might also join hands with some other enemy of the state to seize the kingdom. The text describes at great length–in four chapters, (9.3, 9.5-7)—how the possibility of such revolts and troubles in the rear should be foreseen and steps taken to prevent them from arising, before one leaves the home state on a military expedition. It is recommended that generally one-third or one-fourth of the armed forces raised for the campaign should be left behind in the kingdom for this purpose (9.1.34). A regent, *śūnyapāla* should be appointed in over-all charge of the state, who is to see to it that no troubles arise during the ruler's absence (9.3.10).

Preparations for the campaign are to start with the mobilisation of the necessary troops and their proper equipment. As is well-known, the army in ancient India consisted of four kinds of fighting forces : elephants, chariots, cavalry and infantry. Again from another point of view, the state may have at its disposal six kinds of such forces: hereditary troops, hired troops, banded troops, the troops of an ally, the troops of an enemy (conquered from him) and forest troops. The general principle regarding the raising of troops for a campaign is that they must be such as would be able to overcome easily the forces which the enemy in question may have at his disposal at the time (9-2-25).

As to the equipment of the troops, the *Arthaśastra* enumerates a large number of weapons and armours. It mentions spears and lances of various types and sizes, bows and arrows, swords, etc. as well as a large number of machines, *yantras*. These latter seem to have been mainly useful for assault on a fortified place or for defending such a place. Shields, coats of mail and armours of various types are also mentioned (Ch. 2.18). Besides, accoutrements and ornaments for elephants, horses and chariots are also referred to (2.32.12-15; 2.30.42; 2.33.6).

The text naturally lays emphasis on the training of the armed forces. Different *adhyakṣas* or superintendents are to be in charge of the four types of troops, responsible for their care, training and equipment. The duties of the *adhykṣas* in charge of horses and elephants are particularly described at great length (Chs. 2.30-33). It is laid down that every day at sunrise except on holidays all the four types of fighting forces should carry out exercises in their respective modes of fighting, and that the ruler himself should inspect the various units and observe their fighting qualities at frequent intervals (5.3.35-36). In fact, in the king's daily routine a part of every day is reserved for the inspection of troops (1.19.15). It is clear that such training and inspection is meant to be carried out even during peace time.

A very important consideration is the loyalty of the troops to the ruler. It is recommended that spies, prostitutes, actors, singers and so on in secret service should be on the look-out for any signs of disaffection among the troops. Trusted army commanders are also expected to keep a watch over men in their charge (5.3.47). It may be presumed that any one suspected of disloyalty would be severely dealt with. Deserters from the army when it is mobilised and assembiled in the camp are to be imprisoned (10.1.16).

There is some confusion regarding the position of the *senāpati*. Ordinarily, he is the highest officer in the army. He is expected to be an expert in all kinds of warfare and able to use appropriate tactics on the battle-field and he is apparently to be in command of all the troops on the battle-field (2.33.9-11). However, in the war chapters in one place the *senāpati* appears subordinate to the *nāyaka*, who has ten *senāpatis* under him (10.6.45). This *senāpati* is a junior officer and therefore different from the usual dignitary of that name. The confusion may be due to a difference in the sources utilised in this text.

When full precautions have been taken and preparations completed for a military expedition, the ruler is advised to set up a base camp. This is to be a strongly fortified encampment with a rampart and a moat all round (10. 1. 1). It is obvious that such a camp can be set up in one's own territory, not in that of the enemy against whom the war-like preparations are made. The setting up of such a camp would clearly take a long time and that would certainly alert the enemy against whom the expedition is contemplated. Presumably, however, steps for defending his territory likely to be taken by him would not be such as to deter the would-be-conqueror. It is noteworthy that the encampment, where the troops would be staying for quite some time, is to provide not only for traders, but also for prostitutes (10. 1. 10).

A very unethical practice is suggested at one place for cheating the soldiers of their due wages. It is stated that at the time of the start of the expedition secret agents disguised as traders should offer to the soldiers goods at double the regular price, to be paid, however, only at the end of the campaign. The soldiers are apparently expected to agree to the double price (to be paid only later) hoping that they would in the meanwhile acquire booty during the campaign. The purpose of this procedure is said to be the disposal of state goods lying in the stores as well as the recovery of the wages paid to the soldiers (5.3.42–44). It is clear that the proceeding recommended is extremely unfair to those who are ready to risk their lives for the ruler and the state.

For starting on an expedition there are certain appropriate seasons, depending on the likely duration of the campaign in view. For a campaign of long duration the month of Mārgaśirṣa is recommended for starting when the yet unharvested monoosn

crops on the enemy's lands can be utilised. The month to start on a short campaign is Jyestha, while that for one of middling duration is Chaitra. In these cases, too, the enemy's spring and winter crops can be used to provision the army (9.1.34–36). The months are determined also by the consideration of avoiding the rainy season for fighting. However, it is recommended that if conditions are favourable to the operations of one's own troops and unfavourable to those of the enemy, a campaign may be undertaken even during the rains (9.1.39). It is also conceived as possible that a long campaign may not be successfully concluded before the onset of the rains. Camping on the territory of the enemy during the monsoon is recommended in that case (9.1.52).

The army is to start on its expedition from the base camp referred to above. It is necessary that a calculation should be made before hand of the number of halts likely on the way and of the supplies of fodder, fuel and water available at those stops, and in accordance with that the sites for temporary camps should be determined (10.2.1). A sort of camp-superintendent, called *praśāstr.* is to march ahead of the army with labourers and set up these temporary camps and make provision for the supply of water there (10.1.17) As to provisions and equipment for the army, these are to be carried along with the troops, though living on the land through which the army is to march is also contemplated(10.2.2–3). When the army is on the march, the commandant, *nāyaka*, is to march at the head, the king is to be in the middle and the commander-in-chief, *senāpati*, is to bring up the rear (10.2.4).

It is clear that the king, the *vijigīṣu*, is expected to be with the army in person. But neither at the encampment nor during the march nor in the disposition of the troops before the start of the fighting is he to be right in front. In the fortified encampment his quarters are in the centre, while on the march he is in the middle and at the start of the fighting he himself is to be in a well-guarded part of the battle-array. In the last case the king's double is to be positioned at the head of the array with a view to misleading the enemy troops (10.3.39–42). Elsewhere it is specified that the king's position should be with the reserves which are stationed in the rear of the battle-array at a distance of two hundred *dhanuses* (roughly four hundred yards) (10.5.58).

War, *yuddha* says Kautilya, is of three kinds, open *(prakāsa)*, covert (*kūṭa*) and silent (*tūṣṇīm*) (7.6.17, 40–41). There is besides *mantrayuddha*, fighting with diplomacy (Ch. 12.2).

Open war is fighting at the place and the time indicated (7.6.40). Such an open fight, of which due notice has been given, is called *dharmiṣṭha*, righteous (10.3.26) Obviously, the site selected for the battle would be favourable to the would-be-conqueror. It is recommended that the site selected should be such that there is some kind of fortification in the rear on which one can fall back in case of need and in which

reserves are to be stationed (10.2.20). For the fight the army is to be arranged in what is called a *vyūha* or battle-array. The text describes a number of different types of battle-arrays (Ch. 10.6). A *vyūha* normally has a centre, two flanks and two wings. Each of these five sections is ordinarily to have an equal number of fighting units. anywhere from nine to twenty-one. It seems that a fighting unit is based either on an elephant or a chariot,[1] with five horsemen and fifteen foot-soldiers in front and fifteen foot-soldiers behind. Thus in an army with nine units in each section, there would be forty-five elephants or chariots, two hundred and twentyfive horsemen, six hundred and seventy-five foot-soldiers in front and an equal number of foot-soldiers behind (10.5.9–13). However, in accordance with different circumstances. the employment of only one of the four types of troops or of a combination of one or more of them is also recommended. In the rear of the *vyūha*, at a distance of two hundred *dhanuses* from it are to be stationed the reserves, which is where there the king also stays while the fight is going on (10.5.58).

Behind the troops arranged for a fight physicians and surgeons are to take their stand with medicines, instruments, ointments and bandages for treating the wounded. By their side are to be women with food and drink for the soldiers. The women are also expected to encourage the soldiers to fight (10.3.47). These women are not nurses in the modern sense.

On the eve of the battle the king is advised to fast and offer a sacrifice with *mantras* from the Atharvaveda and to spend the night beside his weapons and vehicles (10.3.34-35). Before the start of the fight he should get together the troops and exhort them, saying that he himself is only a servant of the state like them (10.3.27). Moreover, the excellencies of the battle-array should be pointed out to them; prophecies of victory should be made to them by astrologers; bards should praise the heroism of the troops, speaking of attainment of heaven by the brave (10.3.32-33,44). At the same time the *senāpati* is to announce rewards for outstanding acts of bravery during the fight; 100,000 *papas* for killing the enemy king, 50,000 for killing the *sen*a*pati* or a prince and so on down to 20 *papas* for killing an ordinary soldier. It should also be announced that everyone would be allowed to keep what he is able to seize and would at the end of the fight receive a double wage as gratuity. Officers are expected to make a note of exploits by soldiers in their respective units (10.3.45-46).

It is laid down that during a fight safety should be given to the following; those who have fallen down (*patita*),those who have turned their back on the fight *(parāṅmukha)* those who surrender *(abhipanna)*, those whose hair are loose apparently as a mark of submission *(muktakesa)*, those who have abandoned their weapons *(muktasastra)* those whose appearance is changed through fear (bhayavirupa) and non-combatants *(ayudhyamāna)* (13.4.52). These are rules of what is usually called dharmayuddha

Open fighting. *prakāsayuddha*, is recommended when one is stronger than the enemy, when the terrain and the season are favourable to oneself and when measures have been taken to sow dissension in the enemy ranks. But when one is weaker or finds the terrain and the season unfavourable, one may resort to what is called *kūtayuddha* or covert fighting. (10.3.1–2). The essence of this kind of fighting lies in misleading enemy troops or finding them off guard and attacking them when they are at a disadvāntage. The following are some of the tactics to be used in this kind of fighting : feign a retreat and thus draw the enemy troops to an unfavourable terrain, then turn round and attack them, feign a rout and manage to get the enemy ranks divided when they are in pursuit, then turn round and attack the divided ranks; attack on one flank in force and when the enemy troops are pressed back, attack on the other flank; attack first with inferior troops to tire the enemy out, then attack with superior troops; keep the enemy troops awake by engaging them at night, then attack in force the next day when they are sleepy or fatigued; make a sudden attack at night with elephants when the enemy troops are asleep; attack when the sun and the wind are directly in the face of the enemy troops; and so on (10.3.3–23) It is quite clear that by *kūtayuddha* are understood those tactics on the battle-field which are used everywhere and at all times as a matter of course, and no fault can be found with them in any evaluation of the teaching of this text.

Each of the four types of troops—cavalry, infantry, chariots and elephants—has its own special modes of fighting and its own special functions during war, whether open or covert. The text enumerates a very large number of these modes of fighting and functions (10.4.13–16) and 10.5.53–56). For example, elephants are useful for breaking up ranks in an array, for a night assault, for inspiring terror in enemy troops, for breaking down gates. for trampling and destroying and so on. Kautilya has stated elsewhere that success in war principally depends on elephants (2.2.13) and he thinks that elephants alone may be able to secure victory *(ekāngavijaya)*. Chariots are useful, among other things, for guarding one's own troops, for breaking up enemy ranks or re-uniting one's own broken ranks. for creating a terrific din, for fighting from a stationary position and so on. Cavalry is of use in carrying out raids, for penetrating and breaking through enemy ranks, for pursuing the fleeing enemy, for turning back after feigning retreat, for rallying one's own troops, for reconnoitring and so on. Infantry of course, is to bear the main burden of fighting and killing.

Kautilya sometimes refers to *nimnayuddha* and *sthalayuddha*, to *khanakayuddha* and *ākāsayuddha* (2.33.8)etc.). Of these *sthalayuddha*, is fighting on land and *akasayuddha* is fighting in the open, which practically amounts to the same thing as *sthalayuddha;* it is so called because of its antithesis to *khanakayuddha*, fighting from an entrenched position. With *nimna* understood as 'water' by the commentators, nimnayuddha would be fighting in water. There is, however, no description of a

navy or naval warfare in the usual sense in this text. Possibly fighting carried on by elephants, cavalry and even infantry, taking their position in some river is to be understood, though fighting from boats is quite conceivable.

One of the modes of fighting mentioned in connection with the infantry is *upāṃśudaṇḍa* 'silent punishment', which is apparently the same as the *tūṣṇīṃyuddha* referred to as the third kind of war. This is not part of either open fighting or covert fighting. It is killing or assassination, particularly of high military officers of the enemy when the two armies are not actually engaged in fighting. This type of 'fighting' is recommended to the weak king when he is attacked by a powerful enemy who refuses to entertain any offers for preserving peace and persists in marching against him. In the section called *senāmukhyavadha* (Chs. 12.2-3) a number of ways are described for bringing about the death of high military and civil officers of the enemy by the use of weapons or poison through secret agents. The enemy king, too, may be trapped and assassinated (12.5.1-8). When it is borne in mind that this sort of 'fighting' called *tuṣṇīmyuddha* is meant for the weak king, who is the victim of aggression by a powerful neighbour who has spurned all offers of peace and negotiations, no serious objections can be raised against its recommendation.

Before resorting to 'silent war' the weak king is advised to try *mantrayuddha* war with the help of diplomacy. Through an ambassador, *dūta*, he should offer terms of peace to the aggressor by the surrender of troops or treasury or land, if need be by the surrender of the whole kingdom with the exception of the capital city (12.1.24-34). If the aggressor were to refuse to accept any of these terms and to persist in his march, an appeal may be made to his regard for *dharma* and *artha*, his spiritual and material well-being. He may also be threatened with likely action by other members of the circle of kings going to the help of the weak king in order to preserve the balance of power and to prevent any single member from growing too strong (12.2.1-7). This is called *mantrayuddha*.

The weak king, instead of giving a fight on the open plains may choose to entrench himself in a fort. It would then be necessary to conquer the fort by laying siege to it. The procedure for doing so and for storming the fort if necessary is described at length (Ch.13.4). Before actually laying siege, various stratagems may be tried to seduce the enemy's officers and subjects from their loyalty to him (Ch.13.1), for luring the enemy king out of the fort and assassinating him (13.2), for smuggling one's troops into the

The conquest of a territory may mean its annexation or the submission of its ruler as a vassal. That will depend on the would-be-conqueror. Three types of conqerors are mentioned-the righteous conqueror, *dharmavijayin*, who is satisfied with submission and acceptance of his suzerainty, the greedy conqueror, *lobhavijayin*, who is out to acquire land and money, and the demoniac conqueror, *asuravijayin*, who is out to seize land and money as well as the sons and wives of the conquered kings and is bent on killing these kings (12.1.10-16). It is clear that the last type of conqueror would invariably annex the conquered territories, the second type can be induced to desist from annexation by the offer of money, while the first type is not interested in annexation at all. He is content with mere acceptance of his suzerainty.

This in brief is an outline of Kautilya's teaching on war and its aims. He has concerned himself at length with offensive as well as defensive war, and thus presents a complete picture of war as it may be assumed to have been conducted in ancient India. Because of the radical difference between the army units of those days and modern armies, and their modes of fighting, many details of the teaching of this text might appear to be without relevance to-day. Nevertheless, the basic principles underlying its teaching-that a careful consideration of all factors is necessary before engaging in offensive war, that full preparations must be made and all precautions taken before starting the war, that in actual fighting tactics for misleading the enemy and catching him off guard are necessary, that diplomacy has an important role to play, particularly when on the defensive, and so on-have as much relevance to-day as they had when this text was written. At the time of the Chinese aggression against India in 1962 it was stated that Mao Tse Tung was strongly influenced by Sun Tzu's classic "The Art of war" which was written roughly at about the same time as the *Kautiliya Arthaśāstra*. The essence of its teaching, which not at all as exhaustive as that in the *Arthaśāstra*, is that all warfare is based on deception and that what is of importance in war is to attack the enemy's strategy. Perhaps a study of Kautilya's teaching by military leaders would be more helpful.

अपनी विशालवाहिनी सहित चाह्मान राज्य की सीमा पर पहुँचा था[१]। 'उपमितिभवप्रपञ्चाकथा' (रचना काल संवत् ९६२) में संतोष राजा सम्यग्दर्शन का तन्त्रपाल है[२]। राजाज्ञाओं का पालन करवाना और राजहित की रक्षा तन्त्रपाल के मुख्य कार्य रहे होंगे[३]। स्वामी की अनुमति से अपने अधिकृत भाग के ग्राम आदि देने का उन्हें अधिकार था।

वर्तमान अभिलेख के अन्य प्रशासनिक शब्द भाग, भोग, उपरिकर और दशापराध-दण्ड हैं। कृषि में से राजादेय छठे, आठवें, या दसवें भाग की पारिभाषिक संज्ञा "भाग" है। राजा शूकधान्य का छठा, शिम्बीधान्य का आठवां और कुछ वर्षों तक अकृष्ट पड़ी भूमि की उपज का दसवां भाग लेता। फल, मूल, शाक, दधि आदि जल्दी खराब होने वाली वस्तुओं से प्राप्य राजादेय "भोग" कहलाता है। छोटे-मोटे भोगातिरिक्त करों की संज्ञा "उपरिकर" रही होगी। इतिहास के विद्वान् अधिकतर भोग और उपरिकर को एक ही मानते हैं। किन्तु यत्र-तत्र इनके पृथक् निदश से इनकी पृथकता का अनुमान किया जा सकता है। राजाज्ञा का लंघन, स्त्रीवध, वर्णसंकरता, परस्त्रीगमन, चोरी, विना अपने पति के गर्भ, वाक्पारुष्य, अवाच्य, दण्डपारुष्य, और गर्भपात—ये दस अपराध हैं। इन अपराधों के लिए किया हुआ जुर्माना भी ग्राम के प्रतिगृहीता को मिलता। देवपाल के नालन्दा और नारायणपाल के भागलपुर अभिलेख में दाशापराधिक एक राजपुरुष विशेष की उपाधि भी है। वह सम्भवत: ऐसे अपराधों को मालूम कर अपराधियों को सजा दिलवाता। प्रतिगृहीता का स्वामित्व गांव के अन्तर्गत काष्ठ, तृण करंजादि के वृक्ष और गोचर पर भी था। अनन्यस्वामिक भूमि की अनेक प्रकार की आय पर प्रतिगृहीता का अधिकार रहता। अन्य व्यक्ति प्रतिगृहीता को कुछ धन राशि व उपज का कुछ भाग देकर ही इसके प्रयोग के अधिकारी बनते।

इस टिप्पणी को समाप्त करने से पूर्व सम्भवत: यह बताना भी असंगत न होगा कि भिल्लमाल के स्वामित्व में कुछ समय बाद फिर परिवर्तन हुआ। दुर्लभराज के उत्तराधिकारी भीमदेव प्रथम ने आबू पर अधिकार कर लिया और आबू परमार धन्धुक को कुछ समय तक स्ववंश्य परमार भोज प्रथम के यहां जाकर रहना पड़ा। भीमदेव ने अनेक अन्य विजय भी प्राप्त की। किंतु वि० सं० १०६७ और १११७ के बीच में परमारों ने भिल्लमाल पर फिर अधिकार कर लिया। यहां धन्धुक के पुत्र महाराजाधिराज कृष्णराज द्वितीय के दो अभिलेख मिले हैं, एक संवत् १११७ का और दूसरा संवत् ११२३ का। कृष्णराज की मृत्यु के बाद उसका द्वितीय पुत्र सोच्छराज भीनमाल और किराडू प्रदेश का स्वामी हुआ। संवत् १२३५ के लगभग सोनिगरा चौहानों ने भिल्लमाल पर अपना अधिकार स्थापित किया और लगभग सवा सौ वर्ष तक वहां उनका राज्य बना रहा।

भिल्लमाल समृद्ध व्यापारियों और विद्वान ब्राह्मणों की नगरी थी। यहीं से विनिर्गत अनेक जातियों से राजस्थान और गुजरात के अनेक नगरों की समृद्धि बढ़ी थी। इन ताम्रपत्रों में वर्णित दान का प्रतिगृहीता भी किसी समय भिल्लमाल का निवासी था। कान्हड़दे प्रबन्ध में यह नगर चौहानों की ब्रह्मपुरी

---

१. देखें अभिलेख का सोलहवां श्लोक

२. देखें Rajasthan through the Ages पृ० ३४७; 'उपमितिभवप्रवञ्चाकथा', पृ० ५८२

३. श्री डी० सी० सरकार ने तन्त्रपाल को दानाध्यक्ष और धार्मिक कृत्याध्यक्ष माना है (देखें उनकी 'इण्डियन एपिग्राफी', पृ० ३७३) जो ठीक प्रतीत नहीं होता।

एक राजस्थानी लोककथा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

राजस्थान लोक साहित्य का रत्नाकर है। यहाँ लोक-काव्य, लघु काव्य, लोकगीत, लोककथा, प्रवाद और कहावत आदि के रूपों में अत्यधिक सामग्री जनमुख पर अवस्थित है। इस साहित्य-सामग्री का कई दृष्टियों से महत्व है। यह प्रकट करती है कि राजस्थान ऊपर से सूखा और फीका-सा दिखलाई देने पर भी भीतर से बड़ा सरस है। असल में देखा जाय तो उसी साहित्य-सामग्री का विशेष महत्व होता है, जो जन-प्रचलित होकर लोकजीवन का अंग बन जाती है। लोकजीवन को समझने के लिए इस सामग्री का अध्ययन परम आवश्यक होता है क्योंकि इस में जनता का सुख-दुख, आशा-अभिलाषा, चाव-उमंग आदि सभी स्वाभाविक रूप में समाए रहते हैं।

हर्ष का विषय है पिछले कुछ समय से विद्वानों का ध्यान राजस्थानी लोक साहित्य की ओर गया है और इस सामग्री को लिपिबद्ध किए जाने की दिशा में कुछ कार्य हुआ है। परन्तु इतना काम ही काफी नहीं है। लोक साहित्य के संग्रह के साथ ही उसका मार्मिक अध्ययन किए जाने की भी नितान्त आवश्यकता है। इस अध्ययन से अनेक महत्वपूर्ण तत्व सामने आते हैं और वे समाज को आगे बढ़ाने में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय में बड़ा परिश्रम किया है और उनकी साधना से समाज लाभान्वित हुआ है। विषय अति-विस्तृत है, अतः यहाँ एक राजस्थानी लोक कथा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। सर्व प्रथम विवेच्य लोककथा का संक्षिप्त रूप अध्ययन दृष्टव्य है :—

किसी गाँव के ठाकुर ने तीर्थयात्रा पर जाने का निश्चय किया और सेवा के लिए अपने खवास (नाई) को साथ चलने के लिए कहा। खवास ने शर्त रखी कि वह मार्ग में जिस किसी वस्तु के सम्बन्ध में शंका उपस्थित करेगा, उसका समाधान ठाकुर को करना होगा और यदि वह ऐसा नहीं कर पाएगा तो खवास बीच से ही वापिस लौट आएगा। ठाकुर ने शर्त मान ली और वे तीर्थ-यात्रा के लिए चल पड़े।

पहले दिन साँझ होते ही एक नगर के बाहरी भाग में उन्होंने विश्राम लिया। ठाकुर ठहर गया और खवास भोजन-सामग्री लाने के लिए नगर में गया। जब खवास लौट कर आया तो उसने ठाकुर के सामने अपनी विचित्र शंका प्रकट करते हुए कहा—"यहाँ नगर के बाजार में परम सुन्दर स्त्री वस्त्राभूषणों से अलंकृत मरी हुई पड़ी है परन्तु कोई उसकी ओर ध्यान तक नहीं देता। इस रहस्य का स्पष्टीकरण होने पर ही मैं आगे जा सकता हूँ अन्यथा नहीं।" ठाकुर ने भोजनादि करके उस मरी हुई स्त्री का रहस्य प्रकट किया, जो इस प्रकार है :—

किसी राजा ने एक बड़ा भारी तालाब बनवाया परन्तु वह वर्षा न होने के कारण पानी से भरा नहीं। इस पर राजा को बड़ी चिंता हुई और उसने पण्डितों से इसका कारण पूछा। पण्डितों ने प्रकट किया कि राज परिवार के किसी व्यक्ति की बलि देने से ही वह तालाब भर सकता है। राजा ने सोचा कि

वलि किस की दी जाय ? स्वयं की वलि से राजभंग होता था, रानी की वलि से लक्ष्मीनाश होता था और राजकुमार की वलि से संतान-परम्परा छिन्न होती थी। अतः उसने निश्चय किया कि पुत्रवधू की वलि दे दी जाय और पुत्र का विवाह फिर कर लिया जाय।

राजकुमार अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम करता था। जब उसने सुना कि अगले दिन उसकी वलि दी जाएगी तो वह रात को ही चुपचाप उसे घोड़े पर साथ लेकर महल से निकल भागा। वे दिन भर आगे बढ़ते गए और संध्या के समय जंगल में एक कुएँ पर विश्राम के लिए ठहरे। वहां फल आदि खाकर रात को सो गए। जब दिन निकला तो राजकुमार ने देखा कि उसकी पत्नी सर्पदंश के कारण मरी हुई पड़ी है। इस पर उसने बड़ा विलाप किया और चिता तैयार करके उसके साथ ही वह जलने को उद्यत हुआ।

संयोग से इधर शिव-पार्वती आ निकले। पार्वती को आश्चर्य हुआ कि पुरुष अपनी मृत पत्नी के साथ जल रहा है ! भेद मालूम करके उसने शिव से आग्रह किया कि किसी तरह उसकी पत्नी को पुनर्जीवित किया जाए। पार्वती के हठ को देखकर शिव ने प्रकट किया कि राजकुमार की पत्नी आयु समाप्त होने के कारण मरी है, अतः राजकुमार उसे अपनी आयु का भाग देकर ही जीवित कर सकता है। राजकुमार ने ऐसा ही किया। उसने 'सत्यक्रिया' के सहारे अपनी आयु का अर्द्ध भाग अपनी पत्नी को प्रदान किया और वह फिर से जीवित हो गई। शिव-पार्वती चले गए और राजकुमार ने कोई बात अपनी पत्नी के सामने प्रकट नहीं की। वे भी वहां से आगे बढ़ गए।

संध्या के समय राजकुमार एक नगर के बाहरी भाग में पहुँचा। वहाँ उसने एक कुएँ के पास अपनी पत्नी को छोड़ा और स्वयं भोजनादि लाने के लिए नगर में गया। जब वह लौट कर आया तो उसकी पत्नी वहाँ नहीं मिली। पास ही कुछ नट ठहरे हुए थे। वह कामातुर होकर एक नट के पास चली गई और उससे प्रेम-प्रस्ताव किया। नट ने उसे अपने यहाँ रख लिया। जब राजकुमार तलाश करता हुआ नट के पास पहुँचा तो उसने दूसरी ही दुनिया देखी। उसकी पत्नी ने अपने पति के रूप में नट को बतलाया। कुछ झगड़ा हुआ और यह मामला राजा के पास पहुँचा। बाजार के बीच में न्याय सभा बैठी। राजकुमार से प्रमाण माँगा गया तो उसने 'सत्यक्रिया' से अपनी दी हुई आधी आयु वापिस ले ली और वह स्त्री तत्काल मर कर गिर पड़ी। इस पर लोगों को भारी आश्चर्य हुआ। राजकुमार ने पीछे का संपूर्ण वृत्तान्त सब को कह सुनाया। राजा ने नट को दण्ड दिया और राजकुमार को सम्मान मिला। फिर वह अपने नगर को लौट गया और भारी वर्षा हुई जिस से राजा का तालाब पूरा भर गया।

इतनी कहानी कह कर ठाकुर ने खवास को समझाया कि नगर के बाजार में जिस स्त्री को उसने मृतक अवस्था में देखा है, वही राजकुमार की पत्नी है। ऐसी स्त्री की ओर घृणा से कोई ध्यान नहीं दे रहा है। इस पर खवास की शंका शांत हो गई और वह यात्रा पर आगे बढ़ने के लिए राजी हो गया।

स्थित की गई है। कहानी के प्रति कौतूहल पैदा करने की यह एक सुन्दर शैली है। एक प्रकार से इस तीर्थ-यात्रा से सम्बन्धित यह एक राजस्थानी कथाग्रन्थ है, जो विभिन्न रूपों में जनमुख पर अवस्थित है। संस्कृत में भी इस प्रकार अनेक कथाओं का संकलन हुआ है। इस उपोद्घात को देखते हुए सहज ही 'वेताल पंच-विंशतिका' का स्मरण हो आता है, जिसकी प्रत्येक कथा के अन्त में एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है। राजस्थानी लोककथा के प्रारम्भ किए जाने से पूर्व ही यह प्रश्नात्मक स्थिति सामने आ जाती है, जो रोचकता पैदा करने के विचार से विशेष महत्वपूर्ण है।

२. ध्यान रखना चाहिए कि यही लोककथा विना उपोद्घात के स्वतन्त्र रूप में भी कही जाती है। कहीं इसका कथानायक राजा का पुत्र न होकर सेठ का बेटा है। असल में यह लोककथा 'त्रियाचरित्र' वर्ग की है। इस वर्ग की कथाओं में नारी के चरित्र की दुर्वलता प्रकट की जाती है। यह परम्परा पुरानी है। 'शुकसप्तति' कथाग्रन्थ में ऐसी कथाएँ ही संकलित की गई हैं। कई कथाओं में नारी के साथ ही पुरुष-चरित्र की कमजोरी भी प्रकट की जाती है। राजस्थानी कथाग्रन्थ 'दम्पति-विनोद' में दोनों प्रकार की कथाएँ दी गई हैं।

३. प्रस्तुत लोक कथा में 'सत्यक्रिया' अभिप्राय: (Motif) का दो बार प्रयोग हुआ है। भारतीय कथा साहित्य में इस 'अभिप्राय' के उदाहरण भरे पड़े हैं। कहीं इसे केवल 'किरिया' नाम दिया गया है। राजस्थानी वातों में इसके लिए 'धीज' शब्द अनेकशः देखा जाता है। इसमें कथा-पात्र अपने सत्य के प्रभाव से आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाता है। वह अग्नि में जलता नहीं, समुद्र या नदी में डूबता नहीं और मरे हुए व्यक्ति को पुनर्जीवित तक कर देता है। इसके अन्य भी अनेक रूप हैं। प्रस्तुत कथा में नायक पहिले अपनी पत्नी को अपनी आयु का अर्द्ध भाग प्रदान कर के जीवित कर देता है और फिर विपरीत स्थिति सामने आने पर अपनी आयु का अंश ग्रहण कर लेता है।

४. प्रस्तुत कथा में एक अन्य 'कथानक-रूढ़ि' का भी प्रयोग हुआ है। वह है, 'शिव-पार्वती'। यह देव-दम्पति अनेक राजस्थानी लोककथाओं में संकट के समय प्रकट होकर स्थिति को सुधार देते हैं और फिर कथा नया मोड़ लेकर आगे बढ़ती है। 'मारू-ढोलो' की वात में ऐसा ही हुआ है। दुःखान्त कथा को सुखान्त बनाने के लिए भी इस 'रूढ़ि' का प्रयोग होता है। 'जलाल-बूवना' की वात में ऐसा ही हुआ है। इसमें शिव-पार्वती को विश्वनियामक के रूप में दिखलाया जाता है, जो शिव-भक्ति की महिमा का प्रकाशमान उदाहरण है।

५. राजस्थानी लोककथा का प्रारम्भिक भाग विचारणीय है। इस में तालाव के जलपूर्ण होने का उपाय वलि देना वतलाया गया है। राजस्थान में जल-संकट से वचने का सावन सरोवर का निर्माण करवाना सर्व विदित है। उसमें पानी का संचित न होना खेद जनक है। कथा में स्थानीय वातावरण की रंगत के अतिरिक्त एक अन्य तत्व भी छिपा हुआ है। असल में यह वलि तालाव अथवा उस क्षेत्र के 'आरक्ष देव' की संतुष्टि निमित्त दी जाती है। यह विधि प्राचीन यक्षतत्व का कथाओं में वचा हुआ अंश है। इतना ही नहीं, राजस्थानी लोकविश्वास में यह तत्व आज भी अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है। गांवों में प्रथा है कि जव वर्षा नहीं होती तो सीमा पर देवता की प्रसन्नता के लिए 'वलि-वाकला' का विधान किया जाता

है। 'वाकला' उवाले हुए मोठ का नाम है। 'वछवारस' (वत्सद्वादशी) व्रत की लौकिक कहानी में इसी प्रकार एक सेठ का वनवाया हुआ तालाव नहीं भरता है और वह अपने पोते की वलि देता है। फिर देवकृपा से तालाव भर जाता है और सेठ का पोता भी पुनर्जीवित हो जाता है। प्रस्तुत लोककथा में इससे कुछ परिवर्तन जरूर है।

६. लोककथा की नायिका एक नट पर मुग्ध होकर उसके पीछे हो लेती है। राजस्थान में नट लोगों का तमाशा देखने के लिए वड़ी जनरुचि है। वे नाना प्रकार के खेल दिखलाते हैं और शारीरिक प्रदर्शन करते हैं। कई नटों का शरीर वड़ा सुडोल होता है। प्रसिद्ध 'नटड़ो' लोकगीत की नायिका भी उसके रूप पर आसक्त होकर उसके पीछे हो लेती है। वह सरोवर पर अपनी ननद के साथ पानी लाने के लिए जाती है और नट को देख कर कहती है—"देखो वाईजी इण नटड़ै को रूप ओ, कोइ थारैंजी वीरैं सैं दोय तिल आगलो।" राजस्थानी लोकगीत में रूपासक्ति को प्रधानता दी गई है। यही तत्व लोककथा में समाविष्ट है, भले ही इसके रूपान्तरों में ऐसा न हो।

लोककथा देश और समय के वंधन को स्वीकार नहीं करती। आज जो लोककथा सुनी जाती है, वह काफ़ी प्राचीन हो सकती है। वह पीढ़ी दर पीढ़ी चलकर अविनाशी रूप धारण करती है। समयानुसार देश विशेष में वह साधारण रूप-परिवर्तन जरूर करती है। जो लोककथा एक देश में प्रचलित है, वही अन्य सुदूर देशों में भी स्थानीय वातावरण धारण किए हुए मिल सकती है। विमाता के कष्टों से पीड़ित भारतीय 'सोनलवाई' इङ्गलैंड में 'सिन्डरेला' (कोयलेवाली लड़की) के रूप में सहज ही पहिचानी जा सकती है।

प्रस्तुत राजस्थानी लोककथा भी काफी पुरानी है। इसका मूल भारतीय लोककथा-कोश में अनुसंधेय है। इस विषय में आगे प्रकाश डाला जाता है :—

१. 'चुल्ल पदुम' जातक की कथा का सार रूप इस प्रकार है—

राजकुमार पदुमकुमार के छः छोटे भाई थे। वे वड़े हुए और उनका विवाह हुआ। राजा को उनसे यह भय पैदा हुआ कि कहीं वे उसकी जीवित अवस्था में ही उससे राज्य न छीन लेवें। अतः उन सव को वन में जाने की आज्ञा दे दी गई। सातों भाई अपनी स्त्रियों सहित भयंकर कान्तार में जा पहुँचे। वहां खाने-पीने का सर्वथा अभाव था। ऐसी स्थिति में वे प्रतिदिन एक भाई की पत्नी को मार कर खाने लगे। पदुमकुमार अपना भाग वचाकर अलग छोड़ देता था। अत में उसकी पत्नी की वारी आई तो उसने वचाया हुआ भाग सव भाइयों को सौंप दिया और जव वे सव सो गए तो उसे साथ लेकर भाग चला। मार्ग में पत्नी को प्यास लगी। इस पर पदुमकुमार ने उसे अपनी जंघा चीर कर खून पिलाया। फिर वे गंगातट पर आश्रम वनाकर रहने लगे।

एक दिन नदी में एक राज्यापराधी चोर वहता हुआ आया, जिसको हाथ, पैर और नाक आदि काट कर एक वोरे में वंद करके पानी में डाल दिया गया था। पदुमकुमार ने उसकी चीख-पुकार सुनकर उसे निकाला और सेवा द्वारा स्वस्थ किया। परन्तु उसकी स्त्री उस चोर पर आसक्त होकर उसके साथ

अनाचार में लिप्त हो गई। एक दिन वह मनौती के बहाने से पदुमकुमार को एक पर्वत की चोटी पर ले गई और उसे धोखे से धक्का देकर गिरा दिया। परन्तु एक पेड़ में उलझ कर वह बच गया।

पदुमकुमार पेड़ से किसी प्रकार निकल कर अपने राज्य में आया और पिता की मृत्यु हो चुकने के कारण राजा बन गया। उसने दानशालाएँ प्रारंभ की, जहां लोगों को भोजन मिलता था। एक दिन उसकी स्त्री भी उस लुंज को सिर पर उठाए हुए आदर्श पतिव्रता के रूप में दानशाला में आई। वहां पदुमकुमार ने उसे पहिचान कर सारा भेद खोला और इस प्रकार कहा—

अयमेव सा अहमपि सो अनञ्ञो, अयमेव सो हत्थच्छिन्नो अनञ्ञो।
यमाह कोमारपती ममन्ति, वज्झित्थियो नत्थि इत्थीसु सच्चं॥
इमञ्च जम्मं मुसलेन हन्त्वा, लुद्दं छवं परदारूपसेविं।
इमिस्सा च नं पापपतिब्बताय, जीवन्तिया छिन्दथ कण्णनासं॥

२. इसी क्रम में पंचतंत्र के 'लब्धप्रणाश' नामक तंत्र की एक कथा का सारांश-द्रष्टव्य है—

एक ब्राह्मण कुटुम्बवालों के झगड़े से तंग आकर अपनी प्रिय पत्नी सहित जंगल में चला गया। वहाँ ब्राह्मणी को प्यास लगी तो वह जल की खोज में निकला। जब वह जल लेकर लौटा तो किसी कारण से उसकी पत्नी मर चुकी थी। ब्राह्मण ने आकाशवाणी सुनकर 'सत्यक्रिया' से उसे अपनी आधी आयु देकर जीवित कर लिया। फिर वे एक वाटिका में पहुँचे। पत्नी को वहां छोड़कर ब्राह्मण भोजन लाने के लिए गया। पीछे से उसकी स्त्री ने कामातुर होकर एक पंगु से सम्बन्ध कर लिया। ब्राह्मण के आने पर उन्होंने भोजन किया और पंगु को दयावश एक गठरी में बांध कर वे उठा ले चले।

आगे ब्राह्मणी ने अपने पति को बाधा समझ कर धोखे से एक कुँए में धकेल दिया और वह पंगु वाली गठरी लेकर एक नगर में गई। वहां गठरी को चोरी का माल समझ कर राज पुरुष उसे राजा के सम्मुख ले गए। जब गठरी खोली गई तो उसमें से पंगु निकला। ब्राह्मणी ने अपने को पतिव्रता प्रकट किया। इससे राजा बड़ा प्रभावित हुआ और उसने उसे सुख से रहने के लिए दो गाँव प्रदान किए।

कुछ दिनों बाद ब्राह्मण किसी तरह कुएँ से निकल कर उसी नगर में आया और उसने अपनी पत्नी की लीला देखी। ब्राह्मणी ने उसे अपने पंगु पति का शत्रु बतला कर राजा से उसके वध की आज्ञा प्राप्त करली। परन्तु जब ब्राह्मण ने 'सत्यक्रिया' से अपनी दी हुई आयु वापिस ले ली तो राजा बड़ा चकित हुआ। उसे सम्पूर्ण पूर्व वृत्तान्त सुना कर ब्राह्मण ने कहा—

यदर्थे स्वकुलं त्यक्तं जीवितार्द्धञ्च हारितम्।
सा मां त्यजति निस्नेहा कः स्त्रीणां विश्वसेन्नरः॥

३. अब दशकुमार चरित की मित्रगुप्त-कथा में दी गई एक अन्तर्कथा का संक्षिप्त रूप देखिए—

त्रिगर्त जनपद में किसी समय धनक, धान्यक और धन्यक नाम वाले तीन सगे भाई रहते थे। वहां घोर दुर्भिक्ष पड़ा और लोग सब कुछ समाप्त होने पर अपने बच्चों तथा पत्नी तक को खाने लगे। इन

के परिवार का भी यही हाल हुआ। जब सब से छोटे भाई धन्यक की स्त्री धूमिनी के खाए जाने की बारी आई तो वह उसे कंधे पर बिठा कर चुपचाप भाग गया। मार्ग में उन्हें एक घायल और लँगड़ा आदमी मिला। उसे भी उन्होंने साथ ले लिया और जंगल में एक कुटिया बना कर वे रहने लगे। धन्यक ने दया करके लँगड़े की सेवा की और वह स्वस्थ हो गया।

एक दिन धन्यक शिकार के लिए गया हुआ था। पीछे से धूमिनी ने कामातुर होकर उस लँगड़े से प्रेम-प्रस्ताव किया। उसे अनिच्छापूर्वक धूमिनी की बात माननी पड़ी। जब धन्यक लौट कर आया तो उसे पानी लाने के लिए कुएँ पर भेजा गया। वहां दगे से धूमिनी ने उसे कुएँ में डाल दिया और वह लंगड़े को अपने कंधे पर बिठा कर एक नगर में आ पहुँची। वहाँ वह आदर्श पतिव्रता के रूप में प्रसिद्ध हो कर धनवाली बन बैठी।

पीछे से धन्यक किसी प्रकार कुएँ से निकला और हताश होकर भीख माँगता हुआ उसी नगर में आ पहुँचा, जहाँ उसकी पतिव्रता पत्नी रहती थी। धूमिनी ने उसे पहिचान लिया और राजा से शिकायत करके उसके वध की आज्ञा दिलवा दी। वधस्थान पर धन्यक ने उस लँगड़े को बुलवाया। उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त सच-सच कह सुनाया। फलस्वरूप धूमिनी के नाक-कान काटे गए और धन्यक पर राजा की कृपा हुई।

उपर्युक्त कथा-रूपों से प्रकट होता है कि आज जो कहानी राजस्थान के देहातों तक में प्रचलित है, वह बौद्धकाल में भी भारत में इसी प्रकार जनप्रिय थी। यह स्पष्ट है कि तत्कालीन लोक-कथाओं को ही बुद्धदेव के पूर्वजन्मों के साथ जोड़ कर जातक कथाएँ उपस्थित की गई हैं। इसी प्रकार नीतितत्व हेतु यह लोककथा पंचतन्त्र में ग्रहण की गई है। दशकुमारचरित में यह कथा इस प्रश्न के उत्तर में है कि क्रूर कौन है? परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि पंचतंत्र की कथा में और राजस्थानी लोककथा में 'सत्यक्रिया' का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है, जबकि अन्य दोनों रूपों में वह नहीं है। कथा में इस तत्व के प्रवेश का सूत्र अन्यत्र अनुसंधेय है। इस सम्बन्ध में श्रीमद् देवी भागवत् में वर्णित 'रुरु प्रमद्वरा' का उपाख्यान विचारणीय है, जिस का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :—

मेनका अप्सरा की पुत्री का स्थूलकेश मुनि ने अपने आश्रम में पालन-पोषण किया और उसका नाम प्रमद्वरा रखा। जब प्रमद्वरा युवावस्था को प्राप्त हुई तो मुनिकुमार रुरु उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो गया और स्थूलकेश ने यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। परन्तु विवाह के पूर्व ही निद्रित अवस्था में प्रमद्वरा को एक साँप ने काट लिया और वह मृतक अवस्था को प्राप्त हुई। इस पर रुरु ने बड़ा विलाप किया और एक देवदूत के सुझाव के अनुसार 'सत्यक्रिया' द्वारा अपनी आयु का अर्द्ध भाग उसने प्रमद्वरा को प्रदान करके पुनर्जीवित कर लिया। फिर उन दोनों का विवाह हो गया।

यह प्रेमोपाख्यान भी भारत में बड़ा जनप्रिय रहा है। कथासरित्सागर में इसे उदयन और वासवदत्ता की कहानी में विदूषक के मुख से कहलवाया गया है। स्पष्ट ही पंचतन्त्र में संकलित लोककथा का रूप इस उपाख्यान से किसी अंश में मेल खाता है। यही स्थिति राजस्थानी लोककथा की है। उपाख्यान में पत्नी के प्रति पुरुष के प्रेम की पराकाष्ठा प्रकट की गई है, जो लोककथा में भी ज्यों की त्यों वर्तमान है।

परन्तु उसका मूल उद्देश्य कुछ दूसरा ही है, अतः उसमें 'सत्यक्रिया' का प्रयोग दो बार हुआ है। वहाँ एक बार आयु का अर्द्ध भाग दिया गया है तो दूसरी बार परिस्थितिवश वापिस भी लिया गया है।

लोककथा में नारी-जाति के प्रति घोर घृणा का वातावरण है। पौराणिक उपाख्यान में ऐसा नहीं है। वहाँ नारी-सम्मान का प्रकाशन हुआ है। लोककथा में वह पूर्ण रूप से कृतघ्न एवं अविश्वसनीय है। यही कारण है कि कथा के अंत में उसकी दुर्गति करवा कर 'काव्यगत न्याय' (Poetic Justice) का पालन किया गया है। उसका बुरा हाल होता है परन्तु फिर भी वह श्रोताओं अथवा पाठकों की सहानुभूति नहीं प्राप्त कर सकती। इस रूप में यह एक नीति-कथा बन गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक लोककथा में कितने विभिन्न तत्व छिपे हुए रहते हैं। साथ ही आज की लोककथा अति प्राचीन काल में भी मिल सकती है। समयानुसार उस में विभिन्न प्रभाव प्रवेश पाकर उसे नया रूप प्रदान करते हैं। राजस्थानी लोककथा में ऐसा ही हुआ है। उसमें अनेक तत्वों का समन्वय है और यही भारतीय संस्कृति का प्रधान उपलक्षण है, जो यहाँ की ल ककथाओं तक में द्रष्टव्य है। इसी प्रकार अन्य लोककथाओं के विश्लेषणात्मक विवेचन की भी आवश्यकता है। इससे साहित्य-जगत् को बड़ा लाभ मिलेगा।

बागड़ के लोक साहित्य की एक झांखी

हमारे देश में तीन वागड़ प्रदेश गुने जाते हैं—पहला गुजरात प्रदेश में कच्छ-गुजरात की सरहदों के बीचका, दूसरा राजस्थान में नरमड़ (नरहड़) आदि पिलानी से हांसी-हिसार तक का, और तीसरा मेवाड़-मालवा-गुजरात की सरहदों के बीच का प्रदेश। हमारा वागड़ यह तीसरा प्रदेश है जो दक्षिण-पूर्वी राजस्थान के डूंगरपुर और बाँसवाड़ा के जिलों तथा उनके आसपास के विस्तार का क्षेत्र है। यह विभाग २३° १५' से २४° १' उत्तर अक्षांस एवम् ७३° १५' से ७४° २४' पूर्व देशांतर के बीच स्थित है। इसका क्षेत्रफल करीब ५,००० वर्गमील तथा इसकी आबादी लगभग १२ लाख की है। इस क्षेत्र की मूल प्रजा आदिवासी भील जाति है। पालों में रहने वाले भीलों वा मेंणों की बोली 'भीली' है, कटारा विभाग की बोली पलवाड़ी है और शेप समग्र वागड़ की भाषा वागड़ी बोली है। वागड़ी मुख्य बोली है। भीली, पलवाड़ी तथा कटारी बोलियाँ सिर्फ भील क्षेत्रों तक ही सीमित हैं।

महीसागर इस प्रदेश को डूंगरपुर और बाँसवाड़ा के दो मुख्य भागों में विभाजित करती बहती हुई गुजरात में खंभात की खाड़ी में जा गिरती है। समग्र प्रदेश पठारभूमि (Forested upland) है। भील, ब्राह्मण, पटेल (गुजराती तथा वागड़िया), राजपूत, बनिये तथा अन्य लगभग सभी वर्णों की पंचरंगी प्रजा का इसमें निवास है। मेवाड़, मालवा तथा गुजरात, तीनों प्रदेशों से प्रजा का आवागमन तथा संबंध होने से भाषा का स्वरूप तथा लोक साहित्य का रूप भी मिश्रित है।

वागड़ क्षेत्र में लिखित साहित्य नहींवत् है। इस प्रकार में कुछ शिलालेख, पट्टावलियाँ वंशावलियाँ व प्रशस्तियाँ, ताम्रपत्र तथा नामा-बहियाँ ही गिनाये जा सकते हैं। परंतु इस विशाल भूभाग का लोक साहित्य अति समृद्ध है। आज तक यह अप्रकाशित एवम् मौखिक रूप से ही प्रचलित है। इसमें (१) ऐतिहासिक वीर काव्य (Historical Ballads), (२) लोकगीत (३) भजन (४) पारसियाँ या पहेलियाँ (Riddles) (५) लोकोक्तियां एवं मुहावरे, (६) लघुकथाएं (७) भविष्यवाणियां तथा (८) धार्मिक वार्ताएं आदि मुख्य हैं।

वागड़ का समग्र उपलब्ध लोक साहित्य आज वागड़ी बोली में है। यह बोली शौरसेनी से उत्पन्न मानी जाती है। शौरसेनी उत्तर की तरफ से धीरे २ धीरे ब्रजभाषा में परिणित हुई तथा दक्षिण में बढ़कर वह पुरानी-पश्चिमी राजस्थानी और उसमें से मारवाड़ी एवं गुजराती बनती हुई उसी की एक शाखा 'वागड़ी' बन गयी। इस बोली का स्वरूप मुख्यतः गुजराती से तथा मालवी, मेवाड़ी, भीली आदि के मिश्रण से बना है। इसमें ब्रज, अवधी, मारवाड़ी, खड़ी बोली आदि के शब्दों का भी समावेश है। इस खिचड़ी भाषा का

रूप योगीराज मावजी महाराज के चौपड़ों में स्पष्ट दृष्टव्य है। वागड़ी में साहित्य रचना काफी प्राचीन काल से ही हुई दिखाई देती है। महाकवि माघ ने शिशुपाल वध की रचना वागड़ में की थी, ऐसी एक किंवदन्ति मज़ाक के रूप में गुजरात प्रांतीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के मंत्री कुशलगढ निवासी श्री जेठालालजी जोशी ने मुझसे कही थी। चारण साहित्य पुरानी डिंगल-पिंगल की शैलियों में प्राप्य है। जैन साहित्य की रचना भी वागड़ में ठीक प्रमाण में हुई मानी जाती है। भट्टारक ज्ञानभूषण की तत्वज्ञान तरंगिणी (वि. १५६०), भट्टारक शुभचंद्र के पांडवपुराण की (वि. १६०८), भट्टारक गुणचंद्र द्वारा अनँतजिनव्रतपूजा (वि. १६३३) आदि की रचना सागवाड़ा में हुई मानी जाती है। भट्टारक जयविजय कृत शकुन दीपिका चौपाई (वि.१६६०) तथा शुभचंद्र कृत चंदनाचरित का निर्माण डूँगरपुर में हुआ पाया जाता है। भट्टारक रामचंद्र ने सुभौमचक्रिचरित्र की रचना (वि. १६८३) सागवाड़ा में बैठकर की थी। इस प्रकार जैन साहित्य की रचना वागड़ में १५ वी. शती विक्रमी से हुई मिलती है। संस्कृत भाषा में प्रशस्तियाँ तथा शिलालेख तो वि. सं. १०३० से ही मिलते हैं।

वि. सं. १७८४ में योगीराज मावजी का वागड़ के सावला गांव में आविर्भाव महत्व की बात है। सं. १८१४ में अपनी देहलीला समाप्त करने तक इस महापुरुष ने ४ चौपड़े (महाग्रंथ) तथा अन्य लघुग्रन्थ वाणी लिखित रूप में वागड़ को प्रदान कर अनुग्रहीत किया है। आज वागड़ में भजन तथा संतवाणी प्रचुर रूप में प्रचलित है।

मावजी के बाद वागड़ में डूंगरपुर में गवरीबाई (वि. १८१५ से वि. १८६५) का उद्भव भी साहित्य दाता के रूप में अविस्मरणीय है। इस भक्त कवियत्री ने अपने आराध्य की भक्ति के अनेक पद इसी मिश्र वागड़ी बोली में दिये हैं। गुजरात की वर्नाक्युलर सोसायटी की ओर से कुछ पदों का प्रकाशन भी हुआ सुना जाता है। वागड़ की इस मीरां की प्रेमलक्षणा भक्ति के पदलालित्य का पठन आज भी वागड़ में सुनाई देता है।

इन भक्तों की श्रेणी में 'अवोभगत' (वि. १८७७–१८३८) भी वागड़ में अमर हो गया है। यह वीर भक्त अभेसिंह काफी संख्या में पद दे गया है। इनका प्रकाशन नहीं हुआ है, परंतु हस्तलिखित रूप में अवश्य प्राप्य हैं।

इस साहित्य परंपरा में अति समृद्ध ऐसा लोक साहित्य ही आज वागड़ की सच्ची निधि है। वागड़ के वीर 'गलालेंग' (वि. सं. १७३०–१७५१) की वीरगाथा आज भी लोकमानस में अमर है। लगभग पौने तीन सौ वर्षो से यह ऐतिहासिक वीर काव्य जोगियों द्वारा परंपरागत मौखिक रूप से गाया चला आता है। मेवाड़, मालवा व वागड़ के गांवों में इसको सुनने का चाव किसी में न हो ऐसा नहीं। वीर, शृंगार और करुण रस की त्रिवेणी में अवगाहन कर अपूर्व आनंद की अनुभूति होती है। आज की भाषा में कहूँ तो यह गाथा भी एक अमर शहीद की अपूर्व कहानी है जो इतिहास की कड़ी होने पर भी लुप्त है। वीर विनोद में कुछ विवरण है, परंतु वह पर्याप्त नहीं है।

'अर्जण सोग्रण' (अर्जुन चौहान) नामक वीर के पराक्रम की भी पद्यकथा लोकश्रुत है। इसी कोटि का एक और काव्य 'हामलदा' (सामंतसिंह) भी मौखिक रूप में वागड़ में व्याप्त है। वीर रस से भरपूर यह गान भी 'अर्जण सोग्रण' और 'गलालेंग' की तरह ही श्रोता के रोंगटे खड़े कर देने वाला शौर्य

और ओजस्वी वाणी का अनुपम उदाहरण है। वाँसवाड़ा के अन्तर्गत आज का तलवाड़ा गाँव प्राचीन काल में 'तलकपुर पाटण' नाम से विख्यात नगर था। यह चौहान वंश की राजधानी वर्तमान अर्थूणा नगर, शेष गाँव आदि से संलग्न विराट बस्ती थी। यहाँ राजा 'हामलदा' उर्फ सामंतसिंह का शासन था। हामलदा शूरवीर क्षत्रिय था। इसी से संबंधित शौर्य गाथा आज भी मौखिक रूप से वागड़ में गाई सुनी जाती है।

'गोविन्दगुरु' नामक एक संत तो पिछली शती में ही हुए माने जाते हैं। इन्होंने वागड़ के आदिवासी भीलों को भक्त बनाया और उन्हें हर प्रकार से सुधारने का महान् सामाजिक कार्य किया। उनसे संबंधित गीत व भजन भी आज वागड़ में और खासकर आदिवासी भीलों में काफी लोकप्रिय हैं।

'कलोजी' नामक एक वीर क्षत्रिय की वाणी भी गायी जाती है। लोक कथा भी व्यापक है। मैंने इसको अंकित भी किया है। 'बलतों वेलणियों' नामक एक वीर क्षत्रिय लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। उसकी भी वीर-करुण रस की काव्य-कथा सुश्रुत है।

रामदेवजी तथा भाटी हिरजी के भजन भी लोक साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

योगीराज मावजी के अतिरिक्त उनके शिष्य—भक्त जीवण, सुरानद, जनपुरुप, दासजेता, दासमकन उदयानंद तथा नित्यानंद महाराज आदि के भजन व आरतियाँ भी माव संप्रदाय में व्यापक व लोकों में प्रिय हैं।

गोरख, मीराँ, चंद्रसखी, हरवण कावेड़ियो (श्रवणकुमार), गोपीचंद-भरतरी आदि के भजन भी अति व्यापक हैं। तोलॅ राणी का भजन स्त्रियों को बहुत प्रिय है।

मकोनी वात, विजु (विजली) नी वात एवं अन्य लघु कथाएँ तथा चंदन मलयागिरी की वार्ता, शीतला सप्तमी की वार्ता तथा अन्य धार्मिक एवं व्रतादि संबंधी वार्ताएँ भी बहु प्रचलित हैं। इन्होंने भड्ली-वाणी तथा भविष्यवाणियाँ भी हैं।

यह सब लोक-संबंधी है और लोक साहित्य का भागस्वरूप है। परंतु आज तक इस समग्र सामग्री का संग्रह, संपादन तथा प्रकाशन नहीं हुआ है। यह साहित्य निधि मौखिक होने से घट-बढ़ भी होती रहती है। मैंने अपना शोध कार्य करते हुए काफी संचय यथा संभव किया है। दैवयोग होगा तो कुछ प्रकाशन भी होगा परन्तु कुछ झांखी सादर प्रस्तुत करता हूँ।

(१) "गलालेंग"

वागड़ की यह ऐतिहासिक वीर-गाथा अप्रकाशित है। परन्तु लगभग २७५ वर्षों से यह प्रेम और शौर्य का अनुपम उदाहरण रूप लोक-जीवन में व्याप्त है। मेवाड़ के बृहद् इतिहास वीर विनोद में इसका अल्प उल्लेख हुआ है परंतु प्राप्य मूल कथा के आधार पर अपने शोध कार्य में मुझे इसकी कड़ियां प्राप्त हुई हैं। काव्यारम्भ यों होता है—

"लालसेंग ना सवा गला लेंग तारु, वरति भोगु नामे जियँ।
पुरविया पुरवगड़ ना राजा तमें आंसलगड़ ना राणाए जियं:"

गलालेंग पूर्विया राजपूत लालसिंह का ज्येष्ठ पुत्र था। वह पूर्वगढ या आंसलगढ़ का राजा था। इतिहास में उस समय मेवाड़ में महाराणा जयसिंह का तथा डूंगरपुर में महारावल रामसिंह का शासन-काल था। इतिहासकार के अनुसार ढेबर की नींव वि० सं० १७४४ में तथा उसकी प्रतिष्ठा १७४८ में

हुई थी। ढेवर के कार्य में गलालेंग का मुख्य हाथ रहा होने से और कडाणा के आक्रमण में वीरगति को प्राप्त होने के दरमियान साजँ साँदरवाड़ँ की दो राजकुमारियों से शादी करने आदि अनेक प्रसंगों के आधार पर गलालसिंह की आयु (वि० १७३०–१७५१) निश्चित की है और डूंगरपुर के महारावल लक्ष्मणसिंह जी ने इसका समर्थन भी किया है। २१ साल की भरी जवानी की आयु में खेत रहने वाले इस गलालसिंह की संक्षिप्त परंतु शौर्यभरी कथा रोमांटिक तथा अति करुण है।

"भाइयँ—भाइयँ नो वकरो लागो ने सोड़या पूरव देते जियँ"

आपसी बंटवारे को लेकर कुटुम्ब में कलह और परिणामस्वरूप कुहराम मचा। मातृभक्त गलालेंग ने माँ से पूछा–'मां जणेता ओकम करो मुं भाइयँ नो गालु घाँणए जियँ। पिता लालसिंह का स्वर्गवास हो चुका था। विधवा माँ की आज्ञा पर गलालसिंह चलता था। माँ ने अन्यत्र जाकर अजीविका प्राप्त कर पुरुषार्थ और पराक्रम आजमाने की आज्ञा दी। फलतः अनुज गुमानसिंह तथा चचेरेभाई बखतसिंह व कुछ सेवकों सहित पूरव देश छोड़ कर गलालेंग चित्तौड़ आ पहुंचा।

"ऊँटे उसाला गाड़े तंबुड़ा कँय राणियँ नि सकवाले जियँ
पुरवा थका खड़या गलालेंग कँच वाँका सितोड़ माते जियँ।"

उस समय महाराणा का मुकाम उदयपुर था अतः उछाला लिये हुए वह उदयपुर आया। उसके तेज व रौब को देखकर राणा ने उसे २५ हजार का पट्टा देकर रख लिया और खैराड़ में मैड़ी बनाकर रहने की सलाह दी।

खैराड़ के इलाके में पानी की कमी थी। एक बार सूअर की गौठ खाते वक्त गलालसिंह ने राणा से इसका जिक्र किया और मेवल का नाका बाँधने की आज्ञा प्राप्त करली। तलवाड़ा के सलाट बुलाये गये, मालवा से ओड़ लाये गये और लोहारिया के लोहे व बरौडा खान के पत्थरों से ढेवर पक्का बंधवाया गया। तीन दिन का काम बाकी था कि गलालेंग ने ओड़ों से डेराडीट एक मेवाड़ी रुपया सरकारी तंबु रफू कराने वसूल करना चाहा। इस पर झगड़ा हुआ—

'रि नु झालु कुंवोर गलालेंग ओडें नो गाल्यो घाणें जियँ'

कुछ ओड़ भाग निकले और महाराणा जयसिंह को हकीकत कही। जयसमुद्र की यह घटना कलंकरूप थी अतः राणा ने गलालेंग को मेवाड़ की सरहद छोड़कर चले जाने का फर्मान किया। स्वाभिमानी गलालेंग ने पुनः उछाला भरा और सलुंबर, जैताना होता हुआ वह सोम नदी पर आ गया। सलुम्बर में उस समय रावजी भैरुसिंह जी का शासन था—उन्होंने गलाल को रोकना चाहा पर वह नहीं माना। सोमनदी का पानी जयसमुद्र के ओंटे से आता है। इस काले पानी को देखकर वह कहता है—

'कालें कालें निर नदिनें भाइ केयँ थकें आवें जियँ'

वक्ता उत्तर देता है— 'राज नं वंदाव्यं ढेवरियें दादा एयँ थकें आवें जियँ'

इस पानी को पीना हराम करके डूंगरपुर की सरहद में नये वीड़े खोद कर मुंह में पानी डाला और आसपुर की बोली बाव पर आकर पड़ाव डाला। गलालेंग को आत्म विश्वास था कि—

"आपड़ी तरुवारे तेज ओवें तो आपे अमरा पटा करें जियँ"

और फिर माँ की सलाह से डूंगरपुर की ओर प्रस्थान किया। महारावल रामसिंह गलालेंग की बहन जीवँ के पति होने से उसके सगे जीजाजी होते थे। रावल ने भी गलालेंग का स्वागत किया और ५० हजार की जागीर दे कर उपकृत किया और कहा—

"गवाड़े राज थाएँ राको ने गलिया कोट सौकि करो जियें
पसलावे तमें मेडि मांडो ने अजुर नि रोटि जमो जियें"

पचलासा में जीवा पटेल की जमीन छीन कर गलालसिंह ने अपना महल बनाया अतः जीवा पटेल उछाला भर कर कुँवा के जागीरदार के पास जा बसा। कुँवा के हतुमहाराज ने लालजी पंड्योर का पट्टा लेकर जीवा पटेल को दिया अतः लालजी पंड्योर उछाला भर कर डूंगरपुर राज्य की सीमा छोड़कर कडाणा के टाकुर कालु कडेंणिया की शरण गया परंतु कालु से शर्त ली कि वह कुँवा पर आक्रमण करके उसके प्रति किये गये अन्याय का बदला लेगा। कडाणिया कालु ने यह मंजूर किया और जब दशहरे की सवारी में कुँवा के ठाकुर हतुमहाराज डूंगरपुर राणा की नौकरी में गये हुए थे तो कडाणिया ने कुँवा पर आक्रमण किया और मनिया डामोर तथा खेमजी खाँट आदि चौकीदारों को मारकर सारा ग्राम लूट लिया तथा बस्ती उजाड़ दी। यह समाचार डूंगरपुर के दरबार में पहुँचाया गया तो गलालेंग यह सुनकर आगबबूला हो उठा और आक्रमण के लिए बेसब्र बन गया परंतु एक माह बाद सब सरदार सेना एकत्रित कर युद्ध को प्रस्थान करें, ऐसा निश्चय हुआ। गलालसेंग पछलासा आया तो उसे—

"साजें ने सांदरवाडें गामनें वे जोड में नारेल माल्यें जियें'
राणि झालि ने राणि मेंणतणि परणवानें नारेल आव्यं जियें,"

माँ पियोली के मना करने पर भी गलालसिंह ने श्रीफल स्वीकार किये। माँ ने कहा—

'गाम कडेंणें जिति आवो ने वलता साजे परणो जियें'

गलालेंग कहता है—

'गाम कडेंणे काम आवं तो कोंण हतिये वले जियें'।

नारियल स्वीकार कर वह वनदेवी रावल रामेंग की मंजूरी लेने डूंगरपुर गया। रावल रामसिंह ने कहा—

"नोव दाउं नि सुदि हालात में दसमें मेले आवो जियें
दसमो सुकि इयारमो थावे तमे देसवटे जाजु जियें"

अरमान भरा गलालेंग शूरवीर और पराक्रमी था, क्रोधी था, स्वाभिमानी था परंतु दिल से सरल, उदार, कर्त्तव्य परायण और प्रेमी तबियत का आदमी था। उसकी पहली पत्नी का स्वर्गवास हो चुका था—

"पेला फेरा ना परण्या गलालेंग ने देवदे सोड्या मांडे जियं,
देवदा वालें देवलोक में अवे साजे परणवा जावें जियें"

अतः यह दूसरी बार बरात सजाई थी। लीलाधर घोड़े पर सवार होकर वह शादी को चला। माँ ने उसे अनेकानेक श्राप और गालियाँ दीं!

साजं सांदरवाटें ग्राम में जब बरात आई तो गलालेंग के रूप पर लोग आफिन हो गये। दोनों कुमारियाँ तो धन्य धन्य अनुभव करने लगीं। कामदेवता के समान स्वरूपवान गलालेंग की शादी और

उसके फौरन बाद कडाणा युद्ध की कल्पना से लोक भय और आशंका अनुभव करने लगे। लग्न विधि चल रही थी कि गलालेंग को कडाणा याद आया। अवधि में सिर्फ एक दिन बाकी था। उसने राज-पुरोहित को जल्दी करने को कहा तो उसकी सासू पर्दे में से बोली—

"धिरे—धिरे परणो मेवाड़ा नानि ना वालया आते जियें
कुँवारी कन्या ने वोर घणा परणी ने लगाइयो दागे जियें
लगन लगन तो मरद कुँवारो अस्तरि तो आगलो भोवे जियें
धिरे–धिरे परणो मेवाडा के घणी परण्या नी आँसे जियें
एवि उतेवेल श्रोत तो वाला तमें वलता परणी जाता जियें"

गोर वजेराम ने ज्यों त्यों लग्न विधि पूर्ण की तो दान दक्षिणा देकर गलालसिंह सीधा युद्ध में जाने को तैयार हुआ। गोर ने कहा कि कालयोग है अतः घर जाकर वरपडवें (दोरा कंकन छोड़कर) करके जाओ। रातोंरात बारात पचलास रवाना हुई। सवलसेंग काका की मेडी में रात वास किया परन्तु पत्नीयों से मिलना नहीं हुआ क्योंकि मोडमींढल छोड़े विना सुहागरात वर्जित थी। दूसरे दिन गोर से मुहूर्त मांगा गया परन्तु साठ साल की माँ पियोली गलालेंग को रानियों से मिलने देना नहीं चाहती थी क्योंकि रसिक गलाल रानी के रूप पर मोहित हो जाय तो युद्ध में ही नहीं जाय। अतः माँ ने ब्राह्मण को धमकाकर दस दिन बाद मुहूर्त है, ऐसा खोटा कहलवाया। परिणामस्वरूप गलालेंग बिना मोड़—मींढल छोड़े ही युद्ध को रवाना हुआ। यहां से करुण-रस का उभार आता है। पहली रानी असमय में स्वर्ग सिधारी और अब दो दो नारियाँ हैं, परन्तु प्रणय सुख पाये विना ही गलालेंग को युद्ध में जाना पड़ता है! पादरडी बड़ी में मावा पटेल की पत्नी ने दूर से गलाल को आते देखा तो गांव सहित स्वागत को बढ़ी और उसे चावलों से पौंखकर स्वागत कर चौराहे पर ठहराया। मावा पटेल की षोड़शी पुत्री रूपा ने गलालेंग को कहा—

"आडॅ लोक नि होलि दिवली खतरिने पुनेम वालि जियें
वार कोनो खडयो खतरि पुनेमियो घेरे आवे जियें
आजे है वैसाकि पुनेम मामियें ने मलि आवो जियें
अस्तरियें ना नेंया पड़े तो मामा धणें परासन लागें जियें"

हे मामा, आज पूनम है। मामियों को मिलकर जाओ, नहीं तो मेरी कसम है। माणेज पटलाणी की बात मान, सेना सागवाड़ा पड़ाव की ओर भेजकर गलालेंग भाई वखतसिंह के साथ वापस पछलासा लौटा। रात हो चुकी थी। राणी झालि तो सो गई थी परन्तु मेंणतणि ने घोड़ों की टापें सुनी। उसने झालि को जगाकर कहा—

'उट ने मारी वोन रे झालि ठकरालो घेरे आव्यां जियें
मेला खेला तो खेरु वया ने मांणिगर पासा आव्या जियें।'

माणिगर की बात सुनकर झालि उठ बैठी और पिया मिलन की उमंग में शृङ्गार सजा कर तैयार हुई :—

"पान फूल नि सेज वसावि ने ओशि के नागर वेले जियें
तेर दिवा तेलना पुर्या ने दस घियें ना पुर्या जियें।"

परंतु शृङ्गार रस के गीत सुनकर माता पियोली जाग उठी और द्वार पर आकर गलाल को खरी खोटी सुनाई—

'तारे बाप नुं विरण लजव्यु माँ जणनारी नुं थाने जियँ"

माँ के व्यंग्यबाणों से आहत गलालेंग अधूरे अरमान लेकर रण-भूमि में जाने की तैयारी करने लगा। दोनो रानियों ने अपने देवर बखतसिंह को कहा—

'पियोर में तो माँ नो जायो ने हारि में हाउ नो जायो जियँ
जालि मेल नं तालँ खोलो, परण्यानु दरसण करँ जियँ'

बक्ता ने दोनों रानियों को बाहर निकाला। दोनों नवोढाएं लाज शर्म छोड़कर गलालेंग के आगे आकर खड़ी हुई और बोली—

"घड़ि पलक भेगा ने रम्या परणि ने लगाव्यो दागे जियँ
मनमें दगा अता परण्या तमें वलता परणि लेता जियँ"

तब गलालेंग कहता है—

होल वरनि होलेंगणिरे तुं कँय ललसावे जिवे जियँ
गाम कडंणे काम आवता तो कोंण हतिये वलतु जियँ'

तब रानियाँ कहती हैं—

"जो बावसि भले पदारो तमें जिव नं जतन करो जियँ
पाकँ काम कडंणे करजू गमेलिये हती वलं जियँ"

रानियों को विलाप करते छोड़कर गलालसिंह लीलाधर पर सवार होकर युद्ध को रवाना हो गया! सागवाड़ा के नगर सेठ की पत्नी ने मोड़-मींढल युक्त गलालेंग को रण-चढने जाते देखकर उसे रोका और स्वागत करके भाई कहकर उसे सागवाड़ा रहने और रावल रामसेंग को दंड भर देने की इच्छा व्यक्त की—

"मां ना जण्या भाइ गलालेंग सगवाड़े बेटा रेवो जियँ
अजुर धणि जे डण्ड करें मों घोरना भरं डण्डे जियँ"

पादरडी की पटलाणी और सागवाड़ा की सेठानी की सहानुभूति और स्नेह का कायल गलालसिंह कहता है—

नके बोनवा वसन खरसो मों ने ठेयी ने जोगे जियँ
खतरियें ना दावड़ा अमें उसिनें लाव्या मोते जियँ"

वह कहता है कि रावलजी सुनेंगे तो कहेंगे—

मरवा भागो विनो गलालेंग वांणियण ने हण्णे पेटो जियँ

वह आगे बढता है परंतु पगपग पर अपशुकन होते हैं। सामने विधवा स्त्री मिलती है तब भावी की आशंका मन में उभरती है। फिर भी वीर, धीर, गंभीर और दिलेर जवांमर्द शौर्य की खुमारी से कहता है—

'खतरियें ना दावड़ा भाइ आपे ओंदा हक्न बांदें जियँ'
खतरियें रांगडेंना दावड़ा भाइ भाले भरवं पेटे जियँ"

और करगसिया तालाब की पाल पर राजा की फौज में शामिल हो गया। इस वक्त गलालग का तोहफा देखकर सेना के सब क्षत्रिय काँप उठे और राजा के कान भरने लगे। फलतः राजा ने गलाल का मुजरा नहीं झेला और व्यंग्य कहा—

मों जाणु ते पणवा ग्योतो के तु घोरजमाइ रयः जियँ

गलाल को बुरा लगा, उसने कहा एक दिन मैं पीछे रहा, तुम्हारे कितने आदमी काम आये ? और उसने सवा कोस आगे जाकर अपना डेरा डाला। इधर महारावल की फौज में षड़यंत्र हुआ और आधी रात को कूच का डंका बजा दिया। गलालेंग ने यह नगारा सुना तो वह उठ बैठा और वक्ता को कहा कि फौज आवे उसके पहले ही हम कडाणा पर टूट पड़ें और अपना जौहर जीजाजी को बता देवें। फलतः आधी रात को गलालसिंह अपने मरणियां साथियों सहित चल पड़ा और महीसागर पर पहुंच गया। बाद में पता लगा कि कुछ धोखा हुआ है परंतु गलालेंग कहता है—

'सड़यो खतरि पासो फरे तो जणनारनु लाजे थानए जियँ'

नदी में रात्रि के अंधकार में पानी भरने की आवाज आई, देखा तो सात कन्याएं थीं। घेरा डाल कर उन्हें पकड़ लिया। पूछा तो पता लगा कि, गलालेंग के भय से कडाणा वाले रात को पानी भर लेते थे। उन कुमारियों से पता लगा कि वागड़ का लूटा हुआ सारा धन बावों के मठ में छिपा रक्खा है। गलालेंग के इशारे से वखतसिंह ने सातों को मौत के घाट उतार कर कालिया दर्रे में फैंक दिया। उन्हें जीता छोड़ते तो हांक मच जाती। नदी में अंतिम बार अफीम के कसुंबे पीकर बावों के मठ पर धावा बोल दिया तथा आमगर तथा धामगर बावों को मारकर धन निकलवाया। सात ऊंट भर कर एक बहन जित्रे को डूंगरपुर, दूसरा ऊंट सागवाड़ा बहन सेठानी को, तीसरा ऊंट पादरडी बहन पटलानी को, चौथा ऊँट जीजाजी रावल रामसिंह को तथा शेष तीन ऊँट पछलासा दोनों पत्नियों, भाई गुमना तथा माँ पियोली के लिये भिजवाये और कहलवाया—

"माजि साप ने मजरो के जु तारो बेटो कडँणे सड़या जियँ
राणिभालि ने एटलं केजु गमेले सतिये थाजु जियँ
भाइ घुमना ने मजरो केजु माडिना कडँणे सड़या जियँ"

बावों का मठ तोड़ कर और वागड़ का लूटा हुआ धन वागड़ भेज कर गलालसिंह मौत के उन्माद में आवेश में आगया और पूरे जोर शोर से कडाणा पर हमला बोल दिया। घमासान युद्ध हुआ—

"जड़ा जिड़ बन्दुके सुटें भालें रा घमोड़ा उडें जियँ
कटारियें ना कटका थावें तरुवार ना टसका लागें जियँ
सामा सामि खतरि लडें कँय गुजर झगड़ा लागा जियँ
रि नु झालु कुंवोरे गलालेंग वैरि ना गाले घारगए जियँ
दारु गोलें ना में वरें ने खतरि ना मसाला लागें जियँ"

कालू कडँणिया और उसका पुत्र अनूपसिंह डर कर महल में जा छिपे। परंतु अब गलाल रुकने वाला नहीं था। वह मौत का प्रच्छन्न स्वरूप बना हुआ यमराज की तरह टूट पड़ा और सारा कडाणा भस्मीभूत कर डाला। चौराहे पर नगारा बजाने वाला जोदिया तथा ड्योढी पर वखतसिंह भी २१ घाव

खाकर वीरगति को प्राप्त हुआ। अब गलाल और उसका घोड़ा लीलावर पूरी कुमारी से झूम रहे थे ! कडाणा के महल के चारों ओर भारी कोट था। प्रवेश का कोई मार्ग न देखकर गलाल घोड़े को पूरे जोश से दौड़ा कर कूदा महल के अंदर चौक में कच्चे मोती बिखेरे हुए थे अतः लीलावर घोड़े का पाँव चटक गया और वह लँगड़ा हो गया। दुश्मन घोड़े को बादमें पीड़ा पहुँचाएगा यह सोचकर घोड़े का सिर धड़ से अलग करके गलाल कडाणा की रा-आंगन में खड़ा घूमने लगा। उस पर मौत मँडरा रही थी। वह वीरता के नशे में चूर था। वहाँ केलें थी उन्हें काटने लगा। उसका जनून देखकर कडाणिया की रानी ने कालू को व्यंग्य मारा कि वैरी बाहर आ गया है और तुम घर में छिपे बैठे हो। व्यंगोक्ति से चोट खाकर कालू ने गोली दाग दी और गलालेंग घायल हो गया। वह मौत की प्रतीक्षा करता हुआ राम का नाम जपने लगा। इतने में कालू की कुमारी सुन्दरी फुलँ बाहर आई। वह गलालेंग के रूप पर मोहित हो गई। पानी के दो लोटे रखकर वह गलालेंग का हाथ पकड़कर मंगल फेरे फिरने लगी तब गलाल कहता है—

"घड़ि पलक ना पामणा रे तारु खोलिय अबड़ा व्यु जियें
कुवारि कन्या ने वीर गणा परिण ने लगाड़्यो दागे जियँ"
तब फूलें कहती है—
'नति दिवयँ धोर ने बारें मों रूप ने फेरा फरिजियँ'

इतने में कालू और अनूप बाहर आये और गलालेंग के शरीर पर के अलंकार-गहने लूटने लगे, तब गलाल को चेतन आया और उसने कहा—

'आव्यो कडाणिया तारे पागे पण मरदें ने पोगे जावे जियें'

कडाणिया तलवार उठाता है परंतु उसका वार होते ही गलाल जोर का झटका मार कर पिता पुत्र दोनों को एक साथ मौत के घाट उतार देता है। गलाल की अनुपम वीरता शक्ति से फूलँ संतोष और सुख अनुभव करती हुई कहती है—

"भोवोभोव मने भरतार मलो तो बाप लालेंग नो जायो जियें
जिव तमारो गेलें जासु मों आंय सतिये वलुं जियें"

गलालेंग के प्राणपखेरू उड़ गये और सती की तैयारी होने लगी इतने में महारावल रामसिंह सदलबल आ पहुँचे परंतु अब खेल खतम हो गया था। सारी बात फुलँ के मुँह से सुन लेने पर राजा रोने लगा। फुलँ ने कहा कि पहले गलाल की पाघ पछलासा पहुँचा दो क्योंकि वहां दो नव परिणिताएँ साथ में पीछे छूट जायंगी—और फिर आप ठाकरडा पहुँचो वहां अमरिया जोगी है वह मेरे पति का कवित्त बना देगा, उसे लोक में चलाना। यह कहकर फूलँ सती हो गई। उधर रानी झाली और रानी मेंगणतणि भी पछलासा के गमेला तालाब पर सतियाँ हो गईं ! साढे तीन दिन में जोगी अमरिया ने गलालेंग की काव्य-गाथा केन्द्रे (एकतारा) पर गाकर गूँथ दी। राजा ने जोगी को जमीन आदि देकर पुरस्कृत किया और स्वयं डूँगरपुर लौट गये। इस प्रकार वीर गलालेंग की गाथा पूर्ण हुई"

कटे धाव्या थान मेवाड़ा ने कटे लड़ाइयँ लाडे जिय
कटे मेवाड़ा मोटा थया ने कटे पड्यूँ धड़े जियें
लालसेंग ना सवा गलालेंग तारं जगमें अमर नामे जियें !!

(२) "हामलदा"

वागड़ के बांसवाड़ा के अंतर्गत आज के तलवाड़ा का प्राचीन नगर तलकपुर पाटण नाम से विख्यात था। वह चौहान वंश की राजधानी था। हामलदा या सामंतसिंह वीर राजा का शासनकाल था। उस समय एक क्षत्रिय दूसरे से लड़ने पर आमादा रहता था। मेवाड़ और डूँगरपुर के बीच की सोम नदी को लेकर दोनों राज्यों में झगड़ा चल रहा था। महाराणा भारी फौज लेकर जेताणा होते हुए सोम नदी पर आ गये और डूंगरपुर की सरहद में आसपुर गाँव की धोलीवाव पर पड़ाव डाला। गोल और रामा गाँवों की वापिकाओं के रहँट जलाकर रसोई बनाई और अत्याचार शुरू किये। यह स्थिति देखकर रामें-गोल गाँव का एक श्रीगौड़ ब्राह्मण जिसकी हाल ही में शादी हुई थी वह मौड-मींढल छोड़े बिना ही भागा-भागा तलकपुर पाटण पहुँचा। उस समय समग्र वागड़ सहित मेवाड़ के छप्पन के इलाके पर सामंतसिंह का आधिपत्य था, मेवाड़ में (राणा) श्री दिवान के रूप में शासन चलाते थे। ब्राह्मण ने जाकर 'हामलदा' को हकीकत कह सुनाई। इस पर सामंतसिंह मुकाबले को आया और दोनों पक्षों में भीषण संग्राम हुआ। हजारों वीर खेत रहे और खून की नदियां बह चली। इतना खून बहा कि सवा सेर का पत्थर भी लहू की धारा में बह चला। इस ऐतिहासिक गाथा का शौर्य गीत वागड़ी बोली में व्यापक है—

"एसि ने अजारे दल दिवँण नुं हो राजे जो–२
धोलि ने वावे रे झंडा जिकिया हो राजे जो–२
रेंटड़ा भागि ने रसोइ करि जेंणे ठामे जो–२
रामें ने गोलें नो आमण सिगेड़ो हो राजे जो–२
तरत नो परण्यो ने आते मेंडोलँ हो राजे जो–२
गले ने गोपेंण ने खांदे डेंगड़ि हो राजे जो–२
अेंणि ने तरे नो आमण सालियो हो राजे जो–२
ने दौड़तो ने धामतो आवियो तलवाड़े हो राजे जो–२
परवाले पणियारिये[1] पाणि भरें जेंणे ठामें जो–२
धिरो ने रैं ने सिगड़ो ओसर्यो हो राजे जो–२
ने हांवल ने सांवल ने वेनि वाते मारि हो राजे जो–२
मने ने मालो ने धणि नें दरिखानें जेंणे ठामे जो–२
धिरि ने रैं ने पणिआरि बोलि जेंणे ठामें जो–२
जमणो ने मेलजे माजन–वाड़ो जेंणे ठामे जो–२
ने डावो ने मेलजे सलाट–वाड़ो जेंणे ठामे जो–२
सोरा नि लेंवड़िये मकनो झुले जेंणे राजे जो–२
सन्मुक बेटु रे धणि नुं दरिखानु हो राजे जो–२
मुरियें हैं मोंडें ने मोंसे वांकड़ि हो राजे जो–२
अेणि ने तरे ना सौग्रण बेंटा जेंणे ठामें जो–२
ढालें नि ओटेंणे जाजिम टूटे जेंणे ठामें जो–२"

जब ब्राह्मण ने ऊपर वर्णित दरबार में जाकर आक्रमण की बात कही तो यह संवाद सुनकर 'हामलदा' की नवयौवना रूपमती राणी 'रेंवारण' कहने लगी—

"धिरे ने रेंने राणि ओसरि जेंणे ठामे हो राजे जो–२
सोम ने सोम परण्याजि सों जको जेंणे हो राजे जो–२
होम में नति रे लापि–लाड़ुवा हो राजे जो–२
सोम में नति रे घरवार्ली नार जेंणे ठामे हो राजे जो–२
केसर वरणि है राजनि दैं जेंणे राजे जो–२
मालँना मसरका केम खमो जेंणे ठामे हो राजे जो–२

हे माणिगर, प्रियतम ! युद्ध में मत जाओ। आपकी केशर जैसी काया है। शत्रु का सैन्य अस्सी हजार का अपार है। असंख्य शत्रुओं के बीच आप अपने अल्प संख्यक साथियों के साथ कैसे झूझोगे ! मेरा मन मना करता है, आप युद्ध में मत जाओ। तब राजा कहता है—

हे प्रिये, तुम मुझे अपशुकन मत दो। अमंगल की बात मत कहो। तुम स्त्री जाति डरपोक होती हो। तुम्हें एक बार गर्म दूध की छाँट लगी थी तो आठ दिन तक तुम शय्या से नीचे नहीं उतरी थी। परन्तु मैं क्षत्रिय बच्चा हूँ। मेरा धर्म आये हुए दुश्मन के दाँत खट्टे करना या लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त होना है। यों कहकर राजा ने ब्रामण को पत्र देकर राणा को कहलवाया है कि—

"सोमे ने सियारि पाँणि आँगेंणँ हो राजे जो,
होमे ने हियारि पाँणि आँगेंणँ हो राजे जो ।
सोम जो जुवे तो आवजे तलवाड़े हो राजे जो—२"

अर्थात् सोम नदी दोनों राज्यों के बीच की विभाजक रेखा है। अतः समान मालिकी भले रहे परन्तु पानी पर तो सिर्फ हमारा ही अधिकार रहेगा। यदि पानी पाने का आग्रह हो तो तलवाड़ा राजधानी तक युद्ध लड़ते हुए आना पड़ेगा। यों समाचार भेजकर हामलदा ने युद्ध की तैयारी की और अपने सूरमा साथियों के साथ यह चौहान राजपूत अपने मम्मर-घोड़े पर बैठकर राणा से युद्ध के मैदान में जा भिड़ा और अपनी शान बान और आन को वीरता से कायम रखी !!

(३) "लोक गीत"

(लग्न गीत)

(i) घड़यो ने घड़ाव्यो बाजरोट जावद जाइ जड़ाव्यो
मेल्यो ओड़ानि पड़साले चौओरे वदाव्यो
कोंण माइ नं रांणि राजल बोलें
सामि मारे सुड़िलो सिरावो
कोंण माइ घेरे वर घोड़ि
घड़यो ने घड़ाव्यो बाजरोट जावद जाइ जड़ाव्यो
मेल्यो ओड़ानि पड़साले चौओरे वदाव्यो

कोंण माइ नं रॉंगि राजन बोलें
सामि मारे सुड़िलो सिरावो
कोंण माइ घेरे वरघोड़ि

× × ×

यह लग्न गीत है। इसमें भाषा का स्वरूप और गुजराती की छाँट द्रष्टव्य है।
बालक लाडि तो लक्यँ कागद मोकले ओजि अलदि ना भेंज्या वेला आवोरे !

—मालेंण गजरो सिवदो........

(ii) ओजि ओं केम आवुं बालक लाडलि राज ने विरेजिये मारग रोक्योरे !

—मालेंण गजरो सिवदो........

इ तो अरज करों रे अेणॉंना विरोजि ओजि गड़ि दोय मारग सोड़ो रे !

—मालेंण गजरो सिवदो........

× ×

यह गीत भी ऊपर की कोटि का ही है।

(iii) समदरिया ने अेणे पेले पारे मनोजि तम्बु ताणिया........
लाडि तारा बापा ने जगाड़ नावे नकाव सें........
नति मारा बापाजि घर पोसे आपे पदारजु........
समदरिया ने अेणे पेले पारे मनोजि तम्बु ताणिया........
लाडि तारा विरा ने जगाड़ नावे नकाव सें........
नति मारा विराजि घर पोसे आपे पदारजु........

× ×

iv) आवि रे सावला नि जान रे जरमरिया जाला........
घेंयुं रे वेवाइ तारु घोर रे ,, ,,
घोर घेंरि ने नासेंण हाइ रे ,, ,,
आवि ने कोंण माइ ने पोगे पड़्यो रे ,, ,,
सोड़ो रे वावसि मारें वांण रे ,, ,,
रुपिआ आलुं मारोमार रे ,, ,,
मारे नति रुपियें नें काम रे ,, ,,
मारे सें वेंरियें नें काम रे ,, ,,

× ×

(v) राइवोर तो गोयरे पदार्या रे गजगा वाणि लो
राइवोर ने गोँवालिये वर्कोण्या रे " " "
राइवोर तो रेसम केरो रेजो रे " " "
राइवोर तो पाटण केरु फोँदु रे " " "
राइवोर तो समोदर नो इरो रे " " "

× × ×

(vi) जमाइ सा पाग भेजु ँ रे सवा लाकनि । २
" मांदयानि सतुराइ रे ओँसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे
" सोँगला भेजु ँ रे सवा लाकना । २
" मेल्यानि सतुराइ रे ओँसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे
" टोपियो भेजु ँ रे सवा लाकनो । २
" पेर्यानि सतुराइ रे ओँसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे
" मनड़ि भेजु ँ रे सवा लाकनि । २
" परण्यानि सतुराइ रे ओँसिला जमाइ भले रे पदार्या समरत सासरे

× × ×

(vii) लाडि लाडो माँडवे बेटें बुजेँ रे पोपट पानु । २
लाडकड़ा ने विरोजि कुँवारा रे " "
लाडकड़ि ने मावि बाइ कुँवारि रे " "
अेणें ने दोयें ने परणावो रे " "
दोयें ने जोड़ि वण से रे " "

× × ×

इस गीत में 'दोयें' मेवाडी' तथा 'वण से' गुजराती शब्द द्रष्टव्य हैं ।

(viii) सोनानु ए रेकड़ ने वायरे उडयु जाय रे·········
वेवाइ तमारु नाक वाड्यु जान मूकि जाय रे·········
सोनानु ए रेकड़ ने वायरे उडयु जाय रे···········
वेवँण तमारु नाक वाडयु जान तरि जाय रे·········

× × ×

(बडुवानु गीत)

(ix) बडुवा फाने कड़ि माते घड़ि सुोने जड़ि
जाइ बेटा दादाजि ने खोले सड़ि

बाने एण ने बाणे सलाव्यें जाइ ने सोद्यें कासि–गाड ने सोवटे
कासि–गाड नो ब्रामण अेम बोल्यो
मड़सि सें सें कारणे आव्या
बावसि अनारे बालक बड़ुवो लाडनो
एने कासि–गाड नि जनोइ अें नि गणि ओंसे
बड़ुवा काने कड़ि माते थड़ि सोने जड़ि
जाइ बेटा विराजि ने खोले सड़ि

× × ×

(भीलों के गीत)

(x) मुंदेड़ि तो मते रि आवि रे पावागड नि सुंदेड़ि
आवि उतरि रामजि नाइ ने बेड रे पावागड नि सुंदेड़ि
करो मारा रामजि विरा मुल रे " " "
मुंदेड़ि ना मुवा वे रोकड़ा रे " " "
पेरो मारां मोति वाइ मुनां रे " " "
मुंदेड़ि पेरों तो केड़ो मराय रे " " "
ओड़ुं तो पगल्यां रोलाय रे " " "
बोवुं तो दरियो रंगाय रे " " "
जुंजेड़ुं तो उडे जुंणा मोर रे " " "

× × ×

(xi) मारो सांकलियालो कुंपड़ो ठोंकि आव, बावजि तुं किम डरके रे
मारो वुवरियालो जोंबो सड़ि आव, " " " "
तुं आवे तो सानो–सानो आव, " " " "
मारो सासरो तो भोरां ने पड़साल, " " " "
मारि सासुड़ि तो ", " " " " " " "
मारो परन्यो तो गवेड़ा गोंवाल, " " " "

× × ×

(मृत्यु गीत : हरिया)

(xii) दन उग्यो एम रयो घेरे आवो मड़ा राजवि..........
हरियो राजवि हाय.......हाय.......हाय........ !
तांबा कुंडि जल भरि घेरे मावोल्ड़ा राजवि........
हरियो राजवि हाय.......हाय.......हाय....... !

नावण वेला वै गै घेरे आवो रुड़ा राजवि..........
हरियो राजवि साय ....हाय........हाय........ !
सोना जारि जल भरि घेरे आवो रुड़ा राजवि........
हरियो राजवि हाय........हाय........हाय........ !
दातुँण वेला वँ गै घेरे आवो रुड़ा राजवि........
हरियो राजवि हाय........हाय........हाय........ !
भोजन परुस्यँ एम रयँ घेरे आवो रुड़ा राजवि........
हरियो राजवि हाय........हाय........हाय........ !
जम्मा वेला वै गै घेरे आवो रुड़ा राजवि........
हरियो राजवि हाय........हाय........हाय........ !
ढालया ढोलिड़ा एम रया घेरे आवो रुड़ा राजवि........
हरियो राजवि हाय........हाय........हाय........ !

× × ×

(xiii) वाड़ि मँय नो साँप लियो कटावो रे हाय केसरियो लाडलो........
साय केसरियो लाडलो, हाय........पातलियो ,,
सगवाड़ा नो सुतारि तेड़ावो रे हाय केसरियो ,,
केसरिया ने पालकड़ि गड़ावो रे ,, पातलियो ,,
डोँगर पर नो रंगारि तेड़ावो रे ,, केसरियो ,,
पातलिया ने पालकड़ि रंगावो रे ,, ,, ,,
वाँसवाड़ा नो वणारि तेड़ावो रे ,, पातलियो ,,
केसरिया ने पालकड़ि वणावो रे ,, ,, ,,
पातलिया नि जाने सलावो रे ,, केसरियो ,,
एंणि जान में तो अमुक भाइ ओंसिला हाय केसरियो ,,
एंणि जान में तो संपो भाइ ,, ,, ,, ,,
एंणि जान में तो अमुक भाइ मरेंणा ,, ,, ,,
अमुक वौ नो सुड़िलो लुटेंणो रे ,, पातलियो ,,
लाडि वौ नो फागणियो लुटेंणो रे ,, ,, ,,

× × ×

(४) " भजन "

रोणिजा थकि रे जाणे वावो आवियो गरजि ने पुसे से पुसणँ
केनो रे वाजे से गरजि दावड़ो केनि रे मारे से वाकरिये
मोंतो वाजों रे गुजर दावड़ो मावों मारि वकरिये सरावे

थोड़ुक २ अरजि दुद पावजो सादु भुक्यो आवियो
सो सो मैनंनि वाकरि वाकड़ि दुद कण–वद काडों सो
समरत ओवो तो गरु मारा काडजो दुद काडि अरोगो सो जि
तुंवड़ि लै ने गरु मारा वराज्या तुंवड़ि दुदे भरैंणि सो जि·········
ओंतो जाणों के वावो जादु–खोरियो वावो मल्यो हे अन्याड़ि·········
दुदे काड्यु से अरजि दावड़ा तुंवड़ि में तमें खिर पकावो
अगनि लागे ने तुंवड़ि वलि जावे दुद रिटाइ जावे हो जि·········
अगनि लगाड़ि अरजि दावड़े तुंवे खिर पकावि सो जि·········
ओंतो जाणों के वावो जादु–खोरियो वावो मल्यो से अन्याड़ि
खिर वेणावि अरजि दावड़ा खिर में साकर नकावो
सो सो को माते गरु मारा सेर वसे वन में साकर क्यं थकि सो
घोवला भरो रे अरजि रेतना खिर में साकर नकावो
रेत नाकि ने गरु मारा खिर पकावि·········
घोवलो भरि ने अरजि खिर पियो थोड़ि अमैंने पो हो जि·········
खिर खावि ने अरजि केवु वोल्या खिर में साकर गोलैंणि
ओंतो जाणों ते वावो जादु खोरियो वावो मल्यो से अन्याड़ि
खिर खादि हों अरजि दावड़ा थोडु पाणि पावो हो जि·········
खुवा–वावड़ि सो गरु वेगलें पाणि कणवद लावों हो जि·········
तुंवड़ि लै ने अरजि डोंगरि सड़ो खोरा में वगलु वियंणु हो जि·········
डोंगरे सड़ि ने अरजि नेंसे जोयु गंगा उलटे भरैंणि
नेंसे जोइ अरजि विसार करे जे-टवैंसाक में पाँणि क्यं थकि·········
ओंतो जाणों रे वावो जादु–खोरियो मल्या रोणिजा वाला राम हो जि·········
जेलो एलोलो अरजि दियो तारजो पेला जुग में
विजो एलोलो अरजि दियो तारजो विजा जुग में
तिजो एलोलो अरजि दियो तारजो तिजा जुग में
सोतो एलोलो अरजि दियो तारजो सोता जुग में
पाणि लावि अरजि आपियु दोवारिकें ना नात ने
पाणि पाइ ने अरजि सरणे पड़्या के आवों आपने लारे हों जि·········
काजलि वन में तारि वाकरि सो वाघ–वरु खाइ जाय हो
गायं ना गोंवालि विरा तने वेंदवुं घड़ि वाकरियं थामो सो जि·········
पासु फरि ने अरजि जोय तो राम रोणिजे सिदायी हो·········
दोय आत जोड़ि ने अरजि वोलिया संतें ने दोवारिकें में वास'

× × ×

(५) पारसियाँ : पहेलियाँ 'Riddles'

१. ओंमा गलानि जे कँय ओंटड़ि ने वेटि जाजेम पातरि–२
सतुर ओय तो सोड़ जु कँय मुरक गोता खाय
सोड़ो वेवाइ मारि पारसि..............=(विछात पर शराव की वोतल)

२. ओंसि गोरि पातलि जि कँय नदिये नावा जाय–२
सतुर होय तो सोड़ जु ने कँय मुरक गोता खाय
सोड़ो जमाइ मारि पारसि..............=(मींडी)

३. डाक्कोंण भुतनि लड़ाइ सालि जि कँय मुड़वेल सोड़ाववा जाय–२
सतुर होय तो सोड़ी लेजु कँय मुरक पड़्यो जंजाल
मारि सेजन सोड़ो वेवाइ मारि पारसि......... =(ताला–चावी)

४. राति माटलि मारि रंगे मरि उपर जड़्यो रे जड़ाव २
सतुर होय तो सोड़ी लेजु कँय मुरक गोता खाय
सोड़ो वेवाइ मारि पारसि....................=(लाल मिर्च)

५. वना माता नो वोकड़ो जि कँय–२
आटो आट वेसाय मारि सेजन
छोड़ो वेवाई मारि पारसि................. = (नारियल)

६. पांस पाइयालो ढोलियो जि कँय–२
ढाल यो राजदरवार मारि सेजन
सोड़ो जमाइ मारि पारसि................. = (हाथी)

७. वना माता रो वोकड़ो जि कँय–२
वन सरवा ने जाय मारि सेजन
सतुर होय तो सोड़जो जि कँय मुरक करे रे वस्यार
सोड़ो जमाइ मारि पारसि.................. = (कुल्हाड़ा)

८. कालो कुवो कालु पाणि ने कालि ममरजिरि सेजलटि २
सतुर होय तो सोड़जो जि केय मुरक गोता खाय
सोड़ो वेवाइ मारि पारसि...................... = (काजल)

(६) कहावतें और मुहावरे

१. अजण्या नुं ओंगणे मौत
२. अण नण्या नें उदार खातें
३. अण कमाउ खेति करे तो वलद मरे के विज पड़े
४. दाल वगड़े अेनो दाड़ो वगड़े
५. अन्यादि मोवे इ आड़े ढाले वेइने वाढे

६. अमिर ने आदर सौए करे
७. अमिर ने घोड़ु ने गरिब ने जोड़ु
८. अलाव्या वना ओज
९. अलोंड्यु तो वाघ–ए नें खाय
१०. अंदा रवैं ने कुत्ता पियें
११. आइ एवि दिकरि ने धड़ो एवि ठिकरि
१२. आइ जोवे आवतो ने वौ जोवे लावतो
१३. आँगणे खुवो ने वौ उसमणि
१४. आँदलें घोडें ने वावलेया सणा
१५. आँदलें ने सुँ दिवा ने राँडयें ने सु विवा
१६. आपड़ि तो वापड़ि ने पारकि सेनाल
१७. आवि हाटि ने बुद्दि नॉटि
१८. आवि आदत कारेये नें जाय
१९. उपर वागा ने नेंसे नांगा
२०. एक एकड़ा वना सब मेंडें खोटें
२१. एक सति ने हो जति हरकें
२२. कलुवारि नुं सदरे ने वलुवारि नुं वगड़े
२३. करे सेवा इ पावे मेवा
२४. कातया एना सुत ने जण्या एना पुत
२५. कामटे वदे इ रोत (Leader)
२६. काम सदारो तो पंडे पदारो
२७. काम वेले काकि ने पसे मेलि आकि
२८. खायं एनि भुक जाय
२९. खोटु नारेल होलि में
३०. गदेड़ु कुगे राजि
३१. गरु गांडिया ने सेला ढांडिया
३२. गरिब नि वैरि आका गाम नि मावि
३३. गोल वना हुं सोत
३४. घांसि नि वेटि ने हानि नो भावको
३५. टालजु इ ने वेजु वि
३६. ठालो आल मोंडे नें जाय
३७. दइ ने इ देव ने
३८. दुवलि गाय ने वगा गणि
३९. धरम धिरें ने पाप उतावलें
४०. नदि में खातर सुँ कामनुं

(७) "आरती" (माव संप्रदाय)

(i) आरतिओ निज नारायण तुमारि ॥ हरि हरि अलख पुरुष अखंड अवन्यासी ॥
आरतिओं.................................... ॥ १ ॥
निरंजन निराकारि ज्योत अपारा ॥ भला भला मुनिजन पार न पाया ॥
आरतिओ .... ॥ २ ॥

आरति करंता सकल जन तारया ॥ थम्ब पलोणि भगत प्रलाद उगार्या ॥
आरतिओ.................................... ॥ ३ ॥
सुरत सड़ावि वनरावन पोंस्या ॥ नुरत मेलि ने अनहद में नास्या
आरतिओ.................................... ॥ ४ ॥
तनकि रे गादि ने मन का विसावणा ॥ त्यांरे विराज्या हो श्याम अवन्यासि ॥
त्यारे विराज्या हो माव अवन्यासि ॥
आरतिओ.................................... ॥ ५ ॥
कहूं तो श्री जनपुरस सनमुक वासा ॥ श्याम विना सर्वे पंड रें कासा ॥
माव विना सर्वे पंड हें कासा ॥
आरतिओ.................................... ॥ ६ ॥

× × ×

(ii) हरे वावो खेल खेलावे ने संगे न आवे जोत कला अवन्यासी ॥ हरे ॥
सकल में व्यापक तेज तमारो तो मुक्ति राखियो घेरे दासि रे ॥ हरे ॥
हरे वावो अलगो ते अलगो ने वांहें से वलग्यो ॥
प्रित करे जेने प्यारो ॥ कोई कहें जोगि ने कोइ कहे भोगि ॥
आप सकल थकि न्यारो ॥ हरे ॥
हरे वावो रंग में रास्यो ने नुरत में नास्यो ॥
वालक थ घेरे आव्यो ॥
दासमुकन कहे गरिव तमारो ने तो हरि चरण चित्त भासो ॥

× × ×

(iii) आरतिओ हरि ने समरु सतमन ज्ञानि करो साद्र आरति
प्रतमि में पांडव टपज्या ने वस्या नव खंडरे ॥
वेद भ्रम्माजि ना पुंर्यारे ॥ पुंर्या भ्रम्मांड रे ॥ करो साद्र आरति ॥
दसरत ने घेरे अवतर्या ने वेट्यो वनवास रे ॥ गढ लंका ढारियोरे ॥
कोट लंका ढारियों रे रोंदियो रावण रे ॥ करो साद्र आरति ॥
वसुदेव ने घेरे अवतर्या ने जुग में आनंद रे ॥ कंस मामो मारियोरे ॥
मतुरं में खेल्या रासरे ॥ करो साद्र आरति ॥

आदिक रंवा रुपे रुड़ा गुजरि बहु रंगरे ।। देवता में श्याम सोइ ।।
देवता में माव सोइ, तिरथ में माहि रे ।। करो सादु आरति ।।
जेना पिता पुरा गुरु सुरा सादु ने मल्या श्याम रे ।।
दास जिवरण नि विनति रे ।। तमे सुणिलो माराज रे ।।
सुणिलो श्री श्याम रे ।। करो सादु आरति ।।

× × ×

(८) लोक वार्ताएँ (Folk tales.)

" एक भ्रामरण अतो । पणि ने परदेस कमावा ग्यो । कमाइ धमाइ ने बार वरे घेरे पासो आव्यो । घेरे आवि ने सव ठिकठाक करि ने अेने वड नुं आणु लेवा हरि ग्यो । वाट में एक दोव बलंतुं अतु ने अेणा दोव में एक हाप रॉपड़ा में बलतो ने बुम पाड़तो अतो। भ्रामरण ने जोइ ने सापे क्यु के भाइ, मने बसाव । भ्रामण के के गुरणना भाइ अवगुण थाय ते तु मने खाइ जाय एटले ओं तो तने नें बसावुं । सापे खौब कालावाला कर्या एटले भ्रामरणे अेने वांरतो काड्यो । बारते आवि ने साप के के ओं तो तने खौं । भ्रामण के के बार वरे ओं घेरे आव्यो सों ने मारे वौ नुं आणु करवा जो सों । साप क्युके आणुं करि ने वलतो आवतारे खैं । भ्रामण सारे पुगो । आट दाड़ा र्‌यो पण अनपाणि नें भावे । अेने साले पुस्यु के जिजाजि उदास केम रो सो ? भ्रामरणे सव वात मांडि ने कै सँवलावि । साले क्यु के साप अजि बेटो नें ओवे, तमें सन्ता सोड़ि दो । आणुं वदा कर्युं ने भ्रामण ने अेने वौ सापना रापड़ा कने आव्यं के तरत साप आवि ने आडो उबो र्‌यो । साप के ओं तारि वाट जोतों तो । अधे खौं । भ्रामण नि वौ तो पोक मेलि ने रोवा मांडि । साप के के तु सानि रे । खौब घन आँय डाट्यु से ते लै जा ने आ बुटि से ते जे तने सताव वा सामु आवे अेने अडाड़ि देजे ते भसम थै जासे । अेम कै ने जेवो साप भ्रामरण ने खावा ग्यो के तरत पेलि बाइये बुटि साप ने अडाड़ि दिदि । सांप तो तरत भसम थै ग्यो । भ्रामरण खौब राजि थ्यो ने घणि वौ वे घन लै ने घेरे आव्यं ने खाइ पी ने मजा कर्या !! कर्या पुटे नें करे ऐना गरु खोटा ।। "

(ii)

"एक डोइ ने एक जवान बेटो अतो । जेम तेम करि ने डोइए तरणसें रुपिया बेटा नि सगाइ वल्ले भेगा करि मेल्या अता । डोइ खाटला में मॉंदि पड़ि । अेवामें मेलो भरातो अतो । बेटे क्यु के आइ मने पैसा आल ओंए मेलो जोइ आवुं । डोइए क्युके तणसे में आ तण रुपिया लैजा । बेटे तरण रुपिया रेवा दिदा ने बिजा सव लै ग्यो । मेला में थकि एक सांप लिदो, एक सुड़ो (पोपट) लिदो ने एक मनाड़ि (बिल्ली) लिदि । घेरे आवि ने आइ ने रात करि तारे आइ तो सालि कुटि ने रोइ । थोड़ं दाड़ं में डोइ तो देव लोक थै । एक दाड़ो साप के के मने मारे मां-बाप कने रॉपड़ा में मेलि आव तने नेंयाल करसें । पण तु मारे बाप कने थकि आतनि मुद्रिकास मांगजे । बेटो साप ने मेलवा ग्यो । साप नें मॉं-बाप खौब पुशि थ्यं ने लावनार ने मांगवा क्यु । पेले तो मुद्रिका मांगी । नाग के के तारेवति नें सँवालाय ने तु दुकि थैं । पण पेलो एकनो बे ने थ्यो एटले मुद्रिका आलि दिदि ने क्यु के जे जुवे इ आ मुद्रिका तने आलसे राजि थै ने माइ तो घेरे आव्या । विवा नि तैयारि करि करे से । मांडवो उगो ने भ्रामरण बेटा ने पेलो माइ नाइ धोई ने तै थै ने मॉंडवा में बेटो ने मुद्रिका ने क्यु के देवलोक नि परि आवि जाय । खरे खर

एक रूपालि अवसरा आवि उवि । वेनं लगन थै ग्यं । अवसरा के के मारे रेवा पाणि ना घाट उपर सात माल नं मेल मंदावो । भाइये तो मुद्रिका पाए मेल मांग्यु ने मेल तैयार थै ग्यु । वे जोंण मुक थकि रेवा लागं । एक दाड़ो पेलो तो पोपट तथा मनाड़ि ने लैन वन में फरवा ग्यो तो ने पेलि तलाव ने आरे नावा वेटि नेवाल ओलि ने कांगि येंस भुलि गै । सोनानि कांगि में सोनेरि वाल जोइ ने राजा नो कंवोर केवा मांड्यो के पण्णुं तो आनेस । राज हट के वाल हट ते राजाए देम देस नि दुतिए वोलावि ने खवर कडावि । वे दुतिये पेला मेल नेंसे जाइ ने वेटि ने जोरट थकि रोवा मांडि– 'अमारे वोन अति तारे अमारा आदर भाव थाता ता अवे वउ ने मांणेज भाजि नो भावे नति पुसतं ।' पेलो आदमि पासो आव्यो तारे अेने वौए वात करि के तमारे माइए आवि हैं ने मेल नेंसे वेइ ने ककलाट करें सें । पेलोके के मने तो मारे कोय आइ-माइ नि खवर नति । आतो कोक ठग विद्या करवा वालि दुत्ति रांडि सें पण पेलि वाइ ने दया आवि एटले वे ने मेल में लेड़ावि । एक दाड़ो पेलो फेर वार ग्यो तारे दुति पुमें के वऊ आ मेल ने सव आलालिला एकदम सेरते थै गइ । तारे पेली के के सेसनागनि मुद्रिका थकि सव थ्यु से । दुत्ति के के आपोंण जोवं तो खरं के आवि मुद्रिका केवि से । वऊ आजे तु मांगि लेजे पेलिए अेने वणि पाइ मुद्रिका मांगि एटले पेला ने वेम पड्यो ने आलवा नुं क्यु । पेलि खिजाइ गै ने सुला ऊपर खाटलो डालि ने सुति । आ सव किमिया दुत्तिए भालिति कां पेले लासार थै ने मुद्रिका आलि । पेला ने आगो पासो थावा दै ने एक दुति के के देकं वों मारे आँगलि में आवे के जरा जोवा तो दे । अेटले वौए आलि दिदि ने तरत दुत्तिए क्यु के हे मुद्रिका आ मेले सेतु मारे देस साल, एटले मेल ने परि नें सव अलोप थै ग्यँ । राजा ने सेर में जाइ ने वाइ ने मेलि पण वाइये क्यु के सो मैनं नुं मारे वरत से अेटले पुरस नुं मोडु नें जोवुं । पसे जेम को अेम करे । एक थंविया मेल में वाइ रेवा लागि ने पंकिड़ं ने दाणा सगाव वा में ने सूर्यनारण नि आरादना करवा में दाड़ो रातर काडवा लागि । आंय पेलो आव्यो पण मेल के परि कोय नें दिक्यु एटले रोवा मांड्यो । तारे पोपट के के मने सिटि लकि आलो ते जे अोवे यं जाइ ने खवर काडि लावुं । पोपट उड़तो २ राजा ना सेर में आवी ने एक थंविया मेल में सगो सगवा सव जनावरं भेगो जाइ ने वेटो । विजें सव सगें ने आ पोपट डलडल आंऊवं पाडे इ जोइ ने वाइ अेने कणे आवि तो सुड़ा ने गला में सिटि जोइ । सिटि लइने वांसि ने राजि थै तरत वलतु कागद लकि ने सुडा ने गले मांदि आल्यु । पासो पेला पाय आव्यो मनाइ न ने पोपट ने लै ने पेलो राजा न सेर आव्यो । मुद्रिका तो दुति आटे पोर अेना मोंडा में स राकति ति । अेवा में अोंदर नि जान जाति'ति । मनाड़िये उंदरं ना वोर ने साइ लिदो नै सव अोंदरं ने क्यु के दुत्ति नें मोंडा मेंइ मुद्रिका आणि आलो तो स वोर ने सुदो करु । सव अोंदरे मेल में पेइ ग्यं ने सात मे माले सुतिति यं दुत्ति ने नाकोरा में एक अोंदरे पोंसड़ि घालि एटले पेलि ने जोर नि सेंक आवि ने मोडा मेंइ मुद्रिका वारति पड़िगै । एकविजु अोंदरु मुद्रिका मोंडां में साइ ने नाइ ग्यु ने जाइ नें मनाड़ि ने आलि एटले मनाड़िए वोर ने सोड़ि दिदो । मुद्रिका पेला ने मलि एटले अेणें क्यु के मुद्रिका आ आकु मेल पामु मारि जोनि जगा ऊपर लै जाइ ने मेलि दे ने पोपट नै मनाड़ि ने लै ने इ मेल ने अडि उवो एटले सव जण पासं अतं यं आवि ग्य । पोताना घणि नें जोइ ने परि खोव खुस थै ने सव जण खाइ पि ने लेर करवा लागं !! सगा वापनो ए विसवा नें कर वो !!

(६) 'भड़लि वाक्य'

(i) सुक्करवारि वादलि जो़ थावोरे रैं जा़य् ।
वे काँटे नदिये सडें ने जल वंबारण थाय् ।।

(ii) मोंडो मण्णि नो वर्यो करे मनक नि हाण ।
वरे करतिका नकेतरे तो करे जगत कल्याण ।।

(iii) वरे नकेतर रोयणि रेले खांकर पान ।
तो पाके होवन हरा धरति उपर धान ।।

(iv) कड़ा पड़ें जैए वरे इ वर माडतु थाय् ।
थैं जा़य् जो़ मावद्रु तरे लैं इ जा़य् ।।

(v) तेतर वरणि वादलि ने काजल़ वरणि रेक ।
पवन पाणि साते पड़ें थायं मिन ने मेक ।।

(vi) कावेरे ने कागला ने वोलें घुघोड़ ।
कण नें पाके धान नो पड़े काल़ के ठोड़ ।।

(vii) गाम में रोवें कुतरं ने सेम में रोवें हेंयाल ।
गोंट गोट वांदिलो नंक्कि पड़े काल़ ।।

(viii) याय उगमणि विजलि तो कोरो काड़े ताप ।
याय आतमणि विजलि तो अन नो संताप ।।

विद्यापति : एक भक्त कवि

पिछले कई वर्षों से स्नातकोत्तर कक्षाओं को हिन्दी साहित्य के आदिकाल का अध्यापन करते हुए अनेक महत्वपूर्ण समस्याएं सामने आईं। उनमें से एक महत्वपूर्ण प्रश्न कविवर विद्यापति के सम्बन्ध में उठा और वह यह कि विद्यापति एक उत्तान शृंगार लिखने वाले कवि हैं जिन्होंने अपने पदों के सृजन में जो वर्णन किया है उसे पढ़कर कोई भी आलोचक उन्हें घोर शृंगारी कवि कहने में ही परम संतोष का अनुभव करता है। विद्यापति पढ़ाते हुए मुझे भी यही लगा कि विद्यापति के पद पढ़ाते समय अध्यापक स्वयं एक विचित्र स्थिति और संकट का अनुभव करता है, क्योंकि वह विशुद्ध रूप से साहित्य का अध्यापक है किसी काम भाव (सैक्स) अथवा काम सूत्रों को पढ़ाने वाला अध्येता नहीं है। विद्यापति के पदों का रचना-विषय (कान्टेंट) निश्चित रूप से अध्यापक को एक अपूर्व संकोच में डाल देता है और वह जैसे वैसे उन पदों का अभिवार्य कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है।

दूसरी ओर विद्यापति में कविकर्म और सृजन के ऐसे मर्म भी मिलते हैं कि उनकी कृतियां उन्हें मिथिला का अमर कवि बनने का गौरव प्रदान किए हुए है। साथ ही साथ उनकी नचारियां और अन्य पद पढ़कर यह बात सहज ही उठती है कि भक्ति और शृंगार जैसे विरोधी भावों को काव्य का विषय बनाकर विद्यापति एक ठोस व्यक्तित्व की छाप छोड़ गए हैं तो यह भी बात समझ में आने लगती है कि विद्यापति के काव्यों का सम्यक् अध्ययन कदाचित अद्यावधि नहीं हो पाया है और यही कारण है कि विद्यापति जैसी सम्पन्न कृति को आलोचकों ने घोर शृंगारी कहकर एक ओर रख दिया है। इस समस्त पृष्ठ भूमि को ध्यान में रखकर हमने विद्यापति के मूल्यांकन पर कई दृष्टियों से विचार किया और इस समस्त अध्ययन का फल यह निकला कि उनके व्यक्तित्व का एक विशिष्ट पहलू स्पष्ट हुआ जिसे हम इस निबन्ध के रूप में विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का साहस कर रहे हैं। विद्यापति को किसी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर न सोचने वाले आलोचक हमारे इस कथ्य पर नाक भौं सिकोड़ सकते हैं परन्तु इन मतभेदों को हम पाठकों के निर्णय पर छोड़ अपनी बात खुलकर कहना चाहेंगे ताकि विद्यापति जैसे अमर कवि का एक मौलिक एवं दिव्य व्यक्तित्व सामने आसके जो आज तक धूमायित बनाकर उपेक्षा प्राप्त कर दिया गया। आशा है विद्वान बिना किसी पूर्वाग्रह के हमारी बात वैसी ही समझकर उसे अन्यथा न लेने की कृपा करेंगे।

मिथिला का गर्व गौरव चिर स्मृतव्य है। अत्यन्त प्राचीन गौरव भूमि मिथिला एक ओर राजर्षि जनक की जन्म भूमि है, (जिसके पास स्वयं शुकदेव जैसे महापंडित ज्ञान प्राप्त करने आए थे और कहते हैं जिसका एक हाथ स्त्री के वक्ष पर और दूसरा जलती अग्नि में रहता था) तो दूसरी ओर मिथिला को

जगज्जननी सीता जैसी महिमामयी नारी को जन्म देने का श्रेय प्राप्त है । मैथिल कोकिल विद्यापति इसी पुण्यशीला धरती के प्राणवान कवि थे ।

विद्यापति को लेकर हिन्दी साहित्य के अनेक विद्वानों ने अनेक प्रश्न खड़े किए हैं, जिनमें कई महत्व-पूर्ण ज्ञातव्य उनकी जन्म भूमि, समय, स्थान आदि बातों के विषय में हैं । महाकवि कालिदास की भांति मैथिल कोकिल विद्यापति भी एक ही साथ कई प्रदेशों के कवि माने जाते रहे हैं । जैसे बंगाल वाले उन्हें अपना कवि मानते हैं और मिथिला वाले अपना । परन्तु जन श्रुतियों से परे हटकर अन्तर्साक्ष्य और बहि-र्साक्ष्य को दृष्टि में रखकर सोचने वाले कई विद्वानों ने उनके जीवन के सूत्रों पर विचार किया है और अब यह बात कई विद्वानों ने उनके जीवन के सूत्रों पर विचार किया है और अब यह बात अत्यन्त निर्भ्रांति हो गई है कि वे बंगाली न होकर मैथिल ब्राह्मण थे ।

जहां तक विद्यापति के ज्ञान, विद्या, और प्रतिभा का प्रश्न है यह बात असंदिग्ध है कि उन्हें अपने जीवन में ही अनेक बार अभूतपूर्व सम्मान मिले तथा उन्हें अभिनव जयदेव, महाराज, पंडित, सुकवि कंठहार, राज पंडित, खेलन कवि, सरस कवि, नव कवि शेखर, कविवर, सुकवि जैसे विरुद प्राप्त हुए । इन उपाधियों से स्पष्ट है कि वे अपने समय के उदग्र, प्रतिभा सम्पन्न और ख्याति लब्ध कवि थे । अपने काव्य के लिए विद्यापति स्वयं इतने आश्वस्त थे कि उसका अनुमान विद्वान इस चतुष्पदी से लगा सकते हैं—

वालचंद विज्जावइ मासा
दुहु नहीं लागइ दुज्जन हासा
ओ पर मेसुर हर सिर सौहाई
ई णिच्चई पायर मन मोहइ

उक्त चतुष्पदी से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान होते हुए भी केशवदास की भांति उन्होंने लोकभाषा को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा । अपने काव्यों की भाषा पर उन्हें स्वयं बहुत गर्व था ।

अपने जीवन काल में विद्यापति ने बारह कृतियों की रचना की । ये कृतियां हैं—भू परिक्रमा, पुरुष परीक्षा, लिखनावली, विभागसार, शैव सर्वस्वसार, गंगा वाक्यावली, दुर्गा भक्ति तरंगिणी, दान वाक्यावली, गयापत्तनक, वर्षकृत्य पाण्डव विजय आदि । उनकी कीर्तिलता अपभ्रंश में और कीर्तिपताका अपभ्रंश और संस्कृत दोनों में विरचित हैं तथा विद्यापति पदावली मैथिल भाषा में । अपनी पदावली में उन्होंने जो गीत लिखे हैं, कहते हैं उनके माधुर्य पर गद्‌गद् हो चैतन्य उन्हें गाते गाते मूर्छित हो जाते थे ।

गीति तत्वों की दृष्टि से भी विद्यापति की पदावली स्वयं में एक दिव्य कृति है । गीति काव्य में व्यक्ति तत्त्व, गेयता, संक्षिप्ता प्रेम की उत्कटता, अभिव्यक्ति की तीव्रता, भावोन्माद तथा आशा निराशा की धारा अबाध गति से प्रवाहमान रहती है साथ ही कवि की विषयानुभूति एवं व्यापार एवं उसके सूक्ष्म हृदयो-द्गार उसके काव्य में संगीत के अपूर्व मार्दव में व्यक्त होते हैं । विद्यापति के काव्य में व्यक्तिगत विचार नहीं के बराबर हैं परन्तु इसमें गीत काव्य के उक्त सभी गुणों के साथ भावोन्माद की प्रचण्ड धारा वर्षाकालीन तीव्र प्रवाहिनी के वेग से किसी भी प्रकार कम नहीं है ।

राधा कृष्ण तथा उनकी अनेक लीलाएं ही उनकी पदावली के विषय हैं । उनके काव्य में शृंगार का प्रस्फुटन स्फुट रूप में मिलता है । शृंगारिक पदों में अनुभूति की तीव्रता गेयता से समन्वय कर उन्हें

विदग्ध गीतकार ठहराती है। गीति काव्य की दृष्टि से हम उन पर अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ उनकी पदावली के आधार पर हम उनका व्यक्तित्व निर्धारित करना चाहते हैं।

विद्यापति के पदों को प्रमुख रूप से हम तीन भागों में बांट सकते हैं—

१—शृंगारिक

२—भक्ति रसात्मक तथा

३—विविध विषयक पद

विद्यापति के जितने पद राधाकृष्ण के वर्णन सम्बन्धी अथवा नायक नायिकाओं पर लिखे गए हैं, सब शृंगारिक हैं। महेशवाणी, नचारियां दुर्गा गौरी तथा गंगा से सम्बद्ध पद दूसरी श्रेणी में एवं प्रहेलिका कूट आदि पद और शिव सिंह युद्ध वर्णन तृतीय श्रेणी के अंतर्गत आते हैं।

इन सभी पदों को लेकर विद्वानों ने उनके लिए एक भारी विवादास्पद प्रश्न यह खड़ा किया है कि क्या विद्यापति भक्त कवि थे या शृंगारिक ? अब तक इसी प्रश्न को लेकर आलोचकों ने कई पुस्तकें लिखी हैं और इन पदों के आधार पर सबने यही निर्णय लिया है कि विद्यापति घोर शृंगारिक कवि थे।

डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। उन्हें तो सद्य स्नाता और वयः सन्धि के चंचल और कामोद्दीपक भावों की लड़ियां गूंथनी थीं। वयः सन्धि में ईश्वर से सन्धि कहां ? सद्य स्नाता में ईश्वर से नाता कहां ? अभिसार में भक्ति का सार कहां ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं।"

डॉ० वर्मा जैसे प्रबुद्ध आलोचक ने विदित नहीं यह निर्णय किस आधार पर लिया है। इस सम्बन्ध में हमारा उनसे गहरा मतभेद है।

श्री विनय कुमार सरकार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, गुणानन्द जुयाल, श्री कुमुद विद्यालंकार—सभी ने उनके भक्त होने में बाधा उपस्थित की है। श्री विद्यालंकार कुमुद लिखते हैं:—"ध्यान पूर्वक विचार करने से संधिकाल के परम रसिक कवि विद्यापति को भक्त कवि की श्रेणी में रखना केवल भ्रम ही नहीं कवि के साथ अन्याय भी होगा। निश्चय ही कवि ने राधाकृष्ण के नामों का उपयोग भक्ति के लिए नहीं किया है।"

आलोचकों के उक्त सभी निष्कर्षों से हमारा मतभेद है। हम नहीं समझते कि इन विद्वानों ने तटस्थ होकर तथा विद्यापति का गहराई से अध्ययन कर यह निर्णय दिया हो। वास्तव में विद्यापति को घोर शृंगारिक मानना उनकी अन्तःचेतना, व्यक्तित्व, उनके दर्शन तथा पृष्ठभूमि जन्य सभी मूल तत्वों की भारी अवहेलना होगी।

विद्यापति भक्त थे या शृंगारिक इसको समझने के लिए हमें उनके विचार-दर्शन, अंतःचेतना की पृष्ठभूमि, जीवन के मूलतत्व तथा उनके पूर्ववर्ती साहित्य की परंपरा का अध्ययन करना होगा। हम समझते हैं, आलोचकों ने उन्हें घोर शृंगारिक ठहराने के अब तक जो भी निर्णय लिए हैं वे केवल उनकी पदावली के पाठ और उनके रचना विषय को लेकर ही लिए हैं। कवि के मूल तत्व, साहित्य की धारा तथा उनकी तत्कालीन मुख्य प्रवृत्तियों पर उन्होंने कदाचित ही विचार किया हो। यदि विद्वान आलोचक विद्यापति के समय की धार्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक धाराओं का गहराई से अध्ययन करते तो वे विद्यापति के व्यक्तित्व

और कर्तव्य के साथ न्याय कर पाते और शायद तब स्थिति वह नहीं होती, जो आज है और हमारी यह निश्चित मान्यता है कि तब उनके हाथ से मिथिला के अमर कवि का इतना अहित भी नहीं होता। किसी के काव्य को शृंगारिक कहना और बात है (और उससे हमें कोई आपत्ति भी नहीं) पर उसे केवल ऊपरी दृष्टि से देखकर उनके काव्य को कामक्रीड़ा जन्य विलास की सामग्री आदि कहकर लांछित करना दूसरी बात है। एक बात में मूल्यांकन है और दूसरी बात में उसके प्रति किया गया लांछन है जिसे वस्तुतः किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत निबंध में विद्यापति के सृजन की विभिन्न परिस्थितियों के अंतराल में जाकर विशिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसमें विद्यापति सम्बन्धी पूर्व मान्यताओं के प्रतिकूल अनेक तथ्य मिलेंगे। हिन्दी साहित्य की १३वीं तथा १४वीं शताब्दी की साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठ भूमि का अध्ययन कर यदि विद्वान आलोचक विद्यापति के काव्य का मूल्यांकन करते तो शायद उन्हें "घोर शृंगारी" का खिताब न मिलता। हमारे विचार से विद्यापति एक भक्त कवि थे और शृंगार उनका वर्ण्य विषय था और इस शृंगार वर्णन के माध्यम से ही उन्होंने अपने अपने कतृत्व को भक्त के रूप में प्रस्तुत किया है। विद्वानों के परितोष के लिए हम अग्रांकित सारी सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के बाद बौद्ध धर्म महायान और हीनयान इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। हीनयान, हीन माना गया और महायान क्रमशः मंत्रयान, वाममार्ग एवं वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। इसी मंत्रयान के प्रसिद्ध आचार्य नागार्जुन थे और नागार्जुन के "शून्यवाद" का विकसित रूप "सहजयान" था। सिद्ध सिद्धान्ततः सहजयानी थे। इसमें जंत्रमत्र, डाकिनी, पूराकिनी, अभिसार यक्र पूजा, पंच मकार आदि का विकास हुआ। भैरवी चक्र और मैथुन आदि भी इसमें शामिल थे। मैथुन छह प्रकार की सिद्धियों का दाता था। साधकों ने इसीलिए इसे महासुख नाम दिया। यही इसकी अंतिम अवस्था थी। बौद्ध-दर्शन के हीनयान के विकसित रूपों की परम्परा अबाध रूप से चल रही थी। तांत्रिकों की यह महासुख की भावना का सिद्धान्त बौद्धमत की निर्वाण की भावना से विकसित हुआ है। अब मैथुन के लिए स्त्री की आवश्यकता हुई, अतः उसका महत्व बढ़ा। इस महासुख का बड़ा रहस्यमय वर्णन मिलता है। यह मुद्रासाधना (स्त्री साधना) से मिलता जुलता है। ये मुद्राएं-कर्ममुद्रा, महामुद्रा, धर्ममुद्रा तथा समयमुद्रा चार प्रकार की हैं। इन मुद्राओं से जो आनंद मिलता है, वह भी आनंद, परमानंद, विरमानंद और सहजानंद आदि चार प्रकार का है। इस प्रकार की स्त्री साधना ही इसमें प्रमुख थी। यद्यपि साहित्यिक सिद्धों ने वज्रयान से विमुख होकर स्त्री को व्यर्थ बताया पर स्त्री की भावना दबे रूप से पलती रही और इसीलिए संसार रूपी विष की मुक्ति के लिए स्त्री रूपी विष को परमावश्यकता बताई गई। "विषस्य विषमौषधम्"। इसलिए भोग में निर्वाण की भावना सिद्ध साहित्य में देखने को मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास रखने के कारण ही सिद्धों का यह सम्प्रदाय "सहजयान" कहलाता है।

इसी सहजयान की यह परंपरा साहित्य में आगे बढ़ी और साधना की इस धारा के इस सम्प्रदाय का प्रभाव वैष्णव धारा पर भी पड़ा। वैष्णव धारा के कवियों ने इस बौद्ध सहजयान को वैष्णवी रूप में प्रतिष्ठित किया। सहजयान के इस वैष्णवीकरण पर अभी तक विद्वानों ने विचार नहीं किया है। वैष्णव कवियों ने जो भी प्रेम गीत गाए है, उनमें ईश्वर के प्रति प्रेम या तो स्वकीया प्रेम का आदर्श लेकर चला या परकीया प्रेम का। पर सहजयान की स्त्री साधना दोनों में विद्यमान रही।

इन दार्शनिक तत्वों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बौद्ध सहजयान में यौगिक क्रियाएं ही मुख्य थीं। उसके दार्शनिक तत्व बौद्ध महायान के सिद्धान्त थे। वास्तव में गुह्य साधना काम क्रीड़ाजन्य आनंद को अलौकिक यौगिक आनंद में परिणित करने के लिए ही की जाती थी। इस प्रकार इस स्त्री साधना के तत्व से परकीया प्रेम को धीरे धीरे सफलता मिलने लगी और उसका प्रभाव चण्डीदास के प्रेम गीतों पर देखा जा सकता है। चण्डीदास, कहते हैं, रामा नामक एक धोबी की स्त्री से प्रेम करते थे जो सहजिया सम्प्रदाय का ही प्रभाव था, परन्तु यह केवल किंवदन्ती ही कही जाती है और इतिहास इस तथ्य की पुष्टि नहीं करता। जो हो, पर इतना अवश्य सत्य है कि चण्डीदास सहजिया साधक थे। यों भी बंगाल का चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय मधुर भाव की उपासना को ही प्रधानता देता है। सिद्धों की इस स्त्रीसाधना का प्रभाव इस सम्प्रदाय पर अवश्य पड़ा होगा, क्योंकि माधुर्य भाव मात्र स्त्री भाव को ही प्रधानता देता है। काम क्रीड़ा जन्य यह आनंद की साधना इसी काल में आगे बढ़ी। इसी साधना के साथ शिव और शक्ति का सम्बन्ध जुड़ा, जो बौद्ध दर्शन में प्रज्ञा और उपाय के रूप में था। यही परंपरा आगे चलकर रस एवं रति के रूप में कृष्ण व राधा बन कर वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में उतरी। ब्रज में कृष्ण को रसेश कहा गया है और राधा-कृष्ण के अंतरंग विहार को अत्यन्त गुह्य माना गया है। निम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी और चैतन्य गौडीय सम्प्रदाय सभी का मूल भाव माधुर्य है। इस स्त्री भाव की साधना को ब्रज में वृन्दावन भाव और इस रस को ब्रज रस कहा जाता है। तथा यह विहार क्रीड़ा अन्तरंग लीला का रूप धारण किए है। इस प्रकार सहजयान का वैष्णवी स्वरूप रस और रति, राधा और कृष्ण और लीला आदि तत्वों के रूप में परिणित होता दिखाई पड़ता है। यही राधा कृष्ण इन भक्त कवियों के वर्ण्य विषय बने और जयदेव, विद्यापति ने राधाकृष्ण के प्रेम गीत गाए। विष्णु के दस अवतारों में राम व कृष्ण ही काव्य के प्रमुख प्रेरक बने और गौडीय वैष्णव काव्य के आदि कवियों ने कृष्ण को अपनाया। राम को कवियों ने मर्यादा पुरुषोत्तम कहकर उनका नायकत्व स्थापित किया और कृष्ण को लीलाधारी। परन्तु रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय और रामभक्ति काव्य में माधुर्योपासना पर जो शोध कार्य सामने आए हैं उनसे राम के जीवन में माधुर्य तत्व और राम भक्ति में मधुरोपासना का एक नया अध्याय खुला है। और कृष्ण का जीवन तो माधुर्य प्रेरित था ही। अतः इन सभी बातों से माधुर्य भाव की अति व्यप्ति स्पष्ट होती है। उक्त कथ्यों से निष्कर्ष यह निकला कि सहजयान की यौगिक साधना ने इस वैष्णव प्रेम साधना को अत्यन्त प्रभावित किया है अतः यह कहना असत्य होगा कि चैतन्य का सम्प्रदाय पूर्ववर्ती सहजिया साधना से प्रभावित नहीं था। उसका परिनिष्ठित रूप जैसा भी है, सबको उसकी भी पर्याप्त जानकारी होनी चाहिए।

वैष्णव सहजयान ने प्रेम को मुख्य सिद्धान्त के रूप में अपनाया। गुरु की भक्ति भी इन कवियों में बौद्ध सहजयान की ही भांति है।

जब बंगाल में पालवंश के बाद सेनवंश राज्य करने लगा तो सहजिया मत के महान कवि जयदेव का उद्भव हुआ जिन्होंने राधाकृष्ण की प्रेम लीला को वर्ण्य विषय बनाकर काव्य को शृंगारा। विद्यापति व चण्डीदास समकालीन कवि थे। इन्होंने काव्य में परकीया प्रेम का ही आदर्श लिया।

महासुख की कल्पना इन कवियों में भी मिल जाती है। ये कवि महासुख को ब्रह्म की भांति मानते हैं। राधाकृष्ण की मिलन स्थिति को शिव व शक्ति की मिलन स्थिति के समान कहा गया है। दोनों का अलौकिक प्रेम संयोग ही सहजावस्था है। जीव का ईश्वर से प्रेम संयोग हो जाना ही अलौकिक आनंद

प्राप्त करना है। इस प्रकार इन कवियों ने बौद्ध सहजयान की योग क्रियाओं से परिपुष्ट काम भाव से "प्रेम" तत्व ले लिया और वही प्रेम अब चण्डीदास तथा विद्यापति द्वारा आध्यात्मिकता में ढाला जाने लगा। ये परम ईश्वर को मानव-प्रेम में खोजने लगे। अतः राधा और कृष्ण ही इन भक्त कवियों के आधार बने। राधा को कृष्ण की शक्ति जानकर कृष्ण को पारब्रह्म के रूप में माना गया। कृष्ण में भोक्ता और भोग्य दो तत्व अभिहित किए गए। दोनों का सम्बन्ध नित्य तथा अक्षर माना गया। राधा भोग्य रहीं, कृष्ण भोक्ता और वृन्दा का मनोहारी वन ही इनका लीलाधाम समझा गया। इस प्रकार इन दोनों के इस अंतरंग प्रेम को विद्यापति ने मानवीय प्रेम के रूप में प्रस्तुत किया और प्रेम की भावना परकीया इसलिए रखी गई कि उसमें असाधारण उत्कटता हो। निष्कर्षतः विद्यापति ने इस धारणा को आदर्श बनाया कि भक्त को भगवान से ऐसा ही प्रेम करना चाहिए जैसा परकीया अपने प्रेमी से करती है। उक्त समस्त विश्लेषण इसलिए प्रस्तुत किया गया है कि विद्यापति की कवि परंपरा स्पष्ट हो जाय और विद्वानों के सामने यह बात खुले कि वे किस सम्प्रदाय के दर्शन से प्रभावित कवि थे।

"विद्यापति भक्त थे"–इस महत्वपूर्ण स्थापना की अभिसिद्धि के लिए हम और अनेक मौखिक मान्यताओं को विद्वानों के सामने रखना चाहते हैं। हो सकता है ये निष्कर्ष उन्हें भी रुचें और विद्यापति सम्बन्धी पूर्वाग्रह नई मान्यता में परिणित हो जायं। इसके लिए हम कुछ अग्रांकित निर्णय प्रस्तुत कर रहे हैं:—

१–विद्यापति सगुण वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय के कवि थे।

२–सहजिया दर्शन से प्रभावित होकर ही उन्होंने प्रेम तत्व या परकीया प्रेम को जीवन का लक्ष्य समझा।

३. इस संदर्भ में हम डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के "साहित्य के माध्यम से धार्मिक संबंध" नामक निबंध में प्रकट किए कुछ विचारों को प्रकट करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहे-"मध्यकाल के भक्त कवियों को समझने के लिए हमें थोड़ा सा वर्तमान काल से निकलना पड़ेगा। हम जिस वातावरण में शिक्षित हुए हैं, उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने हमारी समस्त प्राचीन अनुश्रुतिक धारणाओं से हमें अलग विच्छिन्न, कर दिया है। यदि हम संपूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गए होते तो हम आधुनिक ढंग से सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकते। परन्तु हम पूर्ण रूप से अनुश्रुतियों से विच्छिन्न भी नहीं हुए हैं, और उन्हें जानते भी नहीं हैं नतीजा यह हुआ कि श्री कृष्ण का नाम लेते ही हम पूर्णानन्द घन विग्रह की सोचे बिना नहीं रहते और फिर भी गोपियों के साथ उनको रास लीला की बात समझ नहीं सकते अर्थात् श्री कृष्ण को तो हम परम देवता का रूप मान लेते हैं। और आगे चलकर हम सारी कथा को तदनुरूप नहीं समझ पाते। इस अधकचरी दृष्टि का परिणाम यह हुआ कि हम वैष्णव कवियों की कविता को न तो उसके तत्ववाद निरपेक्ष रूप में देख पाते हैं और न तत्ववाद सापेक्ष रूप में। हम झट कह उठते हैं कि भगवान के नाम पर ये क्या ऊल जलूल बातें हैं। यदि सूरदास के श्री कृष्ण और राधा, कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भांति प्रेमी और प्रेमिका होते तो बात हमारे लिए सहज हो जाती। पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमें उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा ही है, इसलिए हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्त की दृष्टि से ही अपना सकते हैं। हम मध्यकाल के भक्त कवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं और आधा सूधा जो कुछ हाथ लगता है उसी से या तो झुंझला उठते हैं या गद्गद् हो जाते हैं।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि भक्त कवि की कृतियों का सही मूल्यांकन करने में हम आधुनिक दृष्टि का उपयोग न करें। इस भ्रमपूर्ण उपनयन को उतारने के बाद ही हम उनके काव्य और व्यक्तित्व को आंकने की अनाविल दृष्टि पा सकते हैं अपने एक और लीला और भक्ति निबंध में द्विवेदी जी ने चैतन्य देव और राय रामानंद का एक संवाद प्रस्तुत किया है। चैतन्य देव ने राय रामानंद से जब पूछा, "विद्वन्, तुम भक्ति किसे कहते हो?" उन्होंने भक्ति के लिए क्रमशः स्वधर्माचरण, प्रेम, कर्मा का अर्पण, दास्य प्रेम, सख्य प्रेम, कान्ता भाव आदि उत्तर दिए पर अंत में राधाभाव ही प्रमुख उत्तर रहा। महाप्रभु ने इस अंतिम उत्तर के लिए उनसे प्रमाण मांगा। प्रमाण में राय रामानंद ने गीत गोविंद का ही मत उद्धृत किया और कहा—"भगवान श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्यान्य व्रज सुन्दरियों को त्याग दिया था। अतः कान्ता भाव में राधा भाव ही सर्व श्रेष्ठ ठहरा। यही राधा भाव जयदेव ने भागवत पुराण परपरा से अलग रखा है। भागवत में कहीं राधा का नाम तक नहीं है।

हमारी विद्यापति सम्बन्धी इस मान्यता की पुष्टि में हम आचार्य द्विवेदी के एक उद्धरण को और रखना चाहेंगे जिसमें विद्वान आलोचकों ने जयदेव से प्रभावित विद्यापति के लक्ष्यों तथा मूल तत्वों का स्पष्टीकरण किया है— भगवान में जितने संबन्धों की कल्पना हो सकती है उनमें कान्ता भाव का प्रेम ही श्रेष्ठ माना गया है। वैष्णव भक्तों ने इस सम्बन्ध को इतने सरस ढंग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अन्य साधारण अलौकिक रस का समुद्र बन गया है।"

इस बात से यह धारणा स्पष्ट होती है कि कान्ता भाव का वैष्णव भक्तों से कितना गहरा लगाव रहा है। वस्तुतः विद्यापति को यह परंपरा जयदेव से थाती के रूप में मिली जिसका प्रमुख लक्ष्य था प्रेम (परकीया प्रेम) वर्णन और हम विद्यापति को इसी मार्ग पर दृढता से बढ़ता हुआ पाते हैं।

इस तरह यह निष्कर्ष निकला कि सगुण वैष्णव सहजयान मत का यह प्रेमी कवि परकीया प्रेम में ही मोक्ष और महासुख की कल्पना करता था।

प्रायः आलोचक वर्ग उन्हें उत्तान शृंगारी कवि सिद्ध करने के लिए उनके इस पद को उद्धृत करते हैं—

नीवी बंधन हरि किए दूर
एहो पये तोर मनोरथ पूर
विहर से रहसि हेरने कौन काम
से नहि सह वसि हमर परान
परिजनि सुनि सुनि तेजब निसास
लहु लहु रमह सखी जन पास

उक्त पद में कवि ने राधा-कृष्ण के मिलन एवं संभोग का वर्णन किया है जिसे अश्लील कहा जाता है, पर आलोचक यही नहीं सोचते कि साधना जन्य स्थितियों को एवं मिलन महानुभव को वर्ण्य विषय बनाने वाले इस कवि को उक्त पद लिखने में क्या झिझक हो सकती थी? उनके लिए यह सभी वर्णन महासुख की कामना का प्रयास था। ऐसे वर्णनों को अश्लील कहने तथा कवि को विलास की सामग्री मात्र प्रस्तुत करने वाला कहने के पूर्व हमें कुछ और महत्वपूर्ण बातों पर भी विचार कर लेना चाहिए। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

विद्यापति ने राधाकृष्ण का प्रेम स्वकीया का नहीं अपनाया, क्योंकि वैवाहिक बंधनों व नित्य सहवास से उसमें तीव्रता नहीं रहती। हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि में परकीया प्रेम पर एक अभिमत प्रकट किया गया है—"प्रेम तो परकीया का ही आदर्श है जिसमें सारे सामाजिक बंधनों का तिरस्कार कर विविध उपायों से परकीया अपनी आत्म विभोरावस्था में पर पति से मिलने में कोर कसर नहीं उठा रखती। यह प्रेम किसी स्वार्थ के लिए नहीं होता, प्रेम के लिए ही होता है।" और विद्यापति ने इसीलिए परकीया को अपने काव्य का आदर्श बनाया है।

राधा और कृष्ण के इसी स्वरूप को वर्ण्य विषय बनाकर इस भक्त कवि ने काव्य में प्रस्तुत किया ताकि उसमें भावोन्मेष तथा प्रेम की उत्कटता चरम पर हो और वह परम तन्मयता से उसमें डूबा भी है। राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग के जितने चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं वे अत्यन्त मुक्तता और तल्लीनता से लिए हैं। उसे क्या पता था कि कालान्तर में विद्वान उसकी परंपरा, सम्प्रदाय, पृष्ठभूमि, जन्म परिस्थितियां और उसके जीवन दर्शन पर सोचे बिना ही उसको घोर शृंगारिक या विलासपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करने वाला कवि कहेंगे। और भी यों साधक को इन बातों की कभी चिन्ता नहीं होती। भावोन्मेष में वह रति भाव को भी बड़े सामर्थ्य एवं मुक्तता से कह जाता है।

परकीया के चित्रण में इन वैष्णव सहजयानी भक्तों को किसी सामाजिक अनुशासन का भी क्या भय हो सकता था और इसीलिए विद्यापति के साथ साथ चंडीदास के संयोग वर्णनों में भी विद्यापति की भांति अश्लीलता (विद्वानों के शब्दों में) आ गई है। वे तो उन्मुक्त हो कर महासुख की कल्पना में ही यह सब लिखते हैं।

विद्यापति को उत्तान शृंगार जयदेव द्वारा ज्यों का त्यों परम्परा में मिला। क्या जयदेव के चित्रण अश्लील नहीं कहे जा सकते ?

विद्यापति के लिए राधा-कृष्ण की संयोग लीला जीव एवं ईश्वर की मिलनावस्था का प्रतीक थी।

चैतन्य ने तो अपने आपको राधा ही मान लिया था उनका ध्येय भी स्वयं पर कृष्ण को रिझाना था। वे कृष्ण के आकर्षण में तल्लीन थे।

कृष्ण के लिए चैतन्य को भी विद्यापति ने राधा की तरह वियोग में घंटों रोते और मूर्छित होते देखा तो उनमें भी इस प्रवृत्ति ने तीव्रता से घर किया। पर विद्यापति ने यह राधा भाव, सखी भाव के रूप में ग्रहण किया है। वैष्णव कवियों ने भी इस सखी भाव को ही अधिक अपनाया है। विद्यापति स्वयं को कृष्ण की सखी के रूप में ही कल्पित करते थे। ऐसी सखी, जो स्वयं कृष्ण से संयोग नहीं चाहती थी, वरन् वह कृष्ण और राधा की प्रेम क्रीड़ा, संयोग क्रीड़ा और अंतरंग लीला को अव्याहत देख कर महासुख प्राप्त करती रहे, यही उसका अभीष्ट था।

वृन्दावन में होने वाली नित्य लीला ही उनके लिए शाश्वत महासुख की कल्पना थी। चैतन्य गौड़ीय सम्प्रदाय और उनके समकालीन व्रज के अन्य सभी सम्प्रदायों में इस महासुख की लीला को असाधारण महत्व दिया गया है। कृष्ण के आठ सखा और राधा की आठ सखियां ही उस लीला में प्रवेश पाने की अधिकारिणी हैं। कृष्ण को ईश्वर के रूप में और राधा को उनकी परम आद्या शक्ति के

रूप में ग्रहण कर जीव को उस माधुर्य लीला देखने को लालायित बताया गया है। उस लीला में संयोग शृंगार का सुन्दर रूप देखने को मिलता है। उसमें शृंगार की कहीं कोई उत्तानता नहीं मानी जाती। उस लीला में किसी को भी प्रवेश पाने का अधिकार नहीं। केवल राधा की अन्तरंग सखियां ही उसमें जाने की अधिकारिणी मानी गई हैं। विद्यापति ने इसीलिए सखी भाव को ग्रहण कर निर्भय होकर अभिसार, शृंगार, संयोग आदि के मुक्त वर्णन किए हैं। ये वर्णन केवल अपने काम्य को रिझाने के लिए ही हैं और इसीलिए इनमें अभिव्यक्ति की सरलता, प्रगाढ तन्मयता और प्रेम की पूर्ण उत्कटता है। उसमें कहीं भी झिझक और संकोच को स्थान नहीं है।

विद्यापति चैतन्य की भांति राधा और कृष्ण की प्रम लीला की झांकी पाने के लिए जिज्ञासु रहते थे और इसी लालसा पूर्ति के चित्र उनके काव्य में है जो उनकी महासुख दशा के मार्मिक स्वप्न और तज्जन्य आध्यात्म के संदेश देते हैं। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या आंखों देखा वर्णन करने या अश्लील वर्णन करने के लिए ही विद्यापति ने सखी भाव अपनाया था? तो उसके लिए कहा जा सकता है कि वे 'जीव की सत्ता भगवान से भिन्न मानते थे। जीव और भगवान कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए जीव को भगवान की लीला देखने को मिल जाय तो वह उसके लिए एक दुर्लभ प्राप्ति होगी। यों यह जीवात्मा कृष्ण की तदस्थ शक्ति अर्थात प्रकृति ही है और वह पुरुष है इसका उसे अभिमान है अतः शक्ति को प्राप्त करने के लिए एवं पुरुषत्व का दंभ दूर करने के लिए ही उन्होंने यह सखी भाव अपनाया। यह कहा जाता है कि व्रज की यह लीला इतनी महान और गोपनीय है कि व्रज में हुए ऐतिहासिक राधा कृष्ण को भी इसमें प्रवेश का अधिकार नहीं है। लेकिन विद्यापति वृन्दावन के इन्हीं ऐतिहासिक राधा-कृष्ण को लेकर उस अनिर्वचनीय लीला का स्मरण, जो महासुख मयी बनकर सदैव हुआ करती है, इन्हीं लीलाओं के वर्णन में तीव्रानुभूति लाकर करना चाहते थे। यही उनके लिए परम-सुख था। अतः उनका यह लौकिक लीलाओं का ज्ञान, जिन्हें हम अस्वस्थ, अश्लील या उत्तान शृंगार कहते हैं, वस्तुतः अलौकिक लीला का ही गान था।

विद्यापति ने राधा-कृष्ण की लीलाओं का सखी रूप में भावनकर यह जो यथार्थ वर्णन किया है, यह कभी अस्वाभाविक नहीं हो सकता, क्योंकि साधारण स्त्रियों में भी अभिसार, शृंगार और उत्कट काम भावनाओं का स्थायी रूप में होना प्राकृतिक है। इसलिए यदि विद्यापति ने लीलाधारी की प्रणयावस्था अथवा राधाकृष्ण के संयोग के चित्र प्रस्तुत किए, नायक को उत्तेजित करने के उदाहरण उपस्थित किये, सद्यः स्नाता को निरखा, वियोग में विरह पीड़ित दिखाया और नखशिख वर्णन कर वयः सन्धि कराई तो क्या अनुचित किया। विद्यापति का जीवन दर्शन तो कहता है, यह सब उन्होंने उत्कृष्ट साधक या महासुख के प्रति असाधारण जिज्ञासु या भक्त बनकर ही यह सब किया।

विद्यापति को असाधारण विश्वास था कि लौकिक लीला के गायन से ही सखी रूप में जीव नित्य लीला में प्रवेश पा सकता है अन्यथा महासुख की लीलाओं में पुरुष को लीला 'भवन के द्वार पर ही 'प्रवेश निषेध' देखकर प्रवेश के लिए अत्यन्त सशंकित हो जाना पड़ेगा! वस्तुतः भक्त अद्वैतवादियों की तरह स्वयं को भगवान में मिलाकर एकत्व नहीं चाहता। वह तो अपना अस्तित्व स्वतंत्र रखना चाहता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व से ही भगवान की लीलाओं का आनंद उठाना चाहता है।

एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्य यह भी सामने आता है कि चैतन्य के बाद वैष्णव भक्त कवियों में यह विश्वास असाधारण गति से बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्ण का स्वरूप है, जो लौकिक भावना या लौकिक जीवन से मिला है। लौकिक जीवन में दूसरा तत्व रूप राधा का अंश है। अतः इस भावना ने और अधिक तीव्रता पकड़ी कि प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण है और प्रत्येक नारी, जो रूपवती है, राधा है और विद्यापति ने शिवासिंह तथा लखिमारानी को इन्हीं कारणों से निरन्तर अपने पदों में संबोधित किया है। इस प्रकार हिंदू तांत्रिकों का यह सिद्धान्त कि प्रत्येक पुरुष शिव है और हर नारी शक्ति, असत्य नहीं है। बौद्ध दर्शन में वही शून्य या करुणा, प्रज्ञा या उपाय के रूप में मिलता है। महाकवि विद्यापति ने इन्हीं सिद्धान्तों से प्रेरित होकर काव्य रचना की है। अतः यदि चैतन्य पर इन भावनाओं का तांत्रिकी से असर पड़ा है, तो विद्यापति पर भी यह सब होना अत्यन्त स्वाभाविक है।

विद्यापति के राधाकृष्ण विषयक इसी दृष्टिकोण का समर्थन कर उनका भक्त के रूप में व्यक्तित्व स्पष्ट करते हुए एक विद्वान आलोचक ने एक राधाकृष्ण विषयक धारणा का स्पष्टीकरण किया है। उनके इस अवतरण से इस बात को पूर्ण बल मिलता है कि विद्यापति का राधाकृष्ण विषयक दृष्टिकोण उनके काव्य में किस रूप में आया है। 'कृष्ण व राधा रस व रति हैं केवल रसिक ही इसे जान सकते हैं। पुरुष व स्त्री को पहले अपने को कृष्ण व राधा समझकर लौकिक रति करना चाहिए और धीरे धीरे लौकिक वासना को अलौकिक प्रेम में परिणित करना चाहिए। तब पुरुष को कृष्णत्व और स्त्री को राधात्व प्राप्त हो जायगा और लौकिक प्रेम अलौकिक प्रेम में बदल जायगा।'

इस प्रकार हमारे उक्त विश्लेषण से विद्यापति का कृष्ण और राधा सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है और यह विचार तथ्य के अधिक निकट पहुंचता है कि विद्यापति वैष्णव सगुण सहजिया सम्प्रदाय के कवि थे और इस संप्रदाय पर बौद्ध तथा हिन्दू दर्शन का ही प्रभाव था। वस्तुतः इस सम्प्रदाय की दो धाराएं मानी जा सकती हैं :—

१. एक वह, जो तांत्रिक प्रभाव से कम प्रभावित, शुद्ध सगुण वष्णव धारा है।

२. और दूसरी वह, जो तांत्रिक प्रभाव से पूर्ण प्रभावित, सगुण सहजिया वैष्णव धारा। इस तरह हम चैतन्य को पहली धारा का कवि तथा चण्डीदास और विद्यापति को पूर्णतया सगुण वैष्णव सहजयान धारा के अनुयायी कवि कह सकते हैं।

इस प्रकार वैष्णव सहजयान के अनुयायी भक्त कवि विद्यापति ने इसीलिए लौकिक व अलौकिक प्रेम को सामान्य स्तर पर रख समान महत्व दिया और अपनी पदावली में निर्भीक होकर शृंगारिक पद लिखे। क्योंकि वे जानते थे कि यदि लौकिक प्रेम में मनुष्य मानसिक संतुलन रखे और स्वय को अनुशासित करे, तो वह लौकिक प्रेम अलौकिक या दिव्य प्रेम में बदल सकता है।

विद्यापति प्रेम को काम का ही एक रूप मानते हैं और उनकी दृष्टि से काम ही महासुख प्राप्ति का एक मात्र माध्यम है। अतः यह बात समझ में आजाती है कि उन्होंने लौकिक प्रेम और काम आदि के इतने खुले चित्र क्यों प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः कवि का मन शृंगार के मूल भाव काम के चित्रण में इसीलिए खूब रमा।

सगुण वैष्णव सहजयान के भक्त कवि मनुष्य को ही देवता मानते हैं अन्य किसी को नहीं। उनकी धारणा है कि मनुष्य ही स्वयं कृष्ण का रूप है और उसे मानवीय लीलाओं के स्तर पर वर्णन करने में कोई संकोच अनुभव नहीं हो सकता। अतः इस धारा के अनुगामी जितने भी कवि हैं, वे सब कठोर साधक एवं भक्त हैं तथा उनके लिए काया साधना का असाधारण महत्व है। यही कारण है कि विद्यापति ने पूर्ण भक्त होते हुए भी पदावली में इस प्रकार की रचना की। ऐसे पदों के सृजन से इस सम्प्रदाय के कवियों के रचना-शिल्प एवं व्यक्तित्व पर किसी भी प्रकार की कोई आँच सामान्यतः नहीं ही आनी चाहिए। चन्डीदास यदि स्वयं रामा धोबिन से कहते थे कि 'हे देवी तुम मेरे लिए रहस्योद्‌घाटिनी हो, तुम मुझ शिव के लिए शक्ति के समान हो। तुम्हारा शरीर राधा का शरीर है।' तो क्या इन भावनाओं को मात्र कामवासना प्रधान ही कहा जायगा ? और विद्यापति ने यदि इस धारा की भक्ति में आकंठ निमग्न होकर नायिका के पथ में काव्य के गुलाब बिछाये तो क्या उनमें विशुद्ध कामवासना ही कार्य कर रही थी ? बस सोचने में हम, यहीं गलती कर बैठते हैं और विद्यापति की शृंगारिक रचनाओं को लेकर यह ऊहापोह खड़ा करने लगते हैं कि वे घोर शृंगारिक कवि थे। वास्तव में विद्यापति जिस सगुण सहजिया सम्प्रदाय के थे उसकी भक्ति सम्बन्धी अभिव्यक्ति का माध्यम ही शृंगार था और यही कारण था कि विद्यापति ने अपने वर्ण्य विषयों में शृंगार के उत्तान चित्रों के माध्यम से लौकिक रति को अलौकिकत्व प्रदान करने के लिए ही यह माध्यम अपनाया। आलोचक प्राय. उनके काव्य की ऊपरी टालमटोल करके ही उन्हें घोर शृंगारिक का खिताब दे देते हैं। कवि के जीवन-दर्शन और उसकी मूल परिस्थितियों के अन्तराल तक जाने का स्वल्प प्रयास भी नहीं करते। इसलिए आलोचकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे अनाविल दृष्टि जुटाकर एक बार फिर इस प्रतिभा सम्पन्न कवि के काव्य का अध्ययन करें। उसके काव्य का सम्यक् परिशीलन, यदि विद्यापति के राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रेमलीला विषयक दृष्टिकोण को समझ वैष्णव सगुण सहजयान के परिप्रेक्ष्य में हो, तो कवि के सम्बन्ध में स्थापित घोर शृंगारिक धारणा का सहज निराकरण हो सकेगा। भागवत परम्परा राधा से सम्बन्धित नहीं हो सकती। अतः विद्यापति के राधा-कृष्ण विषयक दृष्टिकोण के लिए हमें गीत गोविंद की परंपरा का ही आश्रय लेना पड़ेगा और इस परंपरा का सीधा सम्बन्ध भी वैष्णव सगुण सहजयान से ही था। वैष्णव सगुण सहजयान धारा के भक्त कवि होने से उनके द्वारा वर्णित शृंगार में सीमा, संकोच तथा मर्यादा जन्य वह पवित्रता (हमारे दृष्टि कोण से) नहीं रह गई जो हमें सूर के काव्य में देखने को मिलती है। यद्यपि उसकी पवित्रता में विद्यापति की ओर से आंशिक कमी भी नहीं थी परन्तु जीवन के व्यावहारिक पक्ष, एवं नैतिक मान्यता को आधार बनाकर जब हम उनके काव्य का मूल्यांकन करेंगे तो हमें उनका काव्य केवल उत्तान शृंगारिक ही शृंगारिक दिखाई पड़ेगा और उनका व्यक्तित्व केवल शृंगारिक बन कर ही रह जायगा। वस्तुतः उनके सम्प्रदाय के भक्ति जन्य सिद्धान्तों को आधार बनाकर हम उनके काव्य का अध्ययन करें, तो हमें स्पष्ट होगा कि उनके भक्ति सिद्धान्तों की तह में उनका सारा शृंगार मूर्छित पड़ा है।

उक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निर्णय निकला कि वैष्णव सगुण सहजयानी भक्त होने से सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आधार पर ही (जिन्हें हमने ऊपर स्पष्ट किया है) उन्हें अपनी पदावली की रचना करनी पड़ी। इसलिए महासुख के कामी भक्त कवि विद्यापति ने यदि अपनी शक्ति रूपी नायिका के पथ में गुलाब ही गुलाब बिछाए, सद्यःस्नाता को लुक छिप कर देखा, बिना कांटों के फूल खिलाए, राधा को

माध्यम से व्यक्त कर अपने साध्य को प्राप्त करें। उन्हें घोर शृंगारिक कहना क्या इस भक्त साधक का घोर अपमान करना नहीं होगा? क्या ऐसा कहकर हम उसके व्यक्तित्व, जीवन दर्शन और मूल परिस्थितियों के लिए अपनी भारी अनता प्रदर्शित नहीं करेंगे? उत्तर पाठक के विचारों पर ही छोड़ रहे हैं। यों हम आंख मूंद कर विद्यापति को कैसे शृंगारिक, मात्र काम और विलास की सामग्री प्रस्तुत करने वाला कह दें? यह बात दूसरी है कि जनता पर उनके काव्य का क्या प्रभाव पड़ा और अध्येताओं पर क्या? पर यह स्पष्ट है, उनके सम्प्रदाय ने उनके सृजन को कभी भी अश्लील करार नहीं दिया, अन्यथा चैतन्य की उनके पदों को परम तन्मयता से गा गाकर मूर्छित हो जाने वाली बात केवल मज़ाक बनकर रह जाती।

विद्यापति को घोर शृंगारिक सिद्ध करने में आलोचकों द्वारा कही इस अन्तिम बात को हम विज्ञ पाठकों के समक्ष रखकर प्रस्तुत विश्लेषण का समापन करना चाहेंगे। आलोचकों ने यह लिखा है कि विद्यापति ने अपने रचना काल में जितने भी शृंगारिक वर्णन लिखे उसका उन्हें अन्तिम समय में भारी दुःख हुआ। जिसे उन्होंने भगवान शंकर पर रची नचारियों में स्पष्ट किया—

जावत जनम नहि तुअ पद सेविनु जुवती मतिमय मेलि
अमृत तजि किए हलाहल पीयल सम्पद आपदहि भेलि

और अन्त में उन्हें बड़ी ग्लानि हुई—

सांझ क वेरि सेवकाइ मंगइत हेरइत तुव पद लाजे

और

कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ

उक्त पदों द्वारा कवि विद्यापति ने भगवान् शंकर को सम्बोधित कर अपनी लघुता स्पष्ट की है और कुछ पश्चाताप किया है, यह स्पष्ट होता है, पर इससे तो उनके भक्त के व्यक्तित्व को और असाधारण बल मिलता है।

प्रमाण के लिए, एक सशक्त उदाहरण लें; रामचरित मानस के रचयिता तुलसीदास जैसे महान् कवि का सृजन देखिये। पूर्ण मर्यादा संपृक्त एवं शृंगार की उत्तानता से एकदम असंपृक्त। रामचरित मानस साहित्य का रस सिद्ध काव्य है। तो फिर तुलसी की 'विनय पत्रिका' क्या है? दीनता, लघुता, मान मर्षता, भय, पश्चाताप, आत्मग्लानि और मनोराज्य से सने भावों का सुन्दर गीतकाव्य। पर उसको लिखने की उन्हें क्या आवश्यकता पड़ी थी? उन्होंने विद्यापति की भांति कहीं भी घोर शृंगार नहीं लिखा फिर काम का और वासनाओं का उन्हें क्या भय था? अपने उत्तम कर्मों को उन्होंने बुरा कहा। उन्हें स्वयं पर बड़ी आत्मग्लानि हुई और उन्होंने इस सारी आत्मवेदना को 'विनय पत्रिका' में उभारा तो इससे उनका भक्त मर कहां गया? इससे तो उन्हें और अधिक भक्त के रूप में वैशिष्ट्य प्राप्त हुआ है। अतः यदि इसे भक्त की विशालता और आराध्य के समक्ष स्वयं को छोटा मानने तथा उसके समक्ष अपने अपराधों को रखकर क्षमा याचना करने का बड़प्पन कहा जाय तो कौनसी असंगति है?

एक बात विद्यापति के लिए और कही जा सकती है कि वे वैष्णव नहीं, शैव या शिव भक्त थे क्योंकि उन्होंने नचारियों में शिव पर पद लिखे हैं, पर शिव के साथ गंगा पर भी तो पद लिखे हैं और उनके लिए

तो किंवदंति भी है कि अपने अंतिम समय में जब वे बीमार पड़े तो कहीं आ जा नहीं सकते थे। दुखी होकर उस भक्त कवि ने गंगाजी की प्रार्थना की कि वे उनके अन्तिम समय में स्वयं- चलकर एक अमृतमय स्पर्श दे दें; तो कहते हैं, भगवती-भागीरथी ने स्वयं कवि के द्वार पर जाकर लहरों का पावन स्पर्श इस भक्त को देकर उसका कल्याण कर दिया। इस दृष्टि से उन्हें शिव भक्त या शैव न कह कर गंगा का भक्त क्यों न कहा जाय ?

यों तुलसीदास जी ने अपनी कृतियों में अनेक देवताओं की स्तुति उपासना की है तो वे शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी एक साथ क्यों नहीं हो गये ? कहीं ऐसा करने से भक्त का संप्रदाय और उपास्य बदल सकता है ? ऐसा कहना केवल एक खींचातानी मात्र होगी। वस्तुतः वे तुलसी की ही भांति अपने संप्रदाय के महान कवि थे।

इसके अतिरिक्त महाकवि तुलसीदास का महासुख प्राप्त करने का माध्यम शृंगारिक नहीं था, वह सबका मन भावन था। जबकि हमारे आलोच्य कृति विद्यापति का माध्यम तो केवल मात्र शक्ति व शिव या राधाकृष्ण के हास-विलास, रति व अन्य लीलाओं का वर्णन आनन्द ही था। यही मार्ग उन्हें उचित जान पड़ा और परम्परा से यह मार्ग स्वीकार करने के लिए उन्हें बाध्य होना ही पड़ा। अन्यथा विद्यापति जैसा रस सिद्ध और प्रबुद्ध कवि क्या स्वयं अपने युग में इतना भी नहीं सोच सकता था कि आने वाली पीढ़ियां उसको अपनी इन कृतियों पर क्या उपाधियाँ देगी और उसके पदों के क्या २ अर्थ लगाये जायेंगे। जान बूझकर कोई कवि अपने रचना विषयों को किस प्रकार अश्लीलत्व की आग में झोंक सकता है ? वस्तुतः वे स्वयं अपने वर्ण्य विषय को औचित्य की सीमाओं में प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ मानते थे।

ये सभी बातें विद्यापति की पदावली को ही लेकर उठीं और संभवतः विद्वानों ने अपना निर्णय भी उनके पदों पर ही दिया है, पर हम आलोचकों के सामने विनम्रता से इस बात को भी रखने का प्रयत्न करना चाहते हैं कि अभी विद्यापति के पदों का वैज्ञानिक और प्रामाणिक पाठ ही कहां उपलब्ध होता है ? इस ओर पाठ विज्ञान के संघाताओं को विशेष गंभीरता से सोचना चाहिये। नहीं तो विद्यापति के अप्रमाणिक, असम्पादित पदों से और भी न जाने कितनी भ्रान्तियां फैलाई जा सकती हैं।

विद्यापति का विशुद्ध भक्त के रूप में व्यक्तित्व प्रस्तुत करने की एक दृष्टि हमने प्रस्तुत की है। हमने अपनी बात कही है, इससे विद्वान असहमत भी हो सकते हैं, पर अध्ययन को अपनी दिशा और चिंतन में किसी मौलिक पहलू को लेकर अपनी बात कहने का हक तो सभी को है। पाठक यही समझ, इसे पढ़लें तो हम अपना श्रम कृत कार्य समझेंगे।

महाकवि धनपाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

वचनं श्री धनपालस्य चन्दनं मलयस्य च ।
सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतः ॥[1]

(धनपाल कवि के सरस वचन और मलयगिरि के सरस चन्दन को अपने हृदय में रखकर कौन सहृदय तृप्त नहीं होता ।)

संस्कृत भाषा के गद्यकाव्य का श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व करने वाले तीन महाकवि, विद्वज्जनों में अत्यन्त विख्यात हैं–दण्डी, सुबन्धु और बाण । संस्कृत-गद्य साहित्य की एक प्रौढ रचना "तिलकमञ्जरी" के प्रणेता महाकवि धनपाल भी उस कवित्रयी के मध्य गौरवपूर्ण पद पाने के योग्य हैं ।

धनपाल, संस्कृत और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे । अपने प्रौढ ज्ञान के कारण वे "सिद्धसारस्वत धनपाल"[2] के नाम से प्रसिद्ध थे । उन्होंने गद्य और पद्य, दोनों में अनेक रचनायें की हैं, किन्तु उनकी "तिलकमञ्जरी" अपने शब्द सौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य, अलङ्कार नैपुण्य, वर्णन वैचित्र्य, रस-रमणीयता और भाव प्रवणता के कारण, लगभग एक हजार वर्षों से विद्वानों का मनोरञ्जन करती चली आ रही है । प्रायः सभी आलोचक "तिलकमञ्जरी" को "कादम्बरी" की श्रेणी में विठाने के लिए एक मत हैं ।

जीवन परिचय तथा समय—गद्य काव्य की परम्परा के अनुसार कवि ने तिलकमञ्जरी के प्रारम्भिक पद्यों[3] में अपना तथा अपने पूर्वजों का परिचय दिया है । इसके अतिरिक्त, प्रभावक चरित (प्रभाचन्द्राचार्य) के "महेन्द्रसूरि प्रबन्ध," प्रबन्ध चिन्तामणि (मेरुतुङ्गाचार्य) के "महाकवि धनपाल प्रबन्ध" सम्यक्त्व-सप्ततिका (संघतिलक सूरि) भोज प्रबन्ध (रत्न मन्दिर गणि), उपदेश कल्पवल्ली (इन्द्र हंसगणि), कथारत्नाकर (हेम विजय गणि), आत्मप्रबोध (जिनलाभ सूरि), उपदेश प्रासाद (विजय लक्ष्मी सूरि) आदि ग्रन्थों में कवि का परिचय स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है ।[4]

धनपाल, उज्जयिनी के निवासी थे । ये वर्ण से ब्राह्मण थे । इनके पितामह "देवर्षि" मध्यदेशीय सांकाश्य नामक ग्राम (वर्तमान फ़रुखाबाद जिला में "संकिस" नामक ग्राम) के मूल निवासी थे और उज्जयिनी में आ बसे थे । इनके पिता का नाम था सर्वदेव, जो समस्त वेदों के ज्ञाता और क्रियाकाण्ड में पूर्ण निष्णात थे । सर्वदेव के दो पुत्र–प्रथम धनपाल और द्वितीय शोभन, तथा एक पुत्री-सुन्दरी थी ।

१—'तिलकमञ्जरी' पराग टीका, प्रकाशक, लावण्य विजय सूरीश्वर ज्ञान मन्दिर, बोटाद (सौराष्ट्र) (संकेत-तिलक० पराग०) पृष्ठ २४, प्रस्तावना में लिखित ।

२—'समस्यामर्पयामास सिद्धसारस्वतः कविः' प्रभावक चरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ईस्वी सन् १९४०

३—तिलकमञ्जरी, पद्य नं० ५१, ५२, ५३

४—तिलक० पराग० प्रस्ताविक पृष्ठ २६

धनपाल ने बचपन से ही अभ्यास करके सम्पूर्ण कलाओं के साथ वेद, वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण आदि का प्रगाढ़ अध्ययन किया। इनका विवाह 'धनश्री' नामक अतिकुलीन कन्या के साथ हुआ।

कहा जाता है कि धनपाल के अनुज शोभन ने महेन्द्र सूरि के निकट जैन-दीक्षा स्वीकार की थी। धनपाल यद्यपि कट्टर ब्राह्मण थे किन्तु अपने अनुज से प्रभावित होकर अन्त में उन्होंने भी जैन धर्म स्वीकार किया।[1]

धनपाल, मालव देश के अधिपति धाराधीश मुञ्जराज (वि० सं० १०३१-१०७८) तथा उनके भ्रातृ पुत्र भोजराज के सभापण्डित थे। भोजराज का राज्याधिरोहण काल वि० सं० १०७८ है। अतः धनपाल का समय निश्चित रूप से विक्रम की ११ वीं शताब्दी समझना चाहिए।[2]

रचनायें—धनपाल ने संस्कृत और प्राकृत में अनेक रचनायें की हैं। उनकी प्राकृत की रचनाओं में "पाइयलच्छी नाममाला" "ऋषभ पञ्चाशिका[3]" और 'वीरथुई' प्रसिद्ध हैं।

ऋषभ पञ्चाशिका और वीरथुई में क्रमशः भगवान् ऋषभदेव और महावीर की अनेक पद्यों में स्तुति की गई है।

संस्कृत में जो स्थान अमरकोश का है, प्राकृत में वही स्थान पाइयलच्छी-नाम माला का है। धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिए विक्रम सं० १०२९ (ई० सन् ९७२) में धारा नगरी में इस कोश की रचना की थी। प्राकृत का यह एक मात्र कोश है। ब्यूलर के अनुसार इसमें देशी शब्द, कुल एक चौथाई हैं। बाकी तत्सम और तद्भव हैं।[4] इसमें २७९ गाथायें आर्या छन्द में हैं जिनमें पर्यायवाची शब्द दिए गए हैं।

इनके अतिरिक्त, सत्यपुरीय-महावीर-उत्साह, श्रावक विधि प्रकरण, प्राकृत नाम माला, शोभन स्तुति वृत्ति आदि ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे हैं।[5] शोभन स्तुनि-वृत्ति, अपने अनुज शोभन सूरि द्वारा लिखित "शोभन स्तुति" पर धनपाल का टीका ग्रन्थ है।

तिलकमञ्जरी—धनपाल ने अनेक ग्रन्थों की रचना की किन्तु जिस ग्रन्थ की रचना से उन्हें सबसे अधिक यश मिला उसका नाम है–'तिलकमञ्जरी' यह संस्कृत भाषा का श्रेष्ठ गद्य काव्य है। इसमें विद्याधरी तिलकमञ्जरी और समरकेतु की प्रणय-गाथा चित्रित की गई है। इस ग्रन्थ की रचना का

१—प्रबन्ध चिन्तामणि (धनपाल प्रबन्ध) तथा प्रभावक चरित (महेन्द्रसूरि प्रबन्ध)

२—तिलक० पराग० 'प्रास्ताविक' पृ० २६

३—जर्मन प्राच्य विद्या समिति की पत्रिका के ३३ वें खण्ड में प्रकाशित। ई० सन् १८९० में काव्य माला के सातवें भाग में, बम्बई से प्रकाशित। भावचूर्णि ऋषभ पञ्चाशिका के साथ वीरथुई, 'देवचन्द्र लाल भाई ग्रन्थ माला' बम्बई की ओर से सन् १९३३ में प्रकाशित.

४—गेओर्ग ब्यूलर द्वारा संपादित होकर गोएटिंगन (जर्मनी) से सन् १८७९ में प्रकाशित। गुलाब भाई लालूभाई द्वारा संवत् १९७३ में भावनगर से प्रकाशित। पं० बेचरदास जी द्वारा संशोधित होकर, बम्बई से प्रकाशित।

५—तिलक० पराग० पृ० २८.

उद्देश्य स्वयं कवि ने इस प्रकार लिखा है—'समस्त वाङ्मय के ज्ञाता होने पर भी जिनागम में कही गई कथाओं के जानने के उत्सुक, निर्दोष चरित वाले, सम्राट् भोजराज के विनोदन के लिए, मैंने इस चमत्कार से परिपूर्ण रसों वाली कथा की रचना की। (तिलकमञ्जरी, पद्य नं० ५०)

कहा जाता है कि तिलकमञ्जरी की समाप्ति के पश्चात् भोजराज ने स्वयं इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ा। ग्रन्थ की अद्भुतता से प्रभावित होकर भोजराज ने धनपाल से यह इच्छा व्यक्त की कि उन्हें इस काव्य का नायक बना दिया जाय। इस कार्य के उपलक्ष में कवि को अपरिमित धनराशि उपहार में प्रदान किए जाने का आश्वासन भी दिया गया, किन्तु धनपाल ने ऐसा करने से अस्वीकार कर दिया। इस पर भोजराज अत्यन्त क्रुद्ध हो गए और तत्काल उन्होंने वह समस्त रचना अग्निदेव को भेंट कर दी। इस घटना से धनपाल अत्यन्त उद्विग्न हो गए। उनकी नौ वर्ष की बाल पण्डिता पुत्री ने उनके उद्वेग का कारण जानकर, उन्हें धीरज बन्धाया और तिलकमञ्जरी की मूलप्रति का स्मरण करके उसका आधा भाग पिता को मुंह से बोल कर लिखवा दिया। धनपाल ने शेष आधे भाग की पुनः रचना करके तिलकमञ्जरी को सम्पूर्ण किया।[1]

यद्यपि समस्त कथा गद्य में कही गयी है किन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भ में अनेक वृत्तों में ५३ पद्य हैं। इनमें मंगलाचरण, सज्जन स्तुति एवं दुर्जननिन्दा, कविवंश परिचय आदि उन सभी बातों का वर्णन है जिनका शास्त्रीय दृष्टि से गद्य काव्य के प्रारम्भ में वर्णन होना चाहिए।[2] इन पद्यों में धनपाल ने अपने आश्रयदाता सम्राट्, उनके परमार वंश और उनके पूर्वजों श्री वैरिसिंह, श्री हर्ष, सीयक, सिन्धुराज, वाक्पतिराज का भी वर्णन किया है।

तिलकमञ्जरी और कादम्बरी की तुलना—कादम्बरी तथा तिलकमञ्जरी में अनेक प्रकार से समानता है। सच बात तो यह है कि तिलकमञ्जरी की रचना ही कादम्बरी के अनुकरण पर है। तिलकमञ्जरी की कवि प्रशस्ति में जितना आदर धनपाल ने कादम्बरीकार बाण को दिया, उतना किसी अन्य दूसरे कवि को नहीं। अपने से पूर्ववर्ती प्रायः सभी कवियों का यशोगान, धनपाल ने एक एक पद्य में किया है किन्तु बाण का दो पद्यों में। (तिलकमञ्जरी पद्य नं० २६, २७)

शास्त्रीय दृष्टिकोण से तुलना करने पर दोनों कथाओं में अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है। कवि कल्पित होने से कादम्बरी भी कथा है और तिलकमञ्जरी भी।[3] जैसे कादम्बरी में मुक्तकादि चारों प्रकार की गद्य का प्रयोग होने पर भी 'उत्कलिकाप्राय' गद्य की बहुलता है उसी प्रकार तिलकमञ्जरी में भी।[4]

१—प्रवन्ध चिन्तामणि (धनपाल प्रवन्ध)

२—'कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम्। क्वचिदत्रभवेदार्या क्वचिद् वक्त्रापवक्त्रके। आदौ पद्य नमस्कारः खलादेर्वृ तकीर्तनम्। ....कवेर्वंशानु कीर्तनम्। अस्यामन्य कवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित् क्वचित्' साहित्य दर्पण, ६, ३३२-३३४

३—'आख्यायिकोपलब्धार्था प्रवन्ध कल्पना कथा' अमरकोश'।

४—'वृत्तगन्धोज्झित गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च। भवेदुत्कालिकाप्रायं चूर्णकञ्चचतुर्विधम्॥
आद्यं समासरहितं वृत्त भागयुतं परम्। अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं तुर्यञ्चाल्पसमासकम्॥'
साहित्य दर्पण ६, ३३०, ३३१

विलासवती ने महाभारत के इस कथन को सुन रखा था कि—'सन्तानहीन जनों को मृत्यु के पश्चात् पुण्य लोक नहीं मिलता, क्योंकि पुत्र ही अपने माता-पिता की 'पुम्' नामक नरक से रक्षा करता है।'[1]

तिलकमञ्जरी में—अयोध्या के राजा मेघवाहन और उनकी पत्नी मदिरावती, अनपत्यता के कारण दुःखी है। इसी प्रकरण में, गुरुओं के द्वारा राजा को इस प्रकार मानो संबोधित किया गया है—'हे विद्वन् ! अन्य प्रजाजनों की रक्षा से क्या लाभ, पहले 'पुम्' नामक नरक से अपनी रक्षा तो कीजिए।[2]

पुत्रोत्पत्ति के निमित्त, दोनों कथाओं में समानरूप से देवताओं की पूजा, ऋषिजनों की सपर्या, गुरुजनों की भक्ति आदि का विधान बताया गया है।

तिलकमञ्जरी के, अयोध्या नगरी के बाहर उद्यान में सुशोभित शुक्रावतार नामक सिद्धायतन (जैन मन्दिर) की तुलना, कादम्बरी में उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर से की जा सकती है। भोजराज ने धनपाल से, अपने को तिलकमञ्जरी का नायक बनाने के साथ साथ शुक्रावतार के स्थान पर 'महाकाल' यह परिवर्तन करने की इच्छा भी प्रकट की थी।

कादम्बरी, जैसे लौकिक एवं दिव्य कथानक का सम्मिश्रण है उसी प्रकार तिलक मंजरी में भी लौकिक एवं अलौकिक पात्रों के कथानक का संयोजन किया गया है। विद्याधरी तिलकमञ्जरी, ज्वलनप्रभ नाम का वैमानिक, नन्दीश्वर नाम का द्वीप उसमें रतिविशाला नाम की नगरी, सुमाली नाम का देव तथा स्वयंप्रभा नाम की उसकी देवी, क्षीरसागर से निकला चन्द्रातप नाम का हार, प्रियंगु सुन्दरी नाम की देवी वेताल आदि, तिलकमञ्जरी में, अलौकिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

शैली की दृष्टि से भी दोनों कथाओं में पर्याप्त समानता है। प्रत्येक घटना तथा वर्णन को शब्द तथा अर्थ के विविध अलंकारों से बोझिल बनाकर कहना; जैसा कादम्बरी में वैसा ही तिलक मंजरी में। वैसे तो बाण सभी अलंकारों के प्रयोग में प्रवीण है किन्तु 'परिसंख्यालंकार' पर उनका विशेष अनुराग है। राजा शूद्रक तथा तारापीड़ के वर्णन में उनके परिसंख्यालंकार का चमत्कार देखिए—'यस्मिंश्च राजनि जित जगति परिपालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराः, रतेषु केशग्रहाः............'(शूद्रक वर्णन)—'यस्मिंश्च राजनि गिरीणां विपक्षता, प्रत्ययानां परत्वम् .... (तारापीड़वर्णन)।

धनपाल भी परि संख्यालंकार के अत्यधिक प्रेमी हैं। मेघवाहन राजा के वर्णन में प्रयुक्त परिसंख्यालंकार कादम्बरी के उपर्युक्त परिसंख्यालंकार से अत्यन्त समानता रखता है—'यस्मिंश्च राजन्यनुवर्तित शास्त्र मार्गे प्रशासति वसुमति धातूनां सोपसर्गत्वम्, इक्षूणां पीडनम्, पक्षिणां विग्रहणम्, पदानां विग्रहः निर्मितानां गलग्रहः, गृहचतुष्कानां पादाक्रान्तयः, कुकविकाव्येषु यतिभ्रंशदर्शनम्, उदधीनामवृद्धिः, त्रिभुवनक्रीडासु तर्जनताडनानि। प्रतिपक्षपर्यायतमुनि कथासु कुशास्त्रश्रवणम्, शारीणामक्षप्रसरदोषेण परस्पर बन्धव्यधमारणानि, वैशेषिक मते द्रव्यप्राधान्यं गुणानामुपसर्जनभावो बभूव।' (तिलक० पराग पृ० ६७-६८)

१—'अपुत्राणां किल न सन्ति लोकाः शुभाः पुन्नाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः'
-कादम्बरी-अनपत्यता विषाद प्रकरण।

२—'अस्मिन्नपि नराधिपेऽशुं जीवलोकसुखमनुबभूव, केवलमात्मजाङ्गपरिष्वङ्ग निर्वृतिं नाध्यगच्छत्'
'विद्वन् ! किम परस्यार्तैः, आत्मानं त्रायस्व पुन्नाम्नो नरकात्।'
-तिलकमंजरी मेघवाहन राज प्रकरण पृ० ७८-८०

बाण का, परिसंख्यालंकार के पश्चात् दूसरा प्रिय अलंकार विरोधाभास है जिसके सैकड़ों उदाहरण कादम्बरी में प्राप्त हैं। धनपाल भी विरोधाभास के लिखने में परम प्रवीण प्रतीत होते हैं--(मेघवाहन राजा का वर्णन हैं)---'सौजन्यपरतन्त्रवृत्तिरप्यसौजन्ये निषण्ण:, नलप्रथुप्रभोप्यनलप्रथुप्रभ: समिद्व्यतिकरस्फुरित प्रतापोऽप्यकृशानु भावोपेत:, सागरान्वयप्रभवोऽप्यमृतशीतल प्रकृति: शत्रुघ्नोऽपि विश्रुतकीर्ति, अशेष शक्त्युपेतोऽपि सकलभूभार धारण क्षम:, रक्षिताखिलक्षिति तपोवनोऽपि त्रातचतुराश्रम:............' (तिलक० पराग० ६२-६३)

तिलकमञ्जरी की विशेषतायें—बाण ने कादम्बरी में कथा के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है- निरन्तर श्लेष घना: सुजातय:' (काद० पद्य ९) अर्थात् गद्य काव्य रूप कथा को श्लेषालंकार की बहुलता से निरन्तर व्याप्त होना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि धनपाल के समय में कथा की निरन्तरश्लेषघनता' के प्रति लोगों की उपेक्षा हो चली थी। यही कारण है कि धनपाल ने तिलकमंजरी में (पद्य नं० १६) में लिखा कि --'नातिश्लेषघना' श्लाघां कृतिर्लिपिरिवाश्नुते--' अर्थात् अधिक श्लेषों के कारण घन (गाढ़बन्ध वाली) रचना, श्लाघा को प्राप्त नहीं करती। उन्होंने यह भी लिखा है कि---'अधिक लम्बे और अनेक पदों से निर्मित समास की बहुलता वाले प्रचुर वर्णनों से युक्त गद्य से लोग घबड़ाकर ऐसे भागते हैं जैसे व्याघ्र को देखकर।' (तिलक० पराग० पद्य नं० १५)। उनका यह भी कहना है कि---'गौडीरीति का अनुसरण कर लिखी गई, निरन्तर गद्य सन्तान वाली कथा श्रोताओं को काव्य के प्रति विराग का कारण बन जाती है अत: रचनाओं में रस की ओर अधिक ध्यान होना चाहिए' (तिलक० पद्य नं० १७-१८)

धनपाल ने उपर्युक्त प्रकार से गद्य काव्य की रचना के सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है, 'तिलकमञ्जरी, में उसका उन्होंने पूर्णरूप से पालन किया है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि, तिलकमञ्जरी ने, कादम्बरी की परम्परा को सुरक्षित रखते हुए भी गद्य काव्य को एक ऐसा नया मोड़ दिया है जहां वह विद्वानों के साथ जन साधारण के निकट भी पहुंचने का प्रयत्न करता दिखाई देता है।

पन्यास दक्ष विजय गणि ने दशकुमार, वासवदत्ता और कादम्बरी से तिलकमञ्जरी की विशेषता बताते हुए लिखा है कि[1] दशकुमार चरित में पदलालित्यादि गुणों के होने पर भी कथाओं की—अधिकता के कारण सहृदय के हृदय में व्यग्रता होने लगती है। वासवदत्ता में, प्रत्येक अक्षर में श्लेष, यमक, अनुप्रास आदि अलंकारों के कारण कथाभाग गौण तथा बिल्कुल अरोचक हैं। यद्यपि कादम्बरी उन दोनों से श्रेष्ठ है तथापि तिलकमञ्जरी कादम्बरी से भी श्रेष्ठ है, इस बात में थोड़ी सी भी अत्युक्ति नहीं। उदाहरणार्थ—

१—पुण्डरीक के शाप से चन्द्ररूप चन्द्रापीड़ के प्राणों के निकल जाने का वर्णन करने से कादम्बरी की कथा में आपातत: अमङ्गल है और इस कारण करुण विप्रलम्भ शृंगार इसका प्रधान रस है, किन्तु तिलकमञ्जरी में प्रधान रस पूर्वरागात्मक विप्रलम्भ शृंगार है।

२—कादम्बरी में अगणित विशेषणों के आडम्बर के कारण कथा के रसास्वाद में व्यवधान पड़ता है। तिलकमञ्जरी में तो परिगणित विशेषण होने के कारण वर्णन अत्यन्त चमत्कृत होकर कथा के आस्वाद को और अधिक बढ़ा देता है।

१—तिलक० पराग०—प्रस्तावना पृ० १४-१६.

३—कादम्बरी के वर्णन-प्रधान होने के कारण उसमें प्रत्येक वर्णन के उचित विशेषणों के गन्वेषण में व्यस्त बाणभट्ट ने कहीं कहीं पर शब्द-सौन्दर्य की उपेक्षा की है, जबकि तिलकमञ्जरी में सर्वोतोमुख काव्योत्कर्ष उत्पन्न करने के इच्छुक धनपाल ने परिसंख्यादि अलंकार वाले स्थलों में भी प्रत्येक पद में शब्दालंकार का उचित समावेश किया है। जैसे अयोध्यावर्णन के प्रसंग में 'उच्चापशब्द शत्रु संहारे, न वस्तु विचारे। गुरुवितीर्ण शासनो भक्त्या, न प्रभुशक्त्या। वृद्धत्यागशीलो विवेकेन, प्रजोत्सेकेन। अवनितापहारी पालनेन, न लालनेन। अकृतकारुण्यः करचरणे, न शरणे।' यहां श्लेषानुप्राणितपरिसंख्यालंकार में भी प्रत्येक वाक्य में अन्त्यानुप्रास सुशोभित है।

इसी प्रकार 'सतारकावर्ष इव वेतालदृष्टिभिः, सोल्कापात इव निशितप्रासवृष्टिभिः' यहां युद्ध स्थल के वर्णन में उत्प्रेक्षा के साथ भी।

इसी प्रकार 'सगरान्वयप्रभवोपि·························त्रातचतुराश्रमः' इस प्रवेक्ति विरोवाभास के साथ भी।

इसी प्रकार, वैताढ्य गिरि के वर्णन में—'मेरुकल्पपादपाली-परिगतमपि न मेरुकल्पपादपाली-परिगतम्, वनगजालीसंकुलमपि न वनगजालीसकुलम्' यहां विरोवाभास के साथ यमक भी।

इसी प्रकार, मेघवाहन राजा के वर्णन में 'दृष्ट्वा वैरस्य वैरस्यमुज्झितास्त्रो रिपुव्रजः। यस्मिन् विश्वस्य विश्वस्य कुलस्य कुशलंव्ययात्।' अतिशयोक्ति के साथ यमक भी।

४—तिलकमञ्जरी में, सर्वत्र श्रुत्यनुप्रास के द्वारा सुश्रव्यता उत्पन्न की गई है।

५—कादम्बरी में अन्य स्थानों पर उपलब्ध ही शब्द बार बार सुनाई पड़ते हैं किन्तु तिलकमञ्जरी में 'तनीमण्ठ-लञ्चा-लाकुटिक-लयनिका-गल्वर्क' प्रभृति अश्रुतपूर्व एवं अपूर्व शब्दों के प्रयोग से कवि ने विशेष चमत्कार उत्पन्न किया है।

धनपाल ने, तिलकमञ्जरी के प्रारम्भिक सत्रह पद्यों में कवि-प्रशस्ति लिखी है। इसमें जिन कवियों तथा रचनाओं की प्रशंसा की गई है वे निम्न प्रकार हैं—

'रघुवंश और कौरववंश की वर्णना के आदिकवि वाल्मीकि एवं व्यास, कथा साहित्य की मूल जननी 'बृहत कथा', वाङ्मय वारिधि के सेतु के समान 'सेतुबन्ध' महाकाव्य के निर्माण से लब्धकीर्ति प्रवरसेन, स्वर्ग और पृथ्वी (गाम्) को पवित्र करने वाले गंगा के समान पाठक की वाणी (गाम्) को पवित्र करने वाली, पादलिप्त सूरि की 'तरंगवती कथा', प्राकृत-रचना के द्वारा रस वर्षाने वाले महाकवि जीवदेव, अपने काव्य-वैभव से अन्य कवियों की वाणी को म्लान कर देने वाले कालिदास, अपने काव्य-प्रतिमा रूप बाण से (अपने पुत्र पुलिन्द के साथ) कवियों को विमद करने वाले तथा कादम्बरी और हर्ष चरित की रचना से लब्धख्याति बाण, माघमास के समान कपिरूप कवियों को पद रचना (कपि के पक्ष में पैर बढ़ाना) में अनुत्साह उत्पन्न करने वाले महाकवि माघ, सूर्य रश्मि (भा-रवि) जैसे प्रतापवान् कवि भारवि, प्रशमरस की अद्भुत रचना समरादित्य-कथा' के प्रणेता हरिभद्रसूरि, अपने नाटकों में सरस्वती को नटी के समान नचाने वाले कवि भवभूति, 'गौडवध' की रचना से कवि जनों की बुद्धि में भय पैदा करने वाले कवि वाक्-

पतिराज, समाधि और प्रसाद गुण के धनी यास्यावरकवि राजशेखर, अपनी अलौकिक रचना से कवियों को विस्मय उत्पन्न करने वाले महेन्द्रसूरि, मदान्ध कवियों के मद को चूर्ण करने वाले 'ललित त्रैलोक्य सुन्दरी' के कथाकार कविरुद्र तथा सहृदयाह्लादक सूक्तियों के रचयिता, रुद्रतनय कवि कर्दमराज।'

धनपाल की यह कवि प्रशस्ति तथा उसके साथ, अपने आश्रयदाता श्री मुञ्ज तथा भोज के वंश एवं पूर्वजों की प्रशस्ति के रूप में लिखे गए पद्य, साहित्य और इतिहास, दोनों दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। धनपाल की कवि प्रशस्ति सम्बन्धी पद्य, आज तक विद्वज्जनों में बड़े आदर के साथ स्मरण किए जाते हैं।

तिलकमञ्जरी, ११ वीं शताब्दी के सांस्कृतिक एवं सामाजिक इतिहास की दृष्टि से आलोचनीय ग्रन्थ है। इसमें तत्कालीन समाज एवं कला-कौशल का बड़े ही आकर्षक ढंग से वर्णन किया गया है।[1] यह ग्रन्थ जैन कथा साहित्य तथा जैन संस्कृति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

धनपाल का व्यक्तित्व—संस्कृत साहित्य के पुरातन तथा आधुनिक विद्वान इस बात से पूर्ण सहमत हैं कि धनपाल ने बाण की गद्यशैली का सफल प्रतिनिधित्व किया है। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्र तो धनपाल के पाण्डित्य से अत्यन्त प्रभावित थे। जिनमण्डन गणिकृत 'कुमारपाल प्रबन्ध' में कहा गया है कि एक समय हेमचन्द्र ने धनपाल की ऋषभ पञ्चाशिका के पद्यों द्वारा भगवान् आदिनाथ की स्तुति की। राजा कुमारपाल ने उनसे प्रश्न किया कि—'भगवन्! आप तो कलिकाल सर्वज्ञ हैं फिर दूसरों की बनाई गई स्तुति के द्वारा क्यों भगवान् की भक्ति करते हैं?' इस पर हेमचन्द्र बोले—'कुमारदेव! मैं ऐसी अनुपम भक्ति भावनाओं से ओत-प्रोत स्तुतियों का निर्माण नहीं कर सकता।'[2]

हेमचन्द्र ने अपनी रत्नावली नामक देसी नाममाला में प्रसिद्ध कोशकारों का उल्लेख करते समय धनपाल को सबसे प्रथम स्थान दिया है।[3]

संस्कृत साहित्य के योरोपीय विद्वान् एवं प्रसिद्ध समालोचक श्री कीथ महोदय ने लिखा है कि— 'धनपाल ने बाण का सफल अनुकरण किया है। समरकेतु के प्रति तिलकमंजरी के प्रेम का वर्णन करने में उनका स्पष्ट रूप से यही लक्ष्य रहा है कि कादम्बरी के समान अधिकाधिक चित्र खींचे जा सकें।[4] श्रीबलदेव उपाध्याय, एच० आर० अग्रवाल, डा० रामजी उपाध्याय और वाचस्पति गैरोला प्रभृति संस्कृति के आधुनिक विद्वान् भी कीथ महोदय के कथन को पूर्ण समर्थन करते हैं।[5]

१—वाचस्पति गैरोला, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० ६३४.

२—'श्री कुमार देव! एवंविधसद्भूतभक्तिगर्भास्तुतिरस्माभिः कर्तुं न शक्यते'

३—डा० जगदीशचन्द्र जैन—'प्राकृत साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ६५५.

४—'संस्कृत साहित्य का इतिहास'—कीथ (अनुवादक डा० मंगलदेव शास्त्री) पृ० ३६१

५—बलदेव उपाध्याय, 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' १९४५, पृ० २६८. एच० आर० अग्रवाल, Short History of Sanskrit Literature' लाहौर, पृ० १५६. डा० रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' पृ० १७५ वाचस्पति गैरोला—'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पृ० ६३४.

आर्यासप्तशती में लिखा है कि—'प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति' अर्थात्—अधिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए सरस्वती ने मानो बाण का शरीर धारण कर लिया था। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि गोवर्धन की इस उक्ति को ध्यान में रखकर ही मुञ्जदेव ने, बाण के समान सिद्ध सारस्वत धनपाल को 'सरस्वती' की उपाधि प्रदान की थी[6] कहा जाता है कि मुञ्जदेव का धनपाल पर अत्यन्त स्नेह था। वे उन्हें अपना 'कृत्रिम पुत्र' मानते थे।

राज्याश्रय में रहने पर भी धनपाल अत्यन्त निर्भीक एवं स्वाभिमानी थे। उन्होंने राजा के कोप की भी उपेक्षा करके सदैव उचित मार्ग का अवलम्बन किया। भोजराज द्वारा, तिलक मंजरी के नायक के रूप में अपने को प्रतिष्ठित किए जाने की इच्छा व्यक्त करने पर धनपाल ने कहा था—

'राजन् ! जिस प्रकार खद्योत और सूर्य में, सरसों और सुमेरू में, कांच और काञ्चन में, धतूरे और कल्पवृक्ष में महान् अन्तर है उसी प्रकार तिलकमञ्जरी के नायक और आप में।'[7]

धनपाल का हृदय अत्यन्त दयार्द्र था। एक समय मृगया के प्रसङ्ग में भोजराज द्वारा मारे गये मृग को देखकर उन्होंने राजा को सम्बोधित करते हुए कहा था—

रसातले यातु तवात्र पौरुषं कुनीतिरेणा शरणो ह्यदोषवान्।
निहन्यते यद् बलिनापि दुर्बलां हहा महाकष्टमराजकं जगत्॥'

अर्थात्—हे राजन् ! इस प्रकार का आपका पौरुष रसातल को चला जाय। निर्दोष और शरणागत का वध कुनीति है। बलवान् भी जब दुर्बल को मारते हैं तो यह बड़े दुःख की बात है, मानो समस्त जगत् ही अराजक हो गया। कहा जाता है कि धनपाल के ये वचन सुनकर भोजराज ने आजीवन मृगया छोड़ दी थी।[8]

इसी प्रकार, एक समय यज्ञ मंडप में यूप (स्तम्भ) से बन्धे छाग (बकरे) के करुण क्रन्दन को सुनकर धनपाल ने कहा था कि—

यूपं कृत्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिर कर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते।
सत्यं यूपं तपो ह्यग्निः, कर्माणि समिधो मम।
अहिंसामाहुतिं दद्यादेवं यज्ञः सतां मतः।

अर्थात्—यदि यज्ञ करके पशुओं को मारकर और खून का कीचड़ बनाकर स्वर्ग में जाया जाता है तो फिर नरक में कैसे जाया जाता है? ज्ञानीजनों का यज्ञ तो वह है जिसमें सत्य यूप हो, तप अग्नि हो, कर्म समिधा हो और अहिंसा जिसकी आहूति हो। कहते हैं राजा ने धनपाल के ये वचन सुनकर अपने को जैन धर्म में दीक्षित किया था।[9]

६—'श्री मुञ्जेन सरस्वतीति सदसि क्षोणीभृता व्याहृतः' तिलकमञ्जरी पद्य नं० ५३.
७—प्रबन्ध चिन्तामणि (महाकवि धनपाल प्रबन्ध)
८— वही
९— वही

धनपाल महान् गुणग्राही थे। अनेक अवसरों पर भोजराज को झिड़कियां देकर सावधान करते रहने के अतिरिक्त उन्होंने अनेक बार उनके गुणों की प्रशंसा भी की है—

अभ्युद्धृता वसुमती दलितं रिपूरः, क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मीः।
एकत्र जन्मनि कृतं तदनेन यूना, जन्मत्रये यदकरोत् पुरुषः पुराणः॥

अर्थात्—इसने अपने जन्म में पृथ्वी का उद्धार किया, शत्रुओं के वक्षस्थल को विदीर्ण किया और अनेक बलशाली राजाओं की राजलक्ष्मी (विष्णु के पक्ष में बलि नामक राजा की राजलक्ष्मी) को आत्मसात् किया। इस प्रकार इस युवक ने वे काम एक ही जन्म में कर डाले जो पुराण पुरुष विष्णु ने तीन जन्मों में किए थे। कहा जाता है कि भोजराज ने इस पद को सुनकर धनपाल को एक स्वर्ण कलश भेंट किया था।[1]

तिलकमञ्जरी को अग्नि में स्वाहा कर देने के कारण धनपाल, भोजराज से रूठकर, धारा नगरी को छोड़ अन्यत्र चल दिए। कुछ दिनों के पश्चात् उनकी दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। भोज ने उन्हें पुनः सादर निमंत्रित किया और उनसे कुशलक्षेम पूछा। धनपाल ने निवेदन किया—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेष परिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममानयोः सदनम्॥'

अर्थात्—हे राजन्! इस समय हमारा और आपका घर बिल्कुल समान है, क्योंकि दोनों ही 'पृथुकार्तस्वरपात्र' (गम्भीर आर्तनाद का पात्र तथा विपुल स्वर्ण पात्र वाला) है, दोनों ही—'भूषितनिःशेषपरिजन' है (अलंकारहीन परिजन वाला तथा जिसके सारे परिजन आभूषणों से युक्त है) और दोनों ही 'विलसत्करेणुगहन' (धूलिपूर्ण और हाथियों से सुसज्जित) है।

यह श्लोक श्लेषालंकार के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण के रूप में आज भी विद्वज्जनों में पर्याप्त प्रसिद्ध है। साथ ही यह धनपाल के स्वाभिमान की ओर पूर्ण संकेत करता है।[2]

भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में लिखा है—'यादगगद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः' अर्थात् बाण, जितना गद्य बनाने में कुशल है इतना पद्य बनाने में नहीं। धनपाल की यह विशेषता है कि वे समान रूप से गद्य और पद्य, दोनों की प्रौढ़ रचना करने में समर्थ थे। हेमचन्द्र ने अपनी अभिधान चिन्तामणि, काव्यानुशासन और छन्दोऽनुशासन में धनपाल के अनेक सुन्दर पद्यों का उल्लेख किया है। १४ वीं शताब्दी की रचना (सूक्तिसङ्कलन) 'शार्ङ्गधरपद्धति' में धनपाल की अनेक सूक्तियों का उल्लेख है।[3]

इसी प्रकार मुनि सुन्दरसूरि ने 'उपदेश रत्नाकर' में और वाग्भट्ट ने अपने 'काव्यानुशासन' में अनेक स्थानों पर धनपाल के पद्यों का उल्लेख किया है। 'कीर्तिकौमुदी' एवं 'अमर चरित' के रचयिता मुनि रत्न सूरि और 'पञ्चलिङ्गी प्रकरण' के कर्ता श्री जिनेन्द्रसूरि ने धनपाल के काव्य की प्रशस्ति गाई है।[4]

संस्कृत विद्वानों में यह कहा जाता रहा है कि 'बाणोच्छिष्ट जगत् सर्वं' अर्थात्—बाण के अनन्तर समस्त संस्कृत साहित्य बाण के उच्छिष्ट (त्यक्त वस्तु) के समान है। बाण की प्रशस्ति में लिखे गये ये पद्य—

'कविकुम्भिकुम्भभिदुरो बाणस्तु पञ्चाननः' श्रीचन्द्रदेव (शार्ङ्गधर पद्धति ११७)
'युक्तं कादम्बरीं श्रुत्वा कवयो मौनमाश्रिताः।
बाणध्वानावनध्यायो भवतीनि स्मृतिर्यतः ॥' कीर्ति कौमुदी १,१५.
'बाणस्य हर्षचरिते निशितामुदीक्ष्य,
शक्तिं न केऽत्र कवितास्त्रमदं त्यजन्ति। कीथ का इतिहास पृ० ३९७

इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि बाण की अप्रतिम गद्य रचना 'कादम्बरी' को देखकर किसी कवि का साहस नहीं होता था कि वह बाण के मार्ग पर चलकर उनकी गद्य रचना शैली को आगे बढ़ाये। यही कारण है कि बाण के पश्चात् लगभग ३०० वर्षों तक कादम्बरी की समानता करने वाली कोई उत्कृष्ट गद्य रचना उपलब्ध नहीं है।

महाकवि धनपाल ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने कवियों के हृदय से, बाण के भय-व्यामोह को दूर किया और अपनी तिलकमञ्जरी को कादम्बरी की श्रेणी में बिठाने का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि धनपाल के पश्चात् वादीभसिंह (गद्य चिन्तामणि), सोड्ढ्यल (उदय सुन्दरी कथा), वामन भट्ट बाण (वेम-भूपाल चरित-हर्ष चरित के अनुकरण पर) आदि कवियों ने बाण की शैली पर रचनायें लिखीं।[1]

तिलकमञ्जरी की रचना के लगभग एक शताब्दि के पश्चात् पूर्ण तल्लगच्छीय श्री शान्तिसूरि ने इस ग्रन्थ पर १०५० श्लोक प्रमाण टिप्पणी की रचना की जो पाटन के जैन भण्डार की प्रति[2] के अन्त में दिए गए निम्न श्लोक से प्रमाणित है—

श्री शान्तिसूरिरिह श्रीयति पूर्णतल्ले गच्छे वरो मतिमतां बहुशास्त्रवेत्ता।
तेनामलं विरचितं बहुधा विमृश्य संक्षेपतो वरमिदं बुध टिप्पितंमोः ॥

इस ग्रन्थ पर श्री विजय लावण्य सूरि ने (विक्रम संवत् २००८ में प्रकाशित) पराग नामक एक विस्तृत टीका लिखी है।[3]

धनपाल, विक्रम की ११ वीं शताब्दि के संस्कृत और प्राकृति भाषा के उत्कृष्ट विद्वान थे। गद्य और पद्य दोनों की रचना पर उनका समान अधिकार था। शब्द और अर्थ, भाषा और भाव, वशीभूत के समान उनकी लेखनी का अनुगमन करते थे। उन्होंने बाण की गद्य शैली की परम्परा को निबाहते हुए, गद्य काव्य को कुछ और सरल और सरस बनाकर उसे जनता के अधिक निकट पहुँचाने का प्रयत्न किया। निःसंदेह, धनपाल अपने इस ऐतिहासिक कार्य के लिए संस्कृत साहित्य के इतिहास में अमर रहेंगे। किसी कवि का यह कथन धनपाल के लिए अत्यन्त उचित प्रतीत होता है.—

तिलकमञ्जरी मञ्जरिसञ्भरिलोलहिपश्चिदन्मिजालः।
जैनारण्येऽसालः कोऽपि रसालः फपाल धनपालः ॥[4]

१—वामदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० २६८.

२—पाटन के 'संघवीपाड़ा जैन भण्डार' की १२५ वीं प्रति (गायक वाड़ ओरियण्टल सिरीज नं० ७६—'पाटन जैन भण्डार केटलाग' प्रथम भाग, पृष्ठ ८७)

३—तिलकमञ्जरी, श्री शान्तिसूरि रचित टिप्पणी तथा श्री विजय लावण्य-सूरि रचित टीका (पराग) के साथ प्रकाशित। प्रकाशक—श्री विजयलावण्य-सूरिश्वर ज्ञान मन्दिर, बोटाद, सौराष्ट्र, वि० सं० २००८.

४—तिलक० पराग० प्रस्तावना—पृ० १६.

गुजरात में रचित कतिपय दिगम्बर जैन-ग्रन्थ

पन्द्रह शताब्दियों से भी अधिक समय से गुजरात और राजस्थान जैन धर्म के केन्द्र रहे हैं। यहां जैनों में सबसे अधिक बस्ती श्वेताम्बरों की है। समस्त श्वेताम्बर आगम ईशु की पांचवी शताब्दी में सौराष्ट्र के वलभीपुर में एक साथ लिपिबद्ध किया गया था। आगमों की बहुतेरी टीकाएँ इसी प्रदेश में लिखी गई हैं। इतना ही नहीं लेकिन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं प्राचीन गुजराती-राजस्थानी के ललित तथा शास्त्रीय वाङ्मय के सभी ग्रंथों के निरूपक जैन श्वेताम्बर साहित्य का जितना विकास गत प्रायः एक हज़ार वर्षों में इस प्रदेश में हुआ उतना भारत में और कहीं भी नहीं हुआ है। यद्यपि आज गुजरात में दिगम्बर जैनों की जनसंख्या प्रमाण में अल्प है, तथापि एक समय में उनकी संख्या बहुत रही होगी। अभी तो उनकी साहित्य प्रवृत्ति के थोड़े ही अवशेष बचे हुए हैं, इतने प्राचीन एवं विरल हैं कि गुजरात के समग्र जैन साहित्य के इतिहास की दृष्टि से वे अति महत्त्वपूर्ण हैं।

आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवंशपुराण' तथा आचार्य हरिषेणकृत 'वृहत्कथाकोश' ये दो संस्कृत ग्रंथ दिगम्बर साहित्य की प्राचीनतम उपलब्ध रचनाओं में से हैं। ये दोनों कृतियां 'वर्धमानपुर' अर्थात् सौराष्ट्र में आये हुये वढ़वाण में लिखी गई हैं 'हरिवंशपुराण' की रचना शक सं. ७०५ (वि. सं. ८३६ - ई. सन् ७८३) में हुई और 'वृहत्कथाकोश' की रचना वि. सं. ९८९ अर्थात शक सं. ८५३ (=ई. सन् ९३१-३२) में--ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से जब खर नामक संवत्सर प्रवर्तमान था, तब हुई। जिनसेन ने रचनावर्ष शक संवत में बताया है और हरिषेण ने विक्रम एवं शक दोनों में।

दिगम्बर सम्प्रदाय के उपलब्ध कथासाहित्य में कालानुक्रम की दृष्टि से 'हरिवंशपुराण' तृतीय ग्रन्थ है, इस हकीकत से उसके महत्व का खयाल सहज ही आएगा; उससे पूर्व के दो ग्रन्थ हैं आचार्य रविषेण का 'पद्मचरित' और जटा-सिंहनंदि का 'वरांगचरित'। इन दोनों का उल्लेख 'हरिवंशपुराण' के पहले सर्ग में ही किया गया है।

'हरिवंशपुराण' बारह हजार श्लोक प्रमाण का ६६ सर्गों में विभाजित वृहद् ग्रन्थ है। बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ जिस वंश में उत्पन्न हुये थे उस वंश का अर्थात् हरिवंश का वृत्तान्त इसका वर्ण्य विषय है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में जिनसेन ने कहा है कि सौरों के अधिमण्डल अर्थात् सौराष्ट्र पर जब जयवहराह नामक राजा का शासन था, तब कल्याण से जिसकी विपुल श्री वर्धमान होती है ऐसे वर्धमान-नगर में पार्श्वनाथमन्दिरयुक्त नन्नराजवसति में इस ग्रन्थ की रचना हुई। प्रशस्ति में और भी कथन है कि दोस्तटिका नामक स्थान में तीर्थंकर शान्तिनाथ के मन्दिर में प्रजा ने इस ग्रन्थ का पूजन किया। इस दोस्तटिका के स्थान के बारे में अभी कोई निर्णय नहीं किया जा सकता, फिर भी वह वढ़वाण का समीपवर्ती होगा यह तो निश्चित है ई. सन् वढवाण के राजा जयवराह के बारे में विशेष माहिती इस प्रशस्ति में से प्राप्त नहीं होती है। तथापि कन्नोज के प्रतिहार राजा महीपाल का शक सं० ८३६ (ई० सन् ९१४) का जो एक ताम्रपत्र सौराष्ट्र के हाला गांव में से मिला है उससे ज्ञात होता है कि उन दिनों वढवाण में चाप वंश के राजा

धरणिवराह का शासन था और वह प्रतिहारों का सामन्त था। वढवाण के राज्यकर्ताओं के इन वराहान्त नामों से एक स्वाभाविक अनुमान किया जा सकता है कि 'हरिवंशपुराण' की प्रशस्ति में जिसका उल्लेख है वह राजा जयवराह उपर्युक्त धरणिवराह का चार-पांच पीढ़ी पूर्व का पूर्वज होगा। यह तो स्पष्ट है कि ये राजवी चाप अर्थात् चावडा वंश के थे।[1] तदुपरान्त 'हरिवंश' कार जिनसेन ने अपनी रचना गिरनार पर की। सिंहवाहनी शासनदेवी का जो उल्लेख किया है इससे ज्ञात होता है कि ईशु के आठवें शतक तक के पुराने काल में गिरनार पर नेमिनाथ की शासनदेवी अम्बिका का मन्दिर विद्यमान था।

हरिषेण के 'बृहत्कथाकोश' की रचना इस 'हरिवंशपुराण' से डेढ़ शतक के बाद हुई। साढ़े बारह हजार श्लोकप्रमाण के इस ग्रन्थ में विविध-विषयक १५७ जैन धर्म-कथाएं दी गई हैं। उसके कर्त्ता ने अपना परिचय मौनि भट्टारक के शिष्य के रूप में दिया है। वह कहता है कि जैन मन्दिरों से संकीर्ण चन्द्र जैसी शुभ्र कान्ति से युक्त हर्म्यों से सभर और सुवर्णसमृद्ध जनों से व्याप्त वर्धमानपुर में इस कृति की रचना की गई थी। उन दिनों वहाँ इन्द्रतुल्य विनायकपाल नामक राजा का शासन चल रहा था। यह विनायकपाल भी कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार वंश का ही राजा था। विद्वानों के मत से विनायकहाल, क्षितिपाल, हेरम्बपाल आदि नाम इस वंश के सुप्रसिद्ध सम्राट् महीपाल के ही हैं (देखिये-कन्हैयालाल मुन्शी: 'ग्लोरी इट वोभ गुर्जरदेश' ग्रन्थ ३, पृ० १०५ तथा १०८-९)। बृहत्कथाकोश के अन्त में उसके रचना समय के बारे में कर्ता ने जो तफसीलें दी हैं उनसे यह खयाल आता है कि ज्योतिष की गणना के अनुसार यह ग्रन्थ ५ वीं अक्टूबर, ९३१ से १३ वीं, मार्च ९३२ के दरम्यान किसी समय लिखा गया है (देखिये, 'बृहत्कथाकोश' की डॉ० उपाध्ये की प्रस्तावना, पृ० १२१), और इसमें राज्यकर्ता के तौर पर विनायकपाल का उल्लेख किया गया है। दूसरी ओर, राजा महीपाल का एक दानपत्र ई० सं० ९३१ का प्राप्त हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि विनायकपाल और महीपाल ये एक ही नृपति के दो नाम हैं।

जिनसेन एवं हरिषेण दोनों 'पुन्नाट संघ' के साधु थे। हरिषेण ने अपने गुरु मौनि भट्टारक को 'पुन्नाटसंघाम्बरसंनिवासी' कह कर वर्णित किये हैं और जिनसेन ने स्वगुरु कीर्त्तिषेण के गुरुबन्धु अमितसेन को 'पवित्रपुन्नाटगणाग्रणीर्गणी' के रूप में आलिखित किये हैं; अर्थात् पुन्नाटसंघ दिगम्बर जैन साधुओं का एक समुदाय था। पुन्नाट देश के नांव से वह पुन्नाट कहलाया। खुद हरिषेण ने ही दो कथाओं में जो निर्देश किया है उसके अनुसार पुन्नाट देश दक्षिणापथ में स्थित था।

अनेन सह सङ्घोऽपि समस्तो गुरुवाक्यत:।
दक्षिणापथदेशस्थपुन्नाटविषयं ययौ॥
(कथा १३१, श्लोक ४०)

१—वनराज चावडा ने ई० स० ७४६ में अणहिलवाड पाटण बसाया। उसके पूर्व प्राचीन गुर्जर देश में चावडाओं के कम से कम तीन राज्य थे—श्रीमाल में, वढवाण में और पंचासर में। ई० स० ६२८ में भिल्लमाल अथवा श्रीमाल में 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' नामक ज्योतिष के ग्रन्थ के रचयिता आचार्य ब्रह्मगुप्त कहते हैं कि चापवंश के तिलकरूप व्याघ्रमुख राजा जब वहाँ राज्य करता था तब यह ग्रन्थ उन्होंने लिखा। वढवाण के चापवंश का निर्देश ऊपर किया गया है। वनराज का पिता जयशिखरी और उसके पूर्वज पंचासर के शासक थे।

पुन्नाटविषये रम्ये दक्षिणापथगोचरे।
तलाटवीपुरमिख्यं बभूव परमं पुरम्।
(कथा १४५, श्लोक ६)

दक्षिणापथ में भी पुन्नाट कर्णाटक का एक भाग था। अद्यपर्यन्त इसके बारे में जो बहस हुई है (देखिये 'इण्डियन कल्चर', ग्रन्थ ३, पृ० ३०३-१, पर ए० बी० सालेटोर का 'एन्शेयन्ट किंगडम ऑफ पुन्नाट', नामक लेख तथा 'काणे अभिनन्दन ग्रन्थ' में एस्० जी० पाई का 'रूलर्स ऑफ पुन्नाट' नामक लेख), उसके अनुसार कावेरी और कपिनी नदियों के बीच का प्रदेश–जिसका मुख्य शहर कीर्त्तिपुर (अथवा किट्टुर) था–वही प्राचीन पुन्नाट प्रदेश है। यह स्पष्ट ही है कि 'पुन्नाट संघ' का नाम इस प्रदेश के नाम पर से ही रक्खा गया है। कर्णाटक दिगम्बर जैनों का केन्द्रस्थान था और आज भी है, लेकिन वहां के प्राचीन साहित्य में या लेखों में कहीं भी 'पुन्नाट संघ' का उल्लेख नहीं मिलता। कभी कभी किट्टूर संघ' का उल्लेख प्राप्त होता है जिसका नाम पुन्नाट प्रदेश के पाटनगर किट्टुर पर से रक्खा गया है और इसी से शायद 'पुन्नाट संघ' विवक्षित हो सकता है। किन्तु यह तो निश्चित है कि विक्रम के नववें शतक के पूर्व ही कर्णाटक-अन्तर्गत पुन्नाट का एक दिगम्बर साधु समुदाय सौराष्ट्र में आकर विशेषतः वढवाण के नजदीक के प्रदेश में स्थिर हुआ था और अपने मूलस्थान के नाम से 'पुन्नाट संघ' नाम से प्रख्यात हुआ था। 'बृहत्कथाकोश' की अनेक कथाओं में दक्षिणापथ के नगरों का जो उल्लेख मिलता है वह भी इस दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। मध्यकालीन गुजरात का जैन साहित्य-विशेषतः प्रबन्ध साहित्य यह स्पष्टतया दिखलाता है कि उस समय में गुजरात में इसके अलावा दूसरे भी दिगम्बर साधु-समुदाय थे तथा दिगम्बर और श्वेताम्बरों के बीच अनेक विषयों में तीव्र स्पर्धा प्रवर्तमान थी। राजा सिद्धराज जयसिंह (ई. स. १०६४–११४३) के दरबार में श्वेताम्बर आचार्य वादी देवसूरी और दिगम्बर आचार्य कुमुदचन्द्र के बीच जो प्रसिद्ध विवाद हुआ जिसमें आखिर कुमुन्दचन्द्र की पराजय हुई उसका निरूपण यशश्चन्द्ररचित समकालीन संस्कृत नाटक 'मुद्रितकुमुदचन्द्रप्रकरण' में किया गया है तथा इस घटना का चित्रण आचार्य जिनविजयजी के द्वारा प्रकाशित चन्द समकालीन चित्रों में भी मिलता है।

हेमराज नामक श्रावक की विनती से नवगांवपुर में लिखी गई।[1] इस नवगांवपुर का स्थान निश्चितरूप से स्थापित किया नहीं जा सकता। यशःकीर्ति गुणकीर्ति के शिष्य थे। तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की जीवनी का आलेखन करने वाली उनकी दूसरी अपभ्रंश कृति हैं चंदप्पहचरिउ'। इसकी सं० १५७१ में लिखी हुई १५० पत्र की एक पाण्डुलिपि मेरे मित्र पं० अमृतलाल मोहनलाल ने मुझे दी थी। 'चंदप्पहचरिउ' में रचनावर्ष नहीं दिया है, तथापि उसको 'पाण्डवपुराण' के रचनाकाल के अरसे में रख दिया जा सकता है, 'चंदप्पहचरिउ' का ग्रन्थाग्र २३०८ श्लोकों का है। उसमें कर्त्ता ने जो उल्लेख किया है उसके अनुसार हुंवड जाति के कुमारसिंह के पुत्र सिद्धपाल की विनती से गुर्जर देश में उम्मत्त गाँव में उसकी रचना हुई। उम्मत्त गांव उत्तरगुजरात में स्थित वडनगर के समीप का उमता गांव होगा। 'पाण्डवपुराण' की रचना जिस स्थान में हुई उस नवगांवपुर का भी गुजरात में होना असम्भव नहीं हैं, तथापि इसके लिये स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला है। मेरे पास की पाण्डुलिपि में से 'चंदप्पहचरिउ' के आदि-अन्त में से ऐतिहासिक दृष्ट्या महत्वपूर्ण भाग यहां रखता हूं।

आदि

'हुंवडकुलनहयलि पुप्फयंत वहुदेउ कुमरसिंहु वि महत।
तहं सुउ णिम्मलगुणगणविसालु सुप्रसिद्ध पभणइ सिद्धपालु।
जसकित्ति विबुह करि तुहुं पसाउ मह पूरइ पाइअकव्वभाउ।
तं णिसुणिवि सो भासेइ मंदु पंगलु तोड़ेसइ केम चंदु।'

अन्त

गुज्जरदेसह उम्मत्तगामु तहिं छड्डासुउ हुउ दोणणामु।
सिद्धउ तहो णंदणु भव्ववन्धु जिणधम्म भारि जं दिण्णु खंधु।
तसु सुउ जिट्ठउ वहुदेउ भव्वु जि धम्मकज्जि विव कलिउ दव्वु।
तहो लहु जायउ सिरिकुमरसिंहु कलिकालकरिंदहु हणणसिंहु।
तसु सुउ संजायउ सिद्धपालु जिणपुज्जदाणगुणगणरसालु।
तहो उवरोहें इह कियउ गंथु हउण मुणमि किंपि वि सत्थगंथु।
घत्ता। जा चंददिवायर सव्व वि सायर जा कुलपव्वय भूवलउ।
ता यहु पयट्टउ हियइं चहुट्टइ (उ) सरसइदेविहिं मुहतिलउ।

'इय सिरिचंदप्पहचरिए महाकइजसकित्तिविरइए महाभव्वसिद्धपाल सवणभूसण सिरिचंदप्पह सामिणिव्वाणगमणणाम एयारहमो संधी समत्तो॥'

इस पाण्डुलिपि का हस्तलेख सौराष्ट्र के पूर्वतट पर के ऐतिहासिक नगर घोघा में हुआ था। उसकी पुष्पिका इस तरह है:—

---

१. कस्तूरचन्द कासलीवाल, 'प्रशस्तिसंग्रह', जयपुर १९५०, प्रस्तावना, पृ० १५। हस्तप्रतविषयक टिप्पण के लिए देखिये पृ० १२२-२७.

'सं० १५७१ वर्षे आषाढ वदि १२ बुधे अद्येह घोघाद्रंगे श्रीचंद्रप्रभचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भ० देवेन्द्रकीर्त्तिदेवास्ततपट्टे भ० श्रीविद्यानंदिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीमल्लिभूषणदेवास्ततपट्टालंकार गच्छनायक जिनाज्ञाप्रतिपालक छत्रीसगुणविराजमान वइतालीसदोपनिवारक औदार्यस्थैर्यगाम्भीर्यादिगुणविराजमान भट्टारक श्रीलक्ष्मीचंददेवोपदेशात् हुंवडज्ञातीय एकादशप्रतिमाधारक द्वादशविधतपश्चरणनिरत त्रिपंचास··· ··················' (पाण्डुलिपि का अन्तिम पत्र लापता होने से पुष्पिका की आखिरी चन्द पंक्तियां नहीं मिलती ।)

इसके बाद का ग्रन्थ है अमरकीर्त्तिकृत 'छकम्मुवएसो' अथवा 'पट्कर्मोपदेश' । यह श्रावकों के धर्म का आलेखन करनेवाला अपभ्रंश काव्य है । इसकी रचना महीतट प्रदेश के गोद्रह (पंचमहाल जिले के गोधरा) में सं० १२७४ (ई० स० १२१६) में हुई है। २५०० पंक्तियों के इस ग्रन्थ का सं. १५४४ में लिखा हुआ हस्तलेख अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० प्रो० केशवलाल हर्षदराय ध्रुव ने सर्वप्रथम प्राप्त किया था ।[1] तत्पश्चात् प्रो० मधुसूदन मोदी ने उसका सम्पादन किया और गायकवाड्स् ओरियेन्टल सिरीज में उसको प्रसिद्ध करने का आयोजन हो गया है। 'छकम्मुवएसो' के कर्त्ता अमरकीर्ति दिगम्बर सम्प्रदाय के माथुर संघ के चन्द्रकीर्त्ति के शिष्य थे । नागर कुल के गुणपाल एवं चच्चिणी के पुत्र अम्बाप्रसाद की प्रार्थना से इस काव्य की रचना हुई । कर्त्ता के अपने ही कथन के अनुसार अम्बाप्रसाद उनका छोटा भाई था । इससे विदित होता है कि अमरकीर्त्ति पूर्वाश्रम में नागर ब्राह्मण थे और बाद में उन्होंने दिगम्बर साधु की दीक्षा ली थी । उनका यह भी विधान है कि 'छकम्मुवएसो' की रचना के समय गोद्रह में चौलुक्य वंश के कर्णराजा का शासन प्रवर्त्तमान था । गोद्रह के चौलुक्य राजाओं की शाखा अणहिलवाड पाटण के चौलुक्य राजवंश से भिन्न है, और अमरकीर्त्ति ने जिसका उल्लेख किया है वह कर्ण उससे करीब सवा सौ वर्ष पूर्व के गुजरात के चौलुक्य नृपति कर्णदेव (सिद्धराज जयसिंह के पिता कर्ण सोलंकी) से भिन्न है ।

'छकम्मुवएसो' की प्रशस्ति में अमरकीर्ति ने अपने अन्य सात ग्रन्थों का उल्लेख किया है:—

'नेमिनाथचरित्र', 'महावीरचरित्र', 'यशोधरचरित्र', 'धर्मचरित्र टिप्पण', 'सुभाषितरत्ननिधि', 'चूड़ामणी' और 'ध्यानोपदेश' । तदुपरान्त वह कहता है कि लोगों के आनन्ददायक बहुतेरे संस्कृत-प्राकृत काव्य भी उसने लिखे थे । परन्तु इनमें से एक कृति अभी मिलती नहीं है ।

प्रमाण में प्राचीन काल में गुजरात में रचित दिगम्बर साहित्य की ये उपलब्ध रचनाएँ हैं ।[2] यदि ऐसी अन्य कृतियों की भी खोज की जाय तो गुजरात के दिगम्बर सम्प्रदाय के इतिहास पर एवं तद्द्वारा गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास पर ठीक-ठीक प्रकाश डाला जा सकेगा ।

---

१. 'छकम्मुवएसो' के आदि-अन्त के अवतरण के लिए देखिये मोहनलाल दलिचन्द देसाई, जैन गुर्जर कविओ', भाग १, प्रस्तावना, पृ० ७६-७८; केशवराम शास्त्री, 'आपणा कविओ', पृ० २०४-५१ ।

२. प्राचीन गुजराती में भी थोड़ा कुछ दिगम्बर साहित्य मिलता है । श्री मोहनलाल देसाई ने ('जैन गुर्जर कविओ', भाग १ पृ० ५३-५५) मूलसंघ के भुवनकीर्ति के शिष्य ब्रह्मजिनदासकृत 'हरिवंशरास' (सं० १५२०), 'यशोधर-रास', 'आदिनाथ रास' और 'श्रेणिक रास' का उल्लेख किया है । दिगम्बरकवि रचित पांच अज्ञात फागु-काव्यों का परिचय श्री अगरचन्द नाहटा ने दिया है ('स्वाध्याय' त्रैमासिक, पु० १, अंक ४), जिनमें से रत्नकीर्ति का 'नेमिनाथ फाग' गुजरात के भड़ौच के नजदीक के गांव हांसोट में रचा हुआ है । गुजरात में रचित दिगम्बर साहित्य के उपरान्त गुजरात में जिनकी प्रतिलिपि की गई हो ऐसे दिगम्बर ग्रन्थों के लेखन-स्थान एवं लेखनवर्ष का अध्ययन यदि पाण्डुलिपियों की मुद्रित सूचियां आदि के आधार पर किया जाय, तो भी गुजरात के दिगम्बर सम्प्रदाय के प्रसार के बारे में स्थलकालदृष्ट्या बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है ।

जैन आगम–औपपातिक सूत्र का सांस्कृतिक अध्ययन

भारतवर्ष संतों की साधना भूमि है। ऋषियों की चिंतन भूमि है। वीरों एवं सतियों का जीवनोत्सर्ग तीर्थ है। अनेक महापुरुषों ने समय-समय पर इस पवित्र भूमि में जन्म ले कर अपनी आत्मा का चरम आध्यात्मिक चरमोत्कर्ष किया, उन्नति की ओर जनता को सत्पथ प्रदर्शित किया। प्राचीनकाल में अध्ययन अध्यापन प्रायः मौखिक ही अधिक हुआ करता था इसलिए बहुत से महापुरुषों की अनुभूतिरूप वाणी आज हमें प्राप्त नहीं है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भारतवर्ष ने जो उन्नति की उसका, भी लेखा-जोखा बतलाने वाला प्राचीन साहित्य अधिकांश लुप्त हो चुका है। प्राप्त प्राचीन ग्रन्थों में उन ग्रंथों से पूर्ववर्ती जिन ग्रन्थकारों व पुस्तकों का नाम उल्लिखित मिलता है—उनमें से अधिकांश ग्रन्थ अब प्राप्त नहीं हैं। इसी से हम अपनी प्राचीन साहित्य-संपदा को कितना अधिक खो चुके हैं इसका सहज ही पता चलता है। लेखन-कला का समुचित विकास होने के बाद भी बहुत बड़ा साहित्य नष्ट हो चुका है।

भारत की दो प्राचीन संस्कृतियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक वैदिक दूसरी श्रमण। वैदिक संस्कृति सम्बन्धी प्राचीन साहित्य वेद आदि उपलब्ध हैं पर श्रमण संस्कृति का इतना प्राचीन साहित्य उपलब्ध नहीं है; जैसा कि बहुत से विद्वानों का मत है कि यदि वैदिक-आर्य बाहर कहीं से आकर भारत में बसे हैं तो उससे पहले भारत में अनार्य एवं श्रमण संस्कृति के अस्तित्व का पता चलता है। श्रमण संस्कृति में सम्भव है पहले और भी कई धाराएं हों, पर वर्तमान में बौद्ध और जैन ये दो धाराएं ही प्रसिद्ध हैं। इनमें से बौद्ध धर्म तो गौतमबुद्ध के द्वारा अब से २५०० वर्ष पूर्व ही प्रवर्तित हुआ पर जैन धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर बुद्ध के समकालीन थे, अतः प्राचीन है। उससे पूर्व २३ तीर्थङ्कर और हो चुके हैं जिनमें से पार्श्वनाथ को तो सभी विद्वान् ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं और उनके चातुर्याम धर्म का बौद्ध ग्रन्थों में निग्रन्थ धर्म के रूप में उल्लेख है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती भगवान् नेमिनाथ–पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। अतः उन्हें भी कई विद्वान् ऐतिहासिक मानने लगे हैं। भगवान् ऋषभदेव, जो जैन धर्म के अनुसार इस अवसर्पणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर थे, उनके बड़े पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम 'भारत' प्रसिद्ध हुआ और जिनकी बड़ी पुत्री ब्राह्मी के नाम से भारतवर्ष की प्राचीन लिपि का नाम 'ब्राह्मी' पड़ा। उन ऋषभदेव को भागवत पुराण में एक अवतारी पुरुष के रूप में मान्य किया गया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त ध्यानस्थ नग्नमूर्तियां जैन धर्म से सम्बन्धित होना अधिक संभव है।

उनके प्रधान शिष्य--गणधरों ने द्वादशाङ्गी के रूप में ग्रथित कर लिया, जिसे 'गणिपिटक' कहा जाता है। लंबे दुर्भिक्ष तथा मनुष्यों की ह्रसमान-स्मृति आदि के कारण चौदह पूर्व और बारहवें अंग दृष्टिवाद सूत्र का एवं ज्ञान भगवान् महावीर से दो सौ वर्ष के भीतर ही भद्रबाहु स्थलिभद्र से विछिन्न हो गया और उसके कुछ काल बाद तक दस [1]पूर्वों का ज्ञान रहा था, वह भी व्रज स्वामी के बाद नहीं रहा। इसलिए वीर निर्वाण के ६८० वर्ष बाद जब जैन आगम देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी में लिपिबद्ध किये, तब केवल ग्यारह अंग सूत्र और कुछ अन्य ग्रन्थ ही बच पाये थे, जिनके नाम नंदी एवं पक्षीसूत्र में पाये जाते हैं।

एकादश अंग सूत्रों में भी अब मूल रूप, में उनके जितने परिमाण का उल्लेख चौथे अंग सूत्र-समवायांग में मिलता है, प्राप्त नहीं है। समवायांग में बारहवें दृष्टिवाद--अंग सूत्र का विस्तृत विवरण है, चौदह पूर्व उसीके अन्तर्गत माने गये हैं। दृष्टिवाद बहुत लम्बे अर्से से नहीं मिलता। पर दसवां अंग प्रश्न-व्याकरण न मालूम कब लुप्त हो गया। समवायांग और नंदीसूत्र में 'प्रश्नव्याकरण' के विषयों का विवरण दिया है, वह वर्तमान में प्राप्त 'प्रश्नव्याकरण' में नहीं मिलता है। इससे मालूम होता है कि आगम लेखन के समय तक 'प्रश्न व्याकरण' मूलरूप में प्राप्त होगा पर उसके बाद उस सूत्र में मन्त्र विद्या, प्रश्न विद्या का विवरण होने से अनधिकारियों के द्वारा उसका दुरुपयोग न हो, यह समझ कर किसी बहुश्रुत आचार्य ने उसके स्थान पर पांच आश्रव और पांच संवर द्वार वाले सूत्र को प्रचारित कर दिया। ग्यारह अंग सूत्रों का भी जो परिमाण समवायांग आदि में लिखा है उससे वर्तमान में प्राप्त उसी नाम वाले अंगसूत्र बहुत ही कम परिमाण वाले मिलते हैं। जिस प्रकार आचारंग के पदों की संख्या १८००० हजार, सूत्रकृतांग की ३६०००, स्थानांग की ७२०००, समवायांग की १४०,०००, और व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) की ८४००० पदों की संख्या बतलाई गई है उनमें से आचारांग २५२५, सूत्र कृतांग २१००, स्थानांग ३६००, समवायांग १६६७, भगवती १५७५२ श्लोक परिमित ही प्राप्त हैं। यद्यपि समवायांग में उल्लिखित पद के परिमाण के संबंध में कुछ मतभेद हैं फिर भी यह तो निश्चित है कि उपलब्ध आगम, मूलरूप से बहुत कम परिमाण वाले रह गये हैं। छठे 'ज्ञाताधर्म कथा' में साढ़े तीन करोड़ कथाओं के होने का उल्लेख 'समवायांग' में है, उनमें से अब केवल प्रथम श्रुतस्कंध की १६ कथाएं ही बच पाई हैं। द्वितीय स्कंध जो बहुत आख्यायिका और उपआख्यायिकाओं का भंडार था, वह भी अब लुप्त हो चुका है। दिगम्बर सम्प्रदाय में आगमों के नाम और विषय तो वही मिलते हैं पर उनकी पद संख्या या परिमाण और भी अधिक बताया गया है। खैर, जो चीज लुप्त या नष्ट हो गई, उसके सम्बन्ध में तो दुःख ही प्रकट किया जा सकता है अन्य कोई चारा नहीं है। पर सबसे ज्यादा दुःख की बात है कि जो कुछ प्राचीन जैन प्राकृत वाङ्मय उपलब्ध है उसका भी पठन-पाठन जिस गहराई से किया जाना अपेक्षित है, नहीं हो पा रहा है इसके प्रधान दो कारण हैं--जैन मुनियों व श्रावकों के लिये ये ग्रन्थ श्रद्धा के केन्द्र हैं अतः परम्परागत जिस तरह उनका वाचन एवं श्रवण होता आया है, करते रह कर ही वे अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और जैनेतर विद्वानों का ध्यान इस ओर इसलिए नहीं जाता कि उनकी यह धारणा बन गई है कि इन ग्रंथों में जैन धर्म का ही निरुपण है, इसलिए उनका ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक महत्व विशेष नहीं है। पर वास्तव में यह धारणा उन ग्रंथों के गम्भीर अध्ययन के बिना ही बना ली गई है। अन्यथा बौद्ध साहित्य की भांति इन आगमादि का भी परिशीलन होना चाहिये था।

---

१. इन पूर्व संबंध श्रुतज्ञान पर आधारित कुछ ग्रन्थ कषाय पाहुड़ादि १ मिलते हैं।

साहित्य, समाज का प्रतिबिम्ब है। जिस काल में जिस ग्रन्थ की रचना होती है, उस ग्रन्थ में उस समय के जीवन की झलक आ ही जाती है। प्राचीन जैन आगम, भगवान् महावीर की वाणी का संकलन है। भगवान् महावीर ने अपना उपदेश अपने विहार क्षेत्र के अधिकाधिक लोगों की जनभाषा में दिया था। इसीलिये इसका नाम अर्धमागधी रखा गया। इस प्राचीन साहित्य में भगवान् महावीर के समय के देश प्रदेश, ग्राम, नगर, राजा, रानी, मन्त्री, सेठ, विद्वानों आदि के अनेक ऐतिहासिक प्रसंग एवं उस समय के लोक जीवन के वास्तविक चित्र प्राप्त होते हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से इन ग्रन्थों का अध्ययन करने से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और संस्कृति सम्बन्धी अनेकों महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आवेंगे।

बौद्ध साहित्य की अपेक्षा जैन साहित्य के अध्ययन का महत्व इसलिये और भी बढ़ जाता है क्योंकि जैन साहित्य की परम्परा २५०० वर्षों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। आगमों पर समय समय पर निर्युक्ति, भाष्य चूर्णि, एवं विस्तृत टीकाएँ रची जाती रही हैं और उनमें उन टीकाकारों ने अपने अनुभव एवं मौखिक श्रुत परम्परा और अन्य साहित्य से प्राप्त हुए ज्ञान का बहुत सुन्दर रूप से उपयोग किया है। निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि में-जो आगम काल के बाद की है, अनेक सांस्कृतिक प्रसंग उल्लिखित हैं। भगवान् महावीर के कुछ शताब्दी बाद जैन मुनियों के जीवन में कितने विषम प्रसंग उपस्थित-हुए और उस समय उन्होंने अपने आचार एवं जैन धर्म को किस तरह सुरक्षित रखा, इसका बहुत ही विशद वर्णन छेद सूत्र एवं उनकी भाष्य चूर्णि में मिलता है। आचार्य कालक और शकों के भारत आगमन का प्रसंग निशीथ चूर्णि आदि में लिखा मिलता है जो भारत के ऐतिहासिक अन्धकार को मिटाने के लिये उज्जवल प्रकाश है।

आगमों की टीकाओं के अतिरिक्त मौलिक ग्रन्थ भी बराबर रचे जाते रहे हैं। उन सबके आधार से भारत के इतिहास और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण तथ्य निकाले जा सकते हैं। जबकि बौद्ध साहित्य की परम्परा भारत में कुछ शताब्दी चलकर ही लुप्त हो गई। उनके मध्यकाल के जो थोड़े से ग्रन्थ मिलते हैं, वे बौद्ध न्याय के होने के कारण उनसे दार्शनिक उथल-पुथल का ही थोड़ा पता चल सकता है पर सांस्कृतिक सामग्री अधिक नहीं मिल सकती। दसवीं शताब्दी के बाद भारत में रचा हुआ बौद्ध साहित्य प्रायः नहीं मिलता क्योंकि बौद्ध धर्म का प्रचार तब भारत के बाहर होने लग गया था जबकि जैन धर्म भारतवर्ष में ही सीमित रहा; इसलिये मध्यकालीन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सामग्री के रूप में जैन साहित्य अधिक मूल्य-वान है।

जैन आगम साहित्य प्राकृत भाषा में है और उसी भाषा से आगे चलकर अपभ्रंश का विकास हुआ। अपभ्रंश में भी सबसे अधिक साहित्य निर्माण जैन विद्वानों ने ही किया है। अपभ्रंश भाषा से ही उत्तर भारत की समस्त प्रान्तीय बोलियां निकली हैं। इसलिये भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जैन साहित्य का महत्व सर्वाधिक है। बहुत से शब्दों के मूल का पता लगाने में जैन साहित्य ही सबसे अधिक सहायक हो सकता है। जैन आगमों आदि में प्रयुक्त अनेकों शब्द आज भी प्रान्तीय बोलियों में ज्यों के त्यों या सामान्य परिवर्तन के साथ प्राप्त हैं। फिर समय समय पर उन शब्दों व व्याकरण के रूप किस तरह परिवर्तित होते गये। इसकी भी पूरी जानकारी जैन साहित्य से भलीभांति मिल सकती है। बहुत से देशी शब्द जिनकी उत्पत्ति संस्कृत कोष एवं व्याकरण में ठीक नहीं मिल सकती, उनका प्राचीन रूप व परिवर्तित रूप भी जैन साहित्य के आधार से जाना जा सकता है। प्रान्तीय भाषा में केवल उत्तर भारत की ही नहीं पर दक्षिण

रोचक एवं उपदेशक। वे उस समय के लोकजीवन का अच्छा चित्र उपस्थित करती हैं। सातवें उपासक दशांगसूत्र भी विविध दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसमें दी हुई भगवान् महावीर के दस श्रावकों की जीवनी से तत्कालीन धर्म जिज्ञासा, जीवन की आवश्यकताओं, समृद्धि, गोधन, विविध व्यापार, गोशालक आदि के अनेक प्रसंग, उस समय के सांस्कृतिक चित्र उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार अन्तकृतदशांग व अनुत्तरोपातिक सूत्रों में भी महान साधकों की उज्जवल जीवनी है। उनमें से बहुत से व्यक्ति ऐतिहासिक भी हैं। प्रश्न व्याकरण नामक दसवें उपलब्ध अंग सूत्र में, अहिंसा, सत्य, औचर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पांच आश्रवों एवं दया सत्य आदि पांच सवर आदि के अनेक पर्यायवाची नाम, हिंसादि करने के साधन-सामग्री का वर्णन महत्व का है शब्द कोष और सांस्कृतिक दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़े काम का है। ग्यारहवें-विपाक सूत्र अच्छे और बुरे कर्मों के परिणाम बताने वाली कथाओं का संग्रह है इससे तत्कालीन दंड व्यवस्था, लोक जीवन आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

इन ग्यारह अंग सूत्रों का थोड़ा सा सांस्कृतिक महत्व दिखाते हुए अब हमें प्रथम उपांग—औपपातिक सूत्र के सांस्कृतिक महत्व का संक्षिप्त विवरण देंगे।

औपपातिक सूत्र का आधे से अधिक भाग वर्णनों के संग्रह रूप में है। इसलिये सांस्कृतिक दृष्टि से यह सूत्र बहुत ही मूल्यवान है। इसमें नगर, चैत्य, वनखंड, अशोकवृक्ष, पृथ्वी शिलापट्ट, राजा रानी उपस्थान व अट्टणशाला, भगवान् महावीर और उनका शिष्यवर्ग, चम्पानगरी के महाराज कोणिक, उनकी राजसभा का वर्णन इतना सजीव हैं कि उनको पढ़ते ही उनका एक चित्र सा सामने खड़ा हो जाता है। उस समय के नगर में क्या २ विशेषतायें होती थीं? चैत्य कैसे होते थे? राजा और राज सेवकों का व्यवहार, राजा का प्रभुत्व, राजा के शारीरिक व शासनिक नित्य कार्य, जनता में महापुरुषों के दर्शन की उत्सुकता उनके पधारने पर आनन्द का वातावरण, धर्मोपदेश सुनकर प्रसन्नता की अनुभूति, राजा की सवारी, उसकी सभा, तीर्थङ्कर के समोसरण आदि के अनेक चित्र सामने आ उपस्थित होते हैं। भगवान् महावीर के शरीर और उनके गुणों का, उदाहरण एवं उपमा सहित जैसा सुन्दर निरूपण इस ग्रंथ में है, अन्यत्र नहीं मिलता। उनके शिष्य समुदाय और तपस्वी जीवन का एवं तत्कालीन परिव्राजक, आजीविक, वानप्रस्थ तापस, श्रमण आदि का विशद् वर्णन भी उल्लेखनीय है। प्रसंगवश चार प्रकार की कथायें, नव विहाई, आठ मंगल, पांच अभिगम, पांच राजचिन्ह, बहत्तर कला, नव अंग, अठारह भाषा, चार प्रकार का आहार, बाह्यअभ्यन्तर तप भेद, चार गतियों के चार चार कारण, अणगार 'धर्म' और श्रावक धर्म के १२ भेद, सात निन्हव विविध प्रकार के पुष्प अलंकार, अनेक प्रकार के तपस्वियों आदि के महत्वपूर्ण विवरण इस सूत्र में मिलते हैं साथ ही असुरकुमार, भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक देवों और सिद्धशिला, सिद्ध गति, समुद्घात आदि का भी अच्छा वर्णन दिया गया है। राजा-रानी के विवरण में विदेशों की दासियों का जो विवरण दिया गया है उससे उस समय भारतवर्ष में अन्य कौन कौन से देशों की स्त्रियां, रानियों व सेठानियों की सेवा में रहती थी, इसकी महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। सूत्र पाठ इस प्रकार है—

"बहूहिं खुज्जाहिं चिलाईहिं, (वामणीहिं वडभीहिं बब्बरीहिं पउयासियाहिं जोणियाहिं) पल्हवियाहिं इसिगिणीयाहिं थासिइणियाहिं लासियाहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमिलीहिं आरबीहिं पुलंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सबरियाहिं पारसीहिं णाणादेसी विदेस परिमंडियाहिं इंगिय चिंतिय पत्थिय वियाणियाहिं"

"से जे इमे जाव सन्निवेसेसु परिव्वाया भवंति तं जहा ईखा जोगी काविला · भिउव्वा हंसा परमहंसा बहूउदगा कुडिव्वया कण्हपरिव्वायया। तत्थ खलु इमे अट्ठ माहण परिव्वायया भवंति। तंजहा—

ब्राह्मणपरिव्राजक

कण्णे[1] य करकण्टे[2] य अंबडे[3] य परासरे[4]।
कण्हे[5] दीवायणे[6] चेव देवगुत्ते[7] य नारए[8] ॥१॥

क्षत्रिय परिव्राजक

तत्थ खलु इमे अट्ठ खत्तिय-परिव्वायया भवंति तं जहा—

सीलई[1] ससिहारे[2] (य) नग्गई[3] भग्गई[4] ति य।
विदेहे[5] राया[6] रायारामे[7] बले[8] ति य ॥

ते णं परिव्वायया रिउवेद यजुव्वेद सामवेय अहव्वणवेय इतिहासपंचमाणं, णिघण्टु छट्ठाणं संगोवं गाणं, सरहस्साणं चउण्ह वेयाणं सारगा पारगा धारगा वारगा सडंगवी सट्ठितंतविसारया, संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते, जोइसामयणे अण्णेसु य (बहूसु) बंभण्णएसु य सत्थेसु सुपरिणिट्ठिया यावि होत्था।

परिव्राजकों को क्या क्या नहीं करना चाहिये इसका विवरण देते हुए ४ कथाओं व धातु पात्रों एवं आभूषणों का विवरण इस प्रकार दिया है—

"तेसि परिव्वायाणं णो कप्पइ— इत्थिकहा इवा भत्त कहाइवा देस कहाइवा, राय कहाइवा,

STUDY OF TITTHOGALIYA

The Yuga[1] conception of the Vedic tradition and the Avasarpini of the Jainas have a common feature of degradation in Bhāratavarsa in every respect. Thus the present Kaliyuga of the Vedic tradition and the Duṣama of the Jainas are the periods when degradation has taken place in every respect in comparision with their previous period of Satya and Suṣamaduṣama. So, it is but natural that degradation of the religious life should take place and so we find such narration in the religious literature. However it may here be noted that according to Vedic Tradition the king[2] can change this process of degradation but according to the Jainas there is no such possibility. I propose to give the gist of my study of a work 'Titthogaliya[3] (Sk. Tīrthodgalika[4]) which mainly deals with the degradation of the Jaina Tirthas. Unfortunately though included in the list of the 84 Àgamas the work is not yet published. So, I have to base my study on the copy of the mss. of the work Titthogaliya supplied very kindly by Muni Shri Punyavijayaji.

MSS. OF THE WORK :

The Jainagranthāvali on p. 62 and Jinratnakoṣa on p. 161 give information regarding the availability of the mss. of the Titthogāliya. Also Bhandarkar Oriental Research Institute Cat. Vol.XVII part I gives description of three mss. of Titthogâliya having No. 395 to 397.

Though the work itself gives us the information that it contains 1233 gathas[5], we find different number of gathas in different mss. The copy before me has 1251 gathas and some other mss. has 1254 gathas. And also we find the difference of granthāgra mentioned at the end of the mss. Some have 1565 while others have 1570 granthagras.

The press copy before me is based on a palmleaf mss. copied in V.S. 1452 at Patan at the instance of Àcharya Sundara Sūri of Tapagacche. The three mss. with B.O.R.I. are dated V. S. 1584, 1612 and 1671 respectively.

---

1. History of Dharmasūtra : Vol. V. Part I pp. 688 ff.
2. Ibid p. 698.
3. See, B. O. R. I. Cat. Vol. XVII part I, Vo. 395-397 and Jainaratnakosa I. p. 161.
4. Jainagranthavali p. 62 gives : SK. Tirthodgāra
5. तेतीसंनाहाओ दोन्नि सताउ सहस्समेगं च ।
   तित्थोगालीए संखा एसाम भणियाउ अंकेण ॥
   ॥ गाथा १२३३ ॥

दससु वि वासेसेवं दस दस अच्छेरगाइं जायाइं ।।
ओसप्पिणीए एवं तित्थोगालीए भणियाइं ।। ८८३ ।।
उवसग्ग—गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभव्विया परिसा ।।
कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंदसूराणं ।। ८८४ ।।
हरिवंस कुलुप्पत्ति चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा ।।
अस्संजयाण पूया दस वि अणंतेण कालेण ।। ८८५ ।।

Out of these ten only Uvasagga seem to be accepted by the Tiloyapannatti when it describes the special features of Huṇḍāvasarpini and says that 7 h. 23rd and the last 24th. Tirthankaras have Uvasagga :

सत्तमतेवी संतिमतित्थयराणं च उवसग्गो ।। ४. १६२०

These and other views* of T. go to prove that it is a Sve. work.

Contents of the Work

After eulogy to Tirthankaras Rsabha etc., (1–3) and Sramanasangha (4 a) the author proposes to write in short about the degradation of the Tittha (Titthogali) (4b). Originally this was preached by Lord Mahavira at Gunasila Caitya in Rajagraha (5–6).

Kala is beginningless and endless and it is divided in twelve araga. It is permanent as well as impermanent according to different Nayas. Absolute or extreme view is wrong. Jainas preach Non-absolutism (Anekanta) (7–8). In Bharat and Aryavata there are Avasarpini and Utsarpini but in the rest of the world there is no change in Kala (9). Duration of two cycles, their nature, six divisions of each cycle, duration of division etc. (10–25), condition in (1) *Susamasusma* (26–54), Description of (2) *Susama* (55–62), of (3) *Susamadusama* (63–), in the last part of *Susamadusma*, 7 Kulakaras are born one after another of which the last is Nabhi and his wife is Marudevi (70–94). Narration of the Life of Rishabha begins (95), 13–14 Dreams (110–), their result (118–), gods' arrival to serve the mother (127), miracles at the time of birth (132–), coming of Disakumaris (136) and other gods Bhavanapati etc (182), moving of the thrones of Sakra, etc. praise and performance of bath ceremony by them at Sumeru (188–), presents by the gods (267–). Indra's arrival for the establishment of the Iksvaku Vansa (278), marriage and the birth of Bharat etc. (280), enthronement of Rsabha as a king (285), Diksha (292), Bharat and his Jewels (294).

---

2. These are from Sthananga-777 see also my Sthananga-Samavayanga P. 891.

* एगंपि असइत्थिओ मिच्छदिट्ठी अमाणित्ता गा० १२०३

13. At the same time the other 9 Tirthankaras are also born in different lands and so the description of Reshabha will apply to them also (96–). Similar is the case with Bharat Cakri. He also has his contemporary Cakri in different lands (308).

Begins the story of Srutahani upto Duppasaha (693)–Viccheda of Kevali in V.N. 64 with the death of Jambu (698), Viccheda of Manaparyaya etc. (695), Viccheda of Caturdasapurva at time of Sthulabhadra in V. N. 170 (697). The question regarding the Viccheda (698-). The birth of Mahavira when there remained 74 years and 8 months for the end of fourth Araka and his death accured when 3 years 8 months and 15 days remained for the end of the same (704–5). Sudharma Jambu, Prabhava Sayyambhava Jasabhadda, Sambhuto, Bhaddbahu (707–), due to anavrsti monks had to leave thə Magadha (712), after returniug back–

ते बिंति एक्कमेक्कं सज्झाओ कस्स केत्तिओ धरति ।
हंदि दुक्कालेणं अम्हं नट्ठो उ सज्झाओ ॥७१७॥
जं जस्स धरइं कंठे ते ते परियट्टिऊण सव्वेसिं ।
तो गेहिं पिंडिताइं तहियं एक्कारसगाइं ॥७१८॥

Some of the monks go to Bhaddabahu and say to him on behalf of Sangha—

तं अज्जकालियजिणो वीरसंघो तं जायए सव्वो ।
पुव्वसुयक(ध)म्मधारय पुव्वाणं वायणं देहि ॥७२३॥

but as he was not ready to give Vacana was asked by the monks as to what will be the danda proper for you for such behaviour (724–6). He replies:—

सो भणति एव भणिए अविसन्नो वीरवयण नियमेण ।
वज्जेयव्वो सुयनिण्हओ त्ति अह सव्वसाहूहिं ॥७२७॥

then the monks say to him—

तं एवं जाणमाणो नेच्छेसि नो पाडिपुच्छियं दाउं ।
तं थाणं पत्तं ते कह तं पासे ठवेहामो ॥७२८॥
बारसविहसंभोगो वज्जए तो तयं समणसंघो ।
जं ने जाइज्जंतो न वि इच्छसि वायणं दाउं ॥७२९॥

on this he agrees to give Vacana (730), so more than 500 monks go to him, one of them being Sthulabhadra who only remains with him upto the end (738–), as he learns the 11th purva, his seven sisters come to him and a miracle is performed by him (749-) and knowing this Bhadrabhahu informs him to discontinue the further vacana. But on his request he gives him vacana of the rest (764–). Story of previous life of Sthulabhadra (772–), Bhadrabhahu though gives Vacana of the last four purvas to him he is not permitted to teach them to others : so, after him only ten Purvas remain (797-)

एतेण कारणेणं उ पुरिसजुगे अट्ठमम्मि वीरस्स ।
सगराहेण पणट्ठाइं जाण चत्तारि पुव्वाइं ॥७९८॥

अणवट्ठप्पो य तवो तवपारंची य दो वि वोच्छिन्ना ।
चोद्दसमुव्वधरम्मी धरंति सेसा उजा तित्थं ॥७९९॥
तं एव सगवंसो य नंदवंसो य मरुयवंसो य ।
सयराहेण पणट्ठो समयं सज्झायवंसेणं ॥८००॥
पढमो दसपुव्वीणं सयडालकुलस्स जसकरो धीरो ॥
नामेण थूलभद्दो अविहिंसाधम्मभद्दो त्ति ॥८०१॥

and the last Dasapuvvi will be Saccamitta (802–) and after V.N. 1000 in the time of Uttaravayaga the last knower of Puvvagaya the Vicceda of Purvas will occur (805–) Then follows the mention of the Viccheda of the rest of the Agamas (807–) -which is compared here with the account of the Digambara tradition:—

In V.N.	or V.N.	The end of	Occurred according to
64	–	Kevali	Tittho. 694
–	62	,,	Tiloya. 4. 1478
170	–	Srutakevali	Tittho. 697
–	162	,,	Tiloya. 4.1484
375	–	Dasapurvi	Tittho. 800
–	345	,,	Tiloya 4.1486
–	565	Ekadasangadhara	Tiloya 4. 1489
–	683	Acarangadhara[1]	Tiloya. 4.1491
			Will occur according to
1000	–	Puvvagaya	Tittho. 806
1250	–	Last six Angas and Vyakhyaprajnapti	Tittho. 807
1300	–	Samavaya	,, 810
1350	–	Sthananga	,, 811
1400	–	Kalpa and Vyavahara	,, 812
1500	–	Dasasruta	,, 813
1900	–	Sutrakrtanga	,, 814
2000	–	Nisitha	,, 815
20000	–	Acaranga	,, 816
20500	–	Uttaradhyayana	,, 822
20900	–	Dasavaikalika	,, 823
–	20317	Srutatirthavicceda	Tiloya. 4.1493

Then the lives of the following are narrated:- Duppasaha the last monk (825). Faggusiri the last nun (837), Saccasiri the last lay-woman (838), Vimalavahana the last

1. There is some differance about the calculation but the year 683 is common, vide Dhavala part I Intro. pp. 26 ff. and Jaya Dhavala part I Intro. pp. 48 ff.

king and Sumuha his amatya (840). The Indra comes and offers his prayers to the Sangha (843). The gathas of the prayer are from Nandi (844–). Again, the life of Duppasaha (850–), and the future lives of Vimalavahana and others (857) are sketched. Upto the end of V.N. 21000 Avasyaka, Anuyogadvara and Nandi will remain intact (avvocchinna) (861–)., two types of Caritra-Samayika and Chedopasthapaniya will be possible till the existence of the Tirtta. (863) and so—

जो भणति नत्थि धम्मो नेव सामाइयं न चेव य वयाइं ।
सो समणसंघवज्झो कायव्वो समणसंघेण ॥८६४॥
जइ जिणमतं पवज्जह ता मा ववहारदंसणं मुयह ।
ववहारनयच्छेदे तित्थुच्छेदो जओहवस्सं ॥८६५॥
इच्चेयं भणियमिदमं निच्चं दव्वट्ठयाए नायव्वं ।
पज्जाएण अणिच्चं निच्चानिच्चं च सियवादो ॥८६६॥
जो सियवायं भासति पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेइ मणेण सया सो हु पमाणं पवयणस्स ॥८६७॥

At the end of (5) Dusama there will be the end of Dhamma and so after that Adhamma will prevail (870-) The condition during the (6) Dusama (871-), mention of 10 accheragas (884) and of the no. 54 of Loguttamapurusas (886), the (6) Egantadusama Kala described (933) then only the Adhamma will prevail. And.

गोधम्मसमाणाइं तेसिं मणुयाण सुरताइं ॥९४०॥

natural calamities (946), men will have to dwell in the Ganges, the Sindhu and the mounts (951–) duration of the (6) Atidusama (957).

Then begins the description of the *Utsarpiṇi* the progressive cycle of time wherein there will be progress in every respect. The first is (1) *Atidusama* in reverse form (959) the rains of five types (975), and as a result the depression of natural calamities (978-) and then comes (2) *Duṣama* (987).

एवं परिवड्ढमाणे लोए चंदे व धवलपक्खम्मि ।
तेसि मणुयाण तया गहस्स च्चिय होइ मणसुद्धी ॥०९१॥

Beginning of (3) Dusamasusama (993), mention of seven Kulakaras to be born in Dusama (999)).

Here it may be noted that after the gatha No. 1008 it is noted that 'gāthā Sahassami gatam'. This means that originally this gatha was numbered 1000th, from this it can safely be concluded that before this gāthā eight gathas are somewhere interpolated. Mention of Tirthankars, Cakri and Vasudevas to be born in (3) *Duṣamasuṣama* Kala 1019-). Seniya of the previous birth will be born as Mahapauma (Pauma) of this Thir-

thankara, parents and the dreams etc. (1020-), Mahāpadma's other name Vimalavahana (1050), ganadharas of Mahapauma (1088), Names of the Tirthankaras to be born in Utsarpini in Bharata (105 -), in Airavata (11 10), Cakri of Bharata and Airavata (117-) Vasudeva etc. (136 -).

Description of (4) *Susama-Dusama Araka* (1145 -), of *(5) Susama* (1151 -), of (6) *Susama-Susama* (1150). The persons who do not deserve to hear this (1181 -) and those who deserve (1184 -). Preaching on Sammatta, Jñana and Caritta (1186) - 10 Yati Dharma (1187) adoration of Samyakiva (1202 -).

सम्मत्ताओ नाणं सियवायसमन्नियं महाविसयं ।
सव्वाभावविभावं दुवालसंगं पि गणिपिडगं ॥ १२१२ ॥
जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुया वि वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिगुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेण ॥ १२१३ ॥

Then comes the description of Moksa (1215)

जह नाम कोइ मेच्छो नगरगुणे बहुविहे वि जाणंतो
न चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असंतीए ॥ १२४० ॥

Conclusion and adoration to Sangha and a request to correct
The mistakes (1247-50). The Prasasti at the end is as follows :

तित्थोगाली सम्मत्ता । श्री योगिनीपुरवासिभिर्महर्द्धिक राजमान्यैः
सकलनागरिकलोकमुख्यैः ठ० ठकुरा ठ. पदमसी है:
लिखितः सा० राजश्री धर्मअनुयोगद्वारचूर्णिः १ षोडशक
सूत्रवृत्तिः २ तित्थोगाली ३ श्री ताडे तथा श्री ऋषभदेव चरित्रं १२
सहस्र कागदे एवं पुस्तिका ४ तपागच्छनायकसुन्दरसूरीणामुपदेशेन
संवत १४५२ श्री पत्तने लेखिता इति भद्रं ॥ छ ॥

Sources

The main theme of T. is to describe in detail the progressive annihilation of the present Tirtha. But in order to give an idea of the whole cycle of time which is called Kalpa and to present the theme of T. as a part of the whole cycle of time T. describes the two divisions of Kalpa the Avasarpiṇi and the Utsarpiṇi setting up in that frame at a proper place the narration of progressive annihilation of the present Tirtha, so that one can have an idea of the same in the proper perspective. With this purpose in view the author has compiled this work using mainly canonical works and perhaps the old Niryuktis and some other works of which we know very little. It is definite that he has used for the description of the Kalpa or the Kàlacakra the following works: Bhagavatī Sūtra S. 287, Jambūdvīpaprajñapti second vakṣaskara sutras 18, wherein the Avasarpiṇi and Utsarpiṇi of Bharata are described. However, it may be noted here that the T. does not follow Jambū. (Sūtra 28) with regard to the number of Kulakaras and their Nīti. T.

follows here Sthangaṅga (556) and Samavayaṅga (157). This question of number is discussed by Jinabhadra in his Viśeṣaṇavati and by Santicandra in his Cam. (p. 132). On Jamp. (also see my note on this, Sthanaṅga-Samavayaṅga p. (692-695). For life of Bharata vide Jambū P. Vakṣ. III. As regards the description of Tirthankaras and Kulakaras etc. which is found here, it is to be noted that we are not sure if it is from Âvaśyakaniryukti, we may consult the ÂvaN 150 ff. for finding out the common source. Paumacriya (Uddesa-21) of Vimal gives the details as are found in T. We should also compare the Tiloyapannatti (41.313 ff) which is also useful in deciding the sources of T.

Comparison and Date :

In the T. itself we find many times stated that T. was preached by Lord Mahavira or the Jinavara (5,677, 875, 895, 1180, 1246, 1247 etc). Original T. had one lac padas (5, 1246) but this T. is an abridgment of the original T. (6, 706, 875). The reference to Titthogaliya is found in Vyavaharabhasya wherein it is stated:

तित्थोगाली एत्थं वत्तव्वा होद आणुपुव्वीए ।
जैं तस्स उ अगस्स वुच्छेदो जहि विणिद्दिट्ठा ॥ १०.६०४ ॥

It is certain that according to Vyavaharbhasya the progressive vicceheda of Añgas is described in T. The question was raised as to what was lost and what was not at the time of Jambū and the Vya. Bhasya says that it is to be decided according to T. (110.695). Some said (Vya. 10.695) that there was no path for liberation after Jambū. But in T. the question is decided that up to the end of the Dusama there will be Samayika and Cheda Caritras (T. 863-867). Moreover Vya. B. favourably records the view that there is no Viccheda of four Vyavaharas (10.703) as accepted by some (10.696). And accoriding to T. there will be the persons who will possess the Kalpa and Vyavahara (10.702 : Kappavavaharadhariṇo dhira). We find the same mentioned in T. : Taiyā vi Kappa-Vavaharadharo-676 'Maṇaparamohi' etc. (T. 695 and Vya. B. 10.699) is from same source i. e. Niryukti. So it is certain that T. was present before the author of Vya. B. Some of the gathas of Saṅgha Stuti occuring in Nandi are found in T-(vide T. 844-848 and Nandi 4-8) but in Nandi the order of these gathas is different. Here I am not in a position to decide whether T. quotes from Nandi.

"Bavīsawi Titthayara" T. 449 is common in Mulacara (7.36) andAvaN. 1243, and X 'Sapadikkamano Dhammo' T. 447 is also common in Mūlacara (7. 129) and AvN, (1241). Moreover many gathas of T. describing the life of Ṛsabha and giving the common features of all the Tirthañkaras are found in Avaśyakaniryukti such as :—

ĀvN. (Dipika Ed.) 150-161=T. 70 81; ĀvN. (62-168=T. 83-89); ĀvN. 189-195= T. 275-280; ĀvN. 196-207=T. 282-290 and Bhasya No. 4; ĀvN. 221-223 = T. 385-387; ĀvN. 228=T. 399; ĀvN. 319-320 = T. 400-401 ; AvN 253-254 comp. with T. 402, 405 and 406 ; AvN 341, 346, 546, 547, 548, 552, 553, 551=T. 421-429; AvN. 554-567

= T. 430–446 ; T. 1216—46 have many gathas common with Avn. 952–982 ; Avn. 1241–43 = T. 447–449; Also comp. these with Devendrastava 273–302. T. has following gatha—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेणं ॥ १२१३ ॥

The same is found in Mahapratyakhyana-101. With slight variation Kundakunda's Pravacansara has :—

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण ॥ ३.३८ ॥

and also Vimala's Paumacariya :—

जं अन्नाण तवस्सी खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
कम्मं तं तिहि गुत्तो खवेइ नाणी मुहुत्तेणं ॥ १०२. १७७ ॥

It also should be noted that

सिज्झन्ति चरिय भट्ठा दंसण भट्ठा न सिज्झन्ति ॥ १६ ॥

this latter half is found in Ekatvanupreksa of Kundakunda and T. has—

सिज्झन्ति चरणहीणा न सिज्झन्ति ॥ १२०७ ॥

But note that in Bhaktaparijna 66 is same as that of Kundakunda's Ekatva. 19. with a difference that the former has singular number.

Amongst these authors it is difficult to say who is influenced by whom.

T. Gathas 1226–1227 are from Uttaradhyyana 36. 56–57. These and other factors help us in deciding the date of T. But since the dates of all the works utilised for comparision are not finally settled, we are not in a position to finalize the date of T. This much we can say that it was compiled before Vyavahara bhasya and we may for the time being agree with Shri Muni Kalyanvijayji that T. was completed in 5th. Century of Vikrama era,—vide his essay on Vira Nirvan Saṁvat p. 30.

राजस्थान भाषा पुरातत्व

१. प्राग् एतिहासिक पृष्ठ भूमि, आदिम जातियां—भील, द्रविड़, आग्नेय, मंगोल उनकी भाषा-प्रवृत्तियां और संस्कृति ।

अर्थमय जगत की अभिव्यक्ति के लिये भाषा एक महान साधन है । इसके प्राचीनतम और श्रेष्ठतम प्रतीक ध्वनि द्वारा संघटित वे रूप हैं जो मानव विकास के साथ-साथ विकसित होते चले आ रहे हैं और जो समय समय पर यत्र तत्र विकीर्ण रूप में मिलते रहते हैं । भाषा और मनुष्य का विकास सदा से अन्योन्याश्रित रहा है । ज्यों ज्यों मनुष्य जगत के अर्थ की गहनता और विस्तार में प्रवेश करता गया त्यों त्यों उसकी अभिव्यक्ति के लिये उसका यह भाषा रूपी साधन अधिक सबल और सक्षम होता गया । इसी प्रकार मानव ने भी भाषा के माध्यम से जगत के गूढ़तम अर्थ को समझकर अपना विकास किया । भाषा के द्वारा मनुष्य ने जीवन के गंभीर रहस्यों को खोजा, उसके तत्वों पर चिन्तन-मनन किया, और उन्हें जीवन के व्यवहार योग्य बनाने के लिये भावों और विचारों की सृष्टि में स्थापित किया ।

सृष्टि और संस्कृति के विकास के साथ ज्यों ज्यों भाषा में विकास हुआ, वह अधिकाधिक व्यवहार योग्य होती गई, उसके रूप में परिवर्तन होता गया । ध्वनि और अर्थ में अधिकाधिक साम्य होता गया । भाषा में अर्थ की स्थिति स्थापना के हेतु विविधता और रूपात्मकता बढ़ी । पृथ्वी पर अनेक जातियों की सृष्टि हुई, उनका विकास तथा प्रसार हुआ । उनके विकास और ह्रास के साथ उनकी भाषा का भी विकास और ह्रास होता गया । अनेक जातियां कहीं कहीं अपनी भाषा के अवशेषों को सुरक्षित भी कर गईं । इनमें उच्चारण ध्वनि सबसे प्राचीन और परम्परागत अवशेष रहा और उसके पश्चात् रूप । ध्वनि और रूप में भाषा के विकास का इतिहास छिपा है । इस इतिहास में भाषा और उसको बोलने वाली जाति के उद्गम, विकास, ह्रास, परिवर्तन आदि अनेक स्थितियों की खोज की जा सकती है । भाषा के इतिहास से मानव जाति के इतिहास का भी उद्घाटन होता है । भाषा की स्थिति—उसका उद्गम, विकास, ह्रास आदि उसके बोलनेवालों पर निर्भर करती है । बोलनेवालों की उच्चारण और रचना—सम्बन्धी प्रवृत्तियों तथा उन पर प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि प्रभावों के कारण भाषा की शक्ति न्यूनाधिक होती रहती है । इनके द्वारा भाषा के उद्गम, विकास, ह्रास, परिवर्तन आदि को सक्रिय पोषण मिलता है । ये ही प्रवृतियां जब किसी भाषा की अपनी हो जाती हैं तो भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व सामने आ जाता है । अतः हमें यह खोजना है कि वे कौन सी भाषा प्रवृतियां हैं जो राजस्थान की अपनी हैं ।

भारत के जिस प्रदेश को हम आज राजस्थान कहते हैं; वह भाषा की दृष्टि से कोई पूर्ण इकाई नहीं हो सकती । राजनैतिक सीमाएं भाषा की सीमाओं से बहुत कम मेल खाती हैं । एक ही भाषा की सीमा में दो राजनैतिक सीमाएं देखी जाती हैं । भाषा की सीमाएं उसके बोलने वाले लोगों के ऊपर निर्भर करती

हैं। इस दृष्टि से राजस्थान भाषा पुरातत्त्व की खोज यहां पर रहने वाली आदिम जाति के आधार पर ही की जा सकती है। यहां के आदिम निवासियों की भाषा, जीवन, व्यवहार आदि; प्राचीन निवास स्थानों के नाम तथा अन्य अनेक प्रकार के उत्खनित प्रागैतिहासिक अवशेष राजस्थान भाषा पुरातत्व की ओर संकेत करते हैं। आधुनिक बोलियों तक में ऐसे तत्व मिलते हैं जो यहां की आदिम तथा अन्य प्राचीन जातियों के भाषा-अवशेष कहे जा सकते हैं और जो राजस्थानी के अक्षुण्ण आधार हैं। राजस्थानी ध्वनिसंहति, रूप-योजना, भावाभिव्यक्ति आदि में प्राचीन तत्व वर्त्तमान हैं; और इसकी खोज से राजस्थानी ही नहीं; भारत में बोली जाने वाली अन्य भाषाओं और उनको बोलने वाली जातियों के इतिहास की रहस्यमय पृष्ठभूमि का उद्घाटन हो सकता है।[1]

राजस्थान की प्राग्-इतिहासिक भूमि पर भी मानव विचरता था, परन्तु यह कहने के लिये हमें प्रमाणों की आवश्यकता है कि इस भूमि पर किसी आदि मानव का उद्भव हुआ हो। जो अवशेष या अन्य सामग्री अब तक उपलब्ध है उससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान भी प्राग्-ऐतिहासिक युग से अनेक जातियों के उत्थान-पतन की भूमि रहा है। आज से कई हजार वर्ष पूर्व राजस्थान में अर्वलि पर्वत मालाओं से विशाल समुद्र स्पर्श करता था,[2] जिसके अवशेष आबू पर्वत श्रेणी में विद्यमान हैं। दक्षिण राजस्थान तथा बीकानेर का एक भाग आज भी 'बागड़' कहा जाता है, जिसका अर्थ समुद्रतट की कछार भूमि से होता है। ऋग्वेद की रचना के समय राजस्थान का बहुत बड़ा भाग समुद्र में निमग्न था और यहीं पर सरस्वती नदी हिमालय से निकल कर समुद्र में मिलती थी।[3] यह समुद्र पंजाब के पूर्व से लेकर गंगा के मैदान में लहराता था। इसका उल्लेख ऋग्वेद की ऋचाओं में मिलता है। आधुनिक भूतत्त्व अनुवीक्षण से भी इस कथन की पुष्टि होती है कि तृतीय भूस्तर युग (Tertiary Era) में आधुनिक राजस्थान में और मध्य-तृतीय भूस्तर उत्थान युग (Mioseme Epoch) में गंगा के मैदान में समुद्र लहराता था। भूतत्त्व शास्त्री प्रमाणों से यह भी स्पष्ठ है कि भारत में मध्य तृतीय भूस्तर उत्थान युग (Miosene Epoch) और प्रस्तरोदक्त उत्थान युग (Paleosene Epoch) के समय मानव वर्त्तमान था।[4] सम्भव है यह मानव राजस्थान का भील अथवा उसी का कोई आदि पुरुष रहा है, जो इसी समुद्र के तट पर विचरता हुआ पूर्व में, और फिर दक्षिण में बढ़ा और वहां से पूर्वी द्वीपों तक चला गया। जहां आज हिन्दमहासागर लहराता है। वहां मिक्तप्रस्तरोदक्त उत्थान युग (Permian Epoch) में एक हिन्द महासागरीय (Indo Oceanic) महाद्वीप था। दक्षिण अफ्रीका और भारत। मिसलेन युग (Mislane Epoch) के अन्त तक एक ही भूमि तट से

---

1. We have thus the Primitive-Negreto tribes, probably the most ancient people to make India their homes. . . . Then these were followed by Austric tribes from Indo-China, and these in their turn by Dravidians from the west. The Aryans next followed and from the North-East and North came Tibeto-Chinese tribes." S. K. Chatterji—Indo—Aryan and Hindi P. 2.
2. Avinash Chandra—Rigvedic India P. 7.
३. वही पृ० ७
४. वही पृ० ५५६—५७

जुड़े थे और यह महाद्वीप भी इस युग के उत्तरकाल तक मलयन (आधुनिक मलय आदि प्रदेश) से संबद्ध था।[५] मलयनलोग जो पूर्वी द्वीपों में जाकर बसे उन्हें आज पोलिनेशियन भाषा समूह में रखा जाता है। इसके साथ मलयन लोगों को मिलाने से यह पूरा समूह अब मलय-पोलिनेशियन-भाषा-समूह कहा जाने लगा है। राजस्थान भाषा पुरातत्व की खोज में इस समूह की भाषा के प्राचीन और मूल तत्वों का अध्ययन भी अपेक्षित होगा। इन द्वीपों में एक अति प्राचीन जाति है जिसको काकेशियस जाति कहा जाता है जो अति प्राचीन काल में ही यहां आकर जम चुकी थी। इस जाति और भील जाति में कुछ ऐसी समानताएं लक्षित होती हैं जो इनके प्राचीन सम्बन्ध की ओर संकेत करती हैं। इनके रीति-रिवाज और भाषा-प्रवृत्तियों की समानता इनके हजारों वर्षों के प्राचीन सम्बन्ध की द्योतक है।[६] भीलों के समान ही उनकी साधारण वेश-भूषा होती है जो उनका अधोभागढकने के लिये पर्याप्त होती है—कपड़े या पत्तों की। विशेष अवसर या पर्व के समय स्त्रियां कंधों को ढकती हैं और पुरुष वृक्ष की छाल का कपड़े जैसा बनाकर पहनते हैं। यह कपड़ा 'टप' (Tapa) कहलाता है। यह 'टप' शब्द भीली-राजस्थानी से मिलता-जुलता और लगभग समा-

---

5. "India, South-Africa and Australia were connected by an Indo-Oceanic Continent in the Perminian epoch, and the two former countries remained connected (with at the utmost only short interruption) up to the end of the Mislane Period. During the later part of the time this land was also connected with Malyan."—Quarterly Journal of the Geological Society vol, XXXI P. 540.

6. "Joseph Deniper declares the Polynesians a separate ethnic group of Indo-Pacific area, and in this view he is followed by A. K. Keane, who suggests that they are a branch of Caucasic division of mankind who possibly migrated in the Neolithic period from Asiatic mainlands. Of the migration itself no doubt is now left, but the first entrance of the Polynesians must have been an event so remote that neither by traditions nor otherwise can it be even approximately fixed. The journey of these Caucasians would naturally be in stages. The earliest halting place was probably Malaya Archipelago, where a few of their kin linger in Mantavo Islands on the west coast of Sumatra. Thence at a date within historic times a migration eastward took place. The absence of Sanskrit roots in the Polynesion languages appears to indicate that this migration was in pre-Sanskritic times. The traditions of many of the Polynesian peoples tend to make Savaii, the largest of the Samoan Islands, their ancestral home in the East Pacific and linguistic and other evidences go to support the theory that the first Polynesion Settlement in the East Pacific was in Samoa, and that thence the various members of the race made their way in all directions. Most likely Samoa was the Island occupied by them."

Encyclopaedia Brittanica Vol. II P, 35.

नार्थी है। आधुनिक 'टप' पत्तों का बना हुआ छाते के आकार का होता है, जो धूप से बचने के लिये काम में आता है। आजकल राजस्थानी में 'टप' गाड़ी या तांगे के ऊपर के आच्छादन को भी कहते हैं। इधर झाबुआ के भीलों में 'टप' शब्द का प्रयोग अधोवस्त्र के लिये ही होता है। भीलों के समान ही इन लोगों में शरीर पर गोदने की प्रथा है। सामाजिक व्यवस्था में भी एक प्रकार की समानता देखी जाती है। इनमें परस्पर वर्ग और श्रेणी में आदर सम्मान की भावना बड़ी तीव्र है। उच्च श्रेणी या मुखियों के आदर के लिये भाषा में विशेष प्रयोग होते हैं; जैसे—

'आना' के अर्थ में—

१. सामान्य व्यक्ति के लिये–सउ (Sau)

२. आदरणीय या बड़े के लिये–मलिउ माइ (Maliu mai)

३. पदस्थ मुखिया के लिये–सु सु माइ (Su Su Mai)

४. राजपरिवार के व्यक्ति के लिये–अफिओ माइ (Afio Mai)

इसी प्रकार मुखिया तथा अन्य आदरणीय व्यक्ति के प्रति आदर प्रदर्शित करने के लिये सर्वनाम में द्विवचन का प्रयोग होता है। राजस्थानी में 'आपां' सर्वनाम इसी प्रकार का है। क्रियाओं में भी 'आ', आव, 'आवो', 'पधारो', 'पधारवा में आवे' में वर्ग और श्रेणी का भाव निहित है। राजस्थानी के मूल में यह भील संस्कृति की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है। अन्य किसी भारतीय भाषा में यह प्रभाव नहीं देख पड़ता। इसी प्रकार राजस्थानी सर्वनामों में 'थूं', 'थां', 'थें' और 'आप' (आपां) के भीतर भी वही प्रवृत्ति है। हिन्दी में जो आदरवाचक का प्रयोग देख पडता है वह राजस्थानी का ही प्रभाव है। मुगल सभ्यता (विशेष कर दरबारी सभ्यता) राजपूत सभ्यता का ही विकसित रूप है। इस प्रकार राजपूत सभ्यता का प्रभाव मुगल सभ्यता के द्वारा हिन्दी पर पड़ा है। मराठी में 'आप' का प्रभाव अब भी द्विवचन में होता है 'आपल्या माणस'।

उच्चारण सम्बन्धी प्रवृत्तियों में भी यह समानता देखी जाती है। राजस्थानी में 'स' के स्थान पर 'ह' का उच्चारण होता है। यह भीली की एक विशेषता है। बोलियों में यह 'ह' अति अल्प सुनाई पड़ता है अथवा कहीं लुप्त भी हो जाता है, कभी कभी उसका स्थान कोई स्वर ले लेता है; जैसे—

सासू	=	हाऊ
सांस	=	हाए
देवीसींग	=	देवीं-ग'

यह भीली प्रभाव है। अर्वलि से लेकर दक्षिण में खानदेश और पूर्व में विन्ध्य और सतपुड़ा की उपत्यकाओं में भीली प्रदेश में यह प्रवृत्ति वर्त्तमान है। राजस्थान और गुजरात–जहां इनके राज्य विस्तृत थे इस प्रवृत्ति से पूर्णतः प्रभावित हैं। शकों की भाषा में इस प्रवृत्ति के होने के कारण ग्रियर्सन ने इसको शक प्रभाव माना है, परन्तु शकों में और इनमें इस प्रवृत्ति का स्रोत एक ही है और उसका मूल स्थान है काकेशिया, जहां से दोनों के पूर्वजों ने प्रसार किया। भील हूणों से प्राचीन हैं। यही प्रवृत्ति सामोअ

(Samoa) के आस पास के द्वीप समूहों में वर्त्तमान है।[७] इसी प्रकार इन दोनों में दन्त्योष्ठ्य व् (V)[८], और द्वयोष्ठ्य व् (W)[९] भी वर्त्तमान है।

भील भारत की उन प्राचीनतम जातियों में से है जो रामायण और महाभारत युग से भी पहले वर्त्तमान थी और अर्वलि, विन्ध्या तथा सतपुड़ा के प्रदेश इनके निवास स्थान थे। पूर्व में जहां पूर्वी द्वीप समूहों तक उनका सम्बन्ध था इसी प्रकार पश्चिम में काकेशिया और फिनिशिया तक भी इनका सम्बन्ध रहा है। भाषा तत्त्व के आधार पर इसको खोजा जा सकता है। भारत की प्राग्-एतिहासिक जातियों के उद्‌गम या विकास की भूमि राजस्थान का वह भूखण्ड भी है जिसको अर्वलि कहा जाता है। इसी प्रदेश में उसी आदिम जाति के निवास स्थान है जिसको भील कहा जाता है। भीलों की अपनी भाषा यद्यपि आज नष्ट हो गई है और वे आर्य भाषा ही बोलते हैं फिर भी कुछ ऐसे तत्त्व उसमें वर्त्तमान हैं जो उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं। अर्वलि में बिखरी हुई बस्तियों का प्रान्त अति प्राचीन काल से 'मगरा' कहलाता है। यह 'मगरा' शब्द भाषा पुरातत्त्व की दृष्टि से विचारणीय है। राजस्थानी में इसका अर्थ पहाड़ होता है और उसी से उसका पहाड़ी प्रान्त से भी अर्थ लिया जाता है। इसका सम्बन्ध इजिप्टो-फिनिशियन शब्द 'मगरोह' से है, जिसका अर्थ उन भाषाओं में भी पहाड़ ही होता है। इसी आधार पर फिनिशिया के एक प्रान्त का नाम 'वाड़ी मगराह' (Wady Magrah) मिलता है, जिसका अर्थ फिनिशियन भाषा में पहाड़ी प्रान्त से ही होता है। वाड़ी शब्द की व्युत्पत्ति वाटिका से मानकर उसका अर्थ किसी छोटे बाग-बगीचों से लिया जाता है, परन्तु राजस्थान-गुजरात में प्राचीनकाल से ही इस शब्द का प्रयोग निवास, बस्ती, प्रान्त, सीमा आदि अर्थों में होता आया है; जैसे--

१. प्राचीन बड़ी जातियों की बस्तियों और सीमाओं के द्योतक–भीलवाड़ो, मेरवाड़ो, मेवाड़ आदि।

२. अन्य स्थानीय विशेषताओं वाली बस्तियों के द्योतक–मारवाड़, ढूंढाड़, खैराड़, (आड़<वाड़) आदि।

३. उत्तरकालीन जातियों और स्थानीय विशेषताओं की बस्तियों और स्थानों के द्योतक–जीलवाड़ो, केलवाड़ो, खेरवाड़ो, बांसवाड़ो, सागवाड़ो, गोरवाड़, झालावाड़, रीछेड़ (रीछ+ईड<वीड़ु) आदि।

४. एक ही गांव या नगर में भिन्न जातियों के मुहल्लों के आधुनिक नाम—कुम्हारवाड़ो, तेली-वाड़ो, मोचीवाड़ो, कोलीवाड़ो, मोईवाड़ो, जाटवाड़ी, वोहरवाड़ी आदि।

---

7. "Apart from traditions Samon is the most archaic of all Polynesions tongues and stilll preserves the organic letter S which becomes H or disappears in nearly all other archipelegos. Thus the terms Sawaii, itself, originally *Savaiki* is supposed to *have* been carried by Samsan wanderers over the ocean of Tahiti, Newzealand and the Marquisses Sandwhich groups, where it still survives in such varient forms as Havar,[7] Hawaiki,[8] Havaiki[9] and Hawaite.[7] "

Encyclopeedia Brittanica Vol. XXIV P. 115–11th Ed.,

इनमें एक ही शब्द के वाड़, वाड़ो, वाड़ी, वीड़ु चार रूप हैं, जो स्थान और सीमा के द्योतक हैं और फिनिशियन वाडी (Wady) के समानार्थी हैं। 'मगरा' शब्द पर विस्तारपूर्वक विचार करने से हमारा ध्यान पूर्व की ओर मगध और वहां से बर्मा के अरकान पहाड़ी प्रदेश में बसी हुई अति प्राचीन जाति 'मग' की ओर आकर्षित हो जाता है और कुछ ऐसा लगता है कि इजिप्टो-फिनिशियन 'मगराह' राजस्थानी 'मगरो' बिहारी 'मगधरा' और 'अरकान' के 'मग' में 'मग' तत्व में ध्वनि-साम्य के साथ कोई अर्थसाम्य भी है।

इस प्रकार 'मगरा' से भीलों का सम्बन्ध पश्चिम में एशिया माइनर और पूर्व में अरकान तक कहा जाता है। वाड़, वाड़ो, वाड़ी, वीड़ु शब्दों से इनका सम्बन्ध पश्चिम में एशिया माइनर और दक्षिण में तमिलनाड़ (>तमिल्दवाड़) से स्थापित होता है। तमिल से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य प्राचीन भीली शब्द पाल, पाली, पालवी हैं, जो द्रविड़ से ध्वनि-साम्य और अर्थ साम्य रखते हैं। भीलों मे इनका अर्थ क्रमशः सीमा, बस्ती और मुखिया होता है। तमिल में 'पल्ली' शब्द भीली 'पालवी' का समानर्थी है। इस प्रकार 'वाड़' (वीड़ु) और पाल (>पल्ल) प्राचीनतम शब्द हैं और प्राचीनतम भाषावशेष भी, जिनका सम्बन्ध राजस्थान से अति प्राचीनकाल से चला आया है।

इस प्रकार अर्वलि (>अर्+वल्लि) और अर्बुद (अर्+बुद्ध) में अर् का अर्थ भी पहाड़ होता है। 'अर्' के समानार्थी फिनिशिया में 'अर्दस' (पहाड़ी प्रदेश) यूनान में, 'अर्कादिया'(Arkadia)= पेलोपोनीज का एक पहाड़ी प्रान्त और बर्मा में 'अरकान' नामों में 'अर्' तत्व वर्त्तमान है।-अर तत्त्व की प्राचीनता और भीलों का उनके साथ सम्बन्ध इससे स्पष्ट होता है और यूनान तथा फिनिशिया से लेकर अरकान तक किसी एक साम्य-सम्बन्ध का संकेत मिलता है। यह शब्द 'मगरो' के बहुत पीछे का है और सम्भवतः आर्य भाषा का शब्द है।[१०] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भील आर्यों से बहुत पहले इस देश में वर्त्तमान थे और यहां आ चुके थे-अथवा यहां से अन्य देशों में गये हों।

१०—संस्कृत में 'अर्' शब्द का प्रयोग पहाड़ के लिये ही हुआ है, पर भारत में इस प्रान्त को छोड़कर शायद कहीं भी पहाड़ के लिये 'अर' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। सम्भवतः 'अर' शब्द संस्कृत में बहुत पीछे स्वीकृत हुआ होगा। आबू पर्वत में आबू शब्द का विकास अर्बुद से माना जाता है। अर्बुद अर्+बुद। यहां कुछ लोगों ने बुद शब्द का सम्बन्ध फारसी 'बुत' जो स्थापित किया जो ठीक नहीं है। बुद शब्द 'भुज' का अपभ्रंश है। भुज के 'भ' में महाप्राण लोप होकर 'ब' हुआ और 'ज' का 'द' में परिवर्तन हुआ-जैसे—कागज का कागद। इधर 'अर' शब्द का अर्थ पहाड़ स्पष्ट होने पर भी डा० मोतीलाल मेनारिया ने अपने थीसिस 'राजस्थान का पिंगल साहित्य' में लोक प्रचलित कथन के आधार पर अर्वलि शब्द की व्युत्पत्ति 'आड़ावला' (आड़ा+अवला=उल्टा-सीधा) से मानी है। यह उलटी व्युत्पत्ति मान लेने पर अर्बुद की व्युत्पत्ति कैसे मानी जायगी। 'आड' शब्द का सम्बन्ध हाड >पहाड़ से है वला, वलि, वल शब्दों का अर्थ निवास स्थान से होता है। अतः स्पष्ट है कि आडावला अर्वलि का ही अपभ्रंश रूप है जिसका अर्थ 'मगरा' या पहाड़ी प्रदेश से है।

भारत में आदिम जातियों के उद्भव और विकास के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। एक पक्ष का मत है कि भारत की आदिम जाति का उद्भव भारत में ही हुआ[11] 'वह कहीं बाहर से नहीं आई।[12] दूसरे पक्ष का मत है कि भारत में किसी भी आदिम मानव का उद्भव नहीं हुआ। वह दक्षिण अफ्रीका से आया यह निग्रो-बंटु परिवार से सम्बन्धित निग्रोइड (Negroid) या नेग्रिटो (Negrito) कहा जाता है।[13] इस नेग्रिटो जाति के लोग बौने और काले रंग के थे। उनका कपाल दीर्घ, नाक चौड़ी और ठुड्डी ऊंची होती थी। ये लोग भूमि पर से चुने हुए अन्न से अपना निर्वाह करते थे। इसी तरह ये भोजन की खोज में विचरते हुए अरब और ईरान के समुद्र तटों पर होते हुए भारत में आ पहुँचे। लगभग सात हजार वर्ष पूर्व उपःप्रस्तर युग (Eolithic) में इन लोगों ने भारत में प्रवेश किया। समुद्र तट के मार्ग से होकर आने के कारण आबू के आस पास के पहाड़ी प्रदेश में इन लोगों ने अपना निवास किया होगा, क्योंकि उसके आस-पास समुद्र तट था। इनको न तो खेती का ज्ञान था और न पशु पालन का। ये लोग भोजन की खोज में आये और पूर्व में बढ़ते-बढ़ते अंदामान द्वीपों तक पहुँच कर वहाँ बस गये। वहाँ आज भी उनकी कुछ बस्तियाँ है; जिनमें उनकी अपनी ही भाषा बोली जाती है। इन लोगों में से जो लोग राजस्थान में रह गये उनका क्या हुआ, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसके लिये भाषा पुरातत्व में अवशेषों की खोज की जा सकती है। यह सम्भव है कि इनके पीछे आने वाली जातियों के द्वारा ये लोग तितर-बितर कर दिये गये हों अथवा उन्हीं में मिल गये हो। निग्रोबंटु भाषा प्रवृत्तियों के आधार पर यह खोज सम्भव है। बन्टु परिवार की भाषाएं पूर्व-प्रत्यय संयोगी (Prefix-agglutinating) होती हैं और इनमें व्याकरणिक लिंग-भेद नहीं होता। जिस प्रकार पूर्व में आसाम में तिब्बत-बर्मा परिवार के अन्तर्गत नाग जाति के लोगों में 'निग्रोबन्टु' अवशेष मिलते हैं। उसी प्रकार पश्चिम में भी बलूचिस्तान के दक्षिण में इन जातियों के अवशेष अब भी वर्तमान हैं। प्राचीन काल में उदयपुर के आसपास के पहाड़ी प्रदेशों में नागों की बस्तियां थी जिनके अवशेष उदयपुर के पास नागदा गांव में मिलते हैं। असम की सीमा पर बोमडिला, लाठोटिला आदि ला अन्तवाली नागों की बस्तियों के समान बस्तियों के नाम राजस्थान के इस प्रान्त में (और अन्यत्र) भी मिलते हैं, जैसे—बेदला, ऊंठाला, पोटला, रायला, गटीला, गुड़ला। इन नामों के आधार पर यहाँ के लोगों की बोलियों में प्राचीन भाषा तत्त्वों के अवशेष प्राप्त हो सकते हैं।

नेग्रिटो लोगों के पश्चात् भारत में प्रवेश करने वाली जाति प्राथमिक दक्षिणाकार (Proto-Austroloid) मानी जाती है। ये लोग काले और मध्यम कदवाले थे। उनका ललाट ऊंचा और मुंह तथा नाक

---

11. "So far as known the bulk of population of India has been stationery"
—Dr. Hodden-'Wonderings of the People-P.25.

12. "The earliest political event in India to which an approximately correct date can be assigned is the establishment of the Shaishunag dynasty of Magadh about 642 B C."
—V.A. Smith-Early History of India'. Introduction P. 2.

13. "We have thus the Primitive Negrito tribes, probably the most ancient people to mak India their homes; no proof has yet been found that a man of any type had evolved from some kind of anthropoid ape on the soil of India.
—S.K. Chaterji-Indio Aryan and Hindi'.—P.2.

चौड़े थे। भीलों को भी इन्हीं का वंशज माना जाता है। भील >भिल्ल जाति को नृतत्व विशेषज्ञों ने राजस्थान की आदिम जाति माना है।[१४] परन्तु डा० चाटुर्ज्या के मत के अनुसार वे बाहर से आयी हुई इस प्राथमिक दक्षिणाकार जाति के वंशज थे और ये भारत में आर्यों से पूर्व ही आ चुके थे। आर्यों द्वारा ये निषाद कहे जाते थे—'इस निषाद जाति के लोगों ने भारत की कृषि मूलक सभ्यता की नींव डाली थी। गंगा की उपत्यका में इनकी बस्ती ज्यादातर हुई थी, और वहाँ ये लोग धीरे-धीरे द्रविड़ तथा आर्य लोगों से मिल गये...........इनकी उपजातियाँ थीं, जिनमें दो मुख्य थे 'भिल्ल' और 'कोल्ल' लोग—जिनके उत्तर पुरुष ये हुए—राजपुताने और मालवे के 'भील' लोग और मध्य भारत तथा पूर्व भारत के कोरकु, सन्थाल, मुन्डारी हो, शवर, गदब आदि कोल जाति के मनुष्य'।[१५] ये भील-कोल आज भी राजस्थान और मालवा में अर्वलि पहाड़ों की उपत्यका में तथा दक्षिण में इसी से सम्बन्धित पहाड़ियों में खानदेश तक और विन्ध्याचल के पहाड़ों और जंगलों में बसे हुए हैं।

इन भीलों की यद्यपि आज अपनी कोई भाषा नहीं है और जो भाषा ये लोग बोलते हैं वह राजस्थानी—आर्य भाषा ही है जो थोड़ी बहुत स्थानीय विशेषताओं के साथ पूरे भीली प्रान्त में बोली जाती है। इनकी इस भाषा का प्रभाव आस-पास की स्थानीय भाषाओं पर भी देख पड़ता है[१६] इसमें कुछ प्राचीन तत्व अवशेष के रूप में वर्त्तमान है जो किसी स्वतन्त्र आर्येतर बोली के अवशेष हैं। ये अवशेष दो रूपों में पाये जाते हैं।

१. ध्वनि (उच्चारण) सम्बन्धी, और

२. रूप (शब्द) सम्बन्धी

यह भीली प्रभाव राजस्थान की भाषा पर भी व्यापक रूप में देख पड़ता है, जिसके कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। और आगे भी दिये जायेंगे। इन भीलों में से कई अपने को क्षत्रियों के वंशज (राजपूत) बतलाते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि किसी समय राजस्थान और गुजरात में

---

14. 'Taking them as we find them now, it may be safely said that their present geographical distribution, the marked uniformity of physical characters among the more primitive members of the group, their animistic religion, their distinctive languages, their stone monuments, and their retention of a primitive system of totemism justify us in regarding them as the earliest inhabitants of India of whom we have any knowledge."

—H.H. Risly, 'Ethnology and Caste'-Imperial Gazetteer of India (i) 299.

१५. 'राजस्थानी' पृ० ३७-३८।

१६. भील लोग मध्य भारत तथा विन्ध्या और सतपुड़ा की घाटियों से बढ़ते हुए दक्षिण में खान देश तक फैले हुए हैं और इनकी उच्चारण प्रवृत्ति का प्रभाव मराठी और गुजराती पर प्रबल है। सु.कु. चाटुर्ज्या,

इनके राज्य वर्त्तमान थे और कुछ तो स्वाधीनता के पूर्व तक वर्त्तमान थे। दूसरा कारण भीलों और राजपूत जातियों का परस्पर मिश्रण है,[१७] जिसने व्यापक रूप में राजस्थानी के निर्माण का काम किया।

डा० चाटुर्ज्या के मतानुसार भील और कोल के आदि पुरुष आग्नेय (Austric) जाति के लोग थे। यह जाति हिन्द-चीन की ओर से आने वाली 'प्राथमिक आग्नेय' (Proto--Australoid) जाति से इस देश में आदि कृषक के रूप में विकसित हुई। आग्नेय लोगों के पश्चात् द्रविड़ और द्रविड़ों के पश्चात् आर्य लोगों ने भारत में प्रवेश किया। आर्य साहित्य में जिस निषाद जाति का उल्लेख मिलता है वह आग्नेय जाति ही थी। इसी निषाद जाति के वंशज अर्वलि की पर्वत श्रेणियों और मालवा की पठार भूमि में बसे हुए भील माने जाते हैं[१८]। मध्य और पूर्व भारत की कोरकू, सन्याल, मुन्डारी, हो, गदव, शवर आदि जातियाँ कोल जाति से विकसित मानी जाती हैं। कोल भी इन निषादों के ही वंशज थे। इस प्रकार इन सभी जातियों में एक वंश-परम्परा है। इस कारण इनकी भाषा-प्रवृत्ति में कहीं कहीं साम्य-प्रभाव लक्षित होता है। डा० ग्रियर्सन ने अपनी भाषा सर्वे में भारत की कोल और मुंडा श्रेणी की भाषाओं, असम और मोनख्मेर जाति की 'खमी' भाषा भारत-चीन तथा भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के द्वीप-समूहों की भाषाओं को आग्नेय (Austric) भाषा से विकसित माना है। परन्तु भीलों का उल्लेख उन्होंने इसके अन्तर्गत नहीं किया।

---

१७. (क) राजस्थान के भील अपने को क्षत्रीय-वंशी मानते हैं। मेवाड़ के भोमट प्रान्त में पान रवा का भील राज, जो राणा की उपाधि से विभूषित है, वह भोमिया भील है और सोलंकी कहलाता है; क्योंकि उसमें क्षत्रिय का मिश्रण है—Tod–"Annals". Vol. P185.

(ख) विंध्यप्रदेश के भिलाड भी इसके उदाहरण हैं–Bhilads : Closely related to Bhils, Patlias and other tribes which inhabit the Vindhyas and Satpuldas. They claim however Rajput descent and are considered to be of higher status than their neighbours. The Bhumias or allodial proprietors of this hilly tract are all Bhilads...According to traditions their ancestors lived at Delhi. They were Chauhans and members of the family of Prithviraj. When the Chauhans were finally driven out from Delhi by Mohammadons (by Muiz-ud-din 1192 A.D.) 200,000 migrated to Mewar and settled at Chittor. On the capture of Chittor by Allahuddin in 1303 A.D. a large number of them fled to Vindhya hills for refuge. Here they married Bhil girls and lost their caste."

—L.J. Blunt, 'As short Bhili Grammar of Jhabua State and adjoining territories.

१८. भील की उत्पत्ति के विषय में कई कथाएं प्रचलित हैं, जिनमें से तीन अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से एक उनका निषाद से सम्बन्ध स्थापित करने वाली भी है:—

१. पहली कथा राम और धोबी की है। इसमें उक्त धोबी अपनी बहन से विवाह कर लेता है। उसके सात लड़के और सात लड़कियां उत्पन्न हुईं। राम ने पहले लड़के को घोड़ा दिया। वह उसको चलाने में असमर्थ रहा और जंगल में लकड़ियां काटने चला गया। भील इसी के वंशज हैं।

सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से आर्य जाति का जैसा प्रभाव इस देश पर पड़ा वैसा बाहर से आने वाली किसी भी जाति का न पड़ा। आर्यों में समन्वय की जो महान् शक्ति थी वह प्रत्येक परिस्थिति में प्रबल और सक्रिय बनी रही। सम्भवतः उक्त भीलों अथवा उनके आदि पुरुषों की जो भी भाषा रही होगी उसका समन्वय धीरे धीरे आर्य भाषा में हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि आर्य जाति और उसकी संस्कृति तथा भाषा में एक ऐसी शक्ति रही कि जिन जिन जातियों ने इस देश में प्रवेश किया तथा यहाँ आकर जम गई उनकी संस्कृति और भाषा को अपनी संस्कृति और भाषा में मिला कर एक कर लिया। भाषा इस समन्वय का प्रथम और प्रधान साधन रहा है। यही कारण है कि भौगोलिक दृष्टि से एकता रखने वाले इस देश की अनेकता में भी एकता बराबर बनी रही है। आर्यों की भावनात्मक और विचारात्मक स्तर उच्च कोटि का होने के कारण आर्य सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव यहाँ की अन्य जातियों पर पड़ने के कारण इस एकात्मकता का विकास हुआ और उसकी अभिव्यक्ति भी उसी के अनुकूल भाषा में हुई। भारतीय आर्य सभ्यता और संस्कृति के भीतर यहाँ के आदि वासियों अथवा बाहर से आने वाली प्राचीनतम जातियों के विकसित युग की सभ्यता और संस्कृति के अवशेष वर्तमान हैं। इन्हीं के सम्मिश्रण से भारतीय सभ्यता और संस्कृति का निर्माण हुआ। भील जातियों में जो धार्मिक प्रथाएँ वर्तमान हैं वे हिन्दू संस्कृति की द्योतक होते हुए भी आर्यों की वैदिक रीतियों के अनुकूल नहीं है। आग्नेय जाति के पश्चात् जो जातियाँ भारत में आईं वे एक दूसरी से अधिक विकसित, सभ्य और सबल थी और ये लोग अपने साथ जो भी भाषा लाये उसकी अभिव्यक्ति की प्रवृत्तियाँ, ध्वनि और रूप आदि का मिश्रण यहाँ की भाषा के साथ हुआ। मध्य और पूर्वी राजस्थान पर पहले भीलों का प्रभाव था। पीछे से आने वाली जातियों ने इन्हें जंगल की ओर खदेड़ दिया। जिससे ये सिकुड कर अर्वलि और अन्य पर्वत मालाओं की उपत्यकाओं में सीमित हो गये। ये लोग उत्तर प्रस्तर काल (Neolithic slage) में भारत में विकसित हुए और ताँबे और लोहे का प्रयोग आरम्भ किया खेती करने का ढंग इनमें आदिम प्रकार का था। भूमि खोदने के लिये जब ये लोग लकड़ी का प्रयोग करते

---

२. सात मनुष्य महादेव के पास गये। पार्वती ने महादेव से कहा कि ये मेरे भाई हैं। मेरा आपके साथ विवाह होने के उपलक्ष में ये आपसे 'दहेज-दापा' लेने आये हैं। महादेव ने उनको भोजन कराया और अपना नान्दी तथा कमण्डल दे दिया। जाते समय उन्होंने उनके मार्ग में कुछ और देने के लिये एक चाँदी पाट भी बिछा दिया, पर उस पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी। पार्वती ने कहा कि तुम अवसर चूक गये, नहीं तो तुम्हारा भाग्य खुल जाता। फिर भी नान्दी का ध्यान रखना। उसकी कूबड़ में धन का भण्डार है। पार्वती का संकेत नान्दी से हल हाँक कर पृथ्वी से धन-धान्य उत्पन्न करने की ओर था, पर वे न समझ सके। उनमें से एक ने नान्दी को मार डाला। पार्वती ने क्रुद्ध होकर शाप दिया, जिससे वे भील हुए।

३. तीसरी कथा पौराणिक है। मनु स्वयंभू वंशज अंग का पुत्र वेण निःसन्तान था। अतः ऋषियों ने उसकी जाँघ को रगड़ कर एक पुत्र उत्पन्न किया जो जले हुए लकड़ी के डींगे के समान काला था। उसका कद बौना और नाक चपटा था। उसको बैठने के लिये 'निषाद' कहा गया। वह बैठ गया और 'निषाद' कहलाया। इसी के वंशज निषाद कहलाये जो विन्ध्य पर्वत में रहते हैं।

रामायण, महाभारत, हरिवंशपुराण आदि में भी इसी प्रकार की कथाएँ मिलती हैं।

–L. Jung Blunt: 'A short Bhili Grammar of Jhabua State and adjoining territories.'

थे तब उसके नाम का आदिम *लक् या *लेक (*lak *lek) था। इसी से विकसित *लंग, *लेंग, *लिंग (*lang, *leng, *ling) रूप हुए। आगे चलकर यह लक्-लिंग, लकु-लिंग, लेक-लिंग रूपों में विकसित होकर लकुटीश, लकुलीश, एकलिंग आदि रूपों में मिल कर देवता के रूप में स्थापित हुआ[१९]। लकुटीश या लकुलीश शिव रूप में स्थापित हुआ और मेवाड़ के राजवंश द्वारा उसकी पूजा होने लगी। यही लकुलीश नाम एकलिंग के रूप में इसी वंश द्वारा स्थापित होकर कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।[२०] एकलिंग की यह मूर्ति गोभिल्ल (गो+भिल्ल) द्वारा पालित-पोषित गुहिल-बप्पा (गुहिल ∠ गोहिल ∠ गोहिल्ल ∠ गोभिल्ल, ∠ गो+भिल्ल) के राज्य स्थापित करने के पूर्व जहाँ स्थित थी वहाँ पहले भीलों का ही राज्य था और उपर्युक्त हल के रूप में प्रयुक्त आदिम 'लंग-लिंग' से 'लकुटीश' का सम्बन्ध था।[२१]

राजस्थान की भाषा में भीली तत्व के पश्चात् द्रविड़ तत्व मिलता है। द्रविड़ों का भूमध्य सागर के पूर्वी प्रान्तों से आगमन हुआ। यह धारणा अब अत्यधिक मान्य है। बलूचिस्तान की ब्राहूई भाषा में द्रविड़ वर्तमान है, जो किसी समय उनके वहाँ होने का प्रमाण है। द्रविड़ भीलों के पश्चात् और आर्यों के पूर्व भारत में आये और राजस्थान तथा पंजाब में फैले। इससे राजस्थान के भील पहाड़ों में दबते चले गये। फिर आर्य प्रसार के कारण द्रविड़ भी दक्षिण की ओर उतर कर फैल गये, जो अब तमिल मलयालम, कन्नड़, हगेड़, कोड़गु, तुलु, तेलुगु, गोंड आदि द्रविड़ परिवार की भाषाओं का प्रदेश है।

अब यह मत सर्वमान्य है कि द्रविड़ भी आर्यों के समान बाहर से आकर यहाँ बसे। ये लोग आर्यों से पहले ही पश्चिम से यहाँ आ चुके थे। वीलियम क्रूक ने अपने ग्रन्थ 'कास्ट्स् एण्ड ट्राइब्ज़ में इस धारणा का प्रचार किया कि द्रविड़ लोग अफ्रिका महाद्वीप से भारत में आये। इस विषय पर थर्सटन ने 'कास्ट्स् एण्ड ट्राइब्ज आफ साउथ इन्डिया' में तथा रिसले ने 'द पीपुल आफ इन्डिया' में विस्तृत व्याख्या करते हुए द्रविड़ और निग्रो-बन्टु परिवारों में समानता स्थापित की। ए० एच्० कीने ने इस धारणा को स्वीकार किया। इधर टोपीनार्ड ने द्रविड़ों का सम्बन्ध जाटों से जोड़ने की धारणा प्रस्तुत की। परन्तु बिशप काडवेल (ई० १८५६) तथा प्रो० टी० पी० श्रीनिवास आयंगर की शोधों ने और मोहनजोदड़ो की सभ्यता की खोद-शोध ने द्रविड़ पर नया प्रकाश डाला। इसके अनुसार द्रविड़ों का मूल स्थान भूमध्यसागर का पूर्वी प्रान्त निश्चित हो गया

१९—देखो—'लोकवार्ता', अप्रैल १९४६, वर्ष २, अंक २ पृ० ८६— 'कुछ जनपदीय शब्दों की पहचान' वासुदेव शरण अग्रवाल।

२०—विशेष के लिये देखो—ओझा कृत 'उदयपुर राज्य का इतिहास', भाग-१, पृ० ३३ और १२५।

२१—ऐसे और भी अनेक शब्द हैं जो इस जाति से सम्बन्ध रखते हैं और जिनका प्रभाव राजस्थानी तथा अन्य भाषाओं में वर्तमान है; जैसे—कुछ शब्द—नारिकेल (नारेल), कदन, (केल) हरिद्रा (हल्द), वातिगण (वांगण), अलाबु (कोनो)—विशेष के लिये देखो :—

(1) 'Pre-Aryan and Pre-Pravidian in India (Translated from French Airtcle of Sylarain Levi, Jean Przyluski and Jules Bloch) by Prabodh Chandra Bagchi.

(2) ('The Study of New Indo- Aryan' Journal of the Department letters Calcutta University 1937 P. 20.)

और द्रविड़ों का सम्बन्ध मोहनजोदड़ो की सभ्यता से स्थापित होने लगा। भाषा के आधार पर इस सम्बन्ध की पुष्टि की जाने लगी और नई शोधों तथा नये विचारों पर यह स्थापित किया गया कि द्रविड़ भाषाओं की आकृति में संश्लेषी (Agglutinating) प्रवृत्ति यूराल—अल्टाइक भाषाओं के समान है।

अब द्रविड़—तमिल शब्दों के प्राचीन रूपों की उपकल्पना (hypothesis) और व्युत्पत्ति की व्याख्या की जाने लगी। द्रविड़ शब्द के प्राचीन रूप* द्रमिज (*Dramiz) और द्रमिल (Dramila) की उपकल्पना कर यह स्थापित किया गया कि द्रविड़ लोगों का प्राचीन नाम* द्रमिज या* द्रमिल था। इसी प्रकार तमिल का प्राचीन रूप तमिज (tamiz) था।[२२] एशिया माइनर के लीसियन लोगों ने अपने शिलालेखों में अपने को त्रिम्मलि (trmmli) कहा है। लीसियनों के पूर्व पुरुष प्राग्—हेलेनिक युग के क्रीटन लोगों के विषय में हेरोडोटस ने लिखा है कि वे क्रीट से लीसिया में अपना प्राचीन नाम 'तरमिलइ' (Termilai) साथ लेकर आये थे (१,१७३)। किन्तु फादर हेरास ने इस वृत्तान्त के केवल त्रिम्मलइ' शब्द को लेकर उन्हें क्रीट का निवासी बताकर 'त्रिम्मइल' और 'तमिल' में सम्बन्ध स्थापना की खेंचतान की है। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार एशिया माइनर के इन प्राचीन लीसियनों तथा प्राग्—हेलेनिक युग के क्रीटनों के नाम से ही द्रमिल, द्रमिड़, द्रविड़ दमिल और तमिल (=तमिज) नाम भारत में आये।[२३]

डा० चाटुर्ज्या के उक्त मत के आधार में प्रवेश कर हम उसे कुछ विस्तारपूर्वक देखना चाहेंगे। केरिया (Carea) के दक्षिण-पूर्व में पहाड़ी प्रान्त लीसिया के लोगों को त्रमिलियन (Tramilians) कहते थे। हेरोडोटस ने उन्हें 'तरमीलियन' (Termilians) लिखा है। इसी प्रान्त के उत्तर पूर्व में उस समय एक आदिम जाति (Tribe) वर्तमान थी जो मिलयन (Milyan) कहलाती थी। हेरोडोटस के अनुसार इन मिलयनों का पूर्व नाम सोल्यमी (Solymi) था और वे वहाँ के मूल निवासी थे। हेरोडोटस के वृत्तान्त के अनुसार 'तरमीलियन' लोग क्रीट (Crete) टापू से भाग कर आये थे। सरपेडोन (Serpadon) का उसके भाई मेनोस (Menos) के साथ होने वाले संघर्ष में सरपेडोन इन लोगों के साथ भागा और लीसिया में आकर शरण ली। हेरोडोटस के अनुसार लीसिया नाम लाइक्स (Lycus) से सम्बन्धित है। लाइक्स एक यूनानी दल का नेता था जो यूनान से निकाल दिया गया था और सरपेडोन के साथ साथ उसने भी इसी प्रान्त में शरण ली[२४]। लाइकस का यूनान के साथ सम्बन्ध होने के कारण यूनानी लोग उस देश को लीसिया कहते थे और लाइकस के साथियों को लीसियन। तरमीलियन शब्द मेरी समझ में किसी मिश्रण का द्योतक

२२—इन नामों में आने वाला अन्तिम 'ल्' का उच्चारण विचारणीय है। 'ल' एक द्रव्य ध्वनि है और जिह्वाग्र के प्रयोग से अनेक स्थानों से इसका उच्चारण होता है। आज तमिल में तीन प्रकार ल्' का उच्चारण होता है। एक सामान्य वर्त्स्य 'ल्' दूसरा मूर्द्धन्य 'ल्' और तीसरा शुद्ध द्रव्य ल जिसके उच्चारण में जिह्वा का अत्यन्त स्पर्श वर्त्स्य से होता है और वह अंग्रेजी Z (ज्) जैसा सुनाई देता है। ऊपर जो 'ज्' लिखा गया है वह इसी ध्वनि का द्योतक है। इधर ल्, ल् का परिवर्तन 'र' और 'ड़' में भी होता है।

3—Indo-Aryan and Hindi —PP 39-40.

24) Historian's History of the World Vol. II P.418.

कथा-कहानियों में भीलों का बराबर उल्लेख आता है। ऋषभ और अनंत इजिप्टोफिनिशियन देवता Reshuf और Anat से साम्य रखते हैं, जो भीलों के साथ ही आये। अन्नदेवता दगोद् (Dagon) < दगन (dagan) इन्हीं की भाषा का शब्द था जो दगोद्, > गोदन गोजन, गोड़ू, गोवून् तथा दगद्, दहन, धान आदि रूपों में विकसित हुआ। बस्तियों के द्योतक शब्द वीड़, वाड़ आदि समाज और शासन व्यवस्था संबंधी शब्द पाल, पल्ल, पल्लवी[२६] बिल धनुष बेल (∠बे-एल्व=भाला), बाल (∠बाल्व=तलवार) आदि शब्द भीलों की प्राचीन सभ्यता के द्योतक हैं और द्रविड़ भील मिश्रण की ओर संकेत करते हैं। 'मिलयन' और 'मलयालम्' में जो साम्य है वह उस ओर इन्हीं की शाखा के जाने का संकेत है।

'द्रमिल' और 'त्रमिल' के भारत में आने पर उनका इस 'मिल' (मिलयन) जाति के साथ सम्पर्क और मिश्रण हुआ। मिश्रण का यह समय धातु युग था, जब 'मिल' लोग 'लकुल' की देवता के रूप में पूर्ण प्रतिष्ठा कर उसकी पाषाण मूर्ति स्थापित कर चुके थे और धनुषबाण तथा भाले और कृपाण का प्रयोग करने लगे थे। इनके सम्पर्क और मिश्रण के बाद 'मिल' शब्द का रूपान्तर 'बिल' हो गया, जिसका प्रयोग द्रमिल-त्रमिल > द्रविड़—तमिऴ् इन धनुर्धारियों के लिये करते थे। दक्षिण में जम जाने के बाद तमिल भाषा में इस 'बिल' शब्द का प्रयोग 'धनुष' के अर्थ में रूढ़ हो गया[२७]। 'बिल' की भाँति ही ये लोग 'पल्ली', 'वीड़' आदि अनेक भीली शब्द अपने साथ ले गये, जिनका प्रयोग आज तक सभी द्रविड़ भाषाओं में किसी न किसी रूप में होता है, और जो इस सम्पर्क और सम्बन्ध के द्योतक हैं। 'बिल' शब्द की 'ब्' ध्वनि में महाप्राणत्व होकर 'भ्' होना आर्य-भाषा सम्पर्क का परिणाम है। इसी प्रकार 'ल्' में द्वित्व होकर 'ल्ल्' होना प्राकृत काल में द्रविड़-उच्चारण के प्रभाव का परिणाम है। इस प्रकार 'मिल' से 'बिल' और फिर 'भिल्ल' और आधुनिक 'भील' हुआ।

द्रविड़ और आर्य ध्वनि-संहृति में एक अन्तर यह है कि आर्य भाषाओं में जहां महाप्राण ध्वनियां होती हैं वहां तमिल में अल्पप्राण का ही प्रयोग होता है, क्योंकि उसमें महाप्राण ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। आरम्भिक सम्पर्क में 'ब' का आर्य 'भ' होने का यही कारण था। द्रविड़-भील सम्पर्क और मिश्रण की ओर संकेत करने वाली अन्य प्रवृत्तियों में मूर्द्धन्य ध्वनियां ट्, ठ्, ड्, (ड़्), ढ् (ढ़्), ण् और ळ् हैं जो दोनों में समान रूप से और अनेक शब्दों में थोड़े से ध्वनि परिवर्तन से शब्द का मूल या समान अर्थ निकल आता है। आज भी दोनों भाषाओं में ऐसे उदाहरण मिलेंगे। 'ल्' और मूर्द्धन्य 'ळ्', 'ड्' और 'ड़्' ध्वनियां दोनों में ही समान रूप से मिलती हैं। कहीं कहीं मूर्द्धन्य 'ळ्' का उच्चारण 'ड़्' के समान होता हुआ 'र' में परिवर्तित हो जाता है। प्राचीन तमिल 'ऴ्' का उच्चारण 'Zh' जैसा होता था। भीली तथा उससे प्रभावित युक्त राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र प्रदेशों में आज भी यह उच्चारण वर्तमान है। भीली और तमिल च वर्गीय ध्वनियां भी इस सम्पर्क और मिश्रण के उदाहरण हैं। उच्चारण सम्बन्धी एक प्रमुख प्रवृत्ति शब्द को उका-

---

२६—तोलेमी (Ptolemy vii, 1, 66) ने पल्लवी को फुल्लितइ (quvvstas) लिखा है, जिससे कुछ विद्वानों इसका अर्थ 'पत्ते पहनने वाले (leafwearer, सं० पल्लव=पत्ता) अर्थ किया है, जो अशुद्ध है। यह शब्द पल्लिवइ ∠ पल्लिपति से सम्बन्ध रखता है।

27) "Bhils—'Bowmen' from Dravidian bil, a bow." Encyclopaedia Brittanica Vol II

रान्त करने की है, जो अपभ्रंश की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। तेलुगु में तो यह प्रवृत्ति एक प्रधान प्रवृत्ति है:—

प्राचीन तमिल – अवन् (=वह)	कन्नड़ – अवणु = भीली – वणु (वण उस)
,, ,, – गुर्रम	तेलुगु – गुर्रमु = भीली – घोड़ु (= घोडो)

भीली में यह उकारान्त प्रवृत्ति वर्तमान है। राजस्थानी सर्वनाम 'अणी', (= इसने) 'वणी' (उणी=उसने) के मूल 'अण', 'वण', (उण), और तमिल 'अवन्' (तथा अवल् = यह) तथा उससे विकसित कन्नड़ 'अवणु' में मौलिक समानता लगती है। 'अण' का मारवाड़ी रूप 'इण' है, जिससे हिन्दी 'इन' का विकास हुआ। इसी प्रकार 'उण' से हिन्दी 'उन' का विकास हुआ।[२८]

आर्यों के आगमन के समय उत्तर भारत में द्रविड़ प्रभुत्व काफी फैला हुआ था। पंजाब और राजस्थान में इनके अनेक राज्य थे। आर्य प्रसार से धीरे धीरे इनका ध्वंस हुआ। इससे पूर्व द्रविड़ों ने भीलों के राज्यों का ध्वंस किया। द्रविड़ तथा भीली में कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। विशप काडवेल ने तमिल के जिन प्राचीन रूपों की जो खोज की थी उनसे कुछ इस प्रकार के उदाहरण यहां दिये जाते हैं और उनके समकक्ष उन भीली राजस्थानी रूपों को भी प्रस्तुत किया जाता है, जो इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर देंगे:—

प्राचीन द्रविड़

को – ओ	= राजा	
को – ओ – विल	= राजा का घर	विल, वल = घर, जैसे देवल देवगृह, देखो–वीड़ु, वीड़ो आदि
कोट्टै	= राजा का सुरक्षित घर	कोट्ट, कोट = गढ़, दुर्ग,
अरन्	= राजा का स्थान	रण, रुण, राणा, (रणभूमि, रणवास,)
नाटु, नाडु	= प्रदेश	वाडु, वाड़ो, वाड, वाड़ी स्थान, सीमा, प्रदेश
पुल्वन	= राजा का विरुद् गायक या राजकवि	पड़हो पड़वो, वड़वो=चारण, भाट, विरुद गायक, राज घोषणा करने वाला।
कट्टलै – पभक्कम	= राज्य सम्बन्धी, लोक–व्यवहार, कानून कायदे	भट्टक–पट्टक ताजीम=मेवाड़ के राजवंश में वह सर्वोच्च राजकीय सम्मान जो किसी महत्वपूर्ण सामन्त को विशेष सम्मान में प्रदान किया जाता था।

२८—हिन्दी में 'इन' तथा 'उन' सर्वनामों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक अनुमान किये गये पर कोई अनुमान ठीक नहीं है। देखो–धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास पृष्ठ २९२-२९४।

देखो 'लोकवार्ता' दिसम्बर १९४४ में पृष्ठ ४४ पर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का लेख 'द्रविड़'

ऊर	= नगर	ऊर=नगर; जैसे नाग+ऊर= नागौर, बाग+ऊर=बागौर, खमण+ऊर=खमणौर, जाल+ऊर=जालौर
विल	= धनुष	विल, बिल, भिल, भिल्ल (=भील) वेल (देखो-आधु० वेलदार=भील
ए-एर	= हल	वे-एर (वेरवो, वेरनो)=चीरना
वे-उ-ल्व	= बर्छा भाला	वल्लव, वल्लम, बल्लम, भल्लम= भाला

कुछ अन्य द्रविड़-भीली शब्द:-

तमिल	- कुदिरै	]-वाहन (घोड़ा)	भीली-कूतरी-भैरव का घोड़ा कुत्ता कूतर, कुत्तुल, तुतुल (बोली में तू-तू), =देखो प्राकृत कुक्कुर, कुत्तुर, आधु० कुत्ता ।
कन्नड़	- कुदुरे		
तमिल	- गुर्रम	]-वाहन (घोड़ा)	भीली-टेघड़-भैरव का घोड़ा (कुत्ता) मिलाओ-राज० घोटड़ो (टेघड़-घोटड़) और सं० घोटकः
तेलुगु	- गुर्रमु, गुरर		

और मिलाओ - राज० - घोटड़ >घोत्र, घुत्र; भीली - कुत्रु, कूतर, तमिल - कुतिरे, कन्नड़ - कुदुरे = प्राचीन मिश्री - ह्त्र् (htr) ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भीली-द्रविड़ भाषा तत्वों के गहन अध्ययन से इनकी प्राचीन भाषा और संस्कृत सम्बन्धी अनेक रहस्यों का उद्घाटन सम्भव है । राजस्थान में द्रविड़ प्रभाव का कुछ आभास उपर्युक्त उदाहरणों से मिल जाता है । राजस्थान की राजकीय संस्कृति स्पष्टतः भीली-द्रविड़ तत्वों से सम्बन्धित है और राजस्थानी भाषा के आधार में भी वे तत्व वर्तमान हैं जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । ऊपर दिये गये उदाहरणों से इसका थोड़ा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है : प्राचीन द्रविड़ शब्दों 'कोट्टै' और 'अरन्' को लीजिये । इनके भीतर जो अर्थ है उसका तात्पर्य किसी दुर्ग और रणभूमि से है । दोनों का प्रयोग राजस्थान में उसी अर्थ में होता आया है । दूसरा शब्द 'पुल्वन' है, जिसका सम्बन्ध 'पल्लवी' (अधिपति या राजा) के साथ जुड़ा हुआ है । तमिल में इस शब्द का अर्थ 'राज कवि' होता है । इसका राजस्थानी रूप पड़हो >पड़वो बराबर प्रयुक्त होता आया है [२६] । इसका आधुनिक राजस्थानी रूप 'वड़वो' जो इसी जाति के परिवार विशेष के लिये आज भी बराबर प्रयुक्त होता है । इस शब्द के इन रूपों को मिलाने से यह सम्बन्ध स्पष्ट हो जायगा ।

२६—देखो हेमरतन कृत पदमणि चउपई (वि० सं० १६४५) :
आगलि पड़हउ फिरतउ दीठ (६६) ।
पूछण लागा पड़इ विचार (७०) ।

पुलुवन, पल्लवण, पल्ड्वण, पड्वण, पड्वग्र, पड्वह, पड्वो, पड्हो, वड्वह,

वड्वो, मड्वह, मड्वो; वड, मड, मट, प्राकृत- मट्ट >आवु० माट । ये सब चारण-भाटों की राजकीय परम्परा के उद्‌घाटक शब्द हैं । तमिल-'कट्टूलै- पफ्फक्कम' मेवाड़ में प्रचलित 'झट्टक - पट्टक' ताज़ीम से सम्बन्धित है। इन शब्दों से सारी राजकीय संस्कृति के मूल आधार का चित्र प्रस्तुत हो जाता है ।

अब हमें कोल आदि जातियों और भीलों के सम्बन्ध पर भी प्रकाश डालना है । भील-कोलों को निषाद वंशी कहकर दोनों में पैतृक सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है । भीलों के पश्चिम से आने की धारणा प्रमाणित हो जाने के पश्चात् इस सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना आवश्यक है । निषाद को आग्नेय (Austric) मानकर उसका मूल स्थान हिन्द–चीन में माना जाता है । डा० ग्रियर्सन ने कौल-मुन्डा भाषाओं को आसाम की मोन-ख्मेर जाति की खसी भाषा, भारत-चीन के दक्षिण और दक्षिण-पूर्व के द्वीप समूहों की भाषाओं के साथ आग्नेय समूह (Austric group) में लिया है । इस समूह में भीलों को सम्मिलित नहीं किया गया है । हम ऊपर बतला चुके हैं कि भीलों की यद्यपि अपनी कोई मूल भाषा नहीं रही और आज ये आर्य भाषा-राजस्थानी ही बोलते हैं, पर इनकी इस भाषा में भी इनकी अपनी भाषा की कुछ मूल प्रवृत्तियाँ और तत्व वर्त्तमान हैं, जिनका प्रभाव राजस्थानी की आधार-रचना में दीख पड़ते हैं । ये प्रवृत्तियां और भाषा तत्व आग्नेय से सर्वथा भिन्न हैं । अतः भील को आग्नेय में सम्मिलित करना उचित नहीं है । डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने भीलों का जो आग्नेय कौल के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है वह भी प्रमाणभूत नहीं है। आग्नेय चाहे दक्षिण चीन से आया या उत्तरी हिन्द-चीन से अथवा भूमध्य सागर से, [३०] भील उस समूह के भीतर नहीं रखा जा सकता । यह बात ठीक है कि किसी समय सारे उत्तरी भारत-पंजाब, राजस्थान तथा मध्यभारत और यहां तक कि दक्षिण में भी आग्नेय लोगों ने अपने घर बसाये और राज्य स्थापित किये और अपनी संस्कृति, सभ्यता, ज्ञान और कला से इस देश को प्रभावित किया । चन्द्रकलाओं पर आधारित तिथियों के अनुसार दिवस–गणना इन्हीं की देन मानी जाती है । इसी प्रकार बीस तक की संख्या को 'कौड़ी' में गिनना इनकी विशेषता का एक प्रमुख अवशेष है । इनकी भाषा के अवशेष आज भी खस, कौल, मुंडा, संथाल, हो, भूमिज, कूर्कू, सबर, गदब आदि की बोलियों में मिलते हैं ।

बिशप काडवेल ने अपने द्रविड़ भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण में आदि द्रविड़ों के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की ओर संकेत करते हुए द्रविड़ भाषाओं के दो वर्ग कर दिये हैं–एक अपरिमार्जित (Uncultivated) और दूसरा परिमार्जित (Cultivated) । इनके आधार पर द्रविड़ भाषाओं को इस प्रकार बांट दिया गया है ।

अपरिमार्जित	परिमार्जित
१. टोडा (Toda)	१. तमिल (Tamil)
२. कोटा (Kota)	२. मलयालम (Malyalam)

३०—Jean Przylusky तथा अन्य विद्वानों के मत, देखो सु० कु० चा० कृत 'भारत में आर्य और अनार्य' पृ. ६

३. गोंड (Gond)	३. तेलुगु (Telugu)
४. खोंद या कू (Khond or Ku)	४. कन्नड़ (Kannad)
५. ओराँव (Oraon)	५. तुलु (Tulu)
६. राजमहल (Rajmahal)	६. कुड़गू–कूर्ग (Kudgu-Koorg)

काडवेल ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए यह संकेत किया है कि द्रविड़ और कोल एक ही जाति की भाषाएं हैं। ओराँव भाषा को होडसन (Hodgson) ने द्रविड़ और कोल के बीच की कड़ी माना। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्रविड़ और कोलारियन परस्पर सम्बन्धित है। काडवेल ने जार्ज केम्पवेल द्वारा कोलारियन समुदाय में सम्मिलित भाषाओं तथा होडसन द्वारा तमिल में सम्मिलित हो, मुंडा, कौल, शवर आदि भाषाओं को द्रविड़ भाषाओं की सूची में नहीं लिया[31]। डा० चाटुर्ज्या कोल आदि को आग्नेय परिवार में सम्मिलित करते हुए उनके साथ द्रविड़ आदि जातियों के सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं।

नृतत्व (Anthropological) आधारों के अनुसार भारत के बाहर से आने वाली सात प्रमुख जातियों में से पूर्व में हिन्द–चीन–असम के मार्ग द्वारा आने वाली आग्नेय (Austric) जाति है, जो आर्यों द्वारा निषाद कही गई है। संस्कृत साहित्य में भील का उतना प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता जितना निषाद और कोल का मिलता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भील आर्य सम्पर्क में बहुत पीछे और उस समय आये जब ये आग्नेय द्रविड़ आदि से जंगलों में धकेल दिये गये थे। आर्यभाषा संस्कृत का सीधा प्रभाव तो राजस्थान पर कभी पड़ा ही नहीं। प्राकृत प्रभाव भी बहुत देर से आया। शवर और भील नाम लगभग साथ साथ आते हैं। दोनों शिव के उपासक थे परन्तु शवर का प्रयोग भील के लिए नहीं हो सकता क्योंकि दोनों नाम अलग अलग सुरक्षित हैं। यह सम्भव है कि शवर का सम्बन्ध किरात से रहा हो।

भील सम्बन्धी ऊपर दी गई कथाओं में से एक कथा में इनका राम के साथ सम्पर्क होने के सम्बन्ध में है। सम्भवतः इसका आधार आर्यों के साथ प्रथम सम्पर्क रहा हो। उस समय निषाद और कोल[32] भी वर्तमान

---

(31) "Tuda Kota, Gond and ku, though rude and uncultivated, are undoubtedly to be regarded as essentially Dravidian dialects equally with the Tamil, Canarese and Telugu. I feel some hesitation in placing in the same category the Rajmahal and Oraon, seeing that they appear to contain so large an admixture of roots and tongues, probably the Kolarian. I venture, however, to classify them as in the main Dravidian……The Oraon was considered by Mr. Hodgson as a connecting link between Kol dialects and the distinctively Tamilian family."

—Caldwell : A Comparative Grammar of Dravidian Language–P.49.

३२–कोल और निषादों का जब अलग अलग उल्लेख मिलता है तो कोल को निषादों का वंशज मानना भी युक्ति संगत नहीं जान पड़ता। कोल-मुन्डा परिवार को आग्नेय में सम्मिलित करने के सम्बन्ध में भी अभी अभी आपत्ति उठाई गई है। विशप काडवेल ने तो इन्हें द्रविड़ परिवार में लिया है। हंगरी के एक विद्वान विलमोस हेवेजी (Vilmos Hevesy) ने इन्हें किसी अन्य परिवार को होने की ओर संकेत किया है। इसके यूराल–अल्ताई (Ural-Altai) श्रेणी की एक भाषा भारत में आई है जिसका सम्बन्ध कोल–मुन्डा से है, आग्नेय समूह की भाषाओं से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसका प्रयोजन उस प्रान्त को किसी जाति के भारत में आने का है, जिसके वंशज कोल–मुन्डा हैं। यदि यह प्रमाणित हो जाता है और भील तथा कोल-मुन्डा में किसी सम्बन्ध का प्रमाण मिल जाता है तो सामोअ (Samoa) द्वीप समूह की काकेशियस जाति तक यह सम्बन्ध रेखा स्पष्ट हो जायगी और भील की प्राचीनता स्थापित हो जायगी।

थे। अतः निषाद को भीलों का आदि पुरुष मानना युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। कोल भाषा के कुछ शब्द वेदों की भाषा में भी मिलते हैं जिससे निषादों से पूर्व उनका वर्तमान होना पाया जाता है[३३]। इस आधार से भी सिद्ध है कि भील इन दोनों (निषाद–कोल) से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र जाति थी और कोल-मुंडा परिवार से अलग थी।

भीली की प्राप्त मूल प्रवृत्तियां और मूल तत्वों के आधार पर कोरकु, संथाली, मुंडारी आदि जीवित भाषाओं के सम्बन्ध की खोज अपेक्षित है। राजस्थान में कोल–मुंडा के कुछ अवशेष अवश्य मिलते हैं, जिससे यह तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग राजस्थान में आये अवश्य और कहीं कहीं अपने अवशेष भी छोड़े। पर इनका प्रभाव भीलों पर कितना पड़ा यह विचारणीय है। कहीं कहीं इनके अवशेष 'कोली' और 'ओड़' जाति के रूप में मिलते हैं। कोली बांस का काम करते हैं और बीस बाँसा के गट्ठे के लिये मुंडा शब्द 'कौड़ी' का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार की प्रवृत्ति 'ओड़' में भी है, जो मिट्टी खोदने का काम करते हैं। यह कहने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि राजस्थान की मुंदड़ा (∠मुंडारी) जाति कितनी प्राचीन है और उसकी मुन्डा के साथ कोई परम्परा का सम्बन्ध है। इन लोगों के प्रभाव और प्रसार क्षेत्र गंगातट, बंगाल तथा उड़ीसा तक ही विशेष रूप में रहे। द्रविड़ों का प्रभाव उत्तर–पश्चिम भारत तथा पश्चिम और दक्षिण में अधिक रहा। इस प्रभाव के दो परिणाम हुए। एक तो पूर्व से कोल मुन्डा तथा निषादों का राजस्थान पर अधिक प्रभाव नहीं फैल सका।

दूसरा द्रविड़ ने भील पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इनमें पूजा की भावना एक समान थी ही; इस कारण इस मिश्रण से भील के 'लकुलीश' का रूप 'लकुटीश' हो गया और लकुटीश तथा लकुलीश एक ही देवता के दो नाम हुए। द्रविड़ों की शिवलिंग पूजा का भी प्रभाव फैला।

२. आर्य–संपर्क और भाषा प्रवृत्तियां

आर्यों के आगमन और सम्पर्क के समय द्रविड़–प्रभुत्व काफी प्रबल और विस्तृत था, जो मोहंजोदड़ो और हड़प्पा के उद्घाटन से ज्ञात होता है। उस समय पंजाब, राजस्थान, पश्चिम और उत्तर पश्चिम भारत, मध्य भारत और दक्षिण पर द्रविड़ों का प्रभाव था। भीलों की भाषा अब तक सीमित होकर दब चुकी थी अथवा द्रविड़ में मिल चुकी थी। जो भी हो, भीलों की स्वतन्त्र भाषा, उनके विकास, राज्य और प्रभुत्व के अन्य अनेक अवशेषों के साथ द्रविड़ भाषा में अवशेष वर्तमान हैं। द्रविड़ आर्य सम्पर्क के कारण जिस भाषा का विकास हुआ उसमें अन्तिम ध्वनि पर बल देने के कारण शब्दों में व्यञ्जन द्वित्व की प्रवृत्ति का विकास हुआ जो आगे चलकर प्राकृत की प्रधान प्रवृत्ति हुई और अपभ्रंश के अन्त तक और फिर डिंगल में भी बनी रही। द्रविड़ भाषा–भाषी और राजस्थान की भीली तथा भीली प्रभावित क्षेत्रों में यह बल की प्रवृत्ति आज भी उच्चारण में सुन पड़ती है। संस्कृत के अनेक शब्द इसी प्रवृत्ति से प्राकृत में परिवर्तित हुए। आर्य–द्रविड़ सम्पर्क से अनेक शब्द एक–दूसरे की भाषाओं में मिले। जो भीली द्रविड़ शब्द संस्कृत में गये उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं, ये वेद की भाषा में भी मिलते हैं।

अणु, अरणि (सूर्य, अग्नि, चकमक का पत्थर–देखो राज० अरण्या पत्थर अथवा आरणी गांव और वहां मिलने वाले इस पत्थर के आधार पर यह नाम), कपि, कुर्मार (लुहार), कला, काल, कितव (धतूरा),

---

३३–देखो–'लोकवार्त्ता' दिसम्बर १६४४ पृ० १४६ सु० कु० चा 'द्रविड़'।

कूट (राज० कूड़ छल),[३४] कुणार, गण, नाना, पुष्प, पुष्कर, पूजन, फल, बिल (छेद, छेदना, दो टुकड़े करना, देखो–ऊपर राज० वेरणो, (–वो) =चीरना), बीज, रात्रि, सायम्, अटवी, आडम्बर, खड्ग, तन्डुल (राज० ताँदरचा), मटची (ओला) , वलक्ष (चन्द्रमा), वल्ली (साल का पेड़; देखो– राज० वल्ली, वलेंडी)[३५] ।

कुछ अवशेषों से ज्ञात होता है कि राजस्थान पर भी आग्नेय (Austric) कोल-मुन्डा जातियों का प्रभाव रहा है । राजस्थान के मध्य में भीलवाड़ा भीलों की उत्तर पूर्वी सीमा का द्योतक है । इसी के आस पास अनेक-ला अन्त वाले नामों की ग्रामीण बस्तियाँ हैं । यहीं से खेराड़ क्षेत्र की सीमा लगती है जहाँ की एक प्राचीन मीणा जाति बहुत प्रसिद्ध है । इसी प्रकार दक्षिण भीली प्रदेश में खैरवाड़ा ग्राम इनकी दक्षिणी सीमा रही होगी । इससे ज्ञात होता है कि किसी समय भीलों और मुन्डों की अलग अलग सीमाएं स्थापित हो गई होगी । खैराड़ी बोली की भी अपनी अलग विशेषताएं हैं ।[३६] राजस्थानी की अनेक पिछड़ी जातियों में भील-भोमिया, कोली, ओड़ आदि जातियाँ हैं जो सम्भवत: आग्नेय परिवार की हैं । इनमें आज भी बीस तक गिनने की प्रथा है और बीस की संख्या के लिये 'कौड़ी' शब्द का प्रयोग किया जाता है । भीलों द्वारा वृक्षों में प्रेतात्मा का आरोप और उसकी पूजा सम्भवत: आग्नेय-भील मिश्रण का संकेत है । खैराड़ की मीणा जाति का सम्बन्ध भी सम्भवत: आग्नेय से होगा । भीलों को आग्नेय परिवार से विकसित मानने में सबसे बड़ी भाषा सम्बन्धी कठिनाई यह है कि आग्नेय परिवार की भाषाएं सर्व-प्रत्यय-प्रधान हैं, अर्थात् उनमें पुर-प्रत्यय, पर-प्रत्यय और अन्तर-प्रत्यय के द्वारा प्रधान रूप से वाक्य रचना होती है और उनके संयोग से व्याकरणिक सम्बन्ध सूचित किया जाता है ।

३४–(१) कपट वात कूडी केलवी (९५)
कीउं कूड वादिल्ल (५६१)] पदमरिण चउपई (१६४५)

(२) राजस्थान से जो वंजारे मध्य युग में व्यापार लेकर योरप गये वे जिप्सी कहलाये । उनकी भाषा में अब भी राजस्थानी तत्व वर्त्तमान है । इंगलैंड के जिप्सियों की भाषा में इस 'कूड' शब्द का प्रयोग देखिये :—

Dui Romani chals	=	दुइ रोमनी छैला
Were bitcheni	=	थे भेजाने (=भेजे गये थे)
Pawdle the bori pani	=	पल्ले वड़े पानी (=पल्ले पार नदी के)
Plato for Koring	=	प्लाटो कूड़ने को (Koring=कूडना
Lacho for choring	=	लच्छो चोरने को
The purse of a great lady	=	किसी बड़ी स्त्री का पर्स ।

३५–'लोकवार्त्ता'–दिसम्बर १९४४ पृ० १४७–१४९–सु० कु० चा० 'द्रविड़' ।

३६—खैराड़ी की विशेषता और उसके व्याकरण के लिये देखो—मेकेलिस्टर कृत 'जयपुरी डायलेक्टस्' पृ० ५२ तथा १२९ ।

निषादों के पश्चात् मंगोल या किरात जाति ने ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी की ओर से भारत में प्रवेश किया। ये लोग पहले उत्तर और पूर्व में भारत की पर्वतमालाओं में फैले और धीरे धीरे पूरे उत्तर भारत–मध्यप्रदेश (गंगा की उपत्यका) मध्य भारत, राजस्थान और सिन्ध में जा बसे। आज ये लोग और इनकी भाषा केवल असम और हिमालय प्रान्त में ही सीमित रह गई है। राजस्थान के किराड़ू (किरात कूप), लौहारू (–ड़ू) आदि इनकी प्राचीन बस्तियों के द्योतक हैं। किरात लोग यहाँ आकर अन्य जातियों में मिल गये और उनकी भाषा भी लुप्त हो गई। परन्तु राजस्थानी ध्वनि-संहति में किरात उच्चारण का प्रभाव अब भी कहीं कहीं दीख पड़ता है। किरात प्रवृत्ति निम्नलिखित स्थितियों में देखी जाती है:–

(१) समस्त राजस्थान ट–वर्गीय ध्वनियों का उच्चारण स्थान संस्कृत ट–वर्गीय ध्वनियों के समान मूर्द्धन्य न होकर वर्त्स्य है।

(२) च–वर्गीय स्पर्श–संघर्षी ध्वनियों का स्थान तालव्य न होकर दन्तमूलीय है, जो भीली से सर्वथा भिन्न है।

(३) सकार के स्थान पर जहाँ हकार होता है, वहाँ हकार के स्थान पर अल्प अकार, कहीं लोप और कहीं अनुस्वार का आगम देखा जाता है; जैसे––

(क) 'स' के स्थान पर 'ह' का लोप;
रामसींग>रामींग

(ख) 'स' के स्थान अल्प अकार सांस>हा ऽ, दिस>दि ऽ, वीस>वीऽ;
भैंस>भैंऽ

(ग) 'स' के स्थान पर अनुस्वार,
पास>पाँ

२. आर्य प्रभाव :

राजस्थान पर आर्य भाषा का प्रभाव आर्यों के आने के बहुत समय पश्चात् प्राकृत काल में आरम्भ हुआ। अतः राजस्थानी पर संस्कृत (वैदिक) का सीधा प्रभाव नहीं आया। ऐसा लगता है कि वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण तक आर्य लोग राजस्थान की खोज नहीं कर पाये थे। वे इसके पश्चिम, उत्तर और पूर्व सीमाओं पर ही प्रसार कर रहे थे। ऋग्वेद की रचना के समय तो राजस्थान का अधिकतर भाग समुद्र में था। सर्वप्रथम आर्य प्रभाव उत्तर-पूर्वी राजस्थान में मत्स्य प्रदेश (आधुनिक जयपुर का एक भाग) में मध्य प्रदेश के सूरसेन प्रदेश से सम्पर्क स्थापित होने पर वहाँ की बोली का पड़ा। यह उस समय की प्राकृत (शौरसेनी) थी।

आर्यों का मुख्य प्रसार आर्यवर्त (गन्धार से लेकर विदेह तक) में हुआ, जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार आर्य भाषा के तीन मोटे रूप थे—(१) उदीच्य (२) मध्य और (३) प्राच्य। इनके भीतर राजस्थान की कोई स्थिति नहीं है। इस वैदिक संस्कृत के आगे चल कर तीन प्राकृत रूप हुए–(१) उदीच्य

प्राकृत, (२) मध्य देशी प्राकृत और (३) प्राच्य प्राकृत। उदीच्य प्राकृत का प्राचीनतम लिखित रूप गान्धार प्रान्त के शाहबाज गढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों में मिलता है। (२) प्राच्य प्राकृत मागधी का एक रूप था।

राजस्थान के उत्तर पूर्व से उत्तर पश्चिम सीमाओं तक जो आर्य प्रभाव फैल रहा था उसमें प्राप्त शिलालेखों में वैरठ और सौरठ के शिलालेख भी हैं। इनमें वैरड के शिलालेख की भाषा शुद्ध प्राकृत मानी गई है। परन्तु सौरठ के गिरनार वाले शिलालेख की भाषा वहाँ की बोली हैं। जिसमें कहीं कहीं प्राच्य प्राकृत के रूप आ गये हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जहाँ जहाँ प्राकृत प्रभाव फैला था वहाँ अशोक के ये शिलालेख प्राच्य प्राकृत में खुदवाये थे, और जहाँ प्राकृत का प्रभाव नहीं था, वहाँ स्थानीय बोली में। इससे यह स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र का सम्पर्क उस समय तक पूर्व से हो चुका था। परन्तु भाषा (प्राच्य) का उतना प्रभाव नहीं पड़ा था। इसी कारण वहां की बोली और निकटतम प्राकृत का प्रयोग इस लेख में किया गया। सौरठ की इस प्राकृत और मध्य देश की प्राकृत में मौलिक भेद था। मारवाड़ और सौरठ–जो विविध जातियों के प्रसार और सम्पर्क के कारण निकट आ चुके थे—की बोलियों पर जिस प्राकृत का प्रभाव पड़ा वह न तो मध्य देशी प्राकृत थी और न प्राच्य प्राकृत ही। इन पर उदीच्य प्राकृत का प्रभाव था, जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा पंजाब से आया था। इसका कारण यह लगता है कि पश्चिम पंजाब, सिन्धु, सौरठ और मारवाड़ की अधिकतर जातियां उस समय तक द्रविड़भाषी अनार्य जातियाँ ही थीं। इन्होंने अपनी भाषा प्रवृत्ति के आधार पर ही आर्य भाषा (प्राकृत) को ग्रहण किया था। मारवाड़ी में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं जो इस प्रभाव की द्योतक हैं। उदाहरणार्थ गिरनार के शिलालेख की भाषा में 'त्म' और 'त्व' को 'त्प' के रूप में ग्रहण किया गया है :–

परिचजित्पा ∠ सं० परित्यजित्वा

आरभित्पा ∠ सं० आलभित्वा

यह उस बोली की एक विशेषता थी। इसी 'त्प' का आगे चलकर प्राकृत की सावर्ण्य प्रवृत्ति के कारण द्वित्व हो कर 'प्प' हुआ। इसी द्वित् 'प्प' को उद्योतनसूरि (वि० सं० ८३५) ने 'अप्पा तुप्पा भरि रे अह पेच्छइ माहए नत्तो' कहकर उस समय की मारवाड़ी प्रवृत्ति के रूप में उल्लेखित किया है। उदीच्य प्राकृत का प्रभाव इसमें एक अन्य उदाहरण से भी लक्षित होता है। वह है 'ल-कार' के स्थान पर 'र-कार' की प्रधानता जो 'आरभित्वा' और 'आलभित्वा' में दृष्टिगोचर होती है।[३७] इसी प्रकार मारवाड़ी में 'ष्ट' के मूर्द्धन्य 'ष' के स्थान पर दन्त्य 'स' की सीत्कार ध्वनि बड़ी स्पष्ट सुनाई पड़ती है, जो सम्भवतः आर्य प्रभाव से पहले की परम्परा है। गिरनार के शिलालेख में 'तिष्ठति' के प्राकृत रूप 'तिट्ठति' के स्थान पर उसका स्थानीय रूप 'तिस्टति' ही मिलता है। यह उस बोली की प्रबल प्रवृत्ति का द्योतक है। मारवाड़ी में आज भी स्पष्ट और कष्ट के मूर्द्धन्य ष् के स्थान पर दन्त्य स् की सीत्कार ध्वनि बड़ी साफ सुन पड़ती है।

३७—उदीच्य प्राकृत में तीन मुख्य विशेषताएं थीं—

(क) ईरानी के समान इसमें 'र' ध्वनि की प्रधानता थी और 'ल' ध्वनि का प्रयोग नहीं होता था।

(ख) महाप्राण 'घ', 'ध', 'भ' के अल्पप्राणत्व का लोप और केवल 'ह-कार' का प्रयोग।

(ग) मध्यग 'ड' (ड़), 'ढ' (ढ़), क्रम से 'ल्' और 'ल्ह' हो जाते थे।

इसी लेख में अन्य कई रूप हैं जो प्राकृत प्रभाव से मुक्त हैं; जैसे–'अस्ति' के स्थान पर 'अत्ति' न होकर 'अस्ति' का ही प्रयोग, जो 'सकार' के प्रबल आग्रह और अस्तित्व का प्रमाण है। इससे एक और तथ्य निकल आता है कि इस बोली में मूर्द्धन्य 'ष्' का अभाव था। शहबाजगढ़ी और मानसेरा की लिपियों में जहाँ 'ष' का प्रयोग हुआ है वहाँ ऐसे स्थान पर इसमें 'स्' ही मिलता है—

गिरनार — सवे पासंडा वसेवू ति।
शहबाजगढ़ी — सन्न प्रषंड बसेयु —।
मानसेरा — सव्र पषड वसेयु —।
संस्कृत — सर्वे पाषंडाः वसेयु इति।[38]

इसी प्रकार तालव्य श्' का भी अभाव दीख पड़ता है और उसके स्थान पर भी दत्य 'स्' का ही प्रयोग मिलता है—

गिरनार —सयमं च भावसुधि च इछति।
शहबाजगढ़ी —सयम भवशुधि च इछंति।
मानसेरा —सयम भवशुधि च इछंति।
संस्कृत --सयमं (च) भावशुद्धि च इच्छंति॥[39]

इससे यह स्पष्ट है कि इस प्रान्त में प्राकृत के प्रभाव के समय स्थानीय बोलियों की प्रवृत्तियाँ अत्यधिक प्रबल थीं। कुछ अन्य और उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

(१) संयुक्त व्यंजन की अस्वीकृति :

(क) च्च और च्छ : उचावचछंदो—सं० उच्चावच्छन्दाः
(हिन्दी–ऊंच नीच विचार से)
उचावचरागो--सं० उच्यावचरागाः
(हिन्दी–ऊंच नीच राग के)

(ख) क्त : दिढमतिता --सं० दृढमीकता

(ग) द्ध : भाव सुधिता --सं० भाव शुद्धिता

(२) ऋ के स्थान पर व्यञ्जन की प्रवृत्ति के अनुसार 'अ', 'इ' और 'उ' —

(क) क् के साथ 'अ' --कतंञता--सं० कृतज्ञता

(ख) द् के साथ 'इ'--दिढमतिता-सं० दृढमीकता
एतारिसानि–सं० एतादृशानि

(ग) पं् के साथ 'उ' –धमपरिपुछा सं० धर्मपरिपृच्छा

३८--देखो--नागरी प्रचारिणी पत्रिका में–ओझा–'अशोक की धर्म लिपियाँ'।

३९--'श्' तथा 'ष्' के स्थान पर 'स्' के उच्चारण के अन्य उदाहरण :
दसवाभिसितो--सं० दशवर्षाभिसिक्तः
धंमानुसस्टी --सं० धर्मानुशस्ति

प्राकृत, (२) मध्य देशी प्राकृत और (३) प्राच्य प्राकृत। उदीच्य प्राकृत का प्राचीनतम लिखित रूप गान्धार प्रान्त के शाहबाज गढ़ी और मानसेरा के शिलालेखों में मिलता है। (२) प्राच्य प्राकृत मागधी का एक रूप था।

राजस्थान के उत्तर पूर्व से उत्तर पश्चिम सीमाओं तक जो आर्य प्रभाव फैल रहा था उसमें प्राप्त शिलालेखों में वैरठ और सौरठ के शिलालेख भी हैं। इनमें वैरड के शिलालेख की भाषा शुद्ध प्राकृत मानी गई है। परन्तु सौरठ के गिरनार वाले शिलालेख की भाषा वहाँ की बोली हैं। जिसमें कहीं कहीं प्राच्य प्राकृत के रूप आ गये हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि जहाँ जहाँ प्राकृत प्रभाव फैला था वहाँ अशोक के ये शिलालेख प्राच्य प्राकृत में खुदवाये थे, और जहाँ प्राकृत का प्रभाव नहीं था, वहाँ स्थानीय बोली में। इससे यह स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र का सम्पर्क उस समय तक पूर्व से हो चुका था। परन्तु भाषा (प्राच्य) का उतना प्रभाव नहीं पड़ा था। इसी कारण वहां की बोली और निकटतम प्राकृत का प्रयोग इस लेख में किया गया। सौरठ की इस प्राकृत और मध्य देश की प्राकृत में मौलिक भेद था। मारवाड़ और सौरठ—जो विविध जातियों के प्रसार और सम्पर्क के कारण निकट आ चुके थे—की बोलियों पर जिस प्राकृत का प्रभाव पड़ा वह न तो मध्य देशी प्राकृत थी और न प्राच्य प्राकृत ही। इन पर उदीच्य प्राकृत का प्रभाव था, जो उत्तर-पश्चिमी प्रदेश तथा पंजाब से आया था। इसका कारण यह लगता है कि पश्चिम पंजाब, सिन्धु, सौरठ और मारवाड़ की अधिकतर जातियां उस समय तक द्रविड़भाषी अनार्य जातियाँ ही थीं। इन्होंने अपनी भाषा प्रवृत्ति के आधार पर ही आर्य भाषा (प्राकृत) को ग्रहण किया था। मारवाड़ी में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं जो इस प्रभाव की द्योतक हैं। उदाहरणार्थ गिरनार के शिलालेख की भाषा में 'त्म' और 'त्व' को 'त्प' के रूप में ग्रहण किया गया है:—

परिचजित्पा ∠ सं० परित्यजित्वा

आरभित्पा ∠ सं० आलभित्वा

यह उस बोली की एक विशेषता थी। इसी 'त्प' का आगे चलकर प्राकृत की सावर्ण्य प्रवृत्ति के कारण द्वित्व हो कर 'प्प' हुआ। इसी द्वित् 'प्प' को उद्योतनसूरि (वि० सं० ८३५) ने 'अप्पा तुप्पा भरि रे अह पेच्छइ मारुए तत्तो' कहकर उस समय की मारवाड़ी प्रवृत्ति के रूप में उल्लेखित किया है। उदीच्य प्राकृत का प्रभाव इसमें एक अन्य उदाहरण से भी लक्षित होता है। वह है 'ल-कार' के स्थान पर 'र-कार' की प्रधानता जो 'आरभित्वा' और 'आलभित्वा' में दृष्टिगोचर होती है।[३७] इसी प्रकार मारवाड़ी में 'ष्ट' के मूर्द्धन्य 'ष' के स्थान पर दन्त्य 'स' की सीत्कार ध्वनि बड़ी स्पष्ट सुनाई पड़ती है, जो सम्भवतः आर्य प्रभाव से पहले की परम्परा है। गिरनार के शिलालेख में 'तिष्ठति' के प्राकृत रूप 'तिट्ठति' के स्थान पर उसका स्थानीय रूप 'तिस्टति' ही मिलता है। यह उस बोली की प्रबल प्रवृत्ति का द्योतक है। मारवाड़ी में आज भी स्पष्ट और कष्ट के मूर्द्धन्य ष् के स्थान पर दन्त्य स् की सीत्कार ध्वनि बड़ी साफ सुन पड़ती है।

३७—उदीच्य प्राकृत में तीन मुख्य विशेषताएं थीं—

(क) ईरानी के समान इसमें 'र' ध्वनि की प्रधानता थी और 'ल' ध्वनि का प्रयोग नहीं होता था।

(ख) महाप्राण 'घ', 'ध', 'भ' के अल्पप्राणत्व का लोप और केवल 'ह-कार' का प्रयोग।

(ग) मध्यग 'ड' (ड़), 'ढ' (ढ़), क्रम से 'ल्' और 'ल्ह' हो जाते थे।

एक नवीन सामाजिक व्यवस्था में भाषा का पोपरण हो रहा था। प्रचलित आर्य भाषा में नई-नई भापा-प्रवृत्तियों का समावेश हो रहा था। तत्सम शब्दों के अनेक तद्‌भव रूपान्तर हो रहे थे, अनार्य शब्दों को (-क प्रत्यय लगाकर संस्कृत किया जा रहा था (राज० घुत्र 7 घोत्र 7 घोटड़ 7 सं० घोटक:) तो कहीं प्राकृत (राज० मिल 7 विल 7 मिल 7 प्रा० मिल्ल)। शब्दों को नये रूप मिल रहे थे। एक ही शब्द का उच्चारण विविध जातियां अपनी ध्वनि-संहृति और मुखसुख प्रवृत्ति के अनुसार कर रही थीं, जिसमे एक ही शब्द के अनेक रूप होने लगे थे[४१]। इस प्रकार इस आर्य-अनार्य सम्पर्क से प्राकृत भापा के रूप में परिवर्तन स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। परिणामतः एक नवीन भापा 'अपभ्रंश' का विकास हुआ।

राजस्थान पर प्राकृत प्रभाव ई० पू० की सहस्राब्दि से लेकर ई० पू० की अन्तिम शताब्दी तक बना रहा। इस समय तक यहां आर्य प्रभावपूर्ण रूप से फैल गये थे। इसके साथ ही अपभ्रंश का राजस्थानी रूप आरम्भ हो गया। इस रूप के विकास में सहयोग देने वाले थे भील (मिल्ल), गौमील। (गौमिल्ल 7 गोहिल्ल), आभीर (अभिल्ल), गुर्जर, तथा कोल, मुन्डा और किरातों की सन्तानें एवं चारण, पड़वा, और भाट आदि। आर्यों के साथ इन जातियों के निकट सम्पर्क के कारण इनकी बोलियां भी अधिक प्रभावशाली हो रही थीं। गोपालन के कार्य में कुशल होने के कारण महाभारत के समय तक आभीर तो चातुवर्ण्य में सम्मिलित कर ही लिये गये थे। सम्भवतः आभीर ही पहली जाति थी जिसने आर्य परिवार से सम्बन्ध स्थापित किया था। भीलों में गायें चराने वाले आर्यो द्वारा गौमिल्ल (गौ+मिल्ल) कहलाये और आर्य वर्ण में सम्मिलित होने पर आभीर (आर्य+मिल्ल=आ मिल्० 7 आभील 7 आभीर) कहलाये। आभीर जाति के मूल उद्‌गम के विपय में जो अनेक कल्पनाएं की गई हैं वे सब निराधार हैं। वास्तव में परिवार में सम्मिलित किये गये मिल्ल ही आर्य+मिल्ल कहलाये। आर्य+मिल्ल का ही रूपान्तर आर्य-मिल्ल या आ-भिल्ल हुआ। आ-भील के 'ल्' का 'र्' में परिवर्तन होना इस मत को और भी अधिक पुष्ट कर देता है। ऊपर हम बता चुके हैं कि आर्य प्रसार के कारण आर्य भापा संस्कृत के उदीच्य, मध्य और प्राच्य ये तीन रूप हो चुके थे। उत्तर में उदीच्य का प्रयोग होता था जिसमें 'ल्' का प्रयोग न होकर ईरानी के समान सर्वत्र 'र' का ही प्रयोग होता था। आभीर शब्द में 'ल्' के स्थान पर 'र' का प्रयोग यह प्रमाणित करता है कि उत्तर में ही आर्य-भील संयोग हुआ था। इस प्रकार अभीर भीलों की ही एक जाति थी। इन्हीं की पेशेवर जाति गाय-बकरी चराने के कारण गूजर (गौः+अज+चर=गौर्ज्जर, गुर्ज्जर, गूजर) कहलायी।

४१—(१) पंतजलि ने अपने महाभाष्य में (ई० पू० २००) इस उच्चारण की अनेकता की ओर संकेत किया है और 'गौ' शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप प्रस्तुत किये—"गौरित्यस्य शब्दस्या गावी गोणी गोपोत्तलिकेत्येवमादयोऽपभ्रशाः'—देखो कीलहार्न द्वारा सम्पादित 'महाभाष्य- पृ० २०

(२) परवर्ती प्राकृत ग्रन्थों में तथा अनेक जैन सूत्रों में इन शब्दों का प्रयोग होने लगा था।

(३) देखो, चण्ड कृत 'प्राकृत लक्षण' गौगार्वी २, १६

(४) देखो—सिद्धहेम व्याकरण 'गोणादयः-२, १७४।

३. भाषा के अनेक भेद और उसमें राजस्थान की स्थिति :

महाभारत के पश्चात् सामाजिक व्यवस्था विशृंखल हो गई थी। आर्य-अनार्य मिश्रण के कारण जातियाँ अपने कार्य और व्यवसाय के अनुसार महत्व प्राप्त करती जा रही थीं। विविध जातियाँ अपने अपने टोल में संगठित होकर अपनी अपनी बोलियों का प्रयोग करती थी। आभीरों के टोल तो महत्वपूर्ण हो ही गये थे परन्तु अभीरोक्ति ने भी आर्य भाषा प्राकृत के रूप को सर्वथा परिवर्तित कर दिया था, जो आगे चलकर अधिक महत्व प्राप्त कर लेने पर अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुई और उसमें साहित्य रचना होने लगी।

प्राकृत का अन्दर का ढाँचा किसी सीमा तक सर्वदेशीय बना रहा था, पर विविध बोलियों की विशेष प्रवृत्तियों के कारण छोटे मोटे जातिगत भेदों के साथ ही स्थानगत भेद हो गये थे। फिर भी इस ढाँचे पर विकसित एक सामान्य भाषा अवश्य बनी रही। यही प्रान्तीय भेदों के साथ सर्वमान्य थी। 'देश भाषा' का यह एक रूप था। उसमें ये प्रान्तीय रूप जुड़े जा रहे थे। प्राकृत से भिन्न हो कर वह देश भाषा के रूप में प्रचलित हुई। ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दी तक देशभाषा का यह रूप प्राकृत से पूर्णतः स्वतन्त्र हो चुका था। भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में (ई० दूसरी शताब्दी) विविध वर्गों के पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषाओं में संस्कृत और प्राकृत से सर्वथा भिन्न एक 'देशभाषा का भी उल्लेख किया है—

> एवमेतत्तु विज्ञेयं प्राकृतं संस्कृतं तथा ।
> अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यानि देशभाषा प्रकल्पनम् ॥

यह देश के भिन्न भागों में प्रान्तीय विशेषताओं के साथ बोली जाती थी। भरत ने इसी देश भाषा के सात रूपों का प्रान्तीकरण किया है--

१. बाह्लीका —पश्चिमी पंजाब और उत्तरी पंजाब की बोली
२. शौरसेनी —मध्य देश की बोली
३. आवन्ती —मालव प्रदेश की बोली
४. अर्धमागधी —कोसल की बोली
५. मागधी —मगध की बोली
६. प्राच्य —मगध से आगे के पूर्वी देशों की बोली
७. दाक्षिणात्य —गुजरात तथा दक्षिण राजस्थान की बोली (४२)

ऊपर आर्य भाषा संस्कृत के उदीच्य मध्य देशीय और प्राच्य—इन तीन भेदों का उल्लेख किया गया है। इन्हीं के आधार पर प्राकृत के तीन भेदों का भी विकास हुआ, जिनमें अशोक की धर्म लिपियाँ उत्खनित हैं। इन्हीं तीन प्राकृतों से विकसित देश भाषा के आर्य प्रसार के साथ साथ—ये सात प्रान्तीय रूप हो गये। बाह्लीका उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, पश्चिमी पंजाब, काश्मीर आदि देशों में बोली जाती थी, जिसका प्रभाव सिन्ध और कुछ कुछ उत्तर राजस्थान पर भी पड़ा था। इस भाषा का आधार उदीच्य ही

४२—मागध्यवन्तिजा प्राच्याशूरसेन्यर्धमागधी।
बह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्त्तिता॥

की दूसरी शताब्दी में 'शिवजनपद' की स्थापना हुई जिसकी राजधानी चित्तौड़ के पास 'मध्यमिका नगरी' (अब नगरी के नाम से प्रसिद्ध) थी। इसके सिक्के पर 'मझिमिकम्व शिवजन पदस' लिखा मिलता है।[४६] यह आर्य भाषा ही है। इसमें मध्यग-अ- (मझिमिका 7 मध्यमिका में 'ध्य' का 'झ' के स्थान पर 'इ' उच्चारण करने की प्रवृत्ति आज तक वर्त्तमान है। इसके विपरीत मारवाड़ी में शब्द के आरंम्भिक अ-कार का इ-कार होता है।

४. देश-भाषा की विविध प्रवृत्तियों में राजस्थानी प्रवृत्तियां :

भरत ने इसी देश भाषा की प्रान्तीय विशेषताओं का उल्लेख किया है। उसके अनुसार गंगा और सागर के मध्य की भाषा (मध्य देश तथा पूर्व में) ए-कार बहुला है। विन्ध्याचल और सागर के बीच वाले प्रदेशों की भाषा न-कार बहुला है। सुराष्ट्र, अवन्ति और वेत्रवती (वेतवा) के उत्तर के देशों की भाषा में च-कार की प्रधानता है। चर्मण्वती (चम्बल) और उसके पार आबू तक के प्रान्तों में ट-कार की बहुलता है। और हिमालय, सिन्धु और सौवीर के बीच अर्थात् शूरसेन, हिमालय का पहाड़ी भाग तथा उत्तर राजस्थान से लेकर सिन्धु तक के देशों में उ-कार की बहुलता है। उक्त कथन में राजस्थान में तीन भाषा स्पष्ट रूप में आ गई हैं।

(१) सौराष्ट्र से अवन्ति तक च-कार की विशेषता

(२) चम्बल से आबू के बीच ट-कार की विशेषता, और

(३) उत्तर राजस्थान में उ-कार की बहुलता

स्पष्ट है कि दक्षिण राजस्थान में भीली-किरात-द्रविड़ प्रभाव के कारण च-वर्गीय तथा ट-वर्गीय ध्वनियों में उच्चारण आर्य ध्वनियों से भिन्न है। इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। हम जो यह बतला चुके हैं कि उकारान्त प्रवृत्ति भीली, द्रविड़ तथा 'आभीरोक्ति' की प्रधान विशेषता थी। मथुरा से लेकर राजस्थान और गुजरात तक वही उकारान्त आज ओकारान्त हो गया है और इसका उकारान्त स्वरूप अपभ्रंश से प्रभावित तेलुगु में प्रबल रूप में वर्तमान है।

अपभ्रंश में उकारान्त बहुलता के साथ व्याकरण के नपुंसक के भेद को हटा देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी। इसी कारण उसमें कहीं नपुंसक का प्रयोग होता था और कहीं नहीं। इस प्रवृत्ति से दो बातें स्पष्ट होती हैं। इसमें एक वर्ग ऐसा था जो नपुंसक के भेद को स्वीकार करता था। यह वर्ग विशेष रूप में गुजरात-सौराष्ट्र वर्ग था, जिसका कुछ प्रभाव मारवाड़ पर भी था। दूसरा शेष राजस्थान का था जो नपुंसक के भेद को हटा रहा था, इसलिये अनुस्वार का प्रयोग नहीं करता था। आगे चलकर जब पुरानी पश्चिमी राजस्थानी से गुजराती अलग हुई तो गुजराती में नपुंसक सुरक्षित रह गया और राजस्थानी से लुप्त हो गया।

४५-४६—देखो-नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ३, पृ० ३३४ पर ओझा० का लेख।

५. अपभ्रंश में राजस्थानी के मूलतत्व :

आभीरोक्ति से विकसित होकर अपभ्रंश देश की प्रधान भाषा हुई और उसमें साहित्य रचना होने लगी। अपभ्रंश के विकास और प्रसार का प्रधान श्रेय आभीरों तथा गुर्ज्जरों को दिया गया है। आभीरों तथा गुर्ज्जरों का प्रसार उत्तर में सिन्धु और सरस्वती के तट से[४७] तथा सपादलक्ष[४८] की ओर से गुजरात और राजस्थान में हुआ। पूर्व[४९] तथा दक्षिण[५०] तक उनके राज्य भी स्थापित थे। राजशेखर का 'पश्चिमेन: अपभ्रंशिन: कवय:' इस तथ्य का प्रमाण है कि गुजरात और राजस्थान में अपभ्रंश काव्य का चरम विकास हुआ। अपभ्रंश काव्य के प्राप्त ग्रन्थों के द्वारा इस प्रमाण की पुष्टि भी होती है। इसी पश्चिमी या शौर-सेन अपभ्रंश से राजस्थानी भाषा का विकास हुआ। राजस्थानी का प्राचीनतम रूप पुरानी राजस्थानी के ग्रन्थों में सुरक्षित है। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी[५१] को पुरानी हिन्दी भी कहा है।[५२] इसका कारण भी यही है कि हिन्दी के वर्तमान रूप की रचना में पुरानी राजस्थानी का प्रबल आधार है। इसके कुछ उदाहरण ऊपर दिये भी जा चुके हैं।

हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में एक अध्याय अपभ्रंश व्याकरण का भी दिया है। यहाँ उसी व्याकरण से कुछ ऐसे तत्वों को प्रस्तुत किया जा रहा है जो राजस्थानी के रचना-विकास के मूल में प्राप्त होते हैं (कोष्ठकों में सूत्र-संख्या दी गई है)—

४७—विलसन ने 'इन्डियन कास्ट' में आभीरों के विषय में लिखा है—'आरम्भ में उल्लेख महाभारत में शूद्र के साथ मिलता है, जो सिन्ध के तट पर निवास करते थे।···· तोलोमी (Ptlomy) ने भी 'आबीरों' (आभीरों) को स्वीकृत किया है, जो अब भी आभीरों के सिन्ध, कच्छ और काठियावाड़ में मिलते हैं और ग्वालों तथा खेती का कार्य करते हैं।'
रामायण, विष्णुपुराण, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में द्रविड़, पुण्ड्र, शबर, बर्बर, यवन, गर्ग आदि के साथ आभीरों का भी उल्लेख मिलता है।

४८—(१) देखो—ग्रियर्सन का भाषा सर्वे जिल्द ९, भाग २, पृ० २ तथा ३२३.
(२) देखो—इन्डियन एन्टीक्वेरी १९११ में डा० भण्डारकर का लेख 'फोरेन एलिमेन्ट इन दी हिन्दू पोप्यूलेशन' –पृ० १६.
(३) देखो—आर० ई० ए-थोवन कृत 'ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स् आफ बोम्बे' भूमिका पृ० २१.

४९—देखो—समुद्रगुप्त का इलाहाबाद का लेख।

५०—देखो—संवत् ३८७ का नासिक गुफा का शिलालेख जिसमें राजाशिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन अहीर का उल्लेख है।

५१—देखो—इन्डियन एन्टीक्वेरी १९१४ के अंकों में तिस्सेतोरी कृत पुरानी पश्चिमी राजस्थानी पर 'नोट्स'।

५२—देखो—नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, अंक ४ में 'गुलेरी' लेख 'पुरानी हिन्दी।'

(१) विभक्तियां :

(क) राजस्थानी में प्रथमा और सम्बोधन में एक वचन पुलिंग आकारान्त तथा स्त्रीलिंग आकारान्त संज्ञाएं अपभ्रंश के समान (३३०) ही रहती हैं। परन्तु द्वितीया एक वचन पुल्लिग में अपभ्रंश के अकारान्त (३३१) का आकारान्त हो गया है। अपभ्रंश तृतीया के –ए (३३३), अनुस्वार तथा –ण (३४२ तथा ३४३), ०–हिं (३३३, ३४७) राजस्थानी काव्य में सुरक्षित रहे हैं। अप० पंचमी के –हे, –हु (३३६,–३४१, ३५२) तथा –हुं (–हुँ (३३७, ३४१) काव्य में तो सुरक्षित हैं, पर बोलियों में –हु के स्थान पर –हुं का ही प्रयोग होने लगा है। षष्ठी के –हं (३३९, ३४०), –हे (३५०) और –हु का प्रयोग केवल काव्य में ही सीमित है। सप्तमी –इ, –ए (३३४), –हि (३४१, ३५२), –हुं (३४०), –हिं (३४७) काव्य में प्रयुक्त होते रहे हैं। पर –इ का प्रयोग काव्य में छन्द-बन्धन के कारण –ए के स्थान पर ही हुआ। बोलियों में केवल –ए ही पाया जाता है। –ए का बहुवचन बोलियों में –आँ हो गया है। सम्बोधन पुल्लिग –हो (३४६) का प्रयोग बोलियों में भी होता है, परन्तु स्त्रीलिंग-हो (३४६) का प्रयोग केवल आदर सूचनार्थ ही होता है। स्त्रीलिंग –ए (३३०) का प्रयोग सर्वत्र होता आया है।

(२) सर्वनाम :

(क) **निश्चयवाचक :** अपभ्रंश एहो (३६२) के स्थान पर राजस्थानी में यो (ओ); एइ (३६३) के स्थान पर ई; एह (३६२) के स्थान पर या (आ); ओइ (३६४) के स्थान पर ओ, वो; आय (३६५) के स्थान पर आ; आयइं (३६५) के स्थान पर ईं; जासु-कासु (३५८) तथा जहे–कहे (३५८) के स्थान पर जीं-कीं हो गये हैं।

(ख) **प्रश्नवाचक :** अपभ्रंश 'काइं' और 'कवण' (३६७) पुरानी राजस्थानी में तो ग्रहण किये गये हैं, परन्तु उसके पश्चात् 'काइं' तो मूल रूप में ही बोलियों तक आया है और 'कवण' का विकसित रूप 'कुण' (कूण, कौण) प्रयुक्त होने लगा।

(ग) **पुरुष वाचक :** अपभ्रंश 'मइं' (३७७) राजस्थानी काव्य में 'मिं' हो गया और 'मइं' तथा 'मिं' दोनों का प्रयोग होने लगा। इसी प्रकार अपभ्रंश अम्हे-अम्हइं (३७६) का 'म्हे'; 'हउं' (३७५) का 'हुं' तथा मूल रूप 'हउं' भी काव्य में व्यवहृत होने लगे। इनमें 'म्हे' तो बोलियों तक चला आया पर 'हुं' की परम्परा काव्य तक ही सीमित रही। हुं के स्थान पर 'म्हुं' का बोलियों में विकास हुआ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष 'तुहुं' (३६८) का 'थूं' 'तुम्हे'–तुम्हइं' (३६९) का 'थां-थें'; तइं' (३७०) का 'थइं'; 'तउ' (३७२) का 'थउं' रूप बोलियों में विकसित हुए।

(३) क्रिया :

(क) राजस्थानी में अपभ्रंश वर्तमान के प्रत्यय –उं (३८५), –हुं (३८६), –हि (३८३), –हु (३८४), –हिं (३८२) काव्य में तो प्रयुक्त होते रहे हैं, परन्तु बोलियों में –उं का –उं, –हुं का –आं, –हि तथा –हिं का –ए, और –हु का –ओ हो गया है।

(ख) आज्ञार्थ में अपभ्रंश –इ, –उ, –ए (३८७) काव्य में सुरक्षित हैं, परन्तु बोलियों में 'सबके स्थान पर –अ का प्रयोग होता है।

(ग) भविष्यार्थ में अपभ्रंश 'स्य' तथा 'स' (३८८) दोनों का प्रयोग काव्य में होता है। इस प्रकार 'होस्यइ' और होसउ' दोनों रूप मिलते हैं। इसी के अन्य रूप 'होइस्यइ' (<भविष्यति), 'होइसइ' 'होसिइ', 'होइहिं' (होइइ), 'होहिइ' (३८८), 'होवइ', 'होग्रइ', 'हुवइ', हुवै', 'हुवइ' आदि रूप भी प्रचलित हैं।

(४) रूप परिवर्तन :

(क) अपभ्रंश में जहाँ अनादि 'म्' सानुनासिक 'वँ' हो जाता है (३९७), वहाँ राजस्थानी में मध्यग –म्–एवं -वँ– दोनों का प्रयोग हुआ है, परन्तु अन्त्य –म् का परिवर्तित अनुनासिक –वँ आनुनिक रूप में –उँ हो गया है।

(ख) अन्त्य व्यंजन से संयुक्त 'र्' जहाँ अपभ्रंश में विकल्प से लोप होता है (३९८) वहाँ राजस्थानी में भी यही प्रवृत्ति देखी जाती है।

(ग) अपभ्रंश 'जेहु', 'तेहु', 'एहु' (४०२) राजस्थानी में काव्य में प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इनके विकसित रूप 'जेहो', 'तेहो', 'केहो', 'एहो' भी मिलते हैं। पुरानी पश्चिमी राजस्थानी से ये रूप गुजराती में चले गये। राजस्थानी में इनके स्थान पर अपभ्रंश 'जइस', 'तइस', 'कइस', अइस (४०३) से विकसित रूप 'जइसउ' (>जिसो, जसो, जस्यो), 'तइसउ' (>तिसो, तसो, तस्यो), 'कइसइ' (किसो, कसो, कस्यो) और 'अइसउ' (इसो, असो, अस्यो) रूप प्रयुक्त होते हैं।

(घ) अपभ्रंश के 'जेवडु-तेवडु' (४०७) के 'जेवडो-तेवडो' तथा एवडु-केवडु' (४०८) के 'एवडो' केवडो' रूप पुरानी राजस्थानी तथा काव्य में बराबर प्रयुक्त होते रहे हैं। मारवाड़ी में इनके रूप क्रमशः 'जेड़ो', 'तेड़ो', 'एड़ो', 'केड़ो' विकसित हुए हैं। इसी प्रकार अपभ्रंश 'जेत्तुलो'-तेत्तुलो' (४०७) के 'जितरो-तितरो, वितरो (जतरो-ततरो-वतरो) तथा एत्तुलो-केत्तुलो (४०८) के 'इतरो (अतरो)–कितरो (कतरो) राजस्थानी रूप विकसित हुए। आधुनिक मारवाड़ी में इनके रूप क्रमशः 'जित्तो' तित्तो' (वित्तो), 'इत्तो' 'कित्तो' हो गये।

(५) स्वार्थिक प्रत्यय :

संज्ञा में लगने वाले अपभ्रंश स्वार्थिक प्रत्यय 'अ–डड–डुल्ल–डो–डा' (४२९, ४३०, ४३१,४३२) के राजस्थानी में डो, लो, डी, ली, ड्यो, ल्यो, डिओ (डियो), लिओ (लियो) रूप मिलते हैं।

(६) अपभ्रंश से राजस्थानी का पृथक्करण :

इस बात का निर्णय करना कठिन है कि अपभ्रंश से राजस्थानी का पृथक्करण कब हुआ। एक भाषा के भीतर ही उससे विकसित होने वाली भाषा के बीज प्रस्फुरित हो जाते हैं और धीरे धीरे वह भाषा अपनी नवीन भाषा को पोषित करती हुई लुप्त हो जाती है। राजस्थानी की भी यही स्थिति देख पड़ती है। अपभ्रंश ज्यों ज्यों लोक व्यवहार से हटती गई त्यों त्यों राजस्थानी के नव विकसित अंकुर भाषा में स्थान प्राप्त करते रहे। इस प्रकार अपभ्रंश के अन्तिम युग की परिवर्तित भाषा में प्राप्त साहित्य में राजस्थानी भाषा के आरम्भिक रूप देख पड़ते हैं। ये रूप सम्भवतः विक्रम की आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में

आरम्भ हो गये होंगे, जब अपभ्रंश के क्षेत्र में प्रान्तीय विशेषताएं अंकुरित होने लगी थीं। इसका प्रमाण वि० सं० ८३५ में उद्योतनसूरि द्वारा रचित 'कुवलयमाला' कथा में संग्रहित प्रान्तीय रूपों से मिलता है।[५४] परन्तु राजस्थानी का अधिक स्पष्ट रूप जिनदत्तसूरि कृत 'उपदेसरसायनसार' में मिलता है।[५५]

अपभ्रंश से राजस्थानी के स्वरूप विकास की प्रधान प्रवृत्ति है। अपभ्रंश के द्विस्वर्णवाले शब्दों की अस्वीकृति और उनके स्थान पर नव विकसित रूपों की स्थापना। यह प्रवृत्ति निम्नलिखित रूपों में पायी जाती है :—

५४—शौरसेन अपभ्रंश से प्रभावित क्षेत्र में विकसित इन रूपों का उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. मध्यदेश—णय-नीति-सन्धि-विग्गह-पडुए वहु जंपि रे य पयतीए।
'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपि रे मभ देसे य ॥

२. अन्तर्वेद—कवि रे पिंगल नयणे भोजणकहमे तद् विण्णवा वारे।
'कित्तो किम्मो जिअ' जंपि रे य अंतवेते य ॥

३. टक्क—दक्षिण दाण पोरुषा विण्णाण दया विवज्जिय सरीरे।
'एहं तेहं' चवंते टक्के उण पेच्छय कुमारो ॥

४. सिन्धु—सललितमिदु—मंदपए गंधव पिए सदेस गय चित्ते।
'च्चउडय मे' भणि रे सुहए अह सेन्धवे दिट्ठे ॥

५. मरुदेस—वंके जडे य जड्डे वहु मोई कठिण-पीण-थूणंगे।
'अप्पा तुप्पा' भणि रे अह पेच्छइ मरुए तत्तो ॥

६. गुर्जर—घय लोलित पुट्ठंगे धम्मपरे सन्धि-विग्गह णिउणे।
'णउरे भल्लउ' भणि रे अह पेच्छइ गुज्जरे अवरे ॥

७. लाट—ण्हाउलित्त-विलित्ते कय सीमंते सुसोहिव सुगत्ते।
'आहम्ह काइं तुम्ह मित्तु' भणि रे अह पेच्छइ लाडे ॥

८. मालव—तणु-साम-मडह देहे कोवणए माण-जीविणो रोद्दे।
'माउअ भइणी तुम्हे' भणि रे अह मालवे दिट्ठे ॥

विशेष के लिये देखो-'अपभ्रंश काव्यत्रयी, भूमिका पृ० ९१-९४।

५५—निम्नलिखित उदाहरण देखिये—

बेट्टा बेट्टी परिणाविज्जहि। तेवि समाण धम्म घरि विज्जहि ॥
विसम धम्म-घरि जइ विवाहइ। हो सम्मुत्तु सु निच्छइ वाहइ ॥
थोडइ धणि संसारइ कज्जइ। साइज्जइ सव्वइ सवज्जइ ॥
विहि धम्मत्थि अत्थु विविज्जइ। जेण सु अप्पु निव्वुइ निज्जइ ॥
'उपदेसरसायनसार'—पृ० ६३-६४

(क) अपभ्रंश के द्वित्व्यंजन का लोप और उसके पूर्वस्थित स्वर का दीर्घीकरण:
अप० अज्ज > रा० आज; अप० कज्ज (४०६, ३) > रा० काज;
अप० भग्ग > रा० भाग; अप० घल्लइ (३३४,१) > रा० घालइ;
अप० अप्पणउ (३३७, १) > रा० आपणउं; अप० जज्जरउ
रा० जोजरउं; अप० वग्ग (३३०, ४) > रा० वाग।

(ख) अप० के द्वित्व्यंजन का लोप और उसके परवर्त्ती व्यंजन-स्थित स्वर का दीर्घीकरण :
अप० ढोल्ल (३३०, १) > अप० ढोलो; अप० वहिल्ल (४१२) रा० वहिलो;
अप० हेल्लि (४२२) रा० हेली अप० अप्पणउ (३३७, १) > रा० अपाणो।

(ग) अप० के द्वित् व्यंजन का लोप और उसके पूर्ववर्त्ती या परवर्त्ती स्वर में कोई परिवर्त्तन नहीं
अप० नच्चाविउ (४२०, २,) रा० नचाविउ; अप० छोल्ल (३९५) >
रा० छोल; अप० झलक्क (३९५) > रा० झलक; अप० खुडुक्कइ (३९५) >
रा० खुडुकइ; अप० विट्टाल (४२२) > रा० विटाल।

(घ) अप० द्वित्व्यंजन का लोप और उसके पूर्ववर्ती वर्ण का नासिक्यीकरण:—
खग्ग (३३०, ४०१) > रा० खंग; अप० पहुच्चइ (४१९, १) > रा० पहुंचइ।

(च) अप० के उन द्वित्व्यंजन युक्त शब्दों की अस्वीकृति जिनके, उपर्युक्त नियमों के अनुसार शब्दार्थ विपर्यय होता हो। ऐसे शब्दों के स्थान पर संस्कृत तत्सम् या उनके राजस्थानीं तद्भव रूपों की स्थापना :

इस प्रकार के शब्दों में 'धम्म' से 'धाम' न होकर 'धर्म' अथवा 'धरम' शब्दों को मान्यता प्राप्त हुई। इसी प्रकार 'कर्म' के प्रा० 'कम्म' का 'काम' न होकर 'कर्म' या 'करम'। स्वर्ग के प्रा० 'सग्ग' का 'साग' न होकर स्वर्ग' वा 'सरग' आदि।

अन्य प्रवृत्तियों में आदि 'ण' और मध्यम 'ण' का लोप; षष्ठी में 'का-' की - के तथा 'रा-री-रे' का विकास; 'हन्तो' विभक्ति के विविध रूपों का सभी कारकों में प्रयोग और शब्द के प्रथम वर्ण के 'अकार' के स्थान पर 'इ-कार' की मान्यता उल्लेखनीय हैं, जिनसे अपभ्रंश और राजस्थानी पृथकता स्थापित करने में सहायता प्राप्त हो सकती है।

७. राजस्थानी की डिंगल शैली :

डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ के विषय में पिछले वर्षों में अनेक विवाद चले। डा० तिस्सेतोरी से लेकर (१९१४) डा० मेनारिया (१९५०) तक अनेक कल्पनाएं 'गवांरू' से आरम्भ हुईं और 'डींग हांकने' में समाप्त हुई। डा० तिस्सेतोरी ने डिंगल का अर्थ अनियमित तथा गंवारू बतलाया; डा० हरप्रसाद शास्त्री ने इसकी व्युत्पत्ति 'डंगल' से मानी, तो किसी ने डिंगल में 'डिम्म+गल' की सन्धि का आरोप कर यह बतलाया कि जिसमें गले से डमरू आवाज् निकलती हो वह 'डिंगल' है। इसी प्रकार 'डिम्म+गल=

डिंगल, डिग्गी + गल् = डिंगल्' आदि अनेक अनुमान प्रकाशित हुए[५६]। इस सम्बन्ध में सबसे अन्तिम आविष्कार डा० मेनारिया ने डींग मारने का किया'। उनका कथन है कि डिंगल की व्युत्पत्ति 'डींग मारने से' है, क्योंकि इसी भाषा में अत्युक्ति और अनुरंजनापूर्ण साहित्य मिलता है[५७]। इस व्युत्पत्ति की अत्यधिक टीका होने पर डा० मेनारिया ने इस कल्पना को और आगे को खींचा और अपनी पुस्तक 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में 'डींग' शब्द के साथ 'ल्' प्रत्यय जोड़कर उसको 'डींगल्' बनाया तथा 'डिंगल्' और 'डींगल्' में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए 'ड्' के साथ आने वाले ह्रस्व इ-कार और दीर्घ ई-कार की बड़ी विचित्र व्याख्या करते हुए दीर्घ ईकार का ह्रस्व इ-कार कर देने का वर्णन किया है।[५८]

डिंगल के विषय में मैंने एक अलग लेख प्रकाशित कर दिया है[५९] और यहां ऊपर भी बतला चुका हूँ कि यह चारण-भाट आदि राज्याश्रित कवियों के काव्य की एक भाषा शैली है। यह भी बतलाया जा चुका है कि प्राचीन द्रविड़ शब्द 'पुल्वन' और राजस्थानी पड़वो-बड़वों अपने मूल में एक ही रूप और एक ही अर्थ रखते हैं।' इस प्रकार ये लोग राजस्थान में आर्य प्रभाव के पूर्व किसी राजकीय परम्परा से सम्बन्धित हैं। प्राचीन भीलों द्रविड़ शब्द के 'पुल्वन' के समान ही 'डिंगल' शब्द भी पड़वो, बड़वों, भाट ढाढ़ी आदि विरुद-गायक जातियों में से किसी एक जाति के लिये प्रयुक्त होता था। प्राचीन संस्कृत कोषों में इस शब्द का 'डिंगर' रूप भी मिलता है। 'डिंगर' का अर्थ मोनियर वीलियम्स ने अपने संस्कृत कोष में पृ० ४३० पर अमरसिंह, हलायुध, हेमचन्द आदि के कोषों के आधार पर धूर्त, दास, सेवक, गाने बजाने वाला दिया है। हलायुध के कोष में यह शब्द मिलता है और उसने यही अर्थ दिया है। डिंगल में ल्' के स्थान पर संस्कृत कोष में 'र' का प्रयोग ऊपर उल्लिखित उदीच्य संस्कृत की प्रवृत्ति है। अतः डिंगल् और डिंगर एक ही अर्थ के द्योतक हैं और चारण-भाटों के काव्य की एक विकसित परम्परा से सम्बद्ध हैं।

ऊपर हम यह भी बता चुके हैं कि राजस्थान में आर्य भाषा का प्रभाव प्राकृत काल में आरम्भ हुआ था। उस समय दो भाषाओं के संयोग और विलीनीकरण का कार्य चल रहा था। अनार्य शब्दों का आर्यीकरण हो रहा था। द्वितवर्ण की प्रवृत्ति इसमें प्रधान रूप से सक्रिय थी, जिसको चारण-भाटों ने अपनी काव्य-भाषा में नियमित रूप से ग्रहण किया। यही प्रवृत्ति डिंगल् की परम्परा में एक प्रधान विशेषता हो गई। इसी प्रकार उस काल की अन्य विशेषताएं भी इस काव्य भाषा में विशेष स्थान प्राप्त कर गईं। जिससे राजस्थानी की यह भाषा-शैली विकसित हुई और वीर-गाथा काव्य के लिये मान्य होकर डिंगल् कहलायी। डिंगल की भाषागत विशेषताएं नीचे दी जाती हैं :—

---

५६ इन सभी प्रकार के मतों का विस्तार पूर्वक उल्लेख श्री नरोत्तमदास स्वामी ने अपने एक निबन्ध में किया जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका के किसी अंक में प्रकाशित है-वह अंक अब अप्राप्य है।

५७ देखो—मेनारिया कृत 'राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा'।

५८ देखो—मेनारिया कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पृ २०-२१

५९ देखो—हिन्दी अनुशीलन वर्ष ८, अंक ३, पृ० ६० पर मेरा लेख 'डिंगल् भाषा'।

(क) डिंगल भाषा की प्रमुख विशेषता उसके शब्द चयन की है, जिसमें द्वितवर्ण की प्रधानता रहती है। ये द्वितवर्ण दो प्रकार के होते हैं; एक तो प्राकृत और अपभ्रंश से आये हुए रूपों के आधार पर स्वीकृत; जैसे-मग्ग, खग्ग आदि; दूसरे अनुकरण पर बनाये हुए; जैसे सहज्जि, उछ्ल्लि, मेल्लि आदि।

(ख) अनुनासिकता की प्रधानता। डिंगल में पांचों अनुनासिकों का प्रयोग मान्य है परन्तु उच्चारण में 'ञ' का उच्चारण नहीं होता और आदि 'ण' का बहुत कम प्रयोग होता है।

(ग) युद्ध-वर्णन में दृश्य का साक्षात्कार कराने के लिये सानुप्रासता, सानुनासिकता और ध्वनि प्रतीकों का प्रयोग; जैसे—सानुप्रासता: चलचलिय, मलमलिय, दलदलिय आदि; सानुनासिकता। चमंकि, टमंकि; ध्वनि-प्रतीकत : ढमढमइ ढोल नीसाण............।

(घ) भाषा में युद्ध-जनित कर्कशता लाने के लिये ट-वर्गीय ध्वनियों का प्रयोग।

(ङ) व्याकरण के रूपों में प्राचीन सर्वनामों 'अम्हि', 'अम्हा', 'अम्हीणो', 'तुम्ह', तुम्हा' आदि; तथा विभक्तियों में 'ह', 'हंदा', तणउ', 'तणांह', चा-ची आदि; और क्रिया में इय, आदि प्रत्ययों वाली क्रियाओं का प्रयोग।

निमाड़ी भाषा और उसका क्षेत्र विस्तार

निमाड़ और उसकी सीमा :

हिन्दुस्तान के नक्शे में विन्ध्य और सतपुड़ा के बीच में जो भू-भाग बसा है, वह निमाड़ के नाम से प्रसिद्ध है। वैसे शासन व्यवस्था की दृष्टि से यह दो भागों में विभाजित रहा है। एक पूर्वी निमाड़ तथा दूसरा पश्चिमी निमाड़। लेकिन रहन-सहन, रीति-रिवाज, आब-हवा, भाव-भाषा और संस्कृति की दृष्टि से दोनों एक और अभिन्न हैं।

भौगोलिक सीमा की दृष्टि से उत्तर में विन्ध्याचल, दक्षिण में सतपुड़ा, पूर्व में छोटी तवा नदी और पश्चिम में हरिणफाल के पास सुदूर बारा और बड़वानी को लेकर इसकी सीमायें बनती हैं। यह एक संयोग की बात है कि उत्तर दक्षिण में यदि दो पर्वत सजग प्रहरी की तरह इसके दो किनारों पर खड़े हैं तो पूर्व और पश्चिम में दो नदियां जिसकी सीमा-रक्षा करती आयी हैं। अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों की दृष्टि से उत्तर में मालवा, दक्षिण में खानदेश, पूर्व में होशंगाबाद और पश्चिम में सुदूर गुजरात को इसकी सीमायें छूती हैं।

कुछ लोग निमाड़ और मालवा को एक ही सीमा में गिनते चलते हैं। लेकिन वास्तव में मालवा यदि नर्मदा के उत्तर में फैला है, तो निमाड़ नर्मदा के दक्षिण में पूर्व और पश्चिम की ओर फैलते हुये सुदूर खानदेश तक चला गया है। डाक्टर यदुनाथ सरकार के मत और मालवे की एक लोकोक्ति से भी जिसकी पुष्टि होती है। डाक्टर यदुनाथ सरकार ने (इंडिया एण्ड औरंगजेब) में मालवा की सीमा के सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि—स्थूल रूप से दक्षिण में नर्मदा नदी, पूर्व में बेतवा, एवं उत्तर पश्चिम में चम्बल नदी प्रान्त की सीमा निर्धारित करती थी। एक लोकोक्ति के अनुसार भी दक्षिण मालवे की सीमा नर्मदा तक ही मानी जाती है। उसके शब्द हैं—

'इत चम्बल उत बेतवा, मालव सीम सुजान,
दक्षिण दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहिचान।'

समूचे निमाड़ की जनसंख्या करीब १२ लाख और क्षेत्रफल १० हजार वर्ग मील है।

नाम :

जहां तक इसके नाम का सम्बन्ध है, ऐसा अनुमान है कि यह उत्तर भारत व दक्षिण भारत का सन्धि-स्थल होने से आर्य और अनार्यों की मिश्रित भूमि रहा होगा और इसी नाते इसका नाम 'निमार्य (नीम आर्य) पड़ा होगा। 'नीम' का अर्थ भी निमाड़ी में आधा होता है। इसी निमार्य का बदलते बदलते निमार और निमाड़ हो जाना स्वाभाविक है।

इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि निमाड़ मालवे से नीचे की ओर बसा है। मालवे से निमाड़ की ओर आने में निरन्तर नीचे की ओर उतरना होता है। इस तरह 'निम्नगामी' होने से जिसका

नाम 'निमानी' और उससे बदल कर 'निमारी' और 'निमाड़ी' हो गया होगा। पहले की अपेक्षा यह दूसरा कारण प्रामाणिक व उचित भी प्रतीत होता है।

प्राचीन इतिहास :

प्राचीन इतिहास की खोज करने से पता चलता है कि सुदूर रामायण काल में (ई० पूर्व १६०० के)[१] यहां पर 'माहिष्मती' (आधुनिक महेश्वर) को राजधानी के रूप में लेकर एक सशक्त राज्य स्थापित था। महेश्वर को हैहयवंशी राजा सहस्त्रार्जुन एवं चेदीवंशी के राजा शिशुपाल की राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। वाल्मीकि रामायण में हैहयवंशीय सहस्त्रार्जुन को 'अर्जुनों जयन्ता श्रेष्ठो माहिष्मत्या पति प्रभो' अर्थात माहिष्मती नगरी का राजा महा विजयी अर्जुन ऐसा लिखा है[२] जिस रावण ने कुबेर, यम और वरुण को भी जीत लिया था उसे सहस्त्रार्जुन ने महेश्वर में पराजित किया था।

कुछ लोगों ने आधुनिक मान्धाता को माहिष्मती दर्शाया है। लेकिन यह सर्वथा निराधार है। सहस्त्रार्जुन ने जहां अपने सहस्त्रों हाथों से नर्मदा को रोका था और जहां से नर्मदा का जल सहस्त्रों हाथों में से होकर बहा था, वह स्थान आज भी महेश्वर में सहस्त्रधारा के नाम से प्रसिद्ध है। वाल्मीकि रामायण में भी सहस्त्रधारा के निकट ही, सहस्त्रार्जुन और रामायण में युद्ध होना पाया जाता है।

श्री शांतिकुमार नानुराम व्यास ने भी श्री नन्दलाल दे की (जाग्रफीकल डिक्शनरी आफ एनसिएंट एण्ड मिडिवल इंण्डिया) के आधार पर इंदौर से ४० मील दूर दक्षिण में नर्मदा तट स्थित महेश्वर को ही माहिष्मती दर्शाया है।[३]

कहते हैं हवा वंश के राजा मांधाता के तीसरे पुत्र मुचकुंद ने महेश्वर को बसाया था। उसने पारिमात्र और ऋक्षपर्वतों के बीच नर्वदा किनारे एक नगर बसाया था और उसे दुर्ग के समान चारों ओर से सुरक्षित किया था।[४] वही आधुनिक महेश्वर है। बाद में हैहयवंशीय राजा माहिष्मत ने उसे जीत कर उसका नाम 'माहिष्मती' रखा। पश्चात् सहस्त्रार्जुन ने कर्कोटक नागों से युद्ध कर अनूप देश पर कब्जा कर लिया था और माहिष्मती को अपनी राजधानी बनाया था।[५]

प्राचीन राज व्यवस्था का जिक्र करते हुये श्री बालचन्द्र जैन ने लिखा है, 'उस काल में मध्य प्रदेश का बहुत सा हिस्सा 'दण्डकारण्य' कहलाता था। उसके पूर्वी भाग में कौशल, दक्षिण कोशल या महाकोशल का राज्य स्थित था जिसे अब छत्तीसगढ़ कहते हैं। उत्तरीय जिले 'महिष-मण्डल' और 'डाहल-मण्डल' में विभाजित थे। महिषमण्डल की राजधानी निमाड़ में 'माहिष्मती' में थी और 'डाहल-मण्डल' की राजधानी जबलपुर के निकट 'त्रिपुरी' में।[६]

१—पुराण विशेषज्ञ-पार्जिटर-संस्कृत और उनका साहित्य
२—वाल्मीकि रामायण (उत्तर काण्ड-सर्ग ३२ श्लोक २)
३—श्री शांतिकुमार नानुराम व्यास (रामायण कालीन समाज) पृष्ठ ३१० ।
४—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ) इतिहास पुरातत्व खण्ड पृष्ठ ६
५—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ६)
६—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ ३

जिसके बाद महाभारत-काल में भी युधिष्ठिर के द्वारा आयोजित राजसूय-यज्ञ की सफलता के लिये भीमसेन द्वारा विजित देशों के वर्णन में चेदीवंश के राजा शिशुपाल की राजधानी 'माहिष्मती' में ही होना पाया जाता है। इसी सम्बन्ध में श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—'अनेकों देशों को जीतने के बाद भीम ने चेदी के राजा शिशुपाल की ओर मुंह मोड़ा जिसे वंश में लाने के लिये युधिष्ठिर की विशेष आज्ञा थी। चेदी जनपद नर्मदा के किनारे फैला हुआ था और माहिष्मती उसकी राजधानी थी।[७]

महाभारत के नलोपाख्यान में जुये में हारे हुये निषध राजा नल द्वारा दमयन्ती के साथ वन में पहुंचने पर नल ने दमयन्ती को अपने मैके जाने का आग्रह करते हुये जो तीन मार्ग बताये थे, उसमें से एक निमाड़ में से होकर गया था। वे ही तीनों मार्ग आज भी भारतीय रेलपथ ने लिये हैं। [८]

महाभारत के पश्चात् परीक्षित भारतवर्ष के सम्राट बने। उनके समय से ही कलियुग का आरम्भ होना पाया जाता है। उसके बाद जनमेजय ने राज्य लिया। इस समय अवन्ति के राज्य में मालवा, निमाड़ तथा मध्य प्रदेश के लगे हुये हिस्से मिले थे। अवन्ति राज्य पर अभी हैहयवंशी लोग राज्य कर रहे थे।

बौद्ध-ग्रन्थ अंगुतर निकाय, जैन-ग्रन्थ भगवती सूत्र या व्याख्या प्रज्ञप्ति तथा अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व ६०० के लगभग उत्तर भारत में सोलह महाजन पद राज्य स्थापित थे। जिनमें मगध, कौशल और अवन्ति, दूसरों की अपेक्षा अधिक सुसंगठित एवं शक्तिशाली थे। मध्य प्रदेश का कुछ हिस्सा अवन्ति महाजनपद के अन्तर्गत था। जिसकी राजधानी 'माहिष्मती' थी।[९]

लेखों और शिलालेखों के आधार पर ईसा की पहली और दूसरी सदी से जिस जनपद का 'अनूप' नाम पाया जाता है, ईस्वी सन् १२४ में गौतमी पुत्र सतकर्णी ने नहपाना नामक नरेश से जो प्रदेश अपने अधिकार में लिया, उसमें अंकारा (पूर्वी मालवा) और अवन्ति (पश्चिमी मालवा) के साथ अनूप (निमाड़) का भी उल्लेख है।

इससे भी पहले कण्व और सुंग के राज्य को नष्ट करके आन्ध्र के राजा सियुवत सतवाहन ने मालवा और निमाड़ में अपना राज्य स्थापित कर लिया था और उसका पराभव कनिष्क के कुशल साम्राज्य के प्रतिनिधि महाक्षेत्र से रुद्रदमन ने किया था। इस इतिहास का उल्लेख गिरनार के ईस्वी सन् १५० में जिस शिलालेख में हुआ है, उसमें भी इस प्रदेश का नाम 'अनूप' दिया गया है। [१०]

मुगल काल में भी निमाड़ की एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में प्रतिष्ठा थी। इस सम्बन्ध में श्री प्रयागदत्त शुक्ल ने लिखा है-'तुगलक वंश के समय मुसलमानी भारत कई स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया था। इन प्रान्तीय राज्यों में निमाड़ भी एक था[११] इस तरह सुदूर प्राचीनकाल से निमाड़ और निमाड़ी का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध होता है।

७—श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (भारत सावित्री पृ० १३९)
८—श्री डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (भारत सावित्री पृ० २१६)
९—श्री बालचन्द्र जैन (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ) पृ० १०।
१०—श्री सत्यदेव विद्यालंकार (मध्य भारत जनपदीय अभिनन्दन ग्रन्थ) पृष्ठ ७७
११—श्री प्रयागदत्त शुक्ल (शुक्ल अभिनन्दन ग्रन्थ पृष्ठ ७१)।

जीवन और संस्कृति :

किसी भी भाषा को वहां के जीवन और संस्कृति से अलग नहीं किया जा सकता और इस दृष्टि से निमाड़ में नर्मदा का महत्वपूर्ण स्थान है। जिस तरह गंगा के किनारे भारतीय सभ्यता पनपी है, उसी तरह नर्मदा को निमाड़ की संस्कृति के निर्माण का श्रेय रहा है। वह आत्मा के संगीत की तरह इसके मध्य से प्रवाहमान है। गंगा को ज्ञान का रूप माना गया है क्योंकि उसके किनारे ऋषियों ने ज्ञान की उपलब्धि की और यमुना को प्रेम का प्रतीक माना जाता है क्योंकि उसके किनारे भक्ति का संगम प्रयाग में हुआ। नर्मदा भी एक विशेष भावना का प्रतीक है—और वह है तपस्या व आनन्द की भावना। इसके किनारे ऋषियों ने तपस्या के द्वारा आनन्द की प्राप्ति की है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच में वहने के कारण यह उत्तर की आर्य व दक्षिण की द्रविड़ संस्कृति का भी सन्देश वहन करती है।[१२]

यहां की ऊवड़-खावड़ जमीन के बीच में भी लहलहाने वाली खेती, अमाड़ी की भाजी व जुवार की रोटी से पुष्ट होने वाले जीवन और झुलसा देने वाली गरमी के बीच भी मुस्कराने वाले पलाश के फूल से मानों एक ही संदेश गूंज रहा है–तपस्या का आनन्द।

जब मैं निमाड़ की बात सोचता हूं तो मेरी आंखों में ऊंची-नीची घाटियों के बीच बसे छोटे-छोटे गांव, गांव से लगे जुवार-तुवर के खेतों की मस्तानी खुशबू और उन सबके बीच घुटने तक ऊंची धोती पर महज एक कुरता और अंगरखा लटकाये हुये भोले भाले किसान का चेहरा तैरने लगता है।

यहाँ की उवड़-खावड़ जमीन और उसके चेहरे में कितना साम्य रहा है। यहां की जमीन की तरह यहां का जानपद जन मटमैला-गेहुंआ रंग लिये होते हैं। हल की नोक से जमीन की छाती पर उभरे हुये ढेलों की तरह उनके चेहरों पर सदियों का दुख-दर्द आसानी से पढ़ा जा सकता है। उसने इतने कष्ट सहे हैं कि कष्टों को मुस्करा कर पार कर जाना उसके संस्कारों में विंध गया है। स्वभावत: वह अत्यन्त मेहनती और सहनशील रहा है। दुख का पहाड़ आ जाये या सुख की क्षीण रेखा, वह सदा मुस्कराता है और अकेले रह जाने पर भी अपनी राह चलना नहीं छोड़ता।

जिस तरह कठोर पर्वत अपने हृदय में नदियों के उद्गम को छिपाये रहता है ऐसे ही ये ऊपर से कठोर दिखने वाले मनुष्य सदियों से अपने अन्दर लोक साहित्य की परम्परा को जिन्दा रखे हुये हैं। इनके पास सभा के नहीं श्रम के गीत हैं जिन्हें ये हल चलाते व मजदूरी करते समय भी गाते आये हैं। इनके पास रंग-मंच के नहीं, वरन खुले मैदानों में जन साधारण के बीच खेलने योग्य प्रहसन हैं जिन्हें ये बिना किसी वाह्याडंबरों के भाव-प्रदर्शन और विचार-दर्शन के जरिये खेलते आये हैं। इनके पास पुस्तक की नहीं, वरन जीवन की लोक कथायें हैं जिन्हें ये पीढ़ी-दर पीढ़ी सुनाते आये हैं और हैं ऐसी लोक-कहावतें जिनमें इनके सदियों का ज्ञान व अनुभव गुंथे हुये हैं।

निमाड़ी भाषा और उसका स्वरूप

किसी भी राष्ट्र की भाषा के दो स्वरूप होते हैं। एक राष्ट्र भाषा और दूसरा वहां के विभिन्न जनपदों में प्रचलित लोक-भाषायें। राष्ट्र भाषा समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है। राजकीय दृष्टि से

१२—श्री आचार्य क्षिति मोहन सेन के भाषण से।

विभाजित प्रान्तों को समग्र राष्ट्रीयता के एक सूत्र में पिरोये रखने का श्रेय भी उसे ही होता है। उसे लेकर ही राष्ट्रीय इतिहास का निर्माण होता है और इस तरह किसी विश्व मान्य भाषा के सहारे प्रान्त और राष्ट्रों में विभाजित सम्पूर्ण मानवीय जगत, वसुदेव कुटुम्ब की तरह समीप आता जाता है। लेकिन लोक-भाषायें इन सबकी जड़ में अन्तर्निहित वह शक्ति है जिसे लेकर ही राष्ट्र भाषा समृद्ध होती है। वे राष्ट्रीय इतिहास के नहीं, वरन मानवीय जीवन की निर्माता होती हैं। उनके सहारे ही हम कोल-संस्कृति और लोक-जीवन का दर्शन कर सकते हैं। इस तरह भिन्न भिन्न व्यक्तियों, जनपदों और प्रान्तों को लेकर राष्ट्र भाषा बनती है, उसी तरह विविधता में सुन्दरता और एकता की तरह लोक-भाषाओं से राष्ट्र-भाषा समृद्ध होती है और उसका स्वरूप निखरता आया है। निमाड़ी निमाड़ जिले की आम जनता द्वारा बोली जाने वाली ऐसी ही एक लोक-भाषा है। समूचे निमाड़ पर जिसका एक छत्र आधिपत्य है।

यह मुख्यतः उत्तर में मालवे की सीमा को छूते हुये नर्मदा के आस-पास, ओंकारेश्वर, मण्डलेश्वर, महेश्वर, मध्य में खरगोन, पश्चिम में जोबट, अलीराजपुर, धार और बड़वानी, तथा पूर्व में होशंगाबाद के नजदीक हरदा और हरसूद को लेकर दक्षिण में सुदूर खण्डवा और बुरहानपुर के आस पास खान देश की सीमा तक बोली जाती है।

आदर्श निमाड़ी के केन्द्र खण्डवा और खरगोन रहे हैं। इसके बोलने वालों की संख्या लगभग ५ लाख है।

लिपि और उच्चारण :

निमाड़ी भाषा के कुछ शब्दों की लिखावट और उच्चारण में फर्क रहा है। यदि इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जावे तो निमाड़ी भाषा को ठीक ढंग से पढ़ा नहीं जा सकता और उसका अर्थ भी गलत होने की सम्भावना रहती है। जैसे निमाड़ के कुछ शब्द हैं—

मख, तुख, जेम, ओम।

देखने में ये सीधे-साधे दो अक्षरी शब्द हैं लेकिन इनके निमाड़ी स्वरूप में प्रत्येक के साथ अन्त में 'अ' का लोप है, और इनके उच्चारण में अन्तिम अक्षर पर जोर दिया जाता है। यथा—

मखअ, तुखअ्, जेमअ्, ओमअ्।

लिखावट और उच्चारण में समन्वय साधने की दृष्टि से मैंने जिसके लिये संस्कृत के ऽ शब्द का प्रयोग किया है। इससे सारी कठिनाई हल हो जाती है और साथ ही शब्द का सही स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिये निमाड़ी लोक-गीत की एक पंक्ति को लीजिये:—

॥ जेम सर ओम सारजो ॥

इसमें इसका वास्तविक स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाया है क्योंकि जैसी लिखावट है वैसा ही उच्चारण होगा—'जेम सर ओम सारजो'। लेकिन इसका सही निमाड़ी स्वरूप है—'जेमअ् सरअ् ओमअ् सारजो।' अतएव विशुद्ध निमाड़ी लिपि की दृष्टि से यह यों लिखा जावेगा—

(१) जेम ऽ (२) सर ऽ (३) ओम ऽ (४) सारजो।

लक्षण—निमाड़ी में 'ल' की जगह 'ल़' का उपयोग बहुतायत से होता है यथा 'माला —'माल़ा', 'ताल़ा'—'ताल़ा', 'नाल़ा'— 'नाल़ा', 'काल़ा' —'काल़ा', केल़—'केल़', 'कोयल'—'कोयल' 'उजेला'— 'अजालो' आदि।

(१) 'है' की जगह गुजराती भाषा की 'छे' क्रिया का उपयोग अधिकतर होता है। यथा–क्या है= काई छे ? कौन है = कुण छे ? कैसा है = कसो छे ?

(३) इसमें न' शब्द जब प्रथमाक्षर के रूप में आता है तो यह बदल कर 'ल' हो जाता है और जब अन्तिम अक्षर के रूप में आता है तो वह बदल कर 'ण' हो जाता है। यथा—प्रथमाक्षर के रूप में— नीम 'लीम'। नमक—'लोण'। निंबू—'लिंबू'। अन्तिम अक्षर के रूप में जैसे–बहन–-'बहेण'। आंगन-- 'आंगणो'। जामुन—'जामुण'।

(४) कर्मकारक की अभिव्यक्ति में 'को' के स्थान पर 'ख' का उपयोग होता है। यथा, मुझको– 'मखऽ'। तुमको—'तुमखऽ'। उनको—'उनखऽ'।

(५) सहायक क्रिया में 'है' के स्थान पर 'ज' का उपयोग होता है। यथा, चलता है—'चलज्'। दौड़ता है—'दौड़ज्' खाता है—'खावज्'।

(६) इसमें कर्ताकारक की विभक्ति 'ने' के स्थान पर बहुधा 'न' का और बहुवचन में 'नन्' का उपयोग होता है। यथा, आदमी ने—'आदमीनऽ' आदमियों ने—'आदमी ननऽ'। पक्षी ने—'पक्षी नऽ'। पक्षियों ने—'पक्षीननऽ'।

(७) इसके सर्वनाम हैं—'हंऊ', तू और 'ऊ'।

क्रिया में, एक वचन में, तीनों कालों में जिसका स्वरूप होगा—

वर्तमान काल—हऊं चलूंज्। तू चलज्। ऊ चलज्।

भूतकाल—हऊं चल्यों। तू चल्यो। ऊ चल्यो।

भविष्यकाल—हऊं चलूंगा। तू चलऽगा। ऊ चलऽगा।

(८) इसके कुछ शब्दों में अनुस्वार का लोप हो जाता है। यथा, दांत—'दात' मां—'माय'। हंसना—'हसना।'

सीमावर्ती भाषायें

उत्तर में मालवीय, पश्चिम में गुजराती, दक्षिण में खानदेशी और पूर्व में होशंगाबादी इसकी सीमावर्ती भाषायें रही हैं। शब्दों का आदान प्रदान किसी भी जीवित भाषा का लक्षण होता है। इस दृष्टि से जैसा कि सभी भाषाओं के साथ होता है, निमाड़ी पर भी उसकी सीमावर्ती भाषाओं का असर रहा है।

निमाड़ी व गुजराती

निमाड़ के पश्चिम से गुजरात की सीमा लगी होने के कारण निमाड़ और गुजरात के बीच काफी सम्बन्ध रहे हैं। निमाड़ के ग्रामों में 'गुजराती' नामक एक खेतिहर जाति बसी है। यद्यपि यह अब निमाड़

से आत्मसात् हो चुकी है। लेकिन इसके नाम से इसके गुजरात से आने का पता चलता है। निमाड़ में 'नागर' जाति के भी गुजरात से सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं। निमाड़ में रहने वाली 'लाड़' जाति गुजरात में रहने वाले 'लाड़' लोगों से सम्बन्धित रही है। ये भी गुजरात से आये होंगे ऐसा प्रतीत होता है। राजपुर बड़वानी में 'मेवदाल' नामक एक जाति बसी है। यह यहां सौराष्ट्र से आकर बसी है। इनके रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि सब पर सौराष्ट्रीय संस्कृति आज भी विद्यमान है।

निमाड़ के एक गनगौर गीत में रनु के यहां सौराष्ट्र से आने का जिक्र है, देखिये गीत की पंक्तियां हैं—

थारो काई काई रूप बखाणू रनुबाई,
सोरठ देश से आई ओ ॥

अर्थ है—हे रनु तुम्हारे किन किन स्वरूपों का वर्णन किया जाये, तुम सौराष्ट्र देश से जो आई हो।

श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के मत से रादनी देवी की पूजा गुजरात-सौराष्ट्र में भी प्रचलित थी। वहां उसकी चौदहवीं सदी तक की मूर्तियां पाई गई हैं। एक मूर्ति के लेख में उसे श्री सांबादित्य की देवी श्री रनादेवी कहा गया है। सौराष्ट्र के पोरबन्दर के समीप बगवादर और किन्दरखेड़ा में रन्नादेवी या रांदलदेवी के मंदिर हैं। वस्तुतः यह रादनी देवी गुप्तकाल से पहिले ईरानी शकों के साथ गुजरात-सौराष्ट्र में लाई गई थी जिसा कि निमाड़ी लोक गीत में कहा गया है गुजरात सौराष्ट्र में राणादे या रांदलमां की पूजा सन्तान-प्राप्ति के लिये की जाती है। अर्वाचीन गुजराती साहित्य में भी रणादेव के भजन पाये जाते हैं।[1]

गुजराती की तरह ही निमाड़ी में भी 'वे" क्रिया तो कुछ इस कदर प्रयोग में लाई जाती है कि दो निमाड़ी भाषियों की रेल में बातचीत सुनकर अपरिचितों को उनके गुजराती भाषा होने का शक होने लगता है।

देखिये निमाड़ी और गुजराती भाषा के निम्न दो लोक गीतों में कितना साम्य रहा है:—

गुजराती

जी रे चांदो तो निर्मल नीर,
तारो क्यारे ऊगशे।
ऊगशे रे पाछली सी रात,
मोतीड़ा घणा भूलशे ॥[2]

निमाड़ी

चन्द्रमा निरमई रात,
तारो कवंय् ऊगसे,
तारो ऊगसे पाछली रात,
पड़ोसिण जागसे ॥[3]

---

(१) जनपद-बनारस (पृष्ठ ६१-६२ ता० १-१-५३)
(२) व
(३) निमाड़ी लोकगीत (रामनारायण उपाध्याय) पृष्ठ ५६

एक और गीत है:—

गुजराती

पान सरखी रे हूं तो पातलई रे,
मने बीड़लो वालई लई जावऽरे ।
एलायची सरखी रे हूँ तो मधु मधु रे,
मने दाढ़ मां घाली ने लई जाव रे ।।[४]

निमाड़ी

पान सरीखी पातलई रे,
चोल ई मंऽ छिप जाय रे ।
इलायची, सरीखी महेकणई रे,
बटुवा मंऽ छिप जाय रे ।।[५]

साथ ही गुजराती और निमाड़ के इन शब्दों का साम्य भी देखिये ।

निमाड़ी	गुजराती	हिन्दी अर्थ
स्यालो	शियालो	जाड़ा
उंढालो	उनालो	गरमी
आंगणो	आंगणु	आंगन
मुक्को	मुक्की	घूंसा
अंगलई	आंगली	अंगुली
फलई	फली	फली
जाड़ो	जाडुं	मोटा
घाघरो	घाघरो	लहंगा
शहेर	शहेर	शहर
महेल	महेल	महल
सेरी	शेरी	गली

निमाड़ी और मराठी

निमाड़ के दक्षिण में मराठी भाषी प्रान्त लगा होने से निमाड़ी में मराठी के भी कुछ शब्द आ मिले हैं, लेकिन इनकी संख्या इतनी कम रही है कि निमाड़ी भाषा सहज ही इन्हें आत्मसात् कर चुकी है । निमाड़ी में 'ल' की जगह 'ळ' का प्रयोग भी मराठी से ही आया प्रतीत होता है ।

निमाड़ी और मालवी ।

निमाड़ी और मालवी में जितना साम्य है उतना और किसी भाषा में नहीं है । जिस तरह इन दोनों भू-भागों की सीमा एक दूसरे से गले लिपटी हैं, उसी तरह यहां की भाषायें भी एक दूसरी से कुछ इस कदर मिलती हैं मानों दो बहिनें परस्पर गले मिल रही हों ।

---

(४) सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति अंक, संवत २०१० पृष्ठ १८६
(५) जब निमाड़ गाता है (रामनारायण उपाध्याय) पृष्ठ ६२ ।

निमाड़ के उत्तर में मालवे की सीमा लगी होने से वहां पर निमाड़ी मालवी से प्रभावित होकर बोली जाती है। इसमें निमाड़ के 'तुमख' को 'तमख', काई—'कंई', कहूं—'कू', वहां—'वां', जवंग्र्—को 'जद', और नहीं को 'नी' कर देने से निमाड़ी सहज ही मालवी से प्रभावित हो उठती है। देखिये—निमाड़ी का एक लोकगीत मालवी प्रभावित क्षेत्र में पहुंचकर किस कदर बदल उठा है। निमाड़ी गीत की पंक्तियां हैं:—

सरग भवन्ति हो गिरधरनी, एक संदेसों लई जाओ।
सरग का अमुक दाजी खम्र् यो कहेजो, तुम घर अमुक को व्याय॥
जेमग्र् सरग्र् ग्रोमग्र् सारजो, हमरो तो आवणों नी होय।
जड़ी दिया वज्र किवाड़, अग्गल जड़ी लुहा की जी॥[1]

इसका मालवी प्रभावित स्वरूप है:—

सरग भवन्ति को गिरधरनी, एक संदेशों लई जावो।
सरग का अमुक दाजी से यूं कीजो, तम घर अमुक को याय॥
जेमग्र् सरग्र् ओमग्र् सारजो, हमरो तो आवणों नी होय।
जड़ी दया वजर कवाड़, अग्गल जड़ी लुआ की जी॥

इसमें रेखांकित शब्द निमाड़ी से मालवी प्रभावित हो उठे हैं। इसी तरह निमाड़ी भाषा में प्रचलित सिंगाजी का एक गीत देखिये:—

(२) अजमत भारी काई कहूं सिंगाजी तुम्हारी, झाबुआ देश बहादरसिंग राजा।
अरे वहां गई वाजू ख फेरी, जहाजवान न तुमखग्र् सुमर्‌यो, अरे वहां डूबत जहाज उवारी[2]

इसी का मालवी से प्रभावित स्वरूप है:—

(३) अजमत भारी कई कूं सिंगाजी, तमारी झाबुआ देस वां बादरसिंह राजा।
अरे वां गई वाजू ने फेरी, झाजवान ने तमखग्र् सुमर्‌या, अरे वां डूबी झाज उवारी।[3]

इसमें रेखांकित शब्द निमाड़ी से मालवी प्रभावित हो उठे हैं। इसी सीमावर्ती भाषाओं के प्रभाव के आधार पर कुछ लोग निमाड़ी को मालवी की उपभाषा गिनते चलते हैं लेकिन वास्तव में दोनों भाषाओं का अपना अपना स्वतन्त्र स्वरूप और उच्चारण रहा है। एक ओर मालवी जहां अपने वहां की गहर गंभीर जमीन और सौन्दर्यप्रिय लोगों की अत्यन्त ही मृदु, कोमल और कमनीय भाषा है, वहीं दूसरी ओर निमाड़ी अपने यहां की ऊबड़-खाबड़ जमीन और कठोर परिश्रमी लोगों की अत्यन्त ही प्रखर, तेजस्वी और सुस्पष्ट भाषा है। उच्चारण की दृष्टि से मालवी जहां हर बात में लचीलापन लिये होती है, वहां निमाड़ी साफ सीधी बात करने की अभ्यस्त रही है।

---

(१) निमाड़ी लोकगीत (रामनारायण उपाध्याय)
(२) लेखक द्वारा संग्रहित गीतों की पाडुंलिपि
(३) श्री श्याम परमार (नई दुनिया) २१-६-५३

आश्मकी, चेदी और आंवती

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने पाणिनी-कालीन बोलियों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि 'पाणिनी-काल' में सारे उत्तरी भारत की एक बोली नहीं थी। वरन् अलग अलग जनपदों की अलग अलग भाषायें थीं। पश्चात् पाली काल में उत्तरी भारत सोलह जनपदों में बटा हुआ था जिनकी अपनी अपनी बोलियां रही होंगी जिनके नाम निम्न थे:—

[१] अंगिका [२] मागधी [३] काशिका [४] कौशली [५] व्रजिका [६] मल्लिका [७] चेदिका [८] वात्सी [९] कौरवी [१०] पांचाली [११] मात्सी [१२] सौरसेनी [१३] आश्मकी [१४] आंवती [१५] गांधारी [१६] काम्बोजी।

इसमें आपने आश्मकी, आंवती और चेदिका का अलग अलग उल्लेख करते हुये उनके स्थान पर आज क्रमशः निमाड़ी, मालवी और बघेली-बुंदेली को प्रचलित माना है।[1]

इसमें इतना तो स्पष्ट है कि निमाड़ी और मालवी परस्पर एक दूसरे की उपभाषायें नहीं, वरन् प्राचीन काल से विभिन्न जनपदों की समकक्ष भाषायें रही हैं। और सुंदर रामायण काल में महेश्वर को राजधानी के रूप में लेकर नर्मदा और ताप्ती की सीमाओं से दिये निमाड़ का अपना स्वतंत्र अस्तित्व रहा हैं।

(१) सम्मेलन पत्रिका आश्विन २०११।

JAINA ICONOGRAPHY—A brief survey

Introductory :

Prehistoric sites in India have not yielded as yet any definite clue to the existence of Jainism. A few seals from Mohen-Jo-Daro showing human figures standing in a posture analogous to the free-standing meditative pose *(kāyotsārga mudrā)* of the Tīrthaṅkaras [1] or the seal generally acknowledged as representing S'iva as Yogi (in the meditative attitude) cannot in the present state of uncertainty of the meaning of the pictoscript symobols, be definitely used to attest to the antiquity of Jaina art or ritual.

Jaina traditions ascribe the first twenty-two Tīrthankaras [2] of this age to a period covering millions of years before Christ, but modern criticism accepts only the last two—Pāras 'vanatha (250 years before Mahavīra's Nirvaṇa) and Varddhamana (Māhavīra died about 527 B. C. according to traditions and about 467 B. C. according to some modern scholars)—as real historical personages.

The mutilated red-stone statuette from Harappa, though surprisingly analogous n style to the Mauryan-Polished-stone-torso of a Jina, obtained from Lohanipur, near Patna in Bihar, has, in addition, two circular depressions on shoulder-fronts, unlike any other Jina-icon known hitherto and could better be regarded as representing an ancient Yaksa. [3] The Harappan statuette being a surface find it is difficult to assign a date to it.

The Origin of Image Worship in Jainism, may, on the basis of available archaeological evidence, be assigned to *at least* the Mauryan age, c. 3rd century B. C.,

---

1. Marshall, Sir John, *Mohen-Jo-Daro and the Indus Valley Civilisation*, Vol. III, pl. xii, 13, 14, 16, 18, 19, 22.

   Jain, Kamta Prasad, in *Modern Review*, August 1932, pp. 152 regards some of these seals as representing Jinas (Tīrthankaras).

2. The Jainas believe that 24 Tirthankaras lived in this *Avasarpini* era, an equal number lived in the preceeding era (ara) called *Utsarpinī*, and the same number will be born in the forth-coming *Utsarpini* ara. For the Jaina conception of these Evolutionary and Involutionary eras, see Jaina, J. C., Outlines of Jainism.

   Also Nahar, *Epitome of Jainism*

3. Marshall, op. cit., Vol. I pl. x. a-d. For the Lohanipur torso see, Jayaswal K. P., *Journal of the Bihar & Orissa Research Society*, vol. XXIII part 1, pl. i-iv and Banerji-Shastri, in *ibid.*, vol. XXVI. 2.120 8 ff.

the age of Samprati, the grandson of Asoka, who is reputed in Jaina tradition to have been converted to Jainism and who is said to have given much royal support to the monks of this faith. The evidence of Lohanipur statue does support it.

So far as literary evidence is concerned, we have to weigh it with great caution since the available texts of the Jaina Canonical works are said to have been following the text of the second council at Valabhi which met in the latter half of the fifth century A. D. There are a few references to worship of images and relics and shrines of the Arhats (Tīrthaṅkaras) by gods and men. and these may be at least as old as the Mathura council (which met in the beginning of the fourth century A.D.) and even older.

But there are reasons to believe that attempts were made to worship an image (verily a portrait statue) of Mahâvīra, even during his life-time. This portrait statue of sandalwood was supposed to have been prepared, when Máhavira was meditating in his own palace, about a year prior to the final renunciation. So this statue showed a crown, some ornaments and a lower garment on the person of Máhavíra. Being a life-time portrait statue, it was known as *Jīvantasvāmi-pratim* , that is the "Imagie fashioned during the life-time of the Lord." All later images of this iconographic type then can be known as *Jīvantasvāmi-pratimā*.

The original portrait statue was worshipped by the queen of Uddâyana, king of Vitabhaya-pattana, (in Sindhu-Saurvira land) and later by Pradyota of Ujjain. The image used to be taken out in Chariot on a certain day at Vidisa and during this *ratha-yatrā*, Samprati the grandson of Aśoka, was converted to Jain faith by Ārya Suhasti. References to this image and the *ratha—yātrā* are found in texts like the Vasudevahindi, the Āvaṣyaka-cūrṇi etc. The old bronzes of Jivantasvāmi, one inscribed and datable to c. 550 A. D., and the other partly mutilated with pedestal (and possibly the inscription on it) lost, but somewhat earlier in age, were discovered in the Akota hoard. The tradition of Jivantasvámi images is, therefore, fairly old and it is not impossible that one or more portraits of Mahāvira were made during his life-time. But regular worship of images and shrines of Tirthaṅkaras may be some what later, though not later than the age of the Lohanipur torso. [1]

Nowhere it is said that Mahavira visited a Jain shrine or worshipped images of (earlier) Tirthankaras, like Párśvanatha or Ṛṣabhanatha Mahavira is always reported to have stayed in Yaksa-ayatanas, Yáksa-Caityas Pūrnabhadra Caitya and so on. [2]

1. For further details and discussion on Jivantaswami Images, see, Shah, U. P., *A Unique Image of Jivantaswami*, Journal of the Oriental Institute, Baroda, Vol. 1, no. I pp. 72 ff and plates and Shah, U. P., life-time Sandalwood Image of Mahavira, Journal of the Oriental Institute, Vol. 1 no. 4, pp. 358 ff., Shah U. P.,—*Some More Jivantaswami Images, Journal of Indian Museums.*

2. For further discussion on Caitya, Stupa etc. worship in Jainism, see, Shah, U. P., *Studies in Jaina Art*, (Banaras, 1955), pp. 43-121.

JAINA ICONOGRAPHY—A brief survey

Introductory :

Prehistoric sites in India have not yielded as yet any definite clue to the existence of Jainism. A few seals from Mohen-Jo-Daro showing human figures standing in a posture analogous to the free-standing meditative pose *(kāyotsārga mudrā)* of the Tīrthaṅkaras [1] or the seal generally acknowledged as representing S'iva as Yogi (in the meditative attitude) cannot in the present state of uncertainty of the meaning of the pictoscript symobols, be definitely used to attest to the antiquity of Jaina art or ritual.

Jaina traditions ascribe the first twenty-two Tīrthankaras [2] of this age to a period covering millions of years before Christ, but modern criticism accepts only the last two—Pāras 'vanatha (250 years before Mahavīra's Nirvaṇa) and Varddhamana (Māhavīra died about 527 B. C. according to traditions and about 467 B. C. according to some modern scholars)—as real historical personages.

The mutilated red-stone statuette from Harappa, though surprisingly analogous n style to the Mauryan-Polished-stone-torso of a Jina, obtained from Lohanipur, near Patna in Bihar, has, in addition, two circular depressions on shoulder-fronts, unlike any other Jina-icon known hitherto and could better be regarded as representing an ancient Yaksa. [3] The Harappan statuette being a surface find it is difficult to assign a date to it.

The Origin of Image Worship in Jainism, may, on the basis of available archaeological evidence, be assigned to *at least* the Mauryan age, c. 3rd century B. C.,

1. Marshall, Sir John, *Mohen-Jo-Daro and the Indus Valley Civilisation*, Vol. III, pl. xii, 13, 14, 16, 18, 19, 22.

   Jain, Kamta Prasad, in *Modern Review*, August 1932, pp. 152 regards some of these seals as representing Jinas (Tīrthankaras).

2. The Jainas believe that 24 Tirthankaras lived in this *Avasarpini* era, an equal number lived in the preceeding era (आरा) called *Utsarpinī*, and the same number will be born in the forthcoming *Utsarpini* ara. For the Jaina conception of these Evolutionary and Involutionary eras, see Jaina, J. C., Outlines of Jainism.

   Also Nahar, *Epitome of Jainism*

3. Marshall, op. cit., Vol. I pl. x. a-d. For the Lohanipur torso see, Jayaswal K. P., *Journal of the Bihar & Orissa Research Society*, vol. XXIII part 1, pl. i-iv and Banerji-Shastri, in *ibid.*, vol. XXVI. 2.120 8 ff.

the age of Samprati, the grandson of Asoka, who is reputed in Jaina tradition to have been converted to Jainism and who is said to have given much royal support to the monks of this faith. The evidence of Lohanipur statue does support it.

So far as literary evidence is concerned, we have to weigh it with great caution since the available texts of the Jaina Canonical works are said to have been following the text of the second council at Valabhi which met in the latter half of the fifth century A. D. There are a few references to worship of images and relics and shrines of the Arhats (Tīrthaṅkaras) by gods and men. and these may be at least as old as the Mathura council (which met in the beginning of the fourth century A.D.) and even older.

But there are reasons to believe that attempts were made to worship an image (verily a portrait statue) of Mahâvīra, even during his life-time. This portrait statue of sandalwood was supposed to have been prepared, when Mâhavîra was meditating in his own palace, about a year prior to the final renunciation. So this statue showed a crown, some ornaments and a lower garment on the person of Mâhavîra. Being a life-time portrait statue, it was known as *Jīvantasvāmi-pratim* , that is the "Imagie fashioned during the life-time of the Lord." All later images of this iconographic type then can be known as *Jivantasvāmi-pratimā*.

The original portrait statue was worshipped by the queen of Uddâyana, king of Vitabhaya-pattana, (in Sindhu-Saurvira land) and later by Pradyota of Ujjain. The image used to be taken out in Chariot on a certain day at Vidisa and during this *ratha-yatrā*, Samprati the grandson of Aśoka, was converted to Jain faith by Ārya Suhasti. References to this image and the *ratha—yātrā* are found in texts like the Vasudevahindi, the Āvaṣyaka-cūrṇi etc. The old bronzes of Jivantasvāmi, one inscribed and datable to c. 550 A· D., and the other partly mutilated with pedestal (and possibly the inscription on it) lost, but somewhat earlier in age, were discovered in the Akota hoard. The tradition of Jivantasvámi images is, therefore, fairly old and it is not impossible that one or more portraits of Mahâvira were made during his life-time. But regular worship of images and shrines of Tirthaṅkaras may be some what later, though not later than the age of the Lohanipur torso. [1]

Nowhere it is said that Mahavira visited a Jain shrine or worshipped images of (earlier) Tirthankaras, like Pārśvanatha or Ṛṣabhanatha Mahavira is always reported to have stayed in Yaksa-ayatanas, Yáksa-Caityas Pūrnabhadra Caitya and so on. [2]

---

1. For further details and discussion on Jivantaswami Images, see, Shah, U. P., *A Unique Image of Jivantaswami*, Journal of the Oriental Institute, Baroda, Vol. I, no. I pp. 72 ff and plates and Shah, U. P., life-time Sandalwood Image of Mahavira, Journal of the Oriental Institute, Vol. I no. 4, pp. 358 ff., Shah U. P.,—*Some More Jivantaswami Images, Journal of Indian Museums.*

2. For further discussion on Caitya, Stupa etc. worship in Jainism, see, Shah, U. P., *Studies in Jaina Art*, (Banaras, 1955), pp. 43-121.

The Jain Image, as suggested elsewhere by us, [1] has for its model or prototype, the ancient Yaksa statues. It was also suggested that the mode of worship of the ancient Yaksa–Naga cult has largely influenced the worship in Jainism. The close similarity of the Jain (Tîrthaṅkara) and the Buddha image, and fact that both Jainism and Buddhism are heterodox cults, which protested against the Vedic Brahmanical priestly cult, shows that Buddhism could easily have been influenced by the worship of the Yakṣa and the Tirthañkara images.

That the earliest known Buddha–image hails from Gandhára is a mere accident as suggested by Kramrisch [2] and does not preclude the possiblity of another earlier image being discovered in the land of Buddha's birth, as a product of the Native Indian School of Art. Jayaswal's discovery of a Mauryan torso of a standing Jina figure from Lohanipur proves, on the one hand, the authenticity of Jaina traditions, on the image worship, and. on the other hand, the existence in Magadha of an earlier model for the Jina and Buddha images of early Christian centuries. [3] The Jina-image definitely preceded the Buddha-image as a cult-object.

Lohanipur is a continuation of the Mauryan sites at Kumrahar and Bulandibag near Patna. Along with this highly polished torso were revealed, from the foundations of a square temple (8 ft. 10 in. X 8 ft. 10 in), a large quantity of Mauryan bricks, a worn silver punch-marked coin and another but unpolished and later torso of a Jina in the Kàyotsarga pose.

Evidence of Jina sculptures from the Kaṅkàli Tilà[4] (Mathura) and adjoining sites, shows prevalence of the Stùpa-worship in Jainism, from at least the second century B. C. The Jinã stūpa, which once existed on the site of Kankali Tila, is regarded as a stūpa of Spar'svanātha, the seventh Tirthaṅkara, but as I have shown elsewhere, it was very probably the stūpa of Pàrs'vanàtha who flourished 250 years before Màhavira's Nirvaṇa in 527, according to Jaina traditions. The antiquities from the site, discovered so far, date from about first century B. C. and suggest that the stūpa was enlarged, repaired and adorned with sculptures in the early centuries of the Christian era. [5]

---

1. Shah, U. P., *Yaksa Worship in Early Jaina Literature, Journal of the Oriental Institue, Baroda,* Vol. III (1953) No. 1 pp. 55–71, especially, p. 66.
2. Kramrisch, Stella, *Indian Sculpture*, p. 40. Also see, remarks of U. P. Shah in Journal of the Oriental Inst., Vol. No. 4 pp. 358–368.
3. Also see, Shah, U. P., *Origin of the Buddha Image*, Journal of the Oriental Institute, Vol. XIV, nos. 3–4.
4. Smith Vincent, *Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura* (referred to as JS.)
5. *Studies in Jaina Art* (Banaras, 1955), pp. 11–12 and ft. notes.

Antiquities from the site attest to the existence amongst he Jainas, of the worship of the stūpa. the Caitya-tree, the Dharma-cakra, the Āyāgapatas (Tablets of Homage), the auspicious symbols like the Svastika, the Wheel of Law, the Nandyāvarta diagram, the Powder box (Varddhamanaka), the S'rivatsa-mark, Pair of Fishes (Minā-yugala), the full-blown lotus (Padma) the Mirror (Darpana) and so on. [1] Since Images of Tirthankaras of the Kusana age from Mathura, represented both in the standing and the sitting attitude show no trace of drapery, they clearly suggest that even though, the Digambara and S'vetambara schism had come into being in the first or second century A. D., the final crisis, in the differentiation of Tirthankara icons had not yet taken place. Hence the evidence of art from Mathura refers to Jain worship common to both the sects in the first three centuries of the Christian era. [2] The earliest known Jina image with a lower garment hails from Akoṭa. It is a bronze image of Risabhanatha in the Kayotsarga-standing pose can be assigned to c. 450-500 A. D. 3A. It must be remembered that in the Digambara tradition no drapery is shown on the person of Tirthankara.

Tirthankaras :

Images of the twenty-four Tirthankaras had no recognizing symbols (cognizance-Lāñchhanas), upto the end of the Kushana period, A Jina was identified only with the help of his name given in the votive inscription on the pedestal. During the Kusaṇa period at Mathura, we find evidence of the worship of only a few Tirthañkaras, namely, Rishabnatha, Neminatha, Pars'vanatha and Mahavira. [4] The famous image of Arhat Nandyāvarta is dated in the year 49 or 79. [5] This inscription, recently correctly read by K. D. Bajpai shows that it refers to the worship of Munisuvrata (the twentieth Jina) rather than Aranātha as thought of earlier. Thus the list of (24) Tirthankaras was possibly already evolved or was being enlarged in the age of this sculpture, in the second or third century A. D.[6]

It is interesting to note that in the Jain Kalpasūtra lives of only four Jinas—Rishabhanātha, Neminātha, Pārs'vanātha and Mahavira are described in detail and

1. Smith, *Op. cit.*, different plates.
2. For a detailed discussion on the subjects of differentiation of icons in the two sects, see, Shah, U. P., Age of Differentiation of the S'vetambara and Digambara Images, etc., published in the Bulletin of the Prince of Wales Museum, Vol. I. no. I. with plates.

3 A. Shah, U. P. Akota Bronzes, p. 26, figs. 8a, 8b.

4. See Luders' List of *Early Brahmi Inscriptions in Northern India* published as appendix to the different nos. of the *Epigraphia Indica*, Vol. X.
5. *Epigraphia Indica* Vol. II *Jaina Incriptions from Mathura*, Inscr no. 20.
6. Bajpai, K. D. *Tirthankara Muni-Suvrata in an Inscribed Mathura Sculpture in Lucknow Museum, Journal of the U. P. Historical Society*, Vol. xxiv-xxv (1951-52), pp. 219-220.

it is very likely that only these four lives formed the subject matter of the original text. A glance at the stylised summary treatment of the remaining Tirthankaras lends doubt to their antiquity and would suggest later additions, especially because the view seems to obtain support from the absence of images of twenty (out of the twenty-four Tirthaṅkaras) at the Kankali Tila, Mathura. It would seem that details regarding the other Tirthankaras were added towards the close of the Kusaṅa period or before the Mathuri vacana (council at Mathura) took place under the chairmanship of Arya Skandila (c. 300-320 A. D.) [1] It may incidentally be noted that while the nineteenth Jina Mallinatha was a female according to the S've. sect, he was a male according to the Dig. belief.

The Kalpasūtra mentions no cognizance for any of the Trtihaṅkaras. The Āvayśaka-Niryukati at one place only incidentally refers to the cognizance of Rsha-natha (the first Jina), in a context which explains the names of the twenty-four Tirthaṅkaras. [2]

Cognizances are not mentioned in the ancient lists of atis'ayas or supernatural attributes of a Jina. [3] Of the thirty-four atis'ayas, eight are regarded as the Maha-Prātiharyas (chief attendant attributes) which are figured on sculptures and in paintings of a T"rthaṅkara. These eight are–the As'oka-tree, scattering of flowers by gods, heavenly music, fly-whisks, lion-seat, prabha-maṅdala (halo), heavenly drum-beating, and divine umbrella. [1] A critical study of all the texts, giving lists of atis'ayas and a comparison with all available early sculptures suggest that the list of the eight Mahāprātiharyas took its final shape probably towards the close of the Gupta age.

---

1. For the age etc. of the different councils. see Muni Kalyanavijaya's, Vira Nirvana Samvat, aur Jaina Kālaganana, in Hindi. Belief in 24 Jinas is however known to Bhagavati Sūtra, 16.5.

2. See Āvas'yaka Niryukti, vv. 1080 ff. For the various epithets and account etc. of Rsabha, see, Āvas'yaka Cūrni, p. 131 ff, Vasudevahindi, pp. 157, 185. Jacobi, Jaina Sutras, *S.B.E.*, Vol. XXII., pp. 217 ff. Trisastis'alakāpurusa charitra, Vol. I, *Padmacharitra* of Ravisena, 4. pp. 566 ff and *Adipurana* of Jinasena.

3. See Samavāyānga stra, sutra 34 pp. 59-60. Abhidhana-cintāmani, 1. 57-64. Tiloyapannatti of Yativrsabha, 4. verses 896 ff.

4. According to the Dig. verse—

   अशोकवृक्षं सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।
   भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

   For a similar S'vetambar list see Pravacana-sāroddhāra, verse 440; Aupapatika sutra, su. 31, pp. 68-69, For a discussion an Astamangals, see, Shah, U. P., *Studies in Jaina Art*, pp. 109-112. For a List of Atis'ayas, acc. to Digambar tradition, see, Jaina, C. R., *Outline of Jainism*, pp. 129-130.

Later sculptures or paintings of the Tirthankaras, show further elaboration in the details of the parikara or paraphernelia attendant upon a Jina, which seems to date from the early mediaeval period. [1]

The láñchanas or cognizances of Jinas are not found in known Digambara or S'vetambara texts upto c. 7 th–8th centuries A. D. But in art their first appearance is known from a sculpture of Nemìnàtha on the Vaibhàragiri, Rajgir, having an inscription in Gupta characters referring to Chandragupta (Chandragupta II according to R. P. Chanda). Here a conch is placed on each side of the Cakra-purusa in the centre of the pedestal. [2]

But the lists were not finalised in the Gupta age and a post-Gupta sculpture from the same site, representing Pàrs'vanátha or Supārs'vanátha, shows an elephant on each side of the dharmacakra in the centre of the pedestal, which is not the symbol of either of them and which is the symbol of Ajitanatha in both the sects. A comparison of the S'vetambara and Digambara lists of the lañchhanas shows a few differences and the origin of the lāñchhanas may therefore better be placed in the age of the final crisis between the two sects (Digambara and S'vetambara) which as I have suggested elsewhere took place in the age of the last Valabhi-vacanā in 473 A. D.

Tīrthankaras are said to be of different complexions, namely, white, golden, red, black or dark-blue. The complexions and the lāñchhanas help us to identify the various Tirthankaras in Jaina images or paintings. Rsabhanatha is further identified on account of the hair-locks falling on his shoulders, for, while the other Jinas plucked out all the hair, the first Jina, at the special request of Indra, allowed the back-hair (falling on shoulders) to remain. as they looked very beautiful.

Iconography of Rsabhanātha is especially noteworthy. His names Ádinatha or Rsabhanatha his lañchhaña the bull, and his bull-faced attendant Yakṣa Gomukha resembling the S'aivite Nandikes'vara or Nandi (Bull) are closely analogous to the conception of S'iva with the bull as his váhana. Like S'iva, Rsabhanátha is sometimes represented with a big jatā overhead. (see figures 35, 36, 37 in Studies in Jaina Art.)

A table, showing the complexions and cognizances of the various Jinas according to both the traditions is attached herewith. [3]

---

1. For a full description of the parikara, see, Ācāradinakara, II, p. 205. Vāstusāra of Thakkara Feru, pp. 93 ff.

2. Archaeological Survey of India, Annual Report for 1925-1926, pl. LVI. G, pp. 125-26. *Studies in Jaina Art*. fig. 18.

3. For S'vet. lists, see, Abhidhana Cintamani, 1. 49, p. 17. For Dig. lists see Pratiṣṭhāsāroddhāra, Tiloyapaṇṇatti, etc.

Tirthankaras of this Age.

No.	Tirthankara	Complexion [1]	Cognizance[2]
1.	Rsabhanātha	Golden	Bull
2.	Ajitanatha	Golden	Elephant
3.	Sambhavanātha	Golden	Horse
4.	Abhinandana	Golden	Monkey
5.	Sumatinātha	Golden	Krauñca (S've.) Koka (Dig.)
6.	Padmaprabha	Red	Lotus
7.	Supars'vanātha	Golden (S've) Harita or Greenish (Dig.)	Svastika (S've.)[3] Nandyavarta (TP.)
8.	Candraprabha	White	Crescent moon
9.	Puspadanta (Sūvidhinātha)	White	Crocodile
10.	S'italanātha	Golden	S'rivatsa (S've.) Svastika (TP.)[4]
11.	S'reyamsanatha	Golden	Khadgi (S've.) Ganda (Dig.)
12.	Vasupujya	Red	Buffalo
13.	Vimalanatha	Golden	Boar
14.	Anantanatha	Golden	S'yena or falcon (S've.) Sāhi (? TP.) [5] or Bear
15.	Dharmanatha	Golden	Vajra
16.	S'āntinātha	Golden	Deer
17.	Kunthunatha	Golden	Goat
18.	Aranatha	Golden	Nandyāvarta (S've.) Tagara-kusuma (TP)[6] Fish (Dig.)
19.	Mallinātha	Dark-blue (Niia) S've.	Water-jar.
20.	Munisuvrata	Black (S've.) (Nila) (Dig.)	Tortoise
21.	Naminatha	Golden	Blue-lotus
22.	Neminatha	Black (S've.) Nila (Dig.)	Conch
23.	Pārs'vanātha	Dark-Blue. (Nila) S've.	Snake
24.	Mahāvira	Golden	Lion

1. *Abhidhāna Cintāmanī*, 1.49, p. 17, and *Tiloyapaṇṇatti*, 4.588-89. p. 217.
2. *Abhidhana Cintamani*, 1.47-48, p. 17; and *Tiloyapaṇṇatti*, 4.604-05, p. 209.
3. *Svastika* acc. to *Pratisthāsārodhāra*; p. 9 v. 78.
4. *S'ridruma* acc. to *Pratisthasaroddhara*; p. 9 v. 78.
5. *Sedhika* acc. to *ibid.*, p. 9 v. 78.
6. *Tagarm*, *ibid*, v. 79, p. 9.

Panchaparamesthins and Śalākapuruṣas :

The Tîrthaṅkaras are the supreme objects of veneration, classified as the Devádhidevas by Ácarya Hemachandra in his Abhidhana Cintamaṇi. Enjoying the same high reverence are the Pañcha-Paramesthins, or the Five Supreme Ones–namely, the Arhat,, the Siddha, the Ācarya, the Ūpādhyāya and the Sādhu.[1] The first two are liberated souls, but the Arhats are placed first as they are embodied souls, some of whom even establish the Tirtha, constitued of the sādhu, sādhvi, s'rāvaka and s'ravika. The Siddhas are liberated souls who live in a disembodied state and reside on the Siddha-s'ilā on top of the whole universe. Representations in paintings of Jinas after attainment of Nirvāṅa show them as seated on the Siddha-s'ila of crescent shape.[2] Worship of the Pañcha-Paramesthins is very old and a later elaboration of the concept is obtained in the popular worship of the Siddha-chakra (fi. 85 of studies in Jain Art) or the Nava-Devata (fi 77 of studies in Jaina Art) in the S'vetambara and Digambara rituals respectively.[3] Earlier texts refer to Pañcha-Paramesthins only and the inclusion of the four more *Padas* or dignitaries in the above mentioned diagrams probably does not antedate c. 9th century A. D. The earliest available reference to Siddha-Chakra diagram, so far known, is from Hemachandra's own commentary (called Brihat-nyāsa) on his famous grammar S'abdānus'asana.

The worship of the Five Supreme Ones is impersonal. It is the aggregate of qualities of these souls that is remembered and venerated rather than the individuals. By saluting the Paramesthins, a worshipper suggests to his mind the qualities of the Arhats, Siddha, Ācarya, Upadhyaya or Sadhu which the mind gradually begins to follow and ultimately achieves the stage attained by the Siddhas.

But the Devadhidevas are not Creators of the Universe and the other Paramesthins are not their associates in the act of creation or dissolution. The Jaina Divinity-The perfect Being-The Siddha or the Arhat- as a type is an ideal to all the aspirants on the spiritual path. A pious Jaina is not expected to worship his deity in the hope of obtaining some worldly gains as gifts from the God. For the Tirthankara is

---

1. For Pañcha-Parameṣṭhins, see, Jaini, J. L., *Outlines of Jainism* Nahar, *Epitome of Jainism.*

2. For Kalpa-Sutra miniatures representing this and other scenes, see, Brown, W. Norman, *Miniature Paintings of the Kalpa-Sutra* and Muni Punyavijaya, *Pavitra Kalpa-Sutra*. The Paintings chiefly refer to the *Pancha-Kalyanakas* (Five Auspicious Events) in the life of a Jina. The conception of such events obtains parallel in the Buddhist representations of chief auspicious events in the life of Buddha.

3. For a discussion on the Siddha-Chakra and the Nava-Devata, see, Shah, U. P., *Siddha-Chakra, Bulletin of the Baroda Museum*, Vol. 3 pp. 25th. Also see, Shah, U. P., *Varddhamana-Vidya-Pata*, Vol. IX (194), fig. 2 on pl. facing p. 44. Shah, U. P., *Studies in Jaina Art*, 97-103 for a fuller discussion on *Siddha-Chakra* and *Nava-Devata*.

unattached, freed from all the bondages of karma. whether good or bad. The worshipper simply meditates on the virtues of the Divinity so that they may manifest in the worshipper himself. The Perfect souls and souls striving towards perfection, are Great souls, the S'alakapurușas as the Jainas call them.

This in essence is Hero worship or Apostle worship and as such, great souls, both ascetic and non-ascetic came to be especially revered. Lives of great souls became the favourite theme of Jaina Puranas. Such S'alkapurusas were the 24 Tirthankaras + 12 Cakravartins + 9 Baladevas + 9 Vasudevas = 54 Mahapurusas. Later texts speak of 63 S'alākāpurusas by counting nine Prati-Vāsudevas (enemies of Vasudevas) amongst the Great souls. [1]

Four Classes of Gods, Kulakaras and other Deities :

The Sthanaṅga sutra and other Jaina canons classify gods into four main groups, namely . the Bhavanavāsis, the Vyantaras or the Vānamantaras, the Jyotiṣkas and the Vimanavāsis. These are again subdivided into several groups with Indras, Lokapālas, Queens of these and so on.

The classification, acknowledged by both the sects though not without slight differences, is a very old tradition, but these are after all deities of a secondary nature in the Jaina Pantheon.[1]

But there were other Great souls. The Jainas also evolved a conception of Kulakaras like the Manus of Hindu mythology. They were 14 according to the Digambaras and 7 according to the S'vetambaras.

Every sect draws its pantheon from the ancient deities worshipped by the masses and adopts them in a manner suitable to the new environment and doctrines. Such for example was the worship of the deities whose shrines existed in the days of Mahavira and whose images and festivals are referred to in the Jaina Āgama literature. They include Indra, Rudra, Skanda, Mukunda, Vasudeva, Vais'ramana (or Kubera), Yaksa, Bhutas, Naga, Pis'aca, trees etc., Lokapalas and so on.

---

1. For on account and paintings of these S'alakapurusas, see, Muni Punyavijaya and Shah, U, P., *Some Painted Wooden Book-Covers from W. India, Western Indian Art (Special issue of Journal of Indian Society of Oriental* Art (1965-66), pp. 34 ff, esp. pp.36-38, and plates XXIV-XXV, and p. 43, Table I for Tirthankaras, their Complexion and cognizances, and Table II, p. 44 for the different S'alakapurusas, acc. to S've. traditions. For Dig. tradition of S'alakapurusas see, Ramachandran, T. N., Tiruparuttikunram and its Temples, pp. 219 ff.

. For details regarding these classes, see Kierfel, Kosmographic Der Inder section on Cosmographic Der Jaina Tiloypannatti; Samgrahani Sutra; Bunler, The Indian Sect of the Jainas; Ramachandran, T. N., Tiruparuttikunram and its Temples, pp. 185 ff.

Images of Bahubali are hardly found in S'vetambara temples.[1] They are however found in the Jaina Caves at Ellora and Aihole, in several sites in the South at Kalugumalai etc. and in Digambara shrines.

Rituals of both the sects include invocation and worship of the Parents of the Jinas. Sculptural representations of them are very rare, though relief slabs showing Mothers alone of the twenty-four Tirthankaras, each holding a child on her lap, are known. A ceiling in one of the shrines at Kumbharia however contains representations of the 24 Parents along with labels inscribed below them. A type of sculptures, showing princely figures of a male and a female standing or sititting by the side of each other and holding a child each, with a few more playing children shown on the pedestal, deserves special consideration. Some of these sculptures are also accompanied by a yaksha and a yaksini figure on the sides of the pedestal. In such cases the main figures cannot be regarded as Yaksa and Yaksini. Every sculpture of this type has an image of a Jina on top of the tree under which the pair is sitting or standing. I have therefore tentatively suggested that these sculptures might have represented Parents of the different Jinas. Such sculptures have been mainly found from various sites in Central and Eastern India, especially sites like Khajuraho and the Devagadh fort.[2]

Images of Jaina monks are also found in temples of both sects. Usually they have inscriptions of pedestals giving the name of the monk represented. Figures of monks of the Digambara sect are nude while those of the S've. sect show a lower and an upper garment. Often there is figure of *Sthapanacarya* [2] in front of these monks who carry a book in one hand and show the *vyakhyana mudra* with the other. A disciple monk is sometimes shown in front of the acarya.

Ganadharas are Jaina monks, being direct disciples of Tirthankaras, and hold the highest position of respect among Jaina monks and nuns. Sculptures of Ganadharas like Pundarika and Gautama, the chief direct disciples of the first and the last Tirthankaras respectively, are sometimes installed in special cells in Jaina shrines.

Sarasvati or S'ruta-Devata—The Goddess of learning.

Two goddesses enjoyed unquestionable popularity in the past, one is Laksmi, Padma or S'ri, the goddess of wealth, beauty and abundance, the other is Sarasvati, the goddess of learning. Wealth and learning the two primary needs of humanity, valued

---

1. For a fuller account of Bahubali see, Shah, U. P., *Bahubali, Bulletin of the Prince of Wales Museum* no 4, pp. 32-39, with plates.

2. For a detailed discussion with photographs, see, Shah, U. P., *Parents of the Jinas, Bulletin of the Prince of Wales Museum*, no. 5, pp. 24-32 with plates,

3. For *sthapanacarya*, see, Shah, U. P., *Studies in Jaina Art*, pp. 113-115

as such from remote past in India, were idealised in the forms of deities and widely worshipped.

The Mother-goddess conception is of hoary antiquity, both in India and outside. Amongst deified natural phenomena and objects, we find, in Vedic age, a group which includes, Sarasvati, Ap-devatas, rivers, and Sindhu. Amongst deified abstract qualities and objects connected with sacrifice, we find Sarasvati or Vak group which includes Vak or Sarasvati, Gauri, Sasaparni, Ila (as speech) and Bharati. Rivers are youthful goddesses, amongst whom Sarasvati and Sindhu are the most famous in Vedic age. Sarasvati who receives the warmest homage in Vedic literature, amongst goddesses and amongst mothers, is so mighty and great that even gods are said to approach her on bent knees (RV. VII. 95. 4). As a river she is called seven-sistered and is invoked to preserve sacrifice. Residence on her banks is desired by the Aryan people.

She is the instructress of men and creatrix of good speech (RV. I. 3. 10-12) and is addressed as Sunṛta devi (RV. I. 40. 3). As a sacrificial goddess she is closely associated with Ila, Mahi and Bharati (RV. V 5. 8; IX. 5. 8; X. 74. 8; X. 110. 8), all the three being explained by Sayana as different forms of speech. Gauri is identified with Vak or speech (RV. I, 164. 41). Sarasvati is the creatrix of truthful speech, instructress of gods and men, and inspirer of knowledge (RV. I. 3. 11-12).

Once the sanctity of the Vedic river Sarasvati was established, she soon took the foremost place amongst rivers. From Vedic times, whiteness and purity came to be associated with the river and it is not improbable that the whiteness of the goddess of learning came by transference from the river itself.[1]

Gradually Sarasvati came to be identified with the speech-the speech or mantras chanted on her banks, with the speech of the Madhyadesa. She came to be equated with Divine Wisdom-the Prajnaparamita of the Buddhists. The river association, so obtrusive in the Vedic Samhitas, and sometimes in the Brahmanas, gradually recedes into background and the concept of the deity comes to the forefront. Sarasvati soon becomes the Mother of the Vedas, the dispenser of all wisdom, the foremost of the Mothers, the best of the rivers and the greatest of all goddesses. Very soon she became the presiding deity of fine arts, especially music, dance and song.

Not only was Sarasvati herself approached for prosperity (Aitareya Brahmana, II. 1. 4; Vaj Saṁ 31. 37) but she and Laksmi were often invoked together.

Seal no. 18 found at Bhiṭa[2] contains a figure of a vase *(bhadraghata)* on pedestal. Below it is written in characters of the Gupta period, the name Sarasvati. J. N. Banerji

1. Bhattacharya, Haridas, *Sarasvati, The Goddess of learning, K.B. Pathak Commemoration Volume p.36*
2. *A.S.I.A.R. 1911-12, p. 50,* pl. XVII

has also referred to a round seal from Rajghat, with pot and foliage motif and Gupta legend 'S'ri Sarasvata'[1]

Coomaraswamy suggested the relation of the full-jar (purna-ghata), signifying abundance, with that of fertility, of which the lotus was another symbol. Sarasvati bestows vitality and offspring (RV. II. 41. 17) and is associated with deities who assist procreation (RV. X. 184. 2.).

It is interesting to note that the lotus and the water-pot. along with the book signifying knowledge and sacred lore, are the earliest symbols known of Sarasvati in Indian Iconography. The earliest available image of Sarasvati, dating from the Kusana period and hailing from Mathura, belongs to the Jaina faith. It shows the goddess with her right hand raised up from the elbow and carrying something (now mutilated and lost but) whose end seems to suggest that it was a lotus with a stalk, and holding the book with her left hand. On two sides are attendants one of whom is holding a water-pot. the purna-ghata.[2]

That Sarasvati held a lotus in her right hand in this image, is further inferred by a beautiful bronze from Vasantagadh hoard, where the symbol is well-preserved and where again we find two purna-ghatas placed on the pedestal on two sides of the god dess. The image dates from c. seventh century.[3] This early iconographic form of Sarasvati was popular amongst the Jainas as can be seen from the fact that two more bronze of Sarasvati with the lotus and the book in her hands are also found from the Akota Hoard.[4]

In Jainism, the goddess of learning is named variously as Sarasvati, S'rutde vata, S'arada, Bharati, Bhasa, Vak-devata, Vagisvari, Vani and Brahmi[5] She is regar ded as the superintending deity of knowledge and learning. As S'rutadevata, she presides over the S'ruta or the preaching of the Tirthankaras and the Kevalins. The twelve principal canonical texts-the dvadasangas are regarded as the different limbs of the S'rut edevata.

The antiquity of her worship in Jainism is established from literary references found in the Bhagavati sutra, the Mahanisitha sutra, the Dvadasaranayacakra, the Pancasaka (of Haribhadra suri), etc., and the famous Mathura image of the Kusana age

---

1. Banerji, J.N., *Development of Hindu Iconograohs*, pp. 197-198.
2. Shah, UP., *Iconography of the Jaina Goddess Sarasvati*, *Journal of the Univerity of Bombay*, Sept., 1941 198 f; fig. 1. Smith, VA., *The Jaina Stupa and other Antiquities from Mathura*, pp. 55-57, pl. XCIX.
3. Shah, U.p., *Bronze Hoard from Vasantagadh*, *Lalitkala*, no. 1, pp. 55 ff., fig. 15
4. Sah, U.P., *Akota Bronzes*, figs. 18, 33, 37.
5. *Abhidhana-Cintamani*, 2. 155 and comm. of Hemacandra on the same.

The dhyanas of this goddess mostly describe a two-armed, a four-armed or a multi-armed form. In art, however, we also find six-armed and eight-armed varieties of Sarasvati images. She is white in complexion and rests on a lotus seat. When two-armed, she carries the lotus and the book.

The Vajra-Sarada of the Buddhists holds the same symbols; the Sita-Prajnaparamita of the Buddhists does the same. Prajnaparamita, the embodiment of Mahayana Scripture of the same name, symbolised knowledge.

Munisundar suri (15th century A.D.) describes Sarasvati as holding the vina and the book in her two hands and riding the swan. A sculpture on a pillar in the famous big Jaina temple at Ranakpur shows Sarasvati standing and playing on the vina with both the hands. The swan vehicle is shown near her right foot.

The Buddhist Vajravina-Sarasvati also holds the vina with both the hands. In Hindu Iconography, Sarasvati and Laksmi are shown accompanying Visnu as his consorts. In such cases, Sarasvati carries the vina with both hands. Even when she is replaced by Pusti, Pusti also carries the vina with two hands.

According to the Digambara writer S'ubhacandra, Sarasvati has the peacock-vahana and holds the rosary and the book in her two hands.

In the Sarasvati-kalpa ascribed to the S've writer Bappabhatti suri (c. 8th century A. D.), Sarasvati is invoked as white in complexion and four-armed, carrying the vina, the book, the rosary of pearls, and the white lotus. In this variety, she has the swan as her vahana.

Bappabhatti gives one more form of Vagdevi showing the *varada*, the *abhaya*, the book and the lotus.

According to the Digambara writer Ekasamdhi, Vani is white, sits on the lotus, and shows the jnana mudra, the rosary, the *abhaya* and the book in her four hands. Mallisena and Arhaddasa (both Digambara) describe the same form and add that she has the peacock as her vahana. Pandit Asadhara (Digambara) refers to her peacock vehicle but does not describe her symbols.

Two sculptures of six-armed variety of Sarasvati are known from Luna Vasahi, Abu, one with almost all symbols mutilated and another showing the lotus in two upper hands, the Jnana mudra with two middle ones, and holding the rosary and the *kamandalu in* the two lower hands. The swan is shown as her vahana.

An eight-armed form of a dancing Sarasvati is identified on the west wall of the S've. Jaina temple of Ajitanatha at Taranga (North Gujarat). Here the goddess shows the book, the rosary and the *varada mudra* in three right hands, and the lotus, the noose and the *varada* in three left ones Symbols of the remaining two hands are mutilated.

A large variety of Sarasvati is known from literature and art. This shows the great popularity of this ancient goddess amongst the Jainas.

S're-Laksmi The Goddess of Beauty and Abundance.

Long ago, in *Eastern Art* Vol. I (pp. 175 ff). Coomaraswamy discussed the Early Indian Iconography of S'ri-Laksmi which was later followed by an excellent long paper, by Dr. Moti Chandra, on *"Our Lady of Beauty and Abundance, Padma-S'ri,"* in *Shri Jawaharlal Nehru Abhinandana Grantha.* The cult of S'ri-Laksmi, as shown by Moti Chandra, was closely connected with the ancient Mother-goddess cult represented in old terracotta figurines and stone-rings. Moti Chandra has also shown her association with sky-going horse, *makara*, and cupid (Kamadeva, whose ensign is *makara*). In tne Rgvedic times, she indicated importance, splendour and adornment, something pleasing to the eye. The word Laksmi is used in the sense of auspicious or pleasant quality. In the S'ri-sukta, S'ri and Laksmi are denomination of the same goddess who is said to be sitting or standing on the lotus *(Padma-sthita).* According to this sukta, S'ri is awakened by the roar of elephants, bathed by the elephants with golden pitchers. Mother S'ri is lotus-faced, lotus-born, and darling of Visnu.

S'ri-Laksmi in the Epics is a concrete goddess with full iconographic significance. She bears on her hand a *makara* as an auspicious mark, and is the mother of Kamadeva. Shi is *padmalaya* and *padmahasta.*

S'ri-Laksmi retains her auspicious character in Jainism. The lustration or *abhiṣeka* of S'ri has been reckoned amongst the fourteen[1] auspicious dreams seen by a would-be Tirthankara's mother. The Pritidana referred to in Jaina canonical texts included images of the goddesses S'ri, Hri, Dhrti, Laksmi, Kirti, and Buddhi. In Jaina texts on cosmography S'ri and Laksmi are said to live on lotuses of extraordinary magnitude in the lakes Padma-draha and Pundarika-draha respectively, thus emphasing S'ri-Laksmi's association with the waters and the lotus.

When accompanied by elephants pouring water on her, S'ri-Laksmi is generally called Gaja-Laksmi: and two-armed as well as four-armed forms of this goddess are available in Jaina temples. She usually carries the lotus in two hands, and the rosary and the pot in the padmasana. She is popular amongst both the Jaina sects.

Yaksas and Yaksinis[2] :

The Yakasa cult is very ancient in India. References to Ceiyas like the Gunasila-Ceiya; Purnabhadra-Ce; Bahuputrika-Ce; etc. in the Jaina Canonical texts are significant. The commentators rightly interpret them as shrines of yaksas (yaksa-ayatana)

---

1. Fourteen amongst the S'vetambaras, Sixteen amongst the Digambaras
2. Yaksa workship in Ancient India has been discussed by Dr. Coomarswamy in his Yaksas I and II, *Yaksa worship in Early Jaina Literature* has been discussed by Umakant Shah in *Journal of the Oriental Institute, Vol. III, no. 1.* Dr. Motichandra's recent contribution on Yaksa worship, published in Bulletin of the Prince of Wales Museum, no 3. throws some more light on the problem.

and the word Jakhayayana is not unknown to the canons[1]. Purnabhadra and Manibhadra are well known as ancient yaksas.

Mahavira stayed in such shrines. The Aupapatika sutra gives a detailed description of the Purnabhadra Caitya, calling it ancient (porana) and visited by many persons. Mahavira, obviously selected for his stay shrines of cults which were not following the vedic rituals and were, therefore non-vedic. or heterodox and possibly not-Aryan in origin. The description of the Purnabhadra Caitya refers to a Prthivi-s'ila-patta, soft to touch and shining like mirror, which I regard as referring to a highly polished N. B. P. terracotta plaque. Excavations at Kosam and Vaisali have demonstrated the existence of the N.B.P. ware in the sixth century B.C. Thus the description of the Purnabhadra shrine visited by Mahavira is authentic and preserves genuine old tradition,[2]

We should, therefore, have no hesitation in regarding these Prthvi-silapatas (of the Purnabhadra-Chaitya description) as precursors of the Jain ayagapatas from Mathura dating from C. 1st cent. B.C.–1st Cent. A.D.

It is but natural that when the pantheon began growing the Jainas thought of introduction a yaksa and a yaksi, as attendants *S'asana Devatas*, who protect the samgha of a particular Jina. The attendants obtained a place on the pedestal of a Jina-Image itself.

Firstly a pair common to all the twenty four Tirthankars was introduced. The yaksa carried a citron and a money-bag and resembled Kubera or Jambhala. The Yaksi two-armed, carrying a mango-bunch and a child. and having the lion as her vahana (mount) had as her protypes Nonaia Nana (of the Kushâna coins),. Durga and Hariti.

In Jaina iconography, before the Gupta age, or more correctly before the end of the fifth century A. D., we do not find any attendant Yaksi accompanying any Tirthankara ; nor do we find separate sculptures of any Sasanadevata which can with confidence be assigned to a period before c. 500 A. D.

Tirthankara sculptures which can be definitely assigned to the Gupta age are very few. A headless statue of Mahavira in the Lucknow Museum, inscribed and dated in the Gupta year 113, is perhaps the only known Jaina sculpture of the Gupta age, bearing a date, discoverd hitherto. It does not show the Sasandadevatas on the pedestal. Some finer specimens like J. 104 and C. 181, in the same Museum, or B. 6 & B. 33 in Mathura Museum, though not inscribed, can be assigned to the Gupta age or late Gupta age on the evidence of style.

A seated figure of Neminatha on the Vaibhara hill, Rajgir, published by R. P. Chanda, *A. S. I. Ann. Rep. for 1925–26*, pp. 125 ff.pl.lvi.d, bears a fragmentary inscription, in Gupta characters, referring to Chandra Gupta (the second). This is the earliest

1. Shah, U. P. *Studies in Jaina Art pp.*
2. For a detailed discussion, see, *Studies in Jaina Art.*

specimen assignable to a fairly accurate date, showing the introduction of the cognizance of a Jina, but has no figures of Sasanadevatas.

None of the Tirthankara sculptures of the Kusāna period show on their pedestals either the recognizing symbols of Jinas or the Yaksa pair, even though Yaksa Kubera or a two-armed Yaksi, a prototype of Ambikā, were probably known and worshipped separately as Yaksa-deva or Yaksi-devi but not as an attendant (Yaksa) or a Sasana-devata.

The Agama texts are silent about attendant Yaksa pairs. Even the Kalpasutra which could have referred to them is completely silent about Sasandevatas and the lanchanas of Jinas. Negative evidence is generally inconclusive, but since both literature and archaeology have hitherto not produced any evidence to the contrary, one can safely assume that the Sasandevatas were not evolved before c. 500 A.D.

An interesting beautiful bronze of standing Rsabhanatha, discovered from Akota, is perhaps the earliest known Jaina image which shows Sasanadevatas accompanying a Tirthankara.

The inscription on the back of the images reads, "Om devadharmh=yam niv (r) ti kule Jinabhadra Vachanacharyyasya," and is written in the Brahmi script of c. 550 A.D. Since on the evidence of Kahavali, Vachanacharya, Divakara, Ksamasramana Vadi etc., are ekarthavaci terms, Jinabhadra Vacanacarya of the inscription can be identified with Jinabhadra Gani Ksamasramana.

Now, in this bronze we find a Kubera-like Yaksa and a two-armed Ambika shown as attendant Yaksa and Yaksi of Rsabhanatha. I have shown elsewhere that at Ellora, and other places we find only this Yaksa pair. In sculptures and bronzes, at least upto about the end of the ninth oentury A. D., we find only this pair. I have also shown that the pair accompanies several Tirthankaras like Rsabhanatha, Parsvanatha and Mahavira, even though in later literature and art, the Kubera-like Yaksa and Ambika are Sasanadevatas of Neminatha only. It is quite clear that before eirca ninth century A. D,, the different pairs of Sasanadevatas were not evolved or at least they were not popular.

The period of transition from the Gupta age to the middle ages, i. e. from the end of the sixth century A. D. to c. 11th century A. D. is a period of new impetus to Tantrism in all the three main Indian sects, namely, Hinduism, Buddhism and Jainism. This brought into existence worship of new deities and additions to the existing number of iconographic varieties of old ones. The new activity continued even up to at least the thirteenth century A. D. which period (6th–7th to 13th century A. D.) has witnessed temple-building activity on a large scale all over India. The earlier simplicity of forms in architecture and sculpture was replaced by complex forms overloaded with ornamental details. Gods and Goddesses who had two or four arms multiplied so much so that we have conceptions of deties like the thousand–arm valokitēsvara !

The different sects vied with one another in the race for multiplication of their respective pantheons and mystifying their rituals with complex details. Jainism, which has shown greater conservatism than other sects in preserving their *ācāra-vidhi*, was also obliged to introduce new deities (though, of course, subordinate to the Tirthankaras), or to compose Tantric works like the Jvālinī-kalpa or the Bhairava-Padmāvati-Kalpa. The Achāra-Dinakara of Vardhamāna Suri is a product of this spirit, and was composed in 1468 V. S. (1411 A. D.) Th Nirvāṇakalikā composed by another Pādalipta in C. 1000-1025 A. D., in the mediaeval period but ascribed to the earlier Pādalipta-sūri, and the Pratisthāsārodhara of Āsādhara were also composed under this influence.

It was in the beginning of this transitional age that the first Yaksa-pair Kubera-like Yaksa whom I propose to address tentatively as Sarvānubhuti invoked in the Panca-Prati-kramana, and two-armed Ambika made their first appearance as the attendant Yaksa pair *par-excellence*, common to all the Tīrthaṅkaras. Early specimens of Ambika, hitherto known, came from the Meguti temple, Aihole, in the Dharwar district,[2] Mahudi on the Sabarmati, North Gujarat,[3] Dhānk in Saurashtra,[4] or on sculptures numbered B. 78 and B. 75 in the Mathura Museum.[5] But these belonged to an age not earlier than the seventh century A. D. The discovery of the Akota hoard pushed back the introduction of Ambika Yaksi in Jainism to at least the sixth century A. D. as evidenced by a bronze of Ambika with an inscription assignable to C 550-600 A. D., and by the bronze of Ṛsabhanatha installed by Jinabhadra,[6] discussed above, both the bronzes belonging to the Akota hoard. The earliest descriptions of the two-armed Ambika known hitherto, came from the Caturvimsatikā of Bappabhatti Sụri[7] (c. 800-895 V. S.) and the Harivamsha[8] of Jinasena (783 A. D.). Jinasena also refers to Apraticakra in the same verse in which Ambika is referred to. But since Apraticakrā is known as a Vidyadevi in ancient Jaina texts, it is not certain that in the age of

1. See प्रतिक्रमण सूत्र with प्रबोधटीका, Vol. III P. 170 Also cf. U.P. Shah, '*A female Chaurie-Bearer From Akota, Bulletin of the Prince of Wales Museum*, no. 1.
2. Cousens, H., *Chalukyan Architecture*, Pl IV. The sculpture is assignable to the seventh century A. D.
3. *Annual Report, Department of Archaeology, Baroda State 1939*, pp. 6 ff, and plates.
4. H. D. Sankalia, '*Earliest Jain Sculpture in Kathtawar*' *Journal of the Royal Asiatic Society, London*, July 1939, pp. 426 ff. In an article in the *Jain Satya Prakasa* (Gujarat, Ahemedabad), Vol. IV. nos. 1-2, Dr. Sankalia tries to give them an early age, but the reliefs are certainly not eariler then c. 7th century A. D.
5. Vogel's *Catalogue of Sculptures in the Mathura Museum*, A seventh century relief is also found at Chitral in the old Travancore State (now Kerala), see, *Buddha and Jaina Vestiges in the Travancore Stute, Travancore Archaeologicol Series*, II. part 9, pp. 115 ff., pl. V. fig. 2.
5. *Journal of Indian Museums*, Vol. VIII. pp. 50 ff., fig.
6a. See U.P. Shah, *Akota Bronzes*, fig. 11.
7. *Caturvimsatika*, ed. by H.R. Kapadia, pl. 143, 162.
8. *Harivaṁsa*, (M.D. Granthamala, Bombay) Vol. II, Sarga 66, v 44.

Harivamsa, Cakresvari was already introduced as the Sāsana-Yaksi of Rsabhanatha. There is no sculpture of this age showing Cakresvari as the attendant Yaksî of Rsabhadeva.

Earlier references to Ambika come from the Lalitavistarātikā of Haribhadra Suri. An Amba-Kusmandi Vidya has been referred to by the same writer in his tika on the Avasyakaniryukti, V. 931, (p. 411). In both these cases, however, neither the vahana nor the symbols are described.

But a still earlier reference is from a Ms. of Visesavasyaka-Mahabhasya with Ksamasramana-Mahattariya- tika recently discovered by Agamaprabhakara Muni Shri Punyavijayaji which seems to settle the age of the introduction of Ambika Yaksi. This Ksamasramana-Mahattariya-tika gives the following reference on folio 226:—

यस्मिन्मन्त्रदेवता स्त्री सा विद्या अम्बाकूष्माण्डयादिः ।

Here Amba-Kusmandi is referred to as a Vidya. But since we do not find Amba or Kusmandi in the list of the sixteen chief Vidyas. it is very likely that this refers to the Vidya-Sadhana of the same goddess Ambika which accompanied the different Tirthankaras and which later came to be worshipped as the Sasanadevata of Neminatha.

Thus we obtain both literary and archaeologieal evidence for Ambika, assignable to the sixth century A. D. No earlier evidence is known hitherto. It is also interesting to note that both these evidences are associated with Jinabhadra Gani Ksamasramana We might therefore, safely say that Ambika Yaksi was introduced in Jaina worship sometimes in the sixth century A. D. or at the earliest in c 500 A. D. It is not possible to push back this upper limit of the introduction of Ambika in the present stage of our knowledge, since all Tirthankara sculptures assignable to an age prior to c. 500 A. D. do not show any attendent Yaksa pair nor do we find any loose sculptures of Ambika which can be placed before c. 500 A. D.

But when were the 24 Yaksas and Yaksinis introduced ? The earliest list of these sasanadevatas is obtained from the Abhidhana-Cintamani of Hemacandra and their iconographic forms are given in the Trisastisaakapuruscaritra of the same writer. The Nirvanakalika of Padalipta, ascribed to the famous Padaliptacharya of c. 2nd century A. D., also gives such lists. As the Pravacanasarodhara-tika (V. S. 1248) refers to it, the lower limit for Nirvanakalika is 1191 A. D. The work however seems to have been composed in the eleventh or twelth century A. D. The colophon shows that the author belonged to the Vidyadhara-kula and the work was composed by Padalipta, grandpupil of Sangamasimha, A Sangamasidhamuni died by fasting on Mt. Satrunjaya and his pupil installed an image of Pundarika Ganadhara in his teacher's memory in V. S. 1064. A Sangamasimha composed a hymn which referred to the Vimala Vasahi

· वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यदाम्बाकूष्माण्डी–आदीनां शान्तिकराणां । Lalitavistara, p. 60

at Abu, erected in V. S. 1088. The teacher of the author of Nirvanakalika was possibly one of these two Sangamasimhas. The treatment of the different sections of Nirvanakalika, e. g., the Ekasitipadavastu. shows that the work belongs to an age of Brahmanical influence in the Jina Tantra. The work is assignable to c. 1000—1025 A. D.

The Prākrit text kahāvali is supposed to be a work of one Bhadresvara Sūri who lived jn the 12th century A. D. But the language of this work betrays peculiarities of the language of the churṅis. I have showṅ in a separate article in Jaina Satya Prakāsa, Vol. XVII. no 4 (January, 1959), pp. 90-91, that the work is earlier than the 12th century A. D. In this work, in the Sthavirāvali portion, we find :—

जो उण मल्लवाई व पुव्वगयावगाही खमापहाणो समणो सो खमासमणो नाम जहा आसी सपयं देवलोय गओ जिणभद्दि (द्द) गणि खमासमणो त्ति रयियाइं च तेण विसेसावस्सय-विसेसणवई-सत्थाणि जेसु केवलनाणदंसणवियारावसरे पयडियांमिप्पाओ सिद्धसेन दिवायरो ।

Thus the author of Kahāvali cannot be far removed in from Jinabhadra Gaṇi amasramaṇa by about six centuries, if he talks of Jinabhadra as one who was lately (recently or better 'now') dead. Jinabhadra being very famous, at the most an author writing about a couple of centuries later can use the word sāmpratam (now') for him. This would mean that Kahāvali was originally composed in a period not later than the eighth century A. D.

This work refers to the Sāsanadevatas in the portions dealing with the lives of the different Tīrthaṅkaras. This would show that in c. 8th century A. D., the twenty four different Śāsanadevatās were already introduced in Jaina worship. Archaeological evidence known hitlerto does not support the conclusion. No sculpture from any part of India assignable to this age shows the different Yaksis, or Yaksiṇis. The only early sets of the different Yaksīs, known hitherto, come from the Navamuni cave, Orissa, and the Temple No. 12, Devagaḍh fort Madhya Pradesh. The Navamuni cave is assigned to the ninth century A. D. and the reliefs probably belong to the same age or are slightly later. The Devagadh set bears inscribed labels, the characters of which are roughly assigned to c. 9th-10th century A. D. We might, therefore, say that the earliest known archaeological evidence for the 24 different Yaksīs does not date prior to the ninth century A. D.

If the passages of the Kahāvali, referring to different Śāsanadevatas are genuine, then either we accept that the Śāsanadevatās were introduced in c. 8th century A. D. or that the Kahavali dated from the 9th rather than the 8th century A. D., we might arrive at a tentative compromise by assigning Kahāvali to c. 800 A. D.

It must however be acknowledged that the different Yaksīs did not become popular in temple worship before c. 1000 A. D. and even later. This is proved by the fact that on a number of pedestals of Tīrthaṅkara sculptures in the different cells at Delvada, Mt. Abu, and in the Jaina shriness at Kumbharia, we find Ambika (2 or 4

armed) and 2 or 4 armed Yaksa, either like Kubera, (Sarvānubhutt) or evolved from the form of Kubera. This is in fact a stage in the evolution of the worship of twenty four different Śasanadevatās. The practice lingered on even after Hemacandra (who refers to quite different forms) as proved by the archaaeological evidence of Abu and Kumbharia noted above.

At Devagaḍh the following stages are marked: One replaced the old Yakṣī (Ambika) for Tīrthaṅkaras other than Nemināṭha and inserted a two-armed Yakṣī showing *abhaya (*or *varada) mudra* and a pot or a citron ; the other was the evolution of all the twentyfour different Yakṣīs with a different iconography and new names as in Temple no. 12. In this set some forms are of better workmanship than others. Each Yakṣī is represented as standing on a separate slab, and above her is a figure of a Jina whose Śāsanadevatā she is supposed to be. Names of the Jina as well as his Yakṣî are of the same age as the sculptures since it is difficult to assign a roughly accurate date either to the sculptures or to the Devanagarī characters of the labels, the characters being in a stage of evolution which still awaits scientific palaeographical study. But they may tentatively be regarded as of the same age, c. 950 A D. or a little earlier.

The Tiloyapannatti gives a list of twentyfour Yaksis, the names being different from the lists of the Devagadh set or of the Pratisthasarodhara. The age of this portion of the Tiloyapannatti is uncertain and the list is probably later than the time of the original Tıloyapannatti. The reference to Balacandra Saiddhantika in Tiloyapannatti, also suggests the same thing.

The following comparative tables showing names of the twenty four Yaks.is according Devagadh Temple 12 set (DT). Tiloyapannatti (TP), Pratisthasaroddhara (PS), and Hemacandra 's Trisastisalakapurusacaritra (HT) may be useful :—

Jaina	DT	TP	PS	HT
1. Rsabhanatha	Cakresvari	Cakresvari	Cakresvari	Cakresvari
2. Ajitanatha	—	Rohini	Rohini	Ajita
3. Sambhava.	—	Prajnapti	Prajnapti or Namra	Duritari
4. Abhinandana	Sarasvati	Vajrasrn-khala	Vajrasrn-khala or Duritari	Kaliga
5. Sumati.	—	Vairankusi	Khadgavara or Mohini	Mahakali
6. Padmaprabha	Sulocana	Apraticakra	—	Syama
7. Suparsva.	—	Purusadatta	Kall or Manavi	Santa
8. Candra-prabha	Sumalini	Manovega	Jvalini	Bhrukuti
9. Puspadanta	Bahurupi	Kali	Mahakali-Bhrukuti	Sutaraka

Sr. No.	Jaina	DT	TP	PS	HT
10.	Śitala.	Śriyadevi	Jvālāmalini	Māhavi or Cāmuṇḍā	Aśokā
11.	Śreyāmsa.	Vahni-Devi	Mahākālì	Gaurị or Gomedhakì	Mānavì
12.	Vāsupūjya	Abhogarohiṇì	Gaurì	Gandhārì or Vinyurhmālinì	Caṇḍā
13.	Vimala.	Sulakṣana	Gandhārì	Vairotì Vidyādevi	Viditā
14.	Ananta.	Anantaviryā	Vairotyā	Anantamāli Kumbhini	Aṅkuśā
15.	Dharma.	Surakṣita	Anantamatì	Mānasì-Phrabhartā	Kundarpā
16.	Śānti.	Śriyadevi or Anantavìryā	Mānasì	Mnhāmānasì-Kandarpa	Nirvāṅi
17.	Kunthu.	Arakarabhi(?)	Mahāmānasì	Jayā-Gandhārinì	Balā
18.	Ara.	Tāradevi	Jayā	Tārāxati-Kālì	Dhārinì
19.	Malli	Bhìmādevi	Vijaya	Aparājitā-	Vairotyā (Dharpna-priyā)
20.	Munisuvrata	—	Aparājitā	Bahurūpint-Sugandhini	Naradattḏ
21.	Nami.	—	Bahurūpinì	Cāmuḍā Kusumamolini	Gandharì
22.	Nemi.	Ambāyikā	Kuṣmāṅḍinì	Āmra-Kus-māṅḍini	Ambikā
23.	Pārśva	Padmāvati	Padmā	Padmāvatì	Padmāvatì
24.	Mahāvìra	Aparājitā	Siddhāyinì	Siddhāyinì	Siddhāyikā.

It may be noted that in the above table Hemachandra represents the Savetmbara tradition, the rest represent Digambara traditions.

At Pithaura, Nagod State, is a shrine of Pattani-devi, where the godeess Ambika is accompanied by small figures of the other 23 Yaksinis on the three sides, The names of these Yaksinis are 1 :- Bahurupini, Cāmundā, Sarasvatì, Padmavatì, Vijayā, Aparājltā. Mahamanasi, Anantamati, Gandhārl, Mānasī, Jvālāmālinī, Bhausi ? Vajraśrnkhalā, Bhānujā (?), Bahini (?). Obviously, the small inscribed labels

1. Annual Report, Western Circle, Arch. Survey of India, for the year ending 1920.

could not be read properly, but the list seems to be generally akin to the list af Tiloyapannatti which seems to present a stage between the Deogarh set and the Pratisthāsāroddhāra. At Deograh, a four-armed loose sculpture of Yaksi Sarasvatī and another of Sumālinī are also obtained. Since both are dated in the year 1070 A.D., it may be presumed that the Deogarh Temple No. 12 set is earliear than 1070 A.D. The list of Yaksas and Yaksinīs given by the TP cannot be assigned to the origninal TP as suggested by by the learned editor. The original text has definitedly undergone certain additions and its evidence has to be treated with caution.

Literary traditions of both these sects, show that by c. 12th century A,D,, the lists of the varioes Yaksinis were finalised in both the Jaina sects.

It is noteworthy that in the Digambara lists of Āsādhara and others, names of some of the Yaksinis seem to have been borrowed from the sixteen principal Vidyadevis since the lists of Vidyadevis are earlier in age, the above conclusion is inevitable.

The evolution of the iconography yakshi Padmavatī a snake-goddess is equally interesting. Firstly, in all early representations of Pars'vanatha, before c. 900 A.D., she hardly figures as the yaksī of this Jina. Along with Dharanendra, she is known as a snake-deity standing and adoring Pars,vanatha or holding an umbrella over the head of Pars'vanatha. Scenes of attack *(upasarga)* by Kamatha on Pars'vantha during the latter's meditation, are very popular in the Deccan in the Jaina caves at Elura, Dharas'iva, etc., and even further south at Chitharal, Vallimalai, Kalugumalai and so on. In all these representations, Dharanendra is shown as protecting Pars'vanatha with his snake-hoods and adoring him, along with his queen Padmavatī It is indeed surprising to find that in the canonical lists of chief Queens of Dharanendra the name of Padmavatī is not mentioned at all. It is, therefore, difficult to label this attendant queen of Dharanendra as Padmavatī in the representations at Elura etc. (She may be Vairotya).

Vairotya the thirteenth Jaina Mahavidya is an earlier Jaina snakegoddess. Lists of Mahavidyas are definitely earlier than the hitherto known lists of the 24 different Jain Yaksas and Yaksinis and the ancient Jaina monk Ārya Nandila is associated with the worship of Vairotya in Jaina traditions. Very probably, the snake-goddess in the Elura relief was known as Vairotya.

Padmavati gradually replaced Vairotya in popular worship during the mediaeval period from c. 1000 A. D. Next to Ambika, she is the most popular yaksī and a snake-diety, but her role in the Jaina Tantra is greater than that of the Ambika. Tantric texts like the Bhairava-Padmavati-kalpa, Adbhuta-Padmavatī-kalpa etc, were composed. Four-armed, she usually carries, the lotus, the goad, the noose, etc and rides on a composite mythical animal called Kukkuta-Sarpa.

11. S'reyamsanatha	Īsvara or Manuja or Yaksaraja	Īsvara
12. Vasupujya	Kumara	Kumara
13. Vimalanatha	Ṣaṇmukha	Ṣaṇmukha or Caturmukha or Karttikeya
14. Anantanatha	Patala	Patala
15. Dharmanatha	Kinnara	Kinnnara
16. Śantinatha	Garuda	Garuda or Kimppurusa
17. Kunthunatha	Gandharva	Gandharva
18. Aranatha	Yaksendra	Khendra or Jaya
19. Mallinatha	Kubera	Kubera
20. Muenisuvrata	Varuna	Varuna
21. Naminatha	Bhrukuti	Bhrukti or Vidyatprabha
22. Neminatha	Gomedha	Gomedha or Sarvanha
23. Pars'vanatha	Parsva or Manuja	Pars'va or Dharana
24. Tahavira	Matanga	Matanga

Gomukha, the yaksa of the first Tirthankara Ṛsabhanath, is cow-faced and reminds us of Nandi the vahana of Śiva. Ṛsabhanatha himself is sometimes shown with a jata overhead of hair-locks falling on shoulders from the back and in such cases he obtains comparison with the Hindu Siva who is Nandi-vahana. In his two-armed variety Gomukha carries the cirton and the bag in the Digambara and the Śvetambara traditions and rides the elephant. When four-armed, he shows symbols like the varada, the rosary, the cirton, and the goad. Sometimes the rosary and the citron are replaced by the goad and the money-bag. The vahana is generally the elephant but occassionally the bull also. *In the Digambara tradition* the symbols of the four-armed variety are generally the lotus, the cirton, the money-bag, and the *abhaya or varada mudra*, while bull is more common as his vahana.

Gomedha, the yaksa of Nemnatha, is generally six-armed and rides on the man according to Śvetambara and Digambara texts, but the latter also refer to a four-armed variety with the elephant vehicle.

The Yaksa of Parsvanatha usually rides on the tortoise vehicle and shows the cirton and the money-bag when two armed, in both the traditions. When four-armed, he shows symbols like, the snake, the citron, the *nakula* and the snake or the mace in the Śvetambaro traditions, and shows symbols like the snake, the snake, the noose, and the *varada* or the goad, the noose, the *abhaya* and the citron in his four arms according to the Digambara traditions. He often has one or more snake-hoods overhead. He is called Parsva in the Śve tradition and Dharana in the Dig. tradition.

The yakṣa of Mahāvira rides the elephant and is generally two-armed in both the sects. He shows the citron and *nakula* or the staff according to the Śvetāmbara tradition and the fruit or the pot and the *varada* or the *abhaya* in the Digambara tradition. He is sometimes represented four-armed or six-armed amongst the Digambaras, and shows the *anajli-mudra* or carries the *dharma-cakra* with two hands.

Since Ṛsabhanatha, Neminātha, Pārśvanātha and Mahavira are amongst the more popular Tirthaṅkaras in Jaina worship we have given here some details of the iconography of their yakṣas and yakśinis.

It may be noted that over and above these yaksas, worshipped as attendants of the Tirthankaras, yaksa Vaisramaṇa or Kubera as one of the Lokapalas of Śakra, presiding over the northern quarter, also finds a place in the Jaina pantheon and worship.

Comparisions of the different Jaina yakṣas and yaksinis with some deities of the Buddhist and Hindu pantheon would be highly interesting. It will be seen that the Jaina lists contain names which are distinctly Hindu, for example, Brahma-Yaksa, Nandi, Kumara, Ṣaṇmukha, Varuna Īsvara, Chaṇda, Chāmuṇḍa, Kali, Mahakali and Gaurī, The iconography, however, as described in the Jaina and Hindu texts, often differs, but the borrowings are unmistakable. Sometimes the Hindu name is retained, sometimes the Hindu iconographical traits with a different name are marked out. In the latter type of borrowing, sometimes both the Hindus and the Jainas might have borrowed or evolved a form from the earlier common heritage of gods and goddesses worshiped in India. Since the Jaina lists are comparatively later, the couclusion that in some of the above cases the Jainas have borrowed from the Hindus, is justified.

Of Buddhist influence we have a few cases only, in Taradevī, Vajrasrnkhala and Vajrankusa, etc.

Why was this borrowing done? To obtain a following, to attract the people into its fold, a sect had to show the superiority of its deities over the deities of the other sects. Mahayana Buddhism did this by showing their gods trampling over or riding the Hindu gods; the Jainas were not so cruel or discourteous and they were satisfied with assigning a subordinate position to the Hindu deities by making them yaksas and attendant yaksas and yaksinis. It is impossible for a sect to gather strength without incorporating in one form or the other the beliefs and practices of the masses, Sometimes this process is not deliberate but is the inevitable result of the human tendency to continue older beliefs and practices. The Jainas, as the march of history through the ages shows us, had to meet strong Saivite opposition which made it necessary for them to show the superiority over those of the Hindus. Sometimes

the Tirthankara was to be practically the same as the highest divinity of the other faith, for example, Rsabhanatha was hailed as Isana, Vamadeva, Tatpurusa or Aghora as has been done by the author of the Ādipurana in the 8th century A. D. The Vedic Indra was assigned the function of celebrating the different *Kalyanakas* (Auspicious events of the Tirthanakaras.) But the idea of an Indra as a ruler of gods was extended and as many as sixty-four Indras grew up among whom Isanendra is noteworthy. Sakra or Saudhramendra is clearly the Vedic Sahasraksa Indra while the description of Isanendra shows that he is none else than Śiva. At a later stage the Bhairavas and Yoginis and even Ganesa came to be included in Jaina worship.

The Sixteen Jaina Mahavidyas :

The sixteen Mahavidyas form a group of Tantric goddesses worshipped both by the Savetambara and Digambara Jaina sects. Jaina traditions speak of as many as 48,000 vidyas out of which sixteen are reported to be the chief ones. Texts providing the *Sadhana-vidhi* of each of these sixteen vidyas are not yet traced, though Sandhanavidhis for a few are known, but belief in Mahavidyas seems to be ancient.

Both the Buddhist and the Jaina sources demonstrate the popularity of spells, magic, mantras, vidyas, science of divination, supernatural powers etc. in the time of Buddha and Mahavira. Alms obtained through the supernatural powers of mantra and vidya are prohibited for monks, in the Jaina canonical texts. These texts refer to vidyas like *antaddhani*, *utpatani*, *jangoli-vijja* (against snake-bites and poisons), the *matanga-vidya* (for telling past history) and so on. Varddhamana-vidya, still popular, is an ancient Vidya, of which *Sadhana-vidhis* are available.

The Nisitha-Bhasya refers to two vidyas namely, *Gauri* and *Gandhari*, which according to the Brhat-Kalpa-Bhāṣya are *Matanga Vidyas*.

The earliest known Jaina accounts of the oringin and worship of Vidyadevis and Vidyadharas are available in the Vasundevahiṇḍi (c. 400 A.D.),[1] and in the Paumacariyam of Vimalasūri. Elaborate accounts of Nami and Vinami founding two groups Vidyadhara cities on the slopes of Vaitadhya mountain are also available in the Āvasyaka-curṇi and the Āvasyakatika of Haribhadra suri, in the Caupanna maha-purisa-cariyam (868 A.D.) of Śilāṅka. the Trisastisalakapurasacaritra of Hamcandra (c. 1100-1167 A.D.), in Digambara work Harivamsa of Jinasen (783— 4 A.D.) and so on. There were sixteen clans or groups of Vidyādharas named after the classes of vidyās they possessed. Hemacandra's list of sixteen classes of Vidyas practically agrees with the earlier list given by Sanghadasa gani in his Vasudeva-hindi. According to the Vasudevahindi, the vidyas originally belonged to the Gandharvas and the Pannagas and included vidyas like Maha-Rohini, Pannati

1. For a detailed discussion [illegible] see, [illegible] U. P., *Iconography of the sixteen Jaina Mahavidyas, Journal of the I*[illegible] Vol, XV, pp. 114-177

(Prajanapti), Gori (Gaurī), Vijjumukhī (Vidyutmukhī), Mahajala (Mahajavala), Bahurupa, and so on.

In the Harivamśa it is stated that of the Vidyādharas, the following eight classes, namely, Manus. Mānavas, Kausikas, Gaurikas, Gandharvas, Bhumitundakas Mūlaviryās and Śāṅkukas belonged to the Aryas, Adityas or Gandharvas while the other eight, namely, the Mātaṅga, the Paṇḍuka, the Kālā, the Śvapāka, the Parvata the Vamśālaya, the Paṇḍumūla and the Vṛksamūla classes belonged to the Daityas, the Pannagas or the Mātaṅgas.[1] This is important as it suggests a new line of investigation into the origin and development of certain Tantric practices and deities in India.

Besides the lists of the sixteen classes of Vidyādharas, the author of the Harivamśa gives a list of Mahā vidyās and states that the following vidyās. belonging to the above-mentioned sixteen classes, are assigned the chief position amongst all vidyās : Prajnapti, Rohiṇi, Aṅgariṇi, Mahā-Gauri, Gauri, Mahāśvetā, Māyuri, Ārya-Kuṣmaṇḍā-devi, Acyutā. Āryavati, Gandhari, Nirvṛtih, Bhadra-Kali, Maha-Kali, Kāli, Kalamukhi.[2]

The list is important in as much as, besides being one of the earliest known complete lists of the sixteen vidyās available to us, it differs largely from the somewhat later lists supplied by writers of both the sects. According to these later traditions, the sixteen Mahāvidyās are : (1) Rohiṇi, (2) Prajnapti, (3) Vajraśṛnkhalā, (4) Vajrānkuśā, (5) Cakresvari, (S've.) or Jambūnadā (Dig.), (6) Naradattā or Puruṣadattā, (7) Kāli, (8) Mahā-Kāli (9) Gauri, (10) Gandhāri, (11) Sarvāstra-Mahājvālā (S've.) Jvālāmukhi (Dig.) (12) Mānavi, (13) Vairotyā (S've.) Vairoti (Dig.), (14) Accbuptā (S'Ve.) Acyuta (Dig.), (15) Mānasi and (16) Mahā-Mānasi.[3]

As yet hardly any sculptures or paintings of Mahā-vidyas in the Digambara tradition have been brought to light but future explorations are likely to be rewarded with success. Amongst the S'vetāmbaras, a very valuable set of sixteen Mahāvidyās is preserved in the dome of the beautiful Sabhāmaṇḍapa of the Vimala Vasahi, Delvada, Mt. Abu. This Sabhamaṇḍapa was built by Pṛthvipala, a minister of Kumārapāla, in c. V. S. 1204=c. 1147 A. D.[4] The set of Vidyādevis in the Sabhāmaṇḍapa of the Lūnavasahi is incomplete and a few of the sculptures are modern crude copies of some old mutilated ones. A palm-leaf ms. of seven different texts bound in one volume, preserved in the Jaina Bhandāra at Chhāṇi near Baroda.

1. *Harivamśa* of Jinasena, 22. vv. 56-60.
2. *Harivamśa*, 22. vv. 61-66
3. *Adhidhāna-Cintāmaṇi*, 2. 152-154; *Pratiṣṭhāsāroddhāra*, p. 56, vv. 33-36.
4. For some photographs of Vidyādevis in Vimala Vasahi, etc. see, Shah, U. P., *Studies in Jaina Art*, figs, and *Iconography of the Sixteen Jaina Mahāvidyās*, *Journal of the Indian Society of Oriental Art*, Vol. XV, pl. XIII-XVI.

contains miniature paintings of the sixteen Mahā-Vidyās, besides those of Sarasvatī, Ambika, S'rī-Lakṣmī, Brahma-Śanti-yakṣa and Kaparddi-yakṣa. The manuscript is assigned to a date sometime after 1245 A. D. on account of a reference to Vijayasena sūri on one of its folios. [1]

It is difficult to go into detailed iconographic study of these Mahā-vidyās in this short survey. But below are given the vahanas of each of these goddesses in both the sects, also are given wherever possible one or more chief distinguishing symbols which are almost invariably associated with each of these goddesses. Such symbols may help one to identify an image or a painting of the deity even though the number of arms and other symbols may vary. It may however be noted that they have been introduced here as chief distinguishing symbols on the basis of our own study of texts and images but there is no text specifically calling them chief distinguishing symbols.

Rohiṇī in the S've. tradition is generally white in complexion, rides the cow, is four-armed and carries the bow and the arrow and the conch which seem to be her chief symbols. Her fourth hand shows the varada or the rosary.

In the Dig. tradition, Rohini has the lotus as her vāhana, and carries the Kalaśa, the conch, the lotus and the fruit or shows the spear, the lotus, the varada mudrā and the fruit in her four hands.

Six-armed, eight-armed or multi-armed (more than eight, i. e., 12 or 16 arms and so on) varieties of forms of Rohiṇī are also known. It may he noted that the S've text Nirvaṇakalika refers to multi-armed forms of all the sixteen vidyādevis. This may be remembered even though we do not repeat this in the case of all goddesses.

Prajñapti, red in complexion, in the S've. tradition is two-armed, four armed, six-armed, or multi armed and has the peacock as her vāhana. The *Śakt* seems to be her chief distinguishing symbol. Two-armed, she carries the lotus an the *Śakti* in S've. tradition. When four-armed, she shows the *Śakti*, the *Rukkuta*, th *varada* or the trident and the *abhaya* or the citron. In one case she shows the *vajr* the *viara* the *varada* and the fruit in the S've. tradition.

In the Dig. tradition, two-armed Prajnapti, dark-blue in complexion show the sword and the disc and rides the horse. When four-armed, she shows the disc the conch, the *khadga* and the *varda* and rides the horse.

Obviously, Prajñapti of the S've. tradition has close similarity with Kaumārī

1. For illustrations of all these miniatures, see, S. M. Nawab, *Jaina Citrakalpadruma* Vol. I., figures 16-36.

Sometimes it is difficult to distinguish between Cakreśvarī the Vidyādevī and Cakreśvarī the Yakṣī of Ṛṣabhanātha, if the goddess is not shown as S'āsanadevatā accompanying an image of the first Tīrthaṅkara. The iconography of the Cakreśvarī-Vidyā may be compared with that of the Brahmanical goddess Vaiṣṇavī who also holds the *cakra* and has the eagle as her vāhana.

Jāmbūnadā (Dig.) holds the sword and the spear when two-armed, or the sword, the spear, the lotus and the citron when four-armed. The peacock is her vāhana.

The sixth Mahā-Vidyā is called Naradattā or Maha-Puruṣadattā or Puruṣadattā by both the sects. In the Digambara pantheon, the yakṣī of Sumatinātha is known by the same name.

Two-armed, Purusadattā-Vidyā, holds the sword and the shield. Her fierce laughter and dazzling beauty of form are emphasised. She has the buffalo-vāhana.

In the Digambara tradition, however, she holds the *vajra* and the lotus and rides a ruddy goose *(cakravāka)*,

When four-armed, she shows, in the S've. tradition, the *varada* or the *abhaya*, the sword, the citron and the shield. The sword and the shield seem to be her chief distinguishing symbols. But in the Digambara tradition, she carries the *vajra*, the lotus, the conch and the fruit.

The Mahā-Puruṣadattā of S've. iconography, with four or more arms, seems to be an ancient goddess, said to be have been propitiated by Ārya Khapuṭācārya (c. 2nd century A. D., according to Haribhadra Sūri. She offers comparison with the Brahmanical Durgā-Mahiṣamarddinī who is associated with the buffalo and carries the sword and the shield. Durgā and Kātyāyanī are two very ancient popular Indian goddesses who are also referred to in the Jaina Anuyogadvāra-sūtra and its cūrṇi.

Kālī, the seventh Mahāvidyā of both the sects, sits on the lotus, carries the club and the rosary and is dark or blue in complexion according to the S've. tradition, but in the Digambara worship, she is golden, holds the pestle and the sword and rides the deer. When four-armed, she also shows the *abhaya* and the *vajra* in the S've. tradition while in the Digambara tradition she shows the pestle, the sword, the lotus and the fruit. Thus the mace and the pestle seem to be her recognition symbols in the S'vetambara and the Digambara traditions respectively.

Mahākālī is invoked as the eighth Mahā-Vidyā. In the S've. pantheon,

1. *Anuyogadvāra-sūtra*, 20 f; and *cūrṇi*, on it. pp. 24-25, *Anuyogadvāra-sūtra* is said to have been composed by Ārya Rakṣita, in c 600 years after Mahāviras Nirvāṇ.

she has a man as her vāhana, while the bell seems to be her chief recognition symbol. Four-armed and dark in complexion, she shows the *vajra* the fruit, the bell and the rosary.

In the Digambara tradition, she holds the bow, the fruit, the *khaḍga* and the arrow and rides the fabulous animal called *Śarabha* (or sometimes the *aṣṭāpada*).

The S've. Mahā-Kālī may be compared with Kālī of the Brahmanical Pantheon who is black in colour and below whose feet is shown the body of S'iva. An image of Mahākālī from a Jaina temple at Patan (N. Gujarat) actually represents her human vāhana lying prostrate below her left leg.

The eighth Mahā-Vidyā is called Gaurī by both the sects. White or golden in complexion and of a voluminous form, she has the alligator as her vahana and carries the lotus which seems to be her chief symbol. She is either two-armed or four-armed or multi-armed. When four-armed, in the S've. tradition, she rides the *godha* (or somefimes the bull) and shows the pestle, the *varada mudra*, the rosary and the lotus. In the Digambara worship, she carries the lotus in one or more hands, whether two-armed or four-armed.

The Jaina Gaurī is similar to the Brahmanical Gaurī in name as well as in form the lotus and the godhā vāhana seem to be chief distinguishing symbols of the Brahmanical Gaurī and her different forms like Umā and Sāvitrī as described in the Rūpamaṇḍana.

The Jainas were more generous than the Buddhists in their treatment Hindu deities. since the Brahmanical Gaurī,Hari-Hara and other deities received scant courtsey in Buddhist worship. We find Gaurī under the feet of the Buddhist god Trailokyavijaya, alonng with her consort S'iva.[1]

Gaurī is one of the four ancient Mahāvidyās known in Jaina traditions recorded by Jinadāsa Mahattara and Haribhadra Sūri. Gaurī and Gāndhārī are also referred to in the Bṛhat-Kalpa-Bhāṣya. According to Niśītha Bhāsya, Gaurì and Gāndhārī are Mātaṅgavidyās. Mataṅgī, Cāndālī, Gaurī and Gāndhārī could have been originally borrowed from cults of non-Aryan Indian masses. The second Jaina canonical text known as the Sūtrakṛtāṅga-sūtra includes Kaliṅgī, Damilī, Gaurī; Gāndhārī, S'vapākī, Vetālī and others amongst sinful sciences *(pāpaśruta)*.

The tenth Mahāvidyā is known as Gāndhārī and a commentarry on S'obhana-stuti says that Gāndhārī is so called because she was born in Gandhara in a previous birth.

---

1. Bhattacharya, *Benoytosh*, *Elements of Buddhist Iconography* (first ed) pp. 146 ff.

In the S'vetāmbara tradition, Gāndhārī, darkblue in complexion, sits on the lotus and holds the pestle and the *vajra* when two-armed. But in Dig. worship, she rides the tortoise, is dark-blue in complexion, and holds the disc and the sword in her hands. She holds the disc in all the hands. when four-armed, in one Digambara tradition. In S've. worship, however, four-armed Gāndhārī, usually carries the pestle and the *vajra* in two hands while the other two hands show the *varada*, or the citron.

The eleventh Mahāvidyā is variously known as Jvālā, Mahājvālā, Jvalanāyudha, Sarvastra-Mahā-Jvālā, Jvālā-Mālinī in both sects. Hemacandra says that she is called Sarvāstra-Mahā-Jvālā because large flames of fire issue from all her weapons. Both the sects however do not agree regarding the symbols, form and vāhana of this goddess, However her popularity and the common name in both traditions are noteworthy.

Indranandī, a Digambara monk, composed in S'aka 861=939 A. D., a Sanskrit Tantric work called Jvālinī-Kalpa, which, according to him, was bassed on an earlier text of Helācārya. The worship of this goddess is however still earlier in Jainism, since Sanghadāsa gaṇi (c. 400 A. D.) refers to a vidyā called Mahā-Jvālinī or Jvālā-vatī and describes her as *Sarva-vidya-chedinī* (i. e. powerful enough to uproot all rival vidyās), This explains the terrific appearance and nature of the goddess. It may also be noted that Indranandī addresses her as the yakṣi. In Digambara worship Jvālinî is also the name of the Yaksi of the Tīrthaṅkara Candraprabha,

Jvālāmālinî is worshipped as two-armed, four-armed. eight-armed or multi-armed. In the Digambara tradition we have reference to an eight-armed form only. Jvālā or the fire-flame seems to be her chief recognition mark.

Two-armed Jvala is white, rides the cat and carries the fire-brand in both the hands.

Four-armed Mahā-Jvālā rides the cat or the goose or the lion, while in the eight-armed Digambara form she rides the buffalo. When four-armed, she holds the serpent in each of the four hands, or the fire in two hands and the rosary (or *varada mudra*) and the citron in the other two. When eight-armed. she shows the bow, the shield, the sword, the disc and other symbols not specified in the text.

The Buddhist Ekajatā, an emanation of Aksobhya may be compared with this Jain deity. Ekajatā of twenty-four arms is addressed as Vidyut-Jvālā-karāli and carries fierce weapons. A goddess Jvālā-mālini is included in the list of the sixteen Nityās in the Brahmanical Kaula-Tantras.

Mānavi, the twelth Vidyādevi, has the tree as her chief recognition symbol in the S've. traditions, and rests on the lotus. Both the traditions have two-armed

and four-armed forms. But in the Digambara tradition, two-armed Mānavi rides the hog and carries the fish and the trident.

Four-armed Mānavi is dark, sits on the lotus and shows the varada, the pāśa or the tree, the rosary and the tree, or the rosary, the lotus, the *varada* and the pot in the S've. tradition and the fish, the sword, and the trident and in the Digambara tradition where the hog is her vāhana. The fish seems to be her chief symbol in the Digambara tradition.

Varirotyā, the thirteenth Vidyādevī according to both the sects, is a snake-deity, who was probably more popular in earlier times but whose populariry waned with the gradual rise in popularity of another snake-goddess Padmāvatī, the yakṣiṇi of Tirthankara Pārs'vānātha. A Varirotyā-stotra ascribed to an ancient monk Ārya Nandila (c. 2nd Century A.D.) is published.

When two-armed, she carries the snake and the sword, shines with snake-ornaments and is dark in colour. She generally has one or three snake-hoods over head, and rides the cobra. The snake, the sword and the shield seem to be her chief symbols, when four-armed, in S've. worship. The fourth hand shows the *varada* or the rosary. In the Digambara tradition, she rides the lion and carries the snake in four hands.

The fourteenth Vidyādevì is called Acchuptā or Acyutā by the S'vetāmbaras and Acyutā by the Digambaras. She rides the horse. When two-armed, she shows the sword and the bow, in the S've. tradition, and the sword in one hand in the Dig. tradition. When four-armed she shows the arrow, the bow and the sword and the shield (or *varada* and citron) usually in S've. tradition, and the *vajra* in four hands in Digambara tradition. The bow and the arrow seem to be her chief symbol with the S'vetāmbaras.

Mānasī, the fifteenth Mahāvidyā in both the traditions, is golden, rides the swan, and carries the *vajra* in each of her two hands in S'vetāmbara worship. According to Bappabhatti Sūri, she holds the burning *heti* in her hand (or hands). Another tradition refers to her as holding the trident and the rosary. According to the Digambaras, two-armed *Mānasī* is red, has the snake-vāhana and shows both the hands folded in adoration and worship.

When four-armed, she shows the *vajra*, the *vajra* (or *vajra-ghantā*) or the lotus and the *varada* and the rosary usually in S'vetāmbara traditions and the rosary and two folded hands in the Digambara tradition.

The *vajra* seems to be her chief symbol in S'vetāmbara worship.

The last Mahāvidyā is called Mahā-Mānasì by both sects. She is said to ride the lion and carry the sword, according to S'obhana Muni who possibly refers to a two-armed form of S'vetāmbara tradition.

When four-armed, she rides the lion and generally shows the sword, the

shield, the kundika (gourd or water-pot) and the jewel or the *varada mudra* in her hands in S'vetāmbara tradition and the *varada*, the rosary, the gourd and the garland in Digambara tradition. Sometimes her two hands are shown folded in the Digambara tradition.

The foregoing discussion shows the popularity of Vidyādevīs in the Jaina Tantric worship. In most cases, names of Digambara yakṣīs are identical with those of the Vidyādevīs, but the Mahā-Vidyās, are known from earlier text traditions, and are, therefore, earlier than the different yakṣiṇīs.

The S'vetāmbara text Nirvanakalikā describes a multi-armed form of each f the Mahā-Vidyās and refers to a special Mudrās for each of them. Names of these Mudrās would seem to suggest to modern students, the chief recognition symbol of each of them. It may be noted here that the chief recognition symbols noted by us in the above discussion are not mentioned as such by Jaina writers but we have drawn these tentative conclusions from our study of Jaina texts and images.[1]

It is not proper to associate these Vidyā-devīs with the Goddess of (Learning (Sarasvati or S'rutadevatā) because of the name Vidya-devata given to them. There is no textual support to this view of some modern scholars.

Mediaeval Jaina ritual at least had incorporated worship of the eight Dikpālas, the nine Planets and the eight Mātṛkās well known to Brahamanical iconography. Figures of planets are often found on pedestals of Tīrthankara images in Western India and on two sides of the Tīrthankara in several sculptures from Eastern India. Figures of Mātṛkās are very rare though they find a place in Jaina rituals. These gods and goddesses had been popular amongst the masses of India and the different principal religious sects of India had to introduce them to please the laity. Ksetrapāla, the Guardian of the kṣetra (land or place) is another such Indian deity of long standing who also finds a place in Jaina worship.[2]

The Brahmaśānti-Yakṣa (S've.) or the Brahma Yakṣa (Dig.) and the Kaparddī Yakṣa (S've) deserve special notice as they seem to be Jaina versions of the Hindu Brahmā (as S've, Brahmaśānti) or Śātsā (as Dig. Brahmā Yakṣa) and Śiva-Sūlapāni-Kaparddī (as S've. Kaparddi Yakṣa).[3] Brahma-Śānti usually wears a beard, a jaṭāmukuta. a sacred-thread and sandals, and carries the rosary, the staff or the laddle, the *Kuṇdika* and the *Chatra* (umbrella), in his four hands. The swan is generally shown as his vahana. Sometimes he has the bull vehicle.

1. For a more detailed study of these goddesses, see, Shah, U. P., *Iconography of the sixteen Maha-Vidyas, Journal of the Indian Society of Oriental Art*, Vol. XV pp. 114-177, and Shah, U. P., *A peep into History of Tantra in Early Jaina Literature, Bharata Kaumudi*, Vol. 11. pp. 839 ff.
2. See. Shah, U. P., Studies in Jaina Art, Fig. 47
3. For a detailed study. please refer to Shah U. P. *Brahma-Śānti and Kaparddi-Yaksa*, Journal of *M. S. University of Baroda*, Vol. VII. No. *Matan* the 1958), pp. 59-72, with plates.

An Introduction to the Iconography of the JAIN GODDESS PADMAVATI

European researches on the symbolism of the serpent resulted in connecting it with the Sun, Time or Eternity. From its connection with the sun-spirit, it came to signify enlightenment and creation. But while there is general agreement in accepting the order in the symbolic objects adored by man, as given by Gen. Forlong in his "Rivers of Life", wherein the serpent comes the third, the Tree and the Phallic preceding in order, there is reason to doubt the theory that 'gods and men transformed themselves into trees, plants, or beasts'[1]. It is rather that the process was quite the reverse and the ancient thinkers found in the quick movement, spiritedness etc , e. g., in the serpent, a reflection of the dynamicity of human life, its ideas of growth and expansion. Subsequently, human thought tried to assimilate such objects, sensate or insensate, as were met with readily and could attract, their attention as the embodiment and source of life and its essence.

The tradition of serpent-worship in India is very old being traceable to the *Atharvaveda, nay,* even to some obscure passages in the *Rgveda* itself.[2] The word 'sarpa' occurs only once in the Rgveda and that the tenth *maṇḍāla* of the *Samhitā*[3]. Although there is much doubt as to the meaning of the term, the word '*ahi*' meaning

---

1. C. S. Wake - *Serpent Worship*, p. 6.
2. Rgveda - x. 189. 1-3—
   Ayaṁ gauh prsnirakramidasadanmātaraṁ purāh pitrraṁ ca prāyantsvah etc. of Sāyaṅa on the above Sūkta : *ayaṁgauriti tṛcamastatriṁśat Sūktam* I *gāyatram* 1 *sarparājñi nāma ṛṣikā saiva devatā sūryo veti tathā cānukrāntaṁ āyaṁ gauh sarparājnyātmadaivatam sauryam veti* .... *yadā tvidam suktam sarparājnyā ātmastutiḥ tadā sūryātmanā stūyata ityavagantavyam.*
   The term Sarparājñi has no direct connection with the snakes and according to Sàyana Sarparajñi was to be identified with the Earth-goddess or the Sun-god. Mahìdhara, another commentator, however, goes so far as to suggest that she was none else than Kadrū, the serpent-mother, in the form of the earth.
   Cf. *Śatapatha Bràhmana* II. pp. 28-9. See, also, N. K. Bhattasali—*Iconography* of *Buddhist* and *Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum*. p. 212 ff.
3. Rv. X. 16, 6

a serpent is comparatively more frequent in these portions of the text. The most conspicous feature of this tradition is that earliest reference to the serpent in the Ṛgveda is in the form of the enemy of Indra. *Ahi* or *Ahi budhnya* of the Ṛgveda is but another, and perhaps milder form of the great enemy of Indra, viz., Vṛtra, the serpent. This demoniac feature of the serpent was later in the Brāhmaṇas[1] and the Sūtraś metamorphosed into the semi-divine character attributed to it when it is classed with Gandharva etc. It is here also that we meet with the term *Nāga* for the first time, attended with anthrohomorphic features. It is also noteworthy that both in the Saṁhitās and Sūtras it is the virile male energy that is embodied in the enemy of Indra, called Ahi. The transformation of the masculine personality into the feminine was the achievement of the epic writers with whom the serpent was the embodiment of the principle of creation and preservation. It is perhaps because of this that the tradition in its later phase centres round the worship of a female deity as the serpent goddess. The name 'Sarpa' in the masculine finds mention in some verses in the *Vājasaneya saṁhitā* of the White Yajnrveda where according to the commentator Mahidhra, it means just a heavenly or a terrestrial or even an atmospheric 'abode'[2].

In the epic age which, of course, had a big gap after the Vedic, extending over several centuries this tradition and the cult assumed a shape which pervaded the entire mythological setting of Āryāvarta of the time. The snake-sacrifice of Janamejaya is a major episode in the drama of entire heroic poetry that had grown up round the Kuru-battle. Although we have in Vāsuki, the king of the serpents, we see in his sister Jaratkāru, the serpent goddess in the making. Vasukiś sister Jaratkāru and wife of the sage of the same name was the mother of Astika and this latter conception was responsible for the important position she came to occupy in Hindu mythology as the pressiding deity over the serpent spirits. But the person that actually had been endowed with the power of curing snake-bite was Kaśyapa. It is again, Kadrū that is associated with the serpents as their mother. It seems therefore, that the mythological ideologies, as current in the epic developed in a modifed form in later ages and emerged in the Purāṇas in a new light. Thus the female serpent-Goddesss Manasā as we find in the *Brahmavaivorta. Purāṇa* the earliest *Purāṇa* to mention her, is ideologically a combination of the

1. The higher creation is divided into the following classes : gods, men, Gandharvas, Apsarasas, Sarpas, and Manes. Cf. *Aitareya Brāhmana* III. 31. 5

2. Wh. Yv. ch. 13 Kundika 6-8—*'naamośtu sarpebhyo ye ke ca' prthivīmanu ye antarikse ye divi tebhyah sarpebhyo namah* etc On the above Mahidhara says : *ime vai lokah sarpāh iti surteh sarpaśabdena lokā ucyante.*

above personal features.[1] While *Kadrū* is conceived as the wife of the sage Kaśyapa, the Primordial male creation, Mānasā came to be regarded as the daughter of Siva in later mythology, Siva of course, being the energy to whom the destruction of the Universe is attributed. Thus although in a stotra in the *Bhaviṣya Purāṇa* we have the assertion that she is mind-born one of Kaśyapa, her origin from the seed of Śiva has also found much favour with the puranites. The above two concepts, again, were reconciled greatly in the *Brahmavaivarta Purāna* where she is called the mind-born of Kasyapa and the spiritual daughter of Siva.[2] In the Pauranic age the serpent-chief Sesa is sometimes associated or identical with Balarama who is represented as having a serpent-wreath and a club in hand.[3] In medieval sculptures, too, images of Balarama are found bearing the canopy of a seven-hooded serpent.[4]

The conception of Manasa or Padma as a serpent Goddess, is, however, a very late development, The lotus symbol was primarily associated with the Goddess of wealth, Laksmi. The images of certain other Vishnuite gods and goddesses also exhibit the same symbol. The mythological account of Narayana himself having a lotus-stalk rising up from his navel is certainly not very early, and it was at first the Lokapita Prajapati Brahma that was lotus-seated. In art too, such representation can not go further than the 5th or the 6th century A. D.[5] The name Padmā is certainly reminiscent of her intimate association with the lotus.[6]

---

1. The Dhyana in the *Tithitattvaṭīkā* definitely identifies Jaratkāru with the serpent-goddess Manasā, although in earliar mythology Jaratkāru has nothing to claim the status of serpent-deity. The description of serpent-ornaments, of her holding a pair of Nāgas in her two hands, makes it clear that the reference is to the serpent goddess who is further called Āstikamātā which latter epithet, on the other hand, makes her identical with Jaratkāru.
   Cf. Hemāmbhojanibhāṁ lasadviṣadharālaṁkāra saṁśobhitām Smerāsyām parito mahoragaganaih samsevyamānāṁsadā I Devīmāstikamātaraṁ śiśusutāṁ āpīnatuṅgastanīm Hastāmbhojayugena nāga-yugalam sambibhratīmāśraye II
2. *Brahmavaivarta Purāna*, *Prakṛti khandam, ch.* 45, *v. 2—cf. Kanyā sā ca Bhagavāti kāśyapasyā ca mānasī Teneyam Manasā devī manasā yā ca divyati. 2,* also, *Śiva-Śisyā ca sā devī tena Śaivīti kīrtitā, 8.*
3. *Mahābhārata*, XIII. 147, 54 ff.
4. The figure from Bodoh in Gwalior, of Balarāma, belonging to the medieval period is canopied by a sevenhooded serpent. *Vide,* pl. XVIII—*A guide to the Archaeological Museum at Gwalior.*
5. A. K. Coomaraswamy : *Elements of Buddhist Iconography*, P. 68.
6. It is interesting to note that as many as nine of the 15 Manasā images preserved in the Varendra Research Society, have been collected from a tank called Padumshahar in Dist. Rajshahi, *vide*, Cat., Varendra Research Society, p. 30.

In the Purāṇa literature, at least in its later phase, Padmā, as mentioned along with Sarasvatī, the Goddess of Learning, has no other significance than that of Lakṣmī, the Goddess of Wealth.[1] Indeed; the commonest *dhyāna* of the goddess makes her ride on a swan.[2] the popular *vāhana* of Sarasvati. The fact of her attaining the knowledge of Brahmā in the form of the Earth, as already mentioned above, bespeaks of this connection with Brahmāṇī or Sarasvati.

The Buddhists too knew of the serpent-goddess under the name *Jāṅguli.* She is perhaps the nearest approach iconographically speaking, to the Jaina Goddess Padmāvatī. Jāṅguli as the snake-Goddess emanates from Akṣobhya, the 2nd Dhyāni Buddha, Like Padmāvati she is the Goddess curing snake-bites and also preventing it. According to a Saṅgīti in the *Sādhanamālā*, Jāṅguli is as old as Buddha Himself who is said to have given to Ānanda the secret mantra for her worship. It is worthy of note that Jāṅguli has been called in the *Sādhanamālā*, a Tārā i. e., a variety of the latter.[3] It is indeed curious that Janguli should be so called in Buddhist tradition also. We know, of the eight kinds of "fear" which are dispelled by Tārā, to which fact she owes her name, the fear from serpent is one.[4] That Padmāvatī is but the same goddess in Jaina pantheon as Tārā is in the Buddhist, is also stated clearly in the *Padmāvatistotram.*[5] We know, however, that the group of goddess going by the name of Tārā is generally an emanation of Amoghasiddhi. In the *Sādhanamālā* Amoghasiddhi, the 4th or according to the Nepalese Buddhists, the 5th Dhyāni Buddha, has for his *vāhana*, a pair of Garudas. Although according to the Pauranic mythology, Garuda and the serpents are mutually intolerant of each other,

1. *Agni Purāṇa*, XLII. 7-8.
   cf. *Nairrtyāmambikām sthāpya Vāyavye tu Sarasvatīm Padmāmaise Vāsudevam madhye Nārāyanañca vā* etc.
2. *Bhavisya Purāna—*
   cf. *Hamsārūdhamudārāmaruṇitavasanām sarvadām sarvadaiva.*.
3. B. Bhattacharyya : *Indian Buddhist Iconography*, p. 185, also, Foucher : *E'tude Sur l' Iconographie Bouddhique de l' Inde, p. 89*
4. The writer owes this suggestion to the kindness of Dr. J. N. Banerjee, M. A., Ph. D., Lecturer, Calcutta University, who has drawn his attention to this current etymology of Tārā. We should also note that Jāṅgulika came to mean poison-curer in general in later lexicons. See, *Amarakoṣa*, *Pātālavarga*, 11.
5. Cf. Tārā tvam Sugatāgame Bhagavatī Gaurīti Śaivāgame Vajrā Kaulikasāsane Jinamate Padmāvatī viśrutā. Gāyatrī Srutaśālinām Prakṛtirityuktàsi Sāṃkhyāyane Mātar-Bhārati kim prabhūtabhaṇitairvyāptam samastaṃ tvayā, 19

Is. No. 27 in the Buddreedass Temple Collection; cf. also, Tārā mānavimarddinī Bhagavatī Devī ca Padmāvatī 27. *Ibid*, Also. App. V, *Bhairava-Padmāvati-kalpa*, P. 28.

their close relation, too, can hardly be denied. In fact, notwithstanding the description in the *Sādhanamālā* representations of Amoghasiddhi have been found wherein a sevenhooded serpent forms the back-ground of the main image, in the form of an umbrella.[1] The number of the hoods is very significant. It bears close resemblance to the representation of Pārśvanātha who must have either three, seven or eleven hoods as his canopy. These numbers are to be the distinguishing features in recognising a figure of Pārśvanātha as distinct from those of Supārśvanātha whose canopy of serpent-hood must be either 1, 5 or 9 hoods.[2]

The name Jānguli of the Buddhist goddess most probably suggests her popular origin, as the goddess of the forest-sides or more properly a rural goddess.

Janguli as a snake goddess curing snake-bite or preventing it, is not, however, altogether unknown to the Jains. Reference to her in their literature are numerous. It is not unlikely too, that apart from the conception of Padmāvati, Jānguli had an important place in Jaina mythology. A ms. dated sam. 1546 i. e., 1489 A. D. from Jesalmere mentions,[3] her name as a snake-goddess.[4] Buddhist Tantricism came to have any perceptible influence on Indian mind not before the 8th cent. of the Christian era. On the evidence of Tāranātha on which the above conclusion is based, it was the 7th and the 8th centuries which saw the emergence of Tantricism in India specially in eastern parts thereof, notably Bengal. Tantricism which is characterised by the worship of female energy is further said to have been diffused through such cults as Sahaja–Yāna which found its first exponent in Lakṣmīdevi, daughter of Indrabhūti, who, according to a Tibetan tradition, flourished about the eighth cent. A. D.[5] The feminine spirit as the presiding deity over the snakes is the product of this Tantricism and her form as conceived in Buddhist ritualistic texts had not altogether failed to leave its mark on the other Indian religious sects. The text referred to above is said to have been composed in Sam. 1352 or 1295 A. D. by Jinaprabha Suri.[6] Thus it is clear that as early as the 13th cent. A. D. and most certainly a few centuries earlier the Buddhist serpent goddess Jānguli was

1. B. Bhattacharyya : *Indian Buddhist Iconography*, p. 5. pl. VIII. c.
2. B. C. Bhattacharyya : *Jaina Iconography*, pp. 60 & 82.
3. Compare the *ms.* in the Buddreedass Temple Collection.
4. Cf. *Durdāntaśabdikṁmanyadarpasarpaika-Jāngulī. Nityam jagarti jihvāgre viseṣavidusāmiyam.* 2
5. For a detailed discussion, see, *Indian Buddhist Iconography*, introduction, p. XXVI.
6. Cf. *Pakṣeṣu śakti śaśibhṛnmita-vikramābde dhātryoṅkite*

   haratithau purī yoginīnām

   Kātantrabibhrama iba vyatanista ṭīkāmapraudhadhīrapi

   Jinaprabhasūriretām 2

also familiar to the Jaina writers although as a distinct goddess in any definite iconic orm she was not known to the latter. The form of Janguli as a deity appearing along with the central figure of Khadiravani Tārā is best illustrated in a miniature painting on a 9th cent. ms. of *Pañcavim-Śatisahasrikā Projnāpāramita* preserved in the Museum and Picture Gallery, Baroda. The figure of Janguli on the right is two-handed and has a canopy of five hoods of a serpent with a halo at the back. The left hand holds a serpent while the right hand seems to hold a *vajra*. Her seat appears to be a coiled serpent.[1] What, however, is the iconographic form of Jānguli in Jainism is not very clear either in the texts or in any extant image thereof.

We may also draw the attention of scholars to the fact that the conception of Padmā or Visaharī as being accompanied by the Eight principal Nāgas, regarded as her sons, as given in the *Padma purana* of Vijaya Gupta as also the*Bhvaisya Purana*,[2] has found an exact counterpart in the conception of Śuklā Kurukullā, a Goddess emanating from Dhyāni Buddha Amitābha, who has been described as a being attended on by the Eight Nāgas,—Ananta, Vāsuki. Taksaka, Karkotaka, Padma, Mahāpadma, Śānkhapāla and Kulikā, each having a distinct colour of its own.[3] The names of these Eight Nagas tally[4] exactly with the names given in the *Tithitatva* of Raghunanda.[5] The names of the Eight Nāgas also tally with those given in X 14 of *Bhairva-Padmavatīkalpa*. The iconographic descriptions of these Eigth Nagas are given as follows in X, 15-16 of the *Bhairava-Padmavatikalpa* of Malliṣeṇa:[6] Vāsuki and Śànkha, born of kṣatriya clan are of red colour, Karkota and Padma born of Sūdra clan are black in colour. Ananta and Kulika of the Brahmin clan possess white colour like the moon-stone and Takṣaka and Mahāpadma of the Vaiśya clan have yellow colour. In fact, the mutual influence of the Buddhist

1. See the ms. exhibited at the Picture Gallery, Baroda State Museum, Baroda.
2. Cf. *Astānīgasahita mā esa Padmapuràna* (3rd Ed. by Pearymohaṇ Dasgupta), P. 2; and *Vandéham sàstanàgàmurukucayugalâm yaginim kámarūpàm-Bhavisya Puràṇa*.
3. *Indian Bud hist Iconography*, p. 56.
4. A slight difference in the names of Eight Nâgas is, however, to be noticed in the *Adbhuta-Padmāvatī-kolpa*, IV, 49. cf. Vāgvîjakasritattvadyā ntanamah syustanantavāsukinau' Taksaka-Karkotaka-Kamala-Mahākamala-Sankha-Kulijayāstadadhaḥ.
5. *Tithitatva*, (Ed. by Mathuranath Sarma), O. 135.
6. Compare the present writer's article on the date of the *Bhairava-Padmāvati-kalpa* in the *Indian Culture*, Vol. XI, No. 4. The date according to the calculations made therein based on synchronisms with other works of Mallisena, who was a Digambara Jain writer, falls sometime in the second quarter of the 11th cent. A. D,

Kurukulla and Jaina Padmavati is very prominent as the *Bhiarva-Paadmavatlpa* itself mentions Kurukullā in X. 41.[1]

We may, however, discuss here as to whether these Nāgas are really nothing other than water-symbols as has been supposed by Coomaraswamy. No doubt the names of some of these so called Nāgas, go to strengthen the above view, yet it is very significant that Padmā as the Goddess of Wealth and Prosperity, being identical with the deity known as Śri, most naturally had the *ādhāra* or constituent elements in the accepted eight kinds of treasures of *nidhis* in the shape of Padma, Mahāpadma, Makara, Kacchapa, Mukunda, Nīla, Nanda and Śankha. It also stands to reason to suppose that the *nidhis* came to be identified with serpents because of the fact that the principal kinds of snakes had each a special variety of jewel on its hood, and that the snakes being residents of the nether regions were aptly considered the carriers of them from out of waters, the ocean or *ratnakara* as it is significantly known.[2] The transformation, thus, of the wealth-goddess Laxmī into Padmā, the serpent goddess, entailed a necessary change of the eight kinds of treasures into the eight kinds of Nagas or serpents, and we know Goddess Laxmi was born out of the ocean, the abode of both the *nidhis* or treasures and the serpents.

As a serpent Goddess Padmavati is perhaps the most popular figure in the Jaina pantheon. From a study of the general description and the list of the boons conferred by her, one can easily recognise in her the most homely of Jaina goddesses. Even at a stage of development of her personality into an independent deity from the status of the *Śāsanadevi* of Pārśvanātha, we are constantly reminded of the fact of her origin, although a study of the numerous *stotras* in her honour and the elaborate system of ritual that had grown up round her worship as also the varied objects prayed for and apparently she was capable of bestowing on the devotee, leaves but little doubt about the important position as an independent and influential goddess, she had risen to occupy in the Jaina pantheon.

In order to make a study of the iconography of Padmavati or any other god or goddess it is imperative to make an investigation about her affiliation to any of the Highest Divinities of the mythology concerned. It is interesting, however, that in the case of Padmāvati, she has been most systematically affiliated to one or other of the Higher Divinities either in Brahmanism, Buddhism or in Jainism. Not only

1. *Bhairava-Padmāvatī*-Kalpa, X. 41.

2 Cf. Padmini nāma yā vidyā Laksmīstasyādhidevatā Tadādhārasca nidhayastān me nigadatah śṛṇu Tatra Padma-Mahapadmau tathi Makara Kacchapau Mukunda-Nīlau Nandasca Sankhascaivāstamo nidhīḥ—*Sabdakalpadruma* quoting from Bharata; cf. also,

J. N. Banerji : *The Development of Hindu Iconography*, p. 116, fn. 1.

that there is ideological similarity among all these Higher Divinities to whom the serpent goddess is affiliated in all the three principal religious systems of India. We have already discussed to some extent the connection of Jānguli and Śuklā Kurukullā with Akṣobhya and Amitābha whose emanations they are taken to be and are often represented in art as bearing their effigies on the aureole behind or on the crest. (Reference may also be made in this connection to an inscription of the 2nd cent. B. C. which mentions an apsaras Padmavati as being an attendance on the Buddha after his enlightenment. The inscription was found on one of the Barhut gateways in Central India. The name Padmāvati, further, as that of the capital cities of Nāga kings who flourished in the 3rd cent. A. D., is also significant. It is mentioned in the *Vishnu Purāna* and the entire scene of the play *Malatimādhava* by Bhavabhnti is laid in that city.[1]) The connection of the eight Nāgas as attendants on Amitābha, the Dhyāni Buddha for Suikta Kurukullā is also to be compared with the conception according to which Padmāvati is attended on by the same Eight Nāgas, both according to the Brahmanic and the Jain mythology.[2] In the *Padmapurana,* cited above, whose date according to data given in the text itself falls sometime in the latter half of the 15th cent. A. D.[3] says that Padmāvati was the daughter of Hara.[4] The dhyāna of Manasā or Padmā as given in the Bhavisya Purāna calls her Mahesā (of *Devim Padmām Maheṣām sasadharavadanam* etc.) in the *Padmāvatistotram* of the Jains too, Padmāvati is called a 'Maha-Bhairvi' which speaks of her connection with the Saiva mythology, Bhairava being a name for Śiva. The iconographic details, according to the epics, of Hara wherein He is connected with a serpent coil are too wellknown to need mention here. This conception of Padmāvati as the daughter of Hara has a close similarity in the conception, in Jaina mythology, of Padmāvati as the Yaksini of Parāvanātha who has a seven-hooded serpent as a canopy. In Buddhist ideology, too, as we have already noticed, Amoghasiddhi as the sire of Tārā, who has been compared with Padmāvati ,has sevenhooded serpent as his caropy The number seven of the hoods of the serpent forming the canopy is indeed very significant. Although more easily connected

1. The site of Padmāvati, by M. B. Garde, A. S. I., Ann. Rep. 1915-16, pp. 104-5.
2. See, ante; also, *Padmapurāna*, p. 2 and *Bhavisya Purāṇa*, also *Bhairava-Padmavati-kalpa*, X. 14.
3. Cf. Rtu-sūnya-veda-śaśi-parimita śak Sulatān Hosen sāha nṛpatitilak.
   -*Pdmapurāṇa*. p. 4.

The date however is disputed. Another ms. of the same text has : 'Ṛtuśaśivedaśaśi... which gives a date 1416 Sak.(1494 A.D.) as opposed to 1406 Sak. (1484 A.D.) given in the verse quoted above.

4. Cf. *Harsite pṛthivite nāmila Hara-sutā Āsanacāpiyā vase Devi Harer duhitā.*
   --*Ibid*, p. 2

with the Saiva-myths, Pārśvanethā in order to be given the prominence he deserves in Jain faith, has been endowed with this seven-hooded canopy, for, in the Hindu tradition the exalted form of Visṇu has the seven-headed heavenly Nāga unlike the earthly Cobra of Śiva. This shows, if anything, that while the Jain assimilates the Ṣaiva character in regard to the general myths about serpentdeities and their worship, yet it can not do away with the conception of the celestial seven-headed Sesa when any consideration for an exalted form of a deity and its imagery was taken up.[1]

It is interesting, however, to note that according to a Digambara tradition the icon of Padmāvati is to have on her crest the effigy of the Lord of the serpents. The Svetāmbara text *Bhairova-Podmāvatikalpa* of Malliṣeṇa thus gives a description of the goddess :

Pannagàdhipaśekharām vipulārunāmbujavistarām Kurutoragavāhanāmaruṅaprabhāṁ kamalānanām Tryambakām varadāṅkusayatapasadivyaphalankitām Cintayet kamalāvatīm japatām satām phaladāyinim II. 12

Although, we know, it is usual in Buddhist iconography, to represent the figure of the Sire, on the head, crown or the aureole at their back, of their emanations, in Jain iconography it is the figure of the Lord of the serpents Dharanendra, who has been conceived of as the consort of Padmavati,[2] and not Pārśvnāth that is to be represented on the sekhara of the image of Padmāvati *Sasanadevatam* as emanations of the respective Tirthankaras seem to be a later development in Jain mythology. These were originally the principal converts, male and female, who as zealous defenders of the faith were to be associated with each Tīrthankara with

1. For a detailed discussion about the origin and development of the serpent-cult the reader is referred to serpent-worship. vide. C.S. Wake; *The origin of Serpent worship*, ch. III, pp. 81 ff. Here the author has also given a summary of the arguments by R. Brown, who contends that the serpent-worship has a closer connection with solar mythology. Vide, R. Brown : *The Great Dionysiak Myth*, 1878, ii. 66

For a discussion of the number of hoods in the canopy, see *infra*.

2. Cf. *Pdmāvatī pātu phaṇīndra-patnī*, 28.
--*Padmavati-stotram*, loc. cit.

The 'Pannagdhipa' referred to in the above verse may as well and more consistently refer to Pārśvanātha who is primarily the duty of serpents (Pannaga). This is also in consonance with the numerous representations of the serpent-goddess Padmvati shown with the effigy of Pārśvantha on the crest or on the aureole On the other hand no image or painting of Padmāvati is found with Dharaṇendra shown on the crest or the aureole.

whom some mythological stories or legends are related to connect them. The *Pravacanasaroddhara* telling of the character of a Yaksa only lays down that they are none but sincere adherents to the faith. The *Pratisthākalpa* says thar a *sāsanadevatā* is one that upholds the knowledge preached by Jina.[1] The *Ācāradinakara* of Vardhamāna Sūri characterises Yaksas as those that maintained and guarded the Śrī Sangha of the Jains.[2] We may draw attention to the Gaṇadhara-cult in Jainism. With somewhat similar, if not the same, zeal Gaṇadharas, the main converts to the faith and the principal disciples, are offered worship and much in the same way as the *Śasandevas* represented in art. Thus Gautama, the Gaṇadhra of Mahāvira is offered worship in connection with the worship of Pārśvanātha and Padmāvati.[3]

A Yaksa, however, came to be regarded as an emanation of the particular Tīrthankara to whom one was attached as his Śāsanadeva. By about the 11th cent. A. D. this was firmly established as we find in the *Nirvaṇakalika* of Pādalipta Sūri mention of the Yakṣas as emanations of the Tirthankaras.[4] It is, however, to be borne in mind that the name Yakṣa as originally used in connection with the *sāsanaadevatas* of the Tìrthankaras, came gradually to signify a higher status than its more commonplace use does. We may refer here to the *kāya*-theory of the Buddhists who adopting the principle of the *Tri-kāya* suppose that each Buddha has a three-fold *kaya* or body i. e., aspect. In virtue of these 'aspects' or natures there are three distinct manifestations or existences of each Buddha on earth, in Nirvāṇa and in the heavens respectively. These aspects are '*Nirmāṇa-kaya*' or the body of Tranformation' which is according to some scholars a magical' body or an illusion,[5] *Dharma-kayā* or state or body of essential purity, and *Sambhoga-kāya* or body of supreme Happiness. These three states of existence are characterised by practical Bodhi, essential Bodhi and reflected Bodhi, respectively. And this *kāya*-theory is responsible for regarding the Mānushi-Buddha as an emanation from the Dhyāni-Buddha. For the Dhyāni-Buddha as an embodiment of absolute purity

---

1. Cf. *Yā Pātuśāsanam Jainam sadyaḥ pratyūhanāśinī* . bhūyātśāsandevatā-quoted in Jaina Iconography, p. 92.
2. Cf. Ye kevale suragane milite Jināgre Śrīsaṁgharaksaṇavicaksanatām vidadhyuh. Yaksāsta eva paramarddhivivrddhibhāja āyāntu santahṛdayā Jina-pūjanerra --*Ācāradinakara*, p. 173.
3. Cf. Om Hrīṁ aiṁ śrī Śrī-Gautamaganarājāya svāhā. --*Bhairava-Padmāvati-kalpa*, App. VIII. p 56.
4. *Nirvānakalikā*.(Ed. bv M. B. Zaveri). P. 34.

immortal abstraction. The necessity for this manifestation lay in the fact of the Manushi Buddha as the mortal ascetic preaching the Law on earth and helping its preservation in that way.[1] Although there is great difference in the fundamentals of the two theories of emanation as obtained in Buddhism, put forth above and as in Jainism, as implied in the concept of the Śāsanadevas, the function of the preaching, or more properly of the preservation, of the Law is generally attributed to the forms emanating, in both, And although this common attribute was tnere, the difference, nevertheless, was very much conspicuous, as also was it inevitable because of the fact that in the Buddhist the divine mystic element was predominent while in the Jaina it is the human. Consequently what we easily find an easy transformation in the case of Buddhas, in the Jaina it is merely a case of divinity put on earthly persons, and making him just adorable as a Servant of the Faith. Moreover, a Yakṣa or a Yakṣini as was the name obtainable with regard to the *sāsanadevatās*, was quite different from the Yakṣa of usual significance and application. In fact, a Yakṣa or a Yakṣini originally attached as such to a Tirthankara came to be attended on by other Yaksas and Yakṣinis, where in the latter application the term seems to have retained its usual sense of a demi-god.[2] Thus we find in the growth of Jain mythology Padmāvati was in the first stage a *Śasanadevata* attached to the 23rd Tirthankara, Pārsvanatha,[3] but afterwards raised to the status of an independent deity who received worship as a serpent goddess curing snake-bites as also as a deity to be invoked for such purposes as *marana, uccāṭaṇa, vaśikāaṇa* etc.

The iconographic details of Padmāvati are wide and varied. The *Padmāvatī-stotram* of an anonymous writer conceives her as the Ādimātā or the Primordial Power, the Âdi-sakti. She is also identified with almost all the important goddesses in Jain mythology. In other words, Padmāvati has been conceived of as the Primordial Power, the source and fountain-head of all the different powers or Presiding deities represented as so many goddesses in the hierarchy of the Jain pantheon.

---

1. For a fuller discussion on the theory of *Trikāya* and its implications vide A. Getty : *The Gods of Northern Buddhism*, pp. 10-12.

2. Padmāvati, herself originally a Yaksinī of Pārśvanātha is said to have been attended on by Yaksas and Siddhas, See, V. 3. p. 31. App., *Bhairava-Padmāvati-kalpa;* here, however, Yaksa seems to have a common-place significance of a demi-god.

3. Thus in the invocatory verse (*āhvāna-sloka*) in the *Padmāvatīstotram*, we find the goddess still regarded as the presiding deity over the sermon preached by the Lord although she has attached a far greater importance as an independent deity in some work.
   Cf. *Padmāvatī jayati* *śāsanapuṇyalaksmīh.*

THE TEMPLE OF MAHAVIRA AT AHAR

Ahar (Āhaḍ), Āghāṭa of the Medieaval times, was the capital of the Guhilas of Mewar (Mevāḍa i. e. Medapāṭa) since the middle of tenth century when Allaṭa is said to have transferred his seat from Nagada (Nagahṛda)[1]. Ahar acted as the hub of architectural activities in Mewar for a full quarter of a century. It seems to have lost its importance soon after A. D. 980 around which date Guhila Śaktikumāra suffered reverses at the hands of Paramāra Muñja of Dhārā.

The three decades in question must have been very brilliant for Ahar as attested by the ruins and fragments of some of the splendid temples of the Medapāta school of Mahā-Gurajara style of Western Indian temple architecture. The Viṣṇu Temple (the so called Meerā's Temple) has been dwelt upon by R. C. Agrawal *(Arts Asiatique, Tome XI 1965, F2)*: the remaining Brahmanical and four Jaina temples are being studied by Prakash Bapna of Government Museum, Udaipur. I have, for the purpose of this felecitation volume dedicated to Muni Jinavijaya, selected for discussion the Temple of Mahāvira (now going by the name of Kesariyāji) as a tribute on my part to the services rendered to the fields of Indology and Indian Archaeology by the great Muni.

The Temple under reference is one of the two northerly oriented Jaina temples situated to the south of Viṣṇu Temple across the causeway leading to the main bazar of the town.

The Temple stands on a high Jagatī (terrace) now thoroughly renovated except at the main, southern entrance. The two Devakulikās (chapels) flanking the storied Valānaka (portal), though old, do not belong to the complex of the Jaina temple, They were transferred, possibly in late 15th century (during the time of Mahārāṇā Rājamalla) from their original location near the Brahmanical kuṇḍa and re-erected here. The doorframe of the portal is of the same later period, being a substitution for the original one; the engaged pillars flanking the doorframe are, however, as old as, and formed the integral part of the original temple located up inside.

The Temple comprises the Mūlaprāsāda (Shrine proper, Gūḍhamaṇḍapa (closed Hall), Mukhamaṇḍapa (vestibule), the Raṅgamaṇḍapa (Dancing Hall) and two Bhadra-prāsādas attached to the either transept of the Rangamaṇḍapa.

1. This tradition, however, needs confirmation.

date of the image of Cakreśvari. The presence of Jivantasvāmi indicates that the temple was dedicated to Jina Mahāvira.

The pillars of the Mukhamaṇḍapa are simple. The pilasters inside the Gūḍhamaṇḍapa, the doorframe, as well as the image call for no special remarks. The large magnificent *parikara* (frame) with two bold lions flanking the edge-wise *dharmacakr* is certainly old.

The *śikhara* over the Mūlaprāsāda is new. The Gūḍhamaṇḍapa has likewise lost its original superstructure. The Raṅgamaṇḍapa and the two Bhadraprāsadās are of later age, possibly of late fifteenth century.

The Temple has an *entourage* of Devakulikās around the Raṅgamaṇḍapa. Except one illustrated in Fig. 8, none are contemporary with the Mūlaprāsāda. Its decorative details closely agree with those on the Mūlaprāsāda. Dikpālas, *apsaras* and *Vyāls* feature here also. A seated Jina figure graces the *bhadra* niche.

As for the date of the Mūlaprāsāda and the last-noted Devakulikā late tenth century seems a most plausible guess. The Dikpālas with two-arms, the *vyālas* in *salilāntras* (recessioned corners), the ture *śirṣapaṭṭikā*, the square, complex, *bharṇi* and the absence of *kutacchādya* (ribbed aning) a top the *mṇḍovara* are features characteristical of that age. The presence of *karṇikà* in the *pìtha*, *ardharatna* on the *kumbha*-faces, and the general suavity of the figure sculptures indicate that the dawn of eleventh century is not far, and the temple is younger only by a few years than the Viśṇu Temple. Belonging thus with the group of temples of the transition age, few and far between in existance as far as known, it holds a significant position in the history of temple architecture in Western India.

स्वयंभू कृत : 'रिट्ठणेमि चरिउ' मांथी पच्चीश देश्य शब्दो

वहु इंधण कूडागार किय, संचारिम महिहर णाईं थिय
(७–१२–१)

'इंधण खडकीने अनेक ढग करवा मां आव्या—जाणे के जंगम पर्वतो आवीने ऊभा ।'

३. खेमाखेमि 'साम सामे क्षेम कुशलनी पूछ परछ'

थोवंतरि जादव नहिं जि आय
अवरुप्परु खेमाखेमि जाय
(१६–१२–५)

'टुंक समयमां यादवो त्यांज आवी पहोंच्या । अरस परस क्षेमकुशल पुछयां' ।

सं, 'क्षेम', प्रा, 'खेम', उपरथी

'हत्था हत्थि' वगेरेनी जेम द्विरुक्ती प्रयोग 'खेमाखेमि' 'कुसलाकुसलि' पण वपरायो छे ।

४. 'खोल्लडउं' 'कूवो'

भरवाडनी झूंपडो के कूवा जेवा अर्थमां आ नवो शब्द छे । दे. ना. (२,७४) मां 'बुखल्ल' शब्द 'कुटी' ना अर्थमां तथा प्राकृतकोशमा: 'खोल्लि' शब्द 'कोटर' ना अर्थमां छे । गुजराती 'खोलडुं' 'खोरडुं' अने 'खोली' आनी साथे संकलायेला जणाय छे । अर्थ वदलायो छे, 'खोरडुं' हवे 'घर' उपरान्त 'छापरा' नो अर्थ पण धरावे छे । नीचेनी उकटणमां मथुरा नगरीना घरोनी साथे गोकुलना 'खोल्लड' नो विरोध छे । प्रसंग कृष्णनी उपस्थिति ने कारणे गोकुलनी धन्यता अने शोभानो अने मथुरानी निस्तेजपणानो छे :

खोल्लडइं वि गोट्ठे मणोहरइं
महु रहे रोवंति णाईं घरइं (४–१३–९)

'नेसमां कूवा पण मनोहर लागता हता, ज्यारे मथुरामां घरो पण जाणे के रोतां हतां' ।

टर्नरना भारतीय प्रार्थना तुलनात्मक कोशमां 'खोल्ल' 'खोल' अने 'खोर' माँथी आवेला भारतीय शब्दोमां 'ऊंडो खाडो : 'पोलाण', 'वखोल', 'कोतर', 'गुफा' अेवो अर्थ मुख्य छे । (जुओ संख्यांक ३९४३, ३९४६)

५. चंडिल्ल 'वालंद'

दे. ना. ३, २ मां 'चंडिल' संस्कृत अाने 'चंदिल' देश्य गण्या छे । अहीं मुंडन माथे आवेला नावीने प्रद्युम्न धमकावी, मूंडीने काढी मूके छे । ते प्रसंग छे :—

'सो चंडिल्लु कुमारं तज्जिजऊ,
मुंडिय डेण सिरेण विसज्जिजऊ (१२–१२–२)

'कुमार ते वालंद ने धमकाव्यो अने मायुं मुंडाने काढी मूक्यो' ।

६. छुध हीर 'चन्द्र'

दे. ना. ३, ३८ मां 'बालक' अने 'चंद्र' ना अर्थ मां 'छुवहीर' नोंधायो छे । अने पुष्पदंत मां तथा 'पउम चरिउ' मां पण ते मले छे । नानो' 'हीरो' 'हीरलो' अेवा यौगिक अर्थ उपर थी आलाक्षणिक अर्थ रुढ बन्यो छे ।

(संदर्भ शांवे कुंडिनपुर मां पोतानी माया थी सर्जेली परेशानी नो छे)

१०. थुड्डंकिय 'रोष थी मों चडी जवु''

दे. ना. ५, २१ मां थोडाक रोष थी मुख संकोचाइ जवुं । अेवा अर्थमां नोंधायो छे। नीचेनी पंक्ति मां थयेलो तेनो प्रयोग आ अर्थनुं तेमज जोडणीनुं समर्थन करे छे :

महुराहिउ तहिं काले थुडुंकिउ (५–११–४)

'ते वेला मथुरापति कंसनुं मों चडी गयुं''

११. दुवालि 'तोफान, अटकचाला, आडाई, अलवीतराइ' ।

आअेहिं दुवालिहिं मत्तु तुहुं
दिढ बंदणरू जिह मत्तगउ (१–११–४५)

'आवां अटकचालाने कारणे तुं मातेला हाथीनी जेम दृढ बंधन पाम्यो छे' ।

तिहि मि दुवालि अे विणु न पवत्तइ (५–११–६)

'त्यां (दूर वनमां) पण (कृष्ण) अटकचालां कर्यां विना रहेता नथी' ।

पट्टणि अेम करंतु दुवालिउ (११–५–७)

'अे प्रमाणे नगर मां तोफानो करतो' (प्रद्युम्नकुमार

पुष्पदंतना महापुराण मां पण आ अर्थ मां शब्द वपरायो छे जुओ (८५–१०–६, ८५-२४-१४, ८५–१३–३, ८८–४–७; छेल्ला स्थान उपरना टिप्पण मां तेनो 'आलीगारपणु'' अेवो जूनी गुजराती मां अर्थ आपेलो छे। 'अलगारीपणा' नो आ मूल अर्थ छे। 'आलि' करवी अेटले 'मस्ती तोफान' करवा, 'दु+आलि'='दुवालि' । भरतेश्वर बाहुबलि रासमां 'आलि करइ अपार तु'' अेम आवे छे। पृथ्वीचंद्र चरित मां हाथीनी मस्ती माटे ते वपरायो छे 'महापुराण' मां ८५–२४–१४ उपर ना टिप्पण मां तेनों अर्थ 'गुलाई' आप्यो छे ते 'गोलापणु'' 'लुच्चाई' अेटले के 'अलवीतराइ' होवानुं समझाय छे।

१२. पइद्ध 'अत्यंत आसक्त'

वुच्चइ वम्महेण कुलजाइ विसुद्धी
णरवइ तुम्ह सुय चंडाल पइद्धी (१३-७-धत्ता)

'मन्मथे (=प्रद्युम्ने कह्युं "हे राजा, विशुद्ध कुल अने जाति वाली तारी पुत्री चंडाल ने हली गई छे") ।

सं० 'प्रगृद्ध' उपरथी ने थयो छे। गुजराती 'पेधवु'' ना मूलमां आज शब्द छे अर्थ बदलायो छे।

१३. पलक्क 'लंपट'

कावि गोवि रस संग पलक्की (५-१०-७)

'कोइक गोपी रस लंपट बनी गई' । 'प्राकृतकोशे' 'कुमारपाल प्रतिबोध' मांथी 'विसयपलक्कओ' नोंध्युं छे, अने धाहिल कृत पउमसिरिचरिउ' मां भ्रष्ट चरित्र नारी ने 'पलक्किया' कही छे।

१४. पाण 'बल'

घणुं खरूं 'विज्जा पाण'=विद्याबल' अेवा रूपे वपरायो छे :

जे वम्महु मारहु भणिविगय
ते विज्जापाणइ सयल हय (११-११-७)

'मन्मथ (प्रद्युम्न) ने अेम मारीशुं, अेम कही ने गया ते बधाने तेणे विद्याबले मारी नाख्या'।

अेव भणेवि कुमारू संचलिलउ विज्जपाणें
दीसइ णहयले जंनु णं रावणु पुप्फविमाणें (१८-१-घत्ता)

'एम कहीने कुमार विद्याबले ऊपड्यो, आकाश मार्गे जतो ते पुष्पविमान मां रावण जतो होय तेवो लागतो हतो।

'पउमचरिउ' १९–७–११४ अने ३८–१७–३ मां पण आज अर्थ मां 'विज्जापाणअे' 'विज्जा पाणे हिं' मले छे।

जूनी गुजराती मां 'प्राण' शब्द 'बल' 'शक्ति' 'सामर्थ्य' ना अर्थ मां जाणीतो छे। अर्वाचीन गुजराती प्रयोग 'पराणे'='बलपूर्वक' 'अनिच्छाअे' तोमांथी ज आवेलो छे।

१५. भगवइ 'दुर्गा'

अवहरिउ केण हरि भगवइ हे ७-२-४)
'कोणे भगवती ना (दुर्गा) ना सिंह नुं हरण करयुं ?'

कोशमां 'भगवइ' नो आ अर्थ नथी नोंधायो।

१६. भद्दिओ 'विष्णु'

पूयण पण्हुवंति भोसावइ

(बाल भीमनुं शरीर आघातो वच्चे पण अक्षत रह्युं तेने अनुलक्षीने)

पुष्पदंतना महापुराणमां 'मोट्टियार' शब्द वपरायो छे। मारवाडी मां तथा उत्तर गुजरात नी बोली मां ते प्रचलित छे।

'मोट्टय' ने अधिकता दर्शक 'यर' प्रत्यय लागत ने 'मोट्टय्यर' उपर थी 'मोट्टयार' (जेम 'पिययर' उपर थी 'पियार') अने पछी यकारनी असर नीचे 'मोट्टियार' थयुं छे।

१६. लेहड 'लुब्ध'

'परणरवर संयर सिर लेहडु (६–६–४)

'युद्धमां शत्रु वीरोना शिर लेवा मां लुब्ध—तत्पर'

(कृष्ण ना रथनुं वर्णन)

दे. ना. ७, २५ मां 'लेहड' नोंधायो छे, 'लिह' चाटवुं साथे संबद्ध जणाय छे।

२०. बंधणार 'बंधन'

आखेहि दुवालिहिं पत्तु तुहुं
दिढ बंधणार निह मत्तगउ (१–११–४, ५)

'आवा उद्धत तोफानोथी तुं मत्त बनेला हाथीना जेम दृढ बंधन पाम्यो छे।

'पउम चरिउ' मां पण आ वपरायो छे :

णिग्गउ इंदइणं बंधणारु हणुवंत हो (५३–३–१०)

'इन्द्रजित वहार नास्यो—जाणे के हनुमान नुं बंधन'।

'पउमचरिउ' ना शब्द कोशमां अें तेनो 'बंधनकर्ता' अेवो अर्थ करचो छे तेनी आधी शुद्धि थाय छे।

'को गुणेहिं न पाविउ बंधणारू' अेवी पंक्ति पण अपभ्रंश कायमः पांच्यानुं स्मरण छे। अर्थ छे 'गुणेथी कोण बंधन पामतुं नथी ?' अहीं गुण उपर श्लेप छे।

२१. वालाहिय 'धरो, हृद'

जउण वालाहिय हो अगाहहो
णंद गावे लहु कमलइं आणहि (५–१३–२; ३)

'यमुनाना अगाध धारा मांथी हे नंदगोप सत्वर कमलो लावी आप'।

'पउमचरिउ' १४–१०–५ मां नर्मदा नदी ने 'वालाहिप' निद्रा थी सूतेली कही छे। त्यां कदाच आज अर्थ छे।

२२. विय्याले 'वच्चे', 'वचाल'

तिहि तेहेअे काले पडिउवयार भावगयउ
सेण्णहे विप्याले मिलियउ हरि कुल देवयउ (७–११–धत्ता)

'ते समये प्रत्युपसर करवानी वृत्तिवाली कृष्ण नी कुलदेवताओ सैन्यनी वच्चे आवीने मली'।

वितण्डा

कथा (बे पक्षो वच्चेनी चर्चा) ना त्रण प्रकार न्याय सूत्रकारे गणाव्याछे-वाद, जल्प, अने वितण्डा। वादना अधिकारी वीतराग होय छे, तेओ सत्यनिर्णयार्थ वादकरे छे, हार-जीतनो सवाल तेमने मन खास महत्वनो नथी। वादमां पक्ष अनेप्रति-पक्ष सामसामा रजू करवा मां आवे छे अने प्रमाण अने तर्क तेमां छल, जाति अने निग्रह स्थान जेवी युक्तिओनो उपयोग थायतो पण समान पणे तो नहीं ज (प्रमाण तर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्ष प्रतिपक्षपरिग्रहो वादःन्यायसूत्र १-२-१) जल्पनी पद्धति पण वाद जेवीज छे, तेमां पण प्रमाण अने तर्क द्वारा स्वपक्षनु खंडन करवानो प्रयत्न करवामां आवे छे; पण तेमां विरोधीनो पराभव करवानु मुख्य प्रयोजन होइ छल, जाति अने निग्रह स्थाननो समान पणे उपयोग थाय छे। (यथोक्तोपपन्नछलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भी जल्पः—न्यायसूत्र १-२-२) तेज जल्प प्रतिपक्षनी स्थापना विनानो होय तो वितण्डा बने छे। ज्यारे चर्चा मां उतरेलो अेक-वादी पोताना मतनु स्थापन करतो ज नथी, मात्र प्रतिवादीना मतनु खंडन खंडन कर्या करे छे त्यारे ते वितण्डा करे छे अेम कहेवाय छे (स प्रतिपक्ष स्थापनाहीनो वितण्डा—न्यायसूत्र १-२-३)। आना पर भाष्य करतां वात्स्यायन स्पष्टता करे छे के वैताण्डिकने पण पोतानोपक्ष तो होय ज छे, केवल ते तेनु स्थापन करवा प्रवृत्तथतोनथी अने थेती ज सूत्रकारे वितण्डा प्रतिपक्षहीन छे अेम न कहे तां प्रतिपक्षस्थापनाहीन छे अेम कह्यु छे। उद्योतकर अने वाचस्पति पण संमत तथा स्पष्टता करे छे के आमां वैताण्डिक नो अेवो आशय होय छे के विरोधीना मत के पक्षनु खंडन करवाथी पोतानो पक्ष पोतानी मेले सिद्ध थइ जशे; वैताण्डिकनो पोतानो पक्ष होय ज छे पण तेनु प्रतिपक्षना खंडन थी स्वतन्त्रपणे स्थापन करवामां आवतु न थी।

उद्द्योतकरे अेक मत नोंध्यो छे जे प्रमाणे वितण्डानु लक्षण 'दूषण मात्र' हतु। उद्द्योत करे आको प्रतिषेध कर्यो छे कारण के वैताण्डिकने पण जेनु खंडन करवानु छे ते पक्ष, अे पक्षनी विपर्ययात्मकता, प्रतिवादी अने वादी तरीके पोते आटली हकीकतो तो स्वीकारवीज रही अने दूषणमात्र अेटलु

भारतीय कला के मुख्य तत्त्व

भारतीय कला भारतवर्ष के विचार धर्म, तत्वज्ञान और संस्कृति का दर्पण है। भारतीय जन जीवन की पुष्कल व्याख्या कला के माध्यम से हुई है। यहां के लोगों का रहन-सहन कैसा था, उनके भाव क्या थे, देवतत्व के विषय में उन्होंने क्या सोचा था, उनकी पूजाविधि कैसी थी और पंचभूतों के धरातल पर उन्होंने कितना निर्माण किया था इसका अच्छा लेखा--जोखा भारतीय कला में सुरक्षित है। वास्तु, शिल्प, मूर्तियां, चित्र, कांस्य प्रतिमा, मृद्भाजन, दंतकर्म, काष्ठ कर्म, मणिकर्म, स्वर्णरजत कर्म, वस्त्र आदि के रूप में भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा में पायी जाती है। देश के प्रत्येक भाग में कला के निर्माण की ध्वनि सुनाई पड़ती है। एक युग से दूसरे युग में कलात्मक के केन्द्र दिशा--दिशाओं में छिटकते रहे, किंतु यह विविध सामग्री समुदित रूप से भारतीय कला के ही अन्तर्गत है।

भारतीय कला को दीर्घकालीन रूप सत्र कहना उचित है, जिसमें देश के प्रत्येक भू भाग में अपना अर्ध्य अर्पित किया है। इस रूप समृद्धि में अनेक जातियों ने भाग लिया है, किन्तु इसकी मूल प्रेरणा और अर्थव्यंजना मुख्यतः भारतीय ही है। जब भारतीय संस्कृति का प्रसार समुद्र पार और पर्वतों के उस पार हुआ तब भारतीय कला के रूप और उसके अर्थ भी उन २ देशों में बद्ध मूल हुए। सुभाग्य से वह सामग्री आज भी अधिकांश में सुरक्षित है। और भारतीय कला के यशः-प्रवाह की कथा कहती है। द्वीपान्तर या हिंदेशिया से लेकर मरु-चीन या मध्य-एशिया तक का विशाल भू-खण्ड भारतीय कला की मेघवृष्टि से उत्पन्न फुहारों से भर गया। वह आन्दोलन कितना गम्भीर और बलिष्ठ था। इससे आज भी आश्चर्य होता है। भारतीय कला के संपूर्ण व्यौरेवार अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति के साथ मिलाकर उसे देखा जाय। जिसकी सामग्री वेद, पुराण, काव्य, पिटक, आगम आदि नानाविध भारतीय साहित्य में पायी जाती है।

तिथि-क्रमः—

कला की यह सामग्री देश और काल दोनों में महा विस्तृत है। इसका आरम्भ सिंधु उपत्यका में तृतीय सहस्राब्दि ईस्वी पूर्व से होता है और लगभग ५ सहस्त्र वर्षो तक इसका इतिहास पाया जाता है। इस तिथि-क्रम का लगभग सुनिश्चित आधार इस प्रकार है।

१. सिंधु सभ्यता की कला – लगभग २५०० – १५०० ई० पू०

२. वैदिक सभ्यता – लगभग २००० – १००० ई० पू०

३. महाजनपद युग – लगभग १२०० – ६०० ई० पू०

४. शैशुनाग नन्द युग – लगभग ६००– ३२६ ई० पू०

५. मौर्य युग ——लगभग – ३२५ – १८४ ई० पू०
६. शुंग काल – लगभग १८४ – ७२ ई० पू०
७. काराव वंश – लगभग – ७२ – २७ ई० पू०
८. वाहूलोक – यवन और भद्रक यवन – लगभग २५० – १५० ई० पू०
९. शहरात शक – लगभग प्रथम ई० पूर्व – ३९० ई०
१०. सातवाहन वंश – लगभग २०० ई० पू० — २०० ई०
११. शक कुषाण – लगभग ८० ई० पू०–दूसरी शती ई०
१२. आन्ध्र देश का इक्ष्वाकुवंश—तीसरी शती ईस्वी
१३. गुप्त युग –लगभग ३१९ ई० —६०० ई०
१४. चालुक्य युग – लगभग — ५५० ई० – ६४२ ई०
१५. राष्ट्रकूट युग—लगभग ७५३ ई०—९७३ ई०
१६. पल्लव वंश—लगभग ६०० ई०–७५० ई०
१७. चोल युग—लगभग ९००–१०५३ ई०
१८. पांड्य वंश – लगभग १२५१ ई०—१३१० ई०
१९. होयसल वंश — १२–१३ वीं शती
२०. विजयनगर वंश – लगभग १३३६–१५६५ ई०
२१. उड़ीसा के गंग और केसरी वंश — ११वीं से १३वीं शती
२२. मगध का पाल और बंगाल का सेनवंश — लगभग ९वीं से १२वीं शती
२३. गुर्जर प्रतिहार वंश — ७५०–९५० ई०
२४. चन्देल वंश—९००–१००० ई०
२५. गाहड़वाल—१०८५–१२०० ई०
२६. सोलंकी वंश – ७६५–१२०० ई०

युग के उत्तरार्ध में प्रथम शती ईस्वी से लेकर लगभग ७वीं शती तक अर्थात् कनिष्क से हर्ष तक की कला-कृतियां आती है। यह भारतीय कला का आद्य युग है इसमें कला की प्रौढ़ता राष्ट्रीय स्तर पर देश के चारों खूंटों में फैल जाती है। उसका वाह्य रूप और भीतरी अर्थ दोनों राष्ट्र सम्मत स्तर पर मान्यता प्राप्त करते हैं और न केवल स्वदेश में किंतु विदेशों में भी भारतीय कला का प्रभविष्णु रूप व्याप्त हो जाता है। इन ७०० वर्षों में भारतवर्ष में कला, साहित्य, दर्शन और जीवन का सर्वोच्च विकास हुआ और जनता के मन में इस प्रकार की धारणा बनी — न भारत समं वर्ष पृथिव्यामस्ति भो द्विजाः—यह कथन बहुत अंशों में सत्य था। उस युग में भारत, चीन, ईरान और रोम इन चारों का एकाधिपत्य साम्राज्य था और इनके शासक जगदेकनाथ समझे जाते थे। किन्तु इनमें भी भारत की श्री समस्त जम्बूद्वीप में सर्वोपरि थी।

हर्ष युग के बाद भारतीय कला का चरम युग आता है, जिसे मध्य काल (७००–१२००) भी कहते हैं। उसके भी २ भाग हैं—पूर्व मध्यकाल (७००–९०० ई०) और उत्तर मध्यकाल (९००-१२०० ई०)। काल के इस दीर्घ पथ पर भारतीय कला के सतत और दृढ पदचिन्ह महान् कृतियों के रूप में हमारे सामने हैं, मानो सौन्दर्य का कोई विराट् देवता पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं में चला हो और अपने पीछे नाना प्रकार की शिल्प, वास्तु, चित्रादि सामग्री भरता गया हो। इस कला की कथा एक ओर सरल है क्योंकि उसमें एक सूत्र पिरोया हुआ है। दूसरी ओर जटिल है क्योंकि उसके ताने बाने में नानाविध तन्तुओं का समावेश है। भारतीय कला के पारखी इतिहासवेत्ता को चाहिए कि जहां जो स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय संदर्भ वितान, रूप, शैली, अलंकरण, प्रभाव और अर्थ है उनको अलग पहचान कर उनकी व्याख्या करें।

प्राप्ति स्थान

प्राप्ति स्थान और तिथि क्रम ये दोनों कला वस्तु के अध्ययन में सहायक होते हैं। इनका आधार प्रख्यातमक होता है और सावधानी से प्राप्ति स्थान सम्बन्धी सूचना का संग्रह करना चाहिए। अधिकांश अवशेषों और वस्तुओं के प्राप्ति स्थान विदित होते हैं। उनके द्वारा कला की वस्तुओं का संदर्भ सुविज्ञात हो जाता है। इसके अतिरिक्त पाषाण प्रतिमाओं और वास्तु खंडों के लिए पत्थर की जाति और रङ्ग से ही उनसे संदर्भ का संकेत मिलता है। उदाहरण के लिए सिंधु घाटी में कीर–थर पहाड़ी की खदानों का सफेद खड़िया पत्थर या मौलाभाटा काम में लाया जाता था। : मौर्य कला के लिए चुनार की खदानों का हल्के गुलावी रङ्ग का ठोस बलुआ पत्थर काम में लाया गया। मथुरा कला में मजीठी रंग का चितीदार बलुहा पत्थर जो सीकरी, बयाना आदि स्थानों में मिलता है प्रयुक्त किया गया। गन्धार कला में नीली झलक का सलेटी या पपड़ियां या परतहा तिलकुट पत्थर काम में लाया जाता था। गुप्त-काल में स्थानीय लल्छौंह या मयबरी पत्थर का प्रयोग होता था। पाल युग में काले या गहरे नीले रङ्ग का नयावाल तेलिया पत्थर नीलापन, (Black Basalt) काम में लाया गया। चालुक्य कला में पीले रंग का बलुहा पत्थर काम में आता था। अमरावती और नागार्जुनीकुंडा आदि के स्तूपों में विशेष प्रकार का श्वेत खड़िया पत्थर (Limestone) काम में आता था, जिसे वहां की भाषा में अमृत शिला कहते हैं और जो हमारे यहां के संगमरमर से मिलता है। इसी प्रकार उड़ीसा के मंदिरों में राजा

रानियां या मुगना (Crcrite) पत्थर, कहीं कुडथा (Granite) और कहीं ढुसरिया पत्थर (Late rite) और कहीं सेल खड़ी या संगजराहत (Alabaster) और कहीं संगमरमर (संस्कृत मुक्ता शैल) काम में लाया गया । इस प्रकार भिन्न २ पत्थरों की चाल से कलात्मक सामग्री के स्थानीय भेदों का निर्पेक्ष मिल जाता है ।

काल निर्धारण

वस्तुओं का काल निर्धारण प्रायः उत्कीर्ण लेखों के आधार पर किया जाता है । जैसे स्तूप, मंदिर, शिलापट्ट या मन्दिर का चौकी पर उत्कीर्ण लेख सम्बंधित सामग्री के काल की सूचना देता है । इस साक्षी के अभाव में शैली ही समय का संकेत बताती है । पुरातत्व की खुदाई में प्राप्त सामग्री को जैसे लेख, मुद्रा, मृतपात्र, खिलौने को पूर्वापरीय स्तरों के आधार पर जांच कर उनका समय निश्चित करते हैं । कला सामग्री के बहिरङ्ग अध्ययन का उद्देश्य उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का अवधारण करना है जिसके लिए प्राप्ति–स्थान, समय और शैली इन तीनों के परिचय की आवश्यकता होती है ।

अर्थ-व्यंजना

कलात्मक वस्तु की बहिरंग परीक्षा हमें उस बिंदु पर ले जाती है, जहां उसकी अंतरंग परीक्षा वा अर्थ की व्याख्या आरम्भ होती है । प्रत्येक कला वस्तु किसी मनोगत भाव का स्थूल प्रतीक है । अतएव सच्चे कला पारखी की रुचि कला द्वारा भाव या अर्थ की व्यजंना में है । भारतीय सौंदर्य शास्त्र के अनु-सार कला और काव्य के ४ तत्व या अंग माने गए है – १. रस, २. अर्थ, ३. छन्द, और ४. शब्द (काव्य के लिए) या रूप (कला के लिए) ।

रस

रस कला की आत्मा है । यह अध्यात्म गुण है जिसमें कृति का स्थायी मूल्य निहित रहता है । इसे मौलिक, आवश्यक और अतर्क्य दिव्य गुण कहना चाहिए, जो प्रत्येक सच्ची काव्य कृति या कला कृति में पाया जाता है । मनुष्य का मन भावों का समुद्र है । भावों की समष्टि से ही रस का उदय होता है । मनुष्य के मन में जो नाना भाव जन्म लेते हैं, उन्हें ही कला और काव्य द्वारा व्यक्त किया जाता है । काव्य के पंडित आलंकारिकों के अनुसार काव्य में ८ या ९ रस माने गए है, जिनके पृथक पृथक भाव हैं । कला कृति से रसिक के मन में भावों का उद्वेग होता है । कवि और कलाकार सर्वप्रथम अपने मानस में रस या भाव विशेष की आराधना करते हैं और फिर उसे शब्द या रूप के द्वारा स्थूल या इद्रिंय गाही माध्यम से व्यक्त करते हैं ।

अर्थ
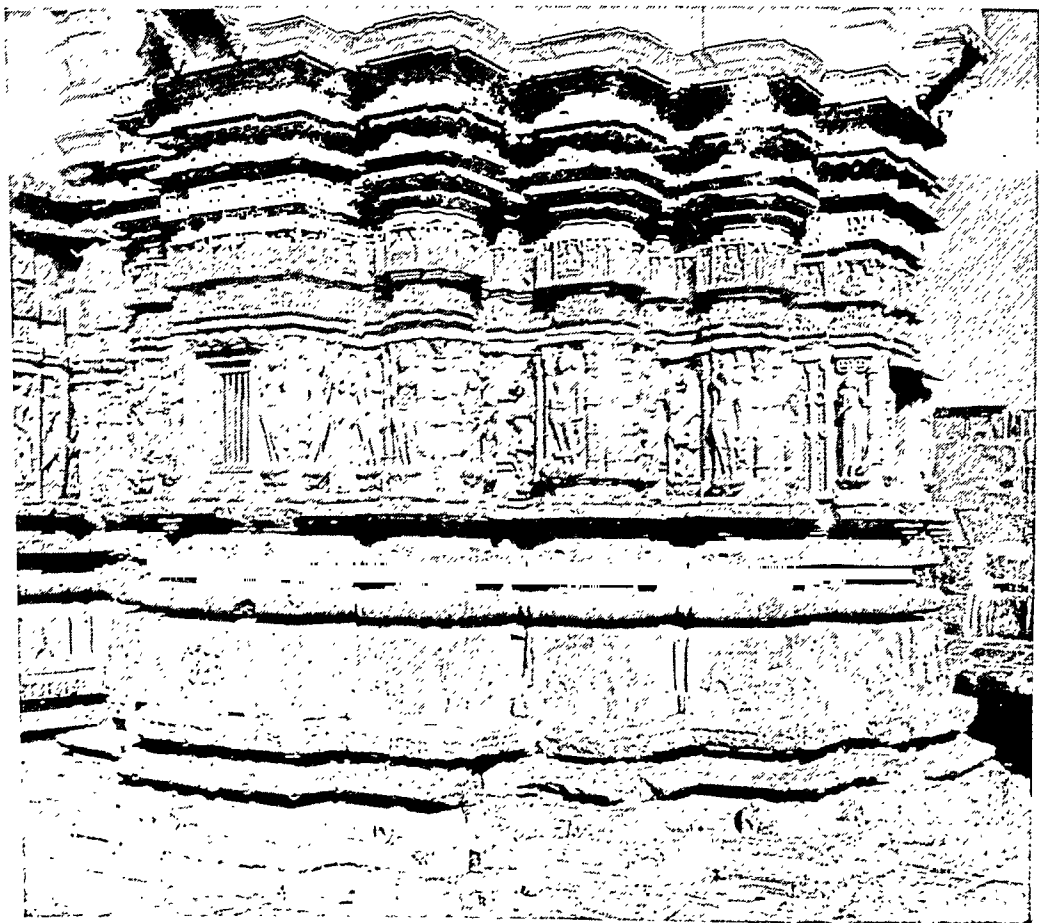
The Mūlaprāsāda (fig 1) pp.231
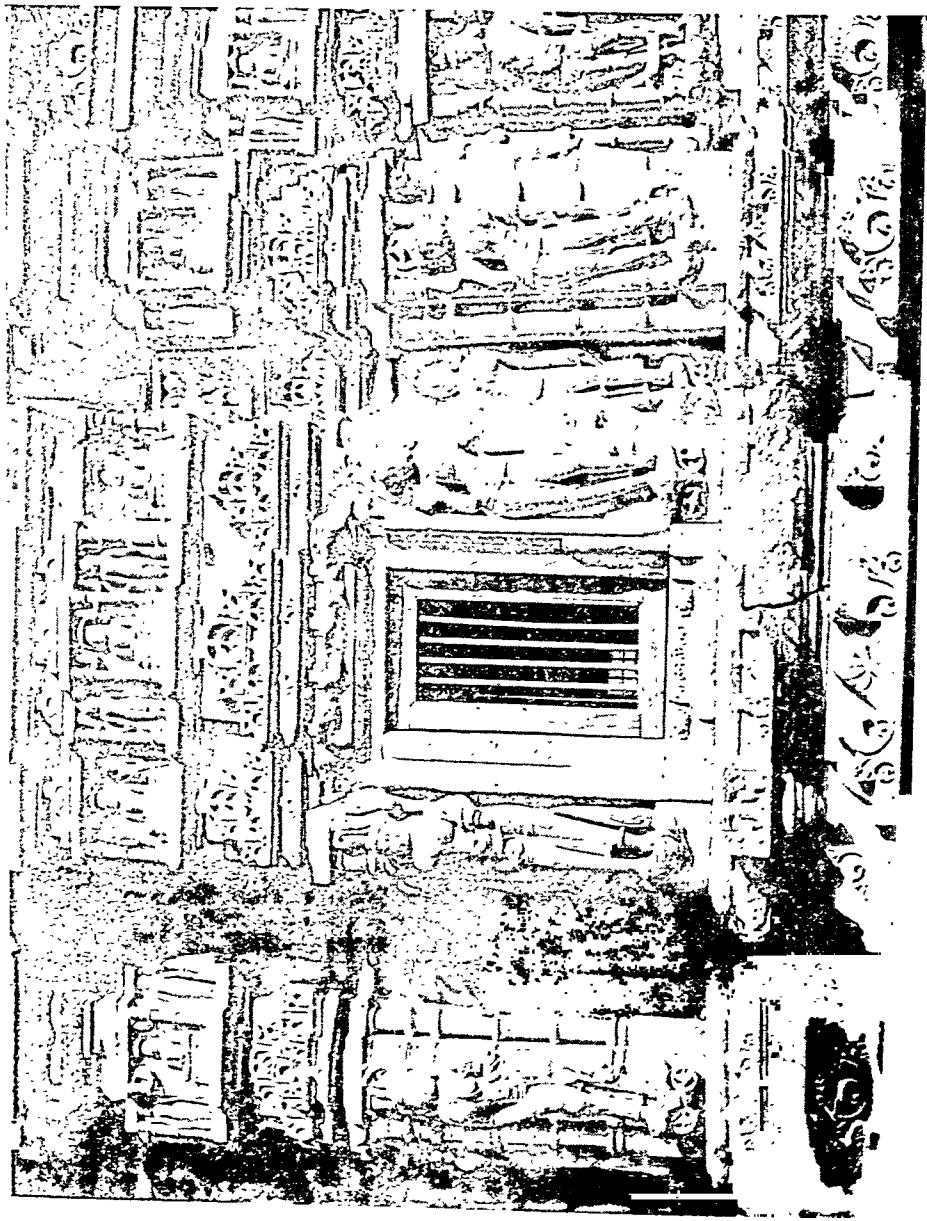
The Mūlaprāsāda--South wall (fig. 2) pp. 231
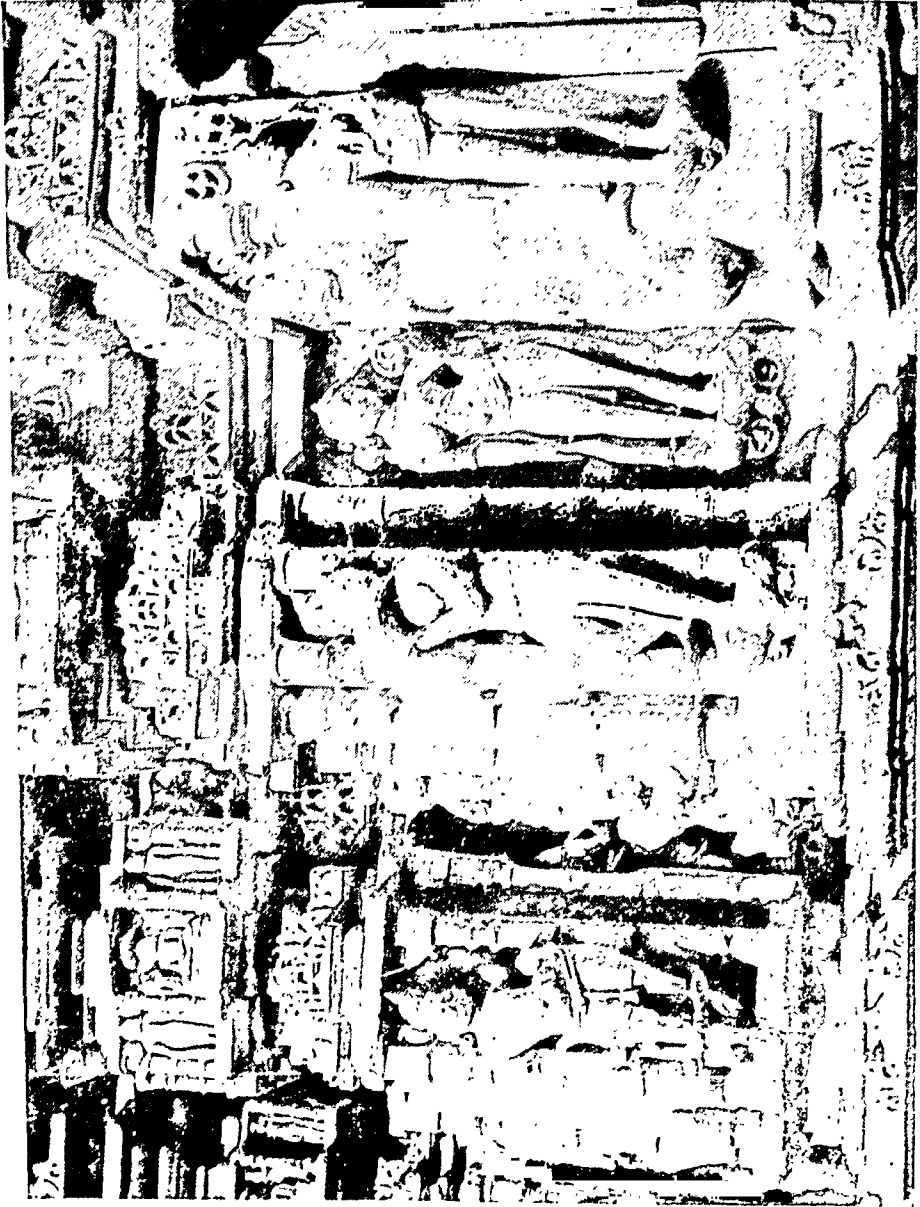
The Mūlaprāsāda—South West part of the wall (fig. 3) pp. 231
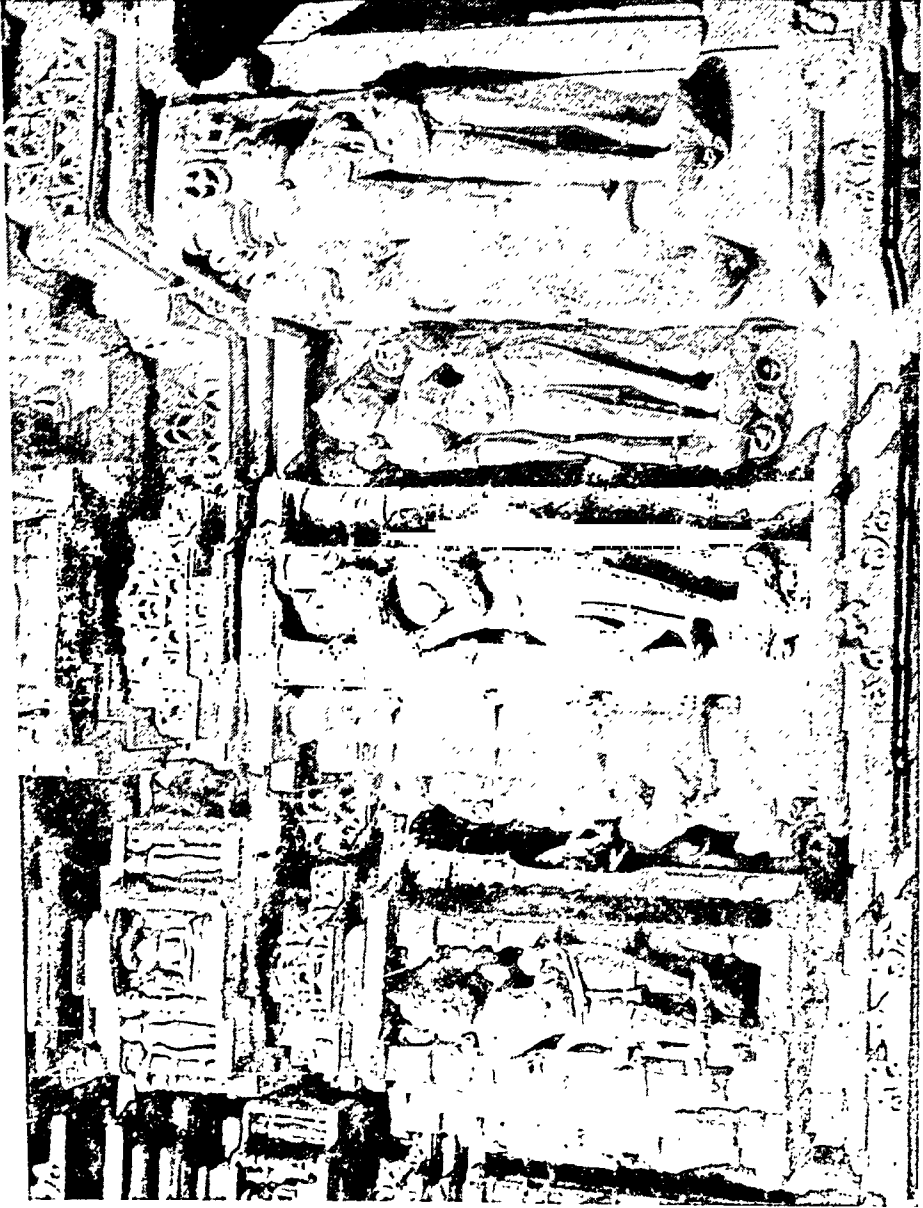
The Mulaprāsāda—South West part of the wall (fig. 3) pp. 231

Saraswati, western Bhādrā Gūdhamandapa (fig 4) pp. 231
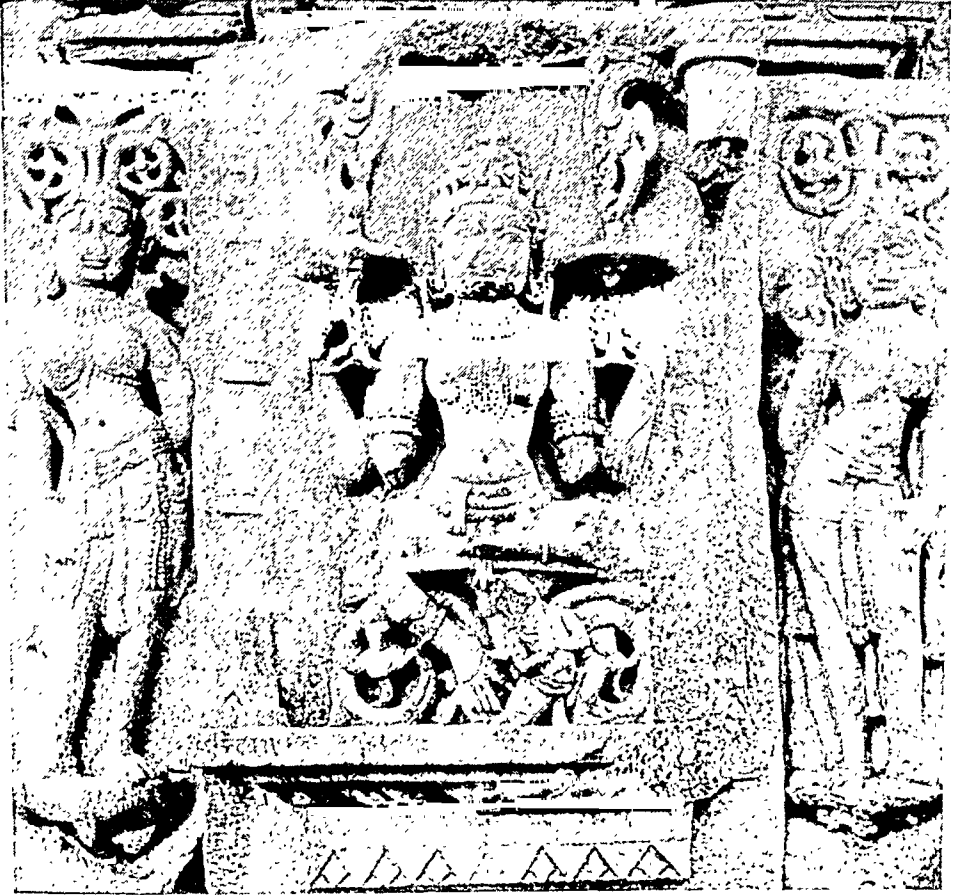
Cakreśvarı—east Bhadra S1106 (fig 5) pp. 231

Jivantswāmi Mahāvira, front karna, west Gūḏhamandapa (fig. 6) pp. 221
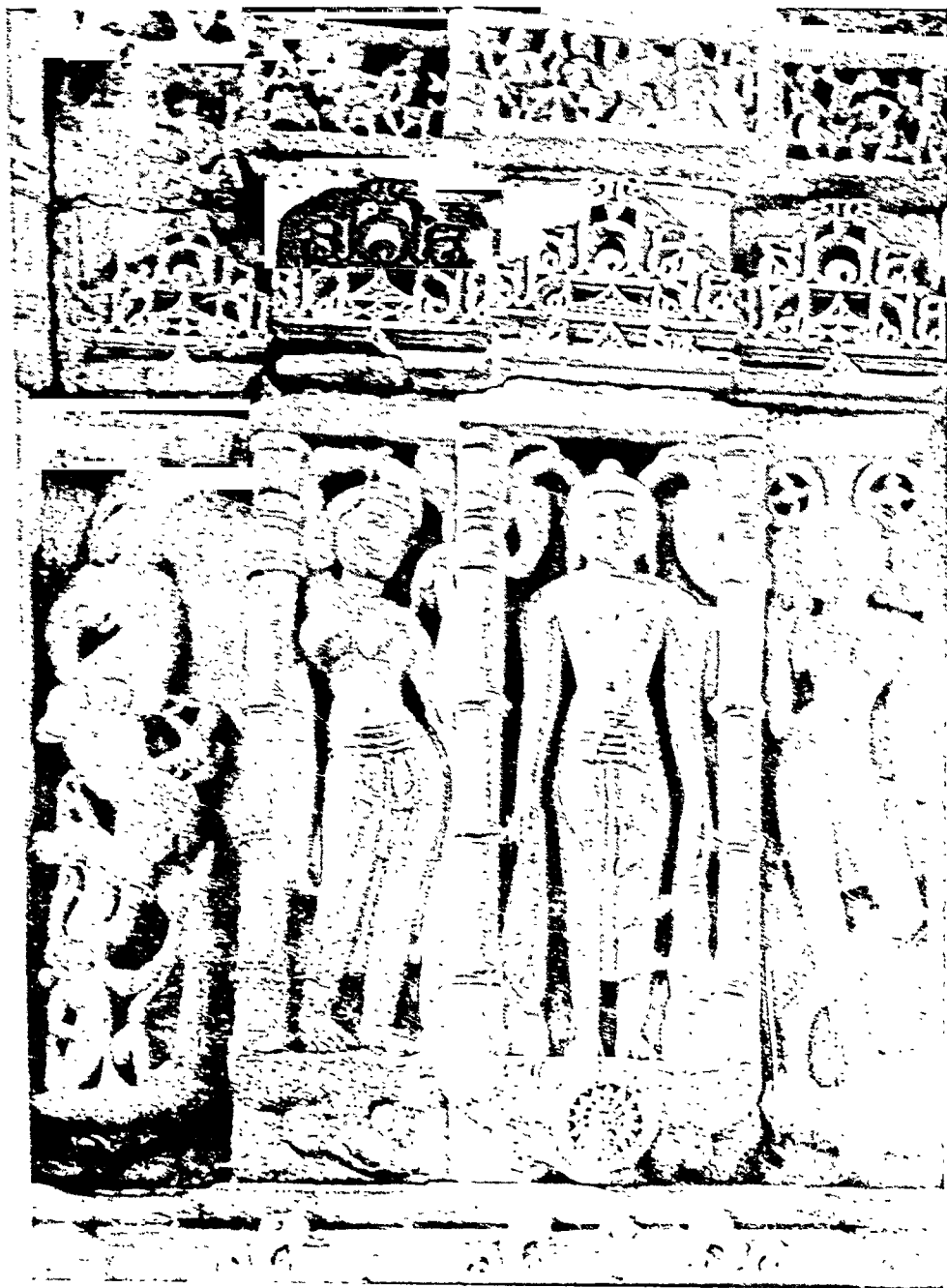
Standing Kāyotsarga, Jina front karna east
Gūḍhamaṇḍapa (fig. 7) pp. 231

कहे गए हैं, जैसे यक्खमह, नागमह यूकमह, नदीमह, सागरमय, धनुर्मह चन्दमह, सुरुज मह, इन्द्रमह, खन्दमह (स्कन्द) रुद्दमह, रुक्खमह, चेतीयमह, आदि। देवपूजा के ये प्रकार जैसे लोक में थे वैसे ही कला में भी अपनाए गए। इस प्रकार महाजन और सामान्य जन दोनों की धार्मिक मान्यताओं का समादर भारतीय कलाओं में हुआ।

बुद्ध

ऐतिहासिक गौतम बुद्ध का जीवन जैसा भी तथ्यात्मक रहा हो कला में लोकोत्तर बुद्ध का जीवन ही लिया गया है और उसका घनिष्ट सम्वन्ध उन प्रतीकों से था जो मानवीय अर्थों से ऊपर दिव्य अर्थों की ओर संकेत करते हैं। उदाहरण के लिये तुषित स्वर्ग से बुद्ध की अवक्रान्ति, श्वेत हस्ती के रूप में माया देवी को स्वप्न और गर्भ प्रवेश। माता की कुक्षि से तिरश्चीर्ण जन्म, सप्त पद, नन्दोपनन्द नागों द्वारा प्रथम स्नान, चतुर्महारादिक देवों द्वारा चार पातों को लेकर बुद्ध का एक पात्र बनाना, अग्नि और जल सम्बन्धी प्रतिहार्य या चमत्कार का प्रदर्शन, नल गिरि नामक मत्त हस्ती का दमन, सहस्त्र बुद्धात्मक रूप का प्रदर्शन त्रिपरिवर्त, द्वादशाकार धार्म्य धर्मचक्र का प्रवर्तन, सहस्त्रत्रिंश देवों के स्वर्ग में माता को धर्मोपदेश, और सोने, चांदी और तांबे की सीढ़ियों से पुनः पृथ्वी पर आना इत्यादि ये कला के अंकन बुद्ध के स्वरूप के विषय में प्रतीकात्मक कल्पना प्रस्तुत करते हैं जिसका सम्बन्ध ऐतिहासिक बुद्ध से न होकर लोकोत्तर अर्थात् बुद्ध के दिव्य स्वरुप से है।

शिव

सिंधुघाटी से लेकर ऐतिहासिक युगों तक लिंग विग्रह या पुरुष विग्रह के रूप में शिव का अंकन पाया जाता है। इन दोनों का विशेष अर्थ भारतीय धर्म और तत्वज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। एक ओर लोक वार्त्ता में प्रचलित शिव के स्वरूपों को ग्रहण किया गया किन्तु दूसरी ओर उनके साथ नये-नये अर्थों को जोड़कर उन्हें धर्म और दर्शन के क्षेत्र में नयी प्रतिष्ठा दी गई। तत्व का चिन्तन करने वाले आचार्य और कलाकार, दोनों ने प्रति पूर्वक समान उद्देश्य की पूर्ति की। उदाहरण के लिए कला में शिव के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—पशुपति, अर्धनारीश्वर, नटराज कामान्तक, गंगाधर, हरिहर, यमान्तक, चन्द्रशेखर, योगेश्वर, नन्दीश्वर, उमामहेश्वर, ज्योतिर्लिंग, रावणानुग्रह पंचब्रह्म, दक्षिणामूर्ति, अष्टमूर्ति, एकादशरुद्र, मृग—व्याघ्र, मृत्युन्जय आदि। कला के इन रूपों की व्याख्या भारतीय धर्म तत्व में प्राप्त होती है और यदि ठीक प्रकार से देखाजाय तो कला और धर्म का एक ही स्रोत जान पड़ता-है।

देव

भारतीय कला देवतत्त्व के चरणों में एक समर्पण है। यूप, स्तूप एवं प्रासाध्य देवगृह में सर्वत्र देवता निवास करते हैं। स्तूप एवं यूप का ऊपरी भाग ये तीनों देवसदन है। रूपों में भेद होने पर भी अर्थ एक ही है। एक ही देवतत्व अनेक देव और सिद्ध योनियों के रूप में प्रकट होता है। गन्धर्व, अप्सरा कुम्भाण्ड, नाग, यक्ष, नदी देवता सिद्ध विद्याधर आदि जितने जंतर देवता हैं सब एक ही महान् देव के विभिन्न रूप हैं।

रूप और अर्थ की एकता

भारतीय कला के अध्ययन के कई दृष्टिकोण हो सकते हैं, जैसे पुरातत्व गत सन्दर्भ का

निश्चय, निर्माण की विधि, शैली, तिथिक्रम, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, और सर्वोपरि उस कला वस्तु का प्रतीकात्मक अर्थ जैसे प्लेटो के सौन्दर्यतत्व में, वैसे ही भारतीय सौन्दर्यतत्व में भी कला का सर्वोपरि महत्व है। वाह्य रूप का भी निजी महत्व है किन्तु वह भावों की अभिव्यक्ति का साधन मात्र है। रूप को शरीर कहा जाय अर्थ कला का प्राण है। कालिदास ने शब्द या रूप को जगन्माता और अर्थ को जगत्पिता कह कर कला की सर्वाधिक अभ्यर्थना की है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ। वागर्थप्रतिपत्तये जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।

जो जगत के माता पिता हैं वे ही कला के अर्थ और रूप के जनक जननी हैं। अर्थ अमूर्त्त लोक का और रूप मर्त्य जगत का प्रतिनिधि है। दोनों ही भगवान् विष्णु के दो रूप हैं। एक परम रूप और दूसरे को विश्व रूप कहा गया है। (विष्णु पुराण ६।७।५४) समस्त विश्व के नाना पदार्थों के मूल में अर्थतत्व ही नियामक है जिसे भावना कहते हैं अर्थात् मनुष्यों के हृदय में जो मनोभाव रहते हैं वे ही कला और साहित्य में मूर्त होते हैं। यह भावना तीन प्रकार की होती है—

(१) ब्रह्म भावना—जिसका तात्पर्य है विश्वात्मक परम एक और अभिन्न मनोभाव जो ब्रह्म के समान निरपेक्ष और सर्वोपरि है। वही तो सब रसों और मनोभावों का मूल स्रोत है।

(२) कर्मभावना—उच्चतम देवों से लेकर मनुष्य एवं इतर प्राणियों तक के जो प्राकृत मनोभाव हैं वे इसके अंतर्गत आते हैं।

उभय भावना :—

इसमें विश्वात्मक ब्रह्म तत्व और मानुषी कर्म इन दोनों का संयोग आवश्यक है। केवल कर्मभावना पर्याप्त नहीं है। यदि कला की सीमा वहीं तक हो तो कला का सोता सूख जायेगा। और वह चित्रों के समाजन निर्जीव ठठरी रह जायेगी। कला प्राणवन्त तभी बनती है जब उसके रूपात्मक पार्थिव शरीर में भावात्मक देवांश प्रवेश करता है। कलात्मक रूप में भावात्मक देव की प्रतिष्ठा ही कला की सच्ची प्राण प्रतिष्ठा है। मानुषी कर्म के साथ ब्रह्म ज्ञान के सम्मिलन से ही राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, बनते हैं जो कला के सच्चे आराध्य हैं।

कला के रूपों के मूल में छिपे हुए सूक्ष्म अर्थ का परिचय प्राप्त करने से कला की सौन्दर्यानुभूति पूर्ण और गम्भीर बनती है यही भारतीय मत है। अध्यात्म के बिना केवल सौन्दर्य या चारुतत्व सौभाग्य विहीन है। उस अवस्था में कला की स्थिति उस स्त्री के समान है जो अपना पति न पा सकी हो। केवल रूप को कवि ने निन्दित कहा है किन्तु अध्यात्म अर्थ के साथ वही पूजनीय बन जाता है जैसे विश्वरूपों के भीतर जो भगवान का अध्यात्म रूप है उसीके ध्यान से आत्मशुद्धि होती है। जैसे अग्नि घर में प्रविष्ट होकर उसे दग्ध कर देता है वैसे ही कला के आधार से चित में जो भाव अनुप्राणित या या प्रेरित होते हैं उनसे मन का मैल हट जाता है—

तद् रूपं विश्वरूपस्य तस्य योग युजानृप, चिन्त्यमात्य विशुद्धयर्थ सर्व किल्विष नाशनम्।
यथाग्नि रुद्धत शिखः कक्षंदहति सानिलः, तथा चितस्थितोविष्णुः योगिनां सर्व किल्विषम् ।।
(विष्णु पुराण ६।७।७३–७४

भारतीय मूर्तिकला में त्रिविक्रम

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षयन्ति भुवनानि विश्वा ।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभि ।।
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
य उ त्रिधातु पृथ्वीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ।।

ऋग्वेद, १ १५४, २-४

वालिणो वाअावन्वे चोज्जंणिउ पअंडतो ।
सुरसत्थ कआणन्दो वामन रूवो हरि ज अइ ।।

गाथा सप्तशती, ६

सृष्टि, पालन और संहार प्राणि-जगत् के आधारभूत तत्त्व हैं। हिन्दु धर्म में त्रिदेवों की कल्पना इन्हीं तत्त्वों पर आधारित है। ब्रह्मा सृष्टि के, विष्णु पालन के तथा महेश अथवा रुद्र संहार के देवता है।[1] किन्तु वास्तव में जिस अभूतपूर्व देव की 'ब्रह्मा, विष्णु, शिव' रूप शक्तियां हैं, वह भगवान् विष्णु का परम पद है :

शक्तयो यस्य देवस्य ब्रह्मविष्णु—शिवात्मिकाः ।
भवन्त्यभूतपूर्वस्य तद् विष्णोः परमपदम् ।।

विष्णु पुराण, १, ६, ५६

ब्रह्मा की पूजा प्रारम्भिक काल में विशेष प्रचलित थी, किन्तु आगे चलकर यह समाप्त-प्राय हो गई।[2] विष्णु और शिव की पूजा सम्पूर्ण भारत में अब भी होती है। विष्णु के दशावतार तो सर्वत्र

---

१. ब्रह्मत्वे सृजते विश्वं स्थितौ पालयते पुनः ।
रुद्र रूपाय कल्पान्ते नमस्तुभ्यं त्रिमूर्तये ।।

विष्णु पुराण, १, १६, ६६

२. ब्रह्मा का प्राचीन एवं प्रसिद्ध मन्दिर पुष्कर (अजमेर) तीर्थ में है। वहाँ अब भी उनके सम्मान में प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमा पर एक विशाल मेला लगता है। ब्रह्मा के प्राचीन मन्दिर एवं मूर्तियों के लिए देखें : बड़ोदा म्यूजियम की पत्रिका, ५, १९४७-८, पृ० ११-२१; मरुभारती, पिलानी, जनवरी, १९५५, पृ० ८५, ८६।

प्रसिद्ध हैं ![3] भगवान् विष्णु के पांचवें अर्थात् वामन अवतार की कथा का विस्तृत वर्णन वामन,[4] भागवत, ब्रह्म, पद्म, स्कन्द, तथा हरिवंश आदि पुराणों में मिलता है।

पुराणों की इन कथाओं के अनुसार भक्त प्रहलाद के पौत्र तथा विरोचन के पुत्र राजा बलि ने देवताओं के राजा इन्द्र को परास्त कर राज्य से खदेड़ दिया। इससे दुःखी होकर इन्द्र की माता अदिति ने विष्णु से प्रार्थना की, कि वही स्वयं उनके पुत्र के रूप में जन्म लेकर बलि का दमन करें और स्वर्ग का ऐश्वर्यशाली साम्राज्य इन्द्र को दिलवाएं। विष्णु ने अदिति की प्रार्थना स्वीकार की और उसके पुत्र के रूप में जन्म लिया।

एक समय जब बलि यज्ञ करा रहा था, विष्णु उसके ऐश्वर्य की समाप्ति के लिए कपट से बौने (वामन) ब्रह्मचारी का रूप धारण कर उसकी यज्ञशाला में जा पहुंचे :

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं,
स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।

नैषध चरित, १ १२४

असुरों के गुरु शुक्राचार्य को अपनी ज्ञान शक्ति से विदित हो गया कि यह वामन 'हरि' के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। अतः उन्होंने बलि को सलाह दी कि वह किसी भी प्रकार का दान वामन को न दें। शुक्राचार्य ने कहा, "हे विरोचन के पुत्र (बलि), यह स्वयं भगवान् विष्णु हैं जिसने देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिए कश्यप और अदिति से जन्म लिया है। अनर्थ को बिना ध्यान में रखे हुए जो तुमने इसे दान देने की प्रतिज्ञा की है, वह राक्षसों के लिए ठीक नहीं है। यह बहुत बुरा हुआ कि कपट से बटु का रूप धारण करने वाला विष्णु तेरा स्थान, ऐश्वर्य, लक्ष्मी, तेज, यश और विद्या को छीनकर इन्द्र को देगा। सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त करने वाला शरीर बनाकर यह तीन चरणों में सब लोकों का लंघन करेगा। विष्णु को सर्वस्व देकर हे मूर्ख, तू कैसे कार्य चलाएगा? यह पृथ्वी को एक पग से, दूसरे से स्वर्ग और आकाश को अपने महान् शरीर से लंघन करेगा, तो तीसरे पग के लिए स्थान ही कहां होगा?"[5]

---

३. भगवान् किस उद्देश्य से अवतार लेते हैं, इसका उत्तर स्वयं कृष्ण ने गीता में दिया है :
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

श्रीमद्भगवद् गीता, ४, ८।

४. वामन की जन्म कथा के विस्तृत विवरण हेतु देखें, : वामन पुराण, अध्याय ३१।

५. एष वैरोचने साक्षाद् भगवान् विष्णुरव्ययः।
कश्यपाददितेर्जातो देवानां कार्यसाधकः॥
प्रतिश्रुतं त्वयैतस्मै यदनर्थमजानता।
न साधु मन्ये दैत्यानां महानुपगतोऽनयः॥
एष ते स्थानमैश्वर्यं श्रियं तेजो यशः श्रुतम्।
दास्यत्याच्छिद्य शक्राय मायामाणवको हरिः॥
त्रिविक्रमैरिमांल्लोकान् विश्वकायः क्रमिष्यति।
सर्वस्वं विष्णवे दत्त्वा मूढ वर्तिष्य से कथम्॥
क्रमतो गां पदैकेन द्वितीयेन दिवं विभोः।
खं च कायेन महता तार्तीयस्य कुतो गतिः॥

भागवत पुराण, ८, १९, ३०-३४।

इस सलाह के अनुसार कार्य न करने पर शुक्राचार्य ने क्रोधवश सत्य-प्रतिज्ञ बलि को शाप भी दिया :

एवमश्रद्धितं शिष्यमनादेशकरं गुरु. ।
शशाप दैवप्रहित: सत्यसन्धं मनस्विनम् ।।

भागवत पुराण, ८, २०, १४ ।

परन्तु बलि अपने विचार पर दृढ़ रहा । उसने कहा कि यज्ञ के समय यदि कोई उसका सिर भी दान में मांगे तो देने में उसे लेशमात्र हिचकचाहट न होगी । गोविन्द दान मांगे तो इससे बढ़कर बात क्या होगी ? मैंने तो अन्य (सामान्य) याचकों को भी मांगने पर नां नहीं की है :

यज्ञेऽस्मिन्यदि यज्ञेशो याचते मां जनार्दनः ।
निजमूर्द्धानमप्यस्मै दास्याम्येवाविचारितम् ।।
स मे वक्ष्यति देहीति गोविन्द: किमतोऽधिकम् ।
नास्तीति यन्मया नोक्तमन्येषामपि याचताम् ।।

वामन पुराण, ३१, २३-२५

इस दान की महत्ता को भी स्पष्ट रूप में प्रकट करते हुए राजा ने कहा, 'यदि दान-रूपी इस श्रेष्ठ बीज को नारायण के हाथों में बो दिया जाये तो उससे सहस्त्रगुनी फल-निष्पत्ति होगी :

एतद्बीजवरं दानं बीजं पतति चेद् गुरो ।
जनार्दने महापात्रे किं न प्राप्त स्ततो मया ।।

वामन पुराण, ३१, ३० ।

अतः बलि ने उनका स्वागत किया और उनसे यज्ञ में दान स्वरूप मनचाही वस्तु मांगने को कहा । परन्तु वामन ने अत्यन्त चातुर्य से तीन पग थोड़ी सी भूमि की याचना की और शेष सब स्वर्ण, धन तथा रत्नादि याचको को देने की सलाह दी :

तस्मात्त्वत्तो महीमीषद् वृणेऽहं वरदर्षभात् ।
पदानि त्रीणि दैत्येन्द्र सम्मितानि पदा मम ।।

भागवत पुराण, ८, १९, १६

ममाग्निशरणार्थाय देहि राजन् पदत्रयम् ।
सुवर्णग्रामरत्नादि तदर्थिभ्य: प्रदीयताम् ।।

वामन पुराण, ३३, ४९

दान की पूर्ति के हेतु जैसे ही बलि ने कमण्डलु से संकल्प जल वामन के हाथ पर डाला, वैसे ही वामन ने विराट रूप धारण कर[१] अपना सर्वदेव मय रूप प्रदर्शित किया :

---

१. वामनादणुतमादनु जीयास्त्वं त्रिविक्रमंतनेभृतदिक्क: ।

नैषध चरित, २१, ६५

जित्वा लोकत्रयं कृत्स्नं हत्वा चासुरपुंगवान् ।
पुरंदराय त्रैलोक्यं ददौ विष्णुरुरुक्रमः ।।

वामन पुराण, ३१, ७०

उपर्युक्त वर्णित कथा को प्राचीन भारतीय कलाकारों ने अत्यन्त सुन्दरता से पाषाण प्रतिमाओं के माध्यम से दर्शाया है। भारत का कोई ऐसा भाग नहीं है जो इस कथा से प्रभावित न हुआ हो। यह कथा दो प्रकार की प्रतिमाओं से प्रदर्शित है। इनमें प्रथम (मायावटु) वामन की है। इसमें भगवान् विष्णु को विभिन्न आयुध लिए एक बौने वैदिक ब्रह्मचारी के रूप में दिखाया गया है। इसका हमने अन्य स्थान पर वर्णन किया है देखें (चित्र १)।[८] द्वितीय प्रकार की मूर्तियाँ (विश्वरूप) त्रिविक्रम की हैं, जिसमें उनका एक पैर आकाश नापने के लिए ऊपर उठा है।[९]

त्रिविक्रम की प्रारम्भिक प्रतिमाओं में पवाया (मध्यप्रदेश) से प्राप्त गुप्त कालीन मूर्ति अत्यधिक खण्डित होने पर भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है (देखें चित्र २)।[१०] दाहिने भाग पर दान की पूर्ति के लिए संकल्प जल देने का दृश्य बना है। बांई ओर अष्टभुजी त्रिविक्रम बाएं पैर से आकाश नापते दिखाए गए हैं। यह भाग अब बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। उसी प्रदेश के घुसाई नामक स्थान से प्राप्त उत्तर गुप्त कालीन एक अष्टभुजी प्रतिमा गदा, खड्ग, चक्र, ढ़ाल, धनुष, तथा शंख आदि आयुध लिए है। (देखें चित्र ३) उपर्युक्त प्रतिमा की भांति ही इसमें त्रिविक्रम आकाश नापते उत्कीर्ण किए गए हैं। इसी फलक पर नीचे की ओर बलि छत्रधारी वामन को दान दे रहे हैं। इस प्रकार एक ही फलक पर वामनावतार की दो घटनाएं प्रदर्शित है। रायपुर (मध्यप्रदेश) से प्राप्त त्रिविक्रम में उठे हुए पैर के नीचे आदिशेष का चित्रण किया मिलता है जो हाथ जोड़े बैठा हुआ है।[११]

स्थान और काल भेद के कारण त्रिविक्रम प्रतिमाओं में भी भिन्नता मिलती है। मध्यकाल के आगमन के साथ साथ अष्टभुजी प्रतिमाओं की अपेक्षा चर्तुभुजी प्रतिमाएं अधिक प्रचलित हो गई। इस

---

८. राष्ट्रीय संग्रहालय में मध्यकालीन राजस्थानी प्रस्तर प्रतिमाएं, मरूभारती, पिलानी, अक्तूबर, १९६४, पृ० ८६–८७

९. द्रष्टव्यः वृहच्छरीरो विमिमान ऋक्वभिर्युवा कुमारः
प्रत्येत्याहवम । — ऋगवेद, १, १५५, ६
स्थलेषु मायावटु वामनोऽव्यात् त्रिविक्रमः खेऽवतु विश्वरूपः । — भागवत, ६, ८, १३
वामन इति त्रिविक्रममभिदधति दशावतारविदः । — आर्यासप्तशती, ६०

१०. त्रिविक्रम की गुप्त कालीन अन्य प्रतिमाओं के लिए देखें: डा० अग्रवाल, केटेलोग ऑफ दी ब्रेह्मैनिकल इमेजेज इन मथुरा आर्ट, १९५१, पृ० ८ तथा वार्षिक रिपोर्ट, मथुरा संग्रहालय, १९३६-३७ चित्र II/२.

११. गोपीनाथ राव, हिन्दू आईक्नोग्रफी, पृ० १९९, चित्र XLVIII.
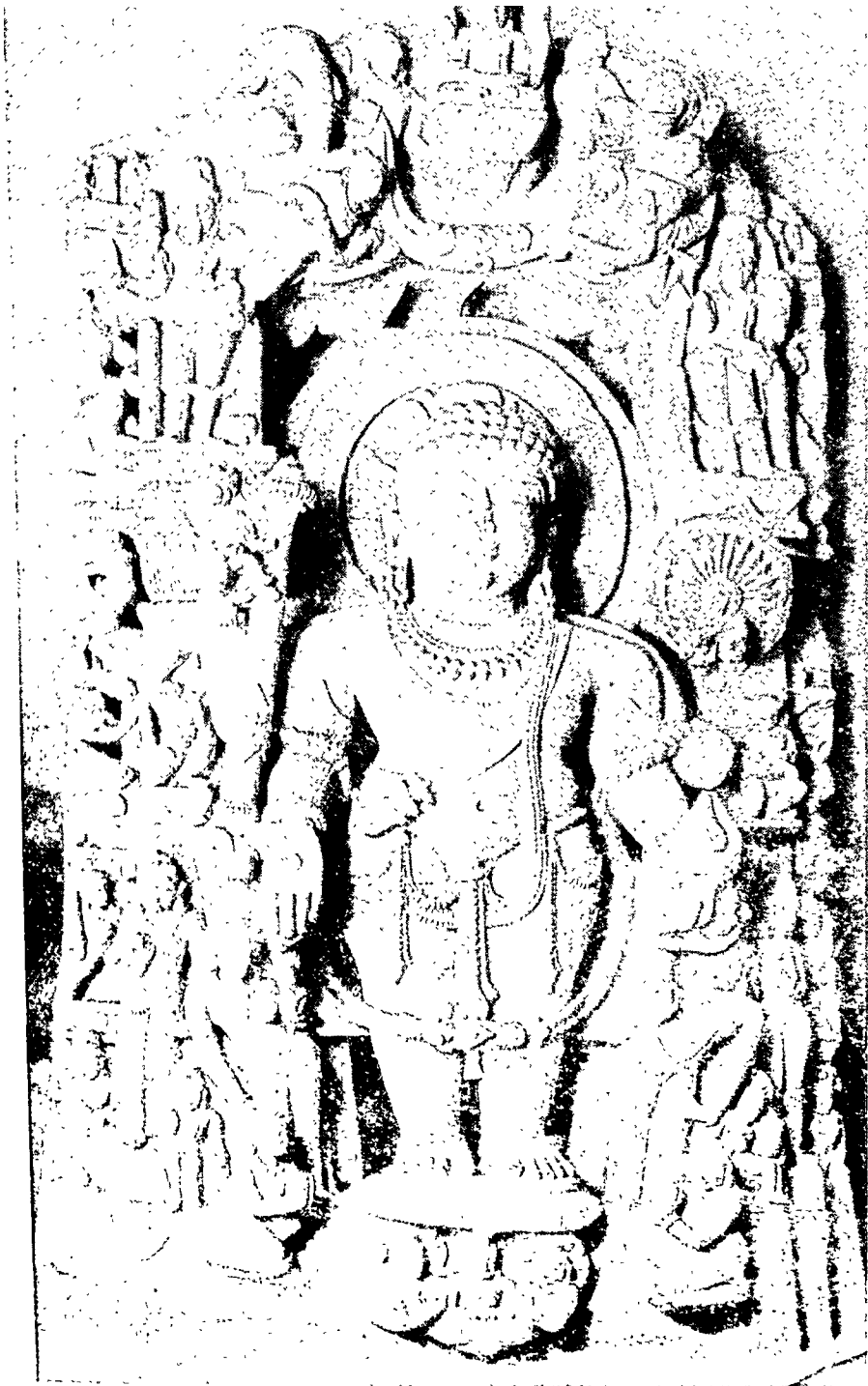
वामन ब्रह्मचारी के रूप में भगवान विष्णु चित्र–१, पृष्ठ २५६

काशीपुर (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त प्रतिहार कालीन त्रिविक्रम
चित्र-५, पृ० २५८

लेख में वर्णित निम्नलिखित उत्तरी भारत की मध्यकालीन कुछ प्रतिमाओं से यह बात पूर्णतया स्पष्ट होगी।[१२]

मन्डोर (राजस्थान) से प्राप्त एवं जोधपुर संग्रहालय में सुरक्षित प्रतिमा पर एक साथ छत्र-धारी वामन तथा त्रिविक्रम प्रदर्शित मिलते हैं।[१३] राजस्थान से प्राप्त एक अन्य त्रिविक्रम प्रतिमा का वर्णन एवं चित्रण गोपीनाथ राव ने प्रस्तुत किया है। प्रतिमा इन्डियन म्यूजियम, कलकत्ता में है। त्रिविक्रम के उठे बाएं पैर के ऊपर ब्रह्मा पद्मासन पर विराजमान हैं। दाहिने पैर के समीप वीणाधारिणी देवी खड़ी हैं और सामने गरुड़ शुक्राचार्य पर झपटता सा प्रतीत होता है।[१४] विलास तथा अट्रू से प्राप्त त्रिविक्रम की अन्य मूर्तियां कोटा संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

मन्दिरों की नगरी ओसियां (जोधपुर)[१५] में स्थित विष्णु मन्दिर के पीछे की दीवार पर चतुर्भुजी त्रिविक्रम की भव्य प्रतिमा निर्मित है।[१६] ऐसी ही एक अन्य प्रतिमा 'माता का मन्दिर' पर भी देखी जा सकती है।[१७] यहीं के सूर्य मन्दिर १ पर बनी चतुर्भुजी मूर्ति में राक्षस नमुचि भगवान् का दाहिना पैर पकड़े प्रदर्शित है और बांया पैर ऊपर उठा है! सामने निचले भाग पर बलि द्वारा वामन को दान देने का दृश्य अंकित है (चित्र ४)। त्रिविक्रम की एक प्रतिमा बुचकला के प्रसिद्ध पार्वती मन्दिर के एक आले में विद्यमान है। चित्तौड़गढ़ के कुम्भ स्वामी मन्दिर पर भी त्रिविक्रम की एक प्रतिमा बनी है।[१७] अ कसरा (गुजरात) में स्थित विष्णु के एक देवालय की विभिन्न ताकों में गरुड़ासीन लक्ष्मी नारायण, वराह आदि मूर्तियों के साथ त्रिविक्रम की भी एक खण्डित मूर्ति विद्यमान है।[१८]

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के अनन्त वासुदेव मन्दिर के उत्तरी ओर के एक आले में त्रिविक्रम का चित्रण प्राप्त है।[१९] यहीं के प्रसिद्ध लिंगराज मन्दिर के चारों ओर निर्मित छोटे छोटे देवालयों में अन्य देवी-देवताओं के साथ त्रिविक्रम की भी प्रतिमा मिलती है।[२०]

कुरुक्षेत्र (पंजाब) से त्रिविक्रम की एक महत्वपूर्ण मूर्ति उपलब्ध है! इसमें वे चक्र पुरुष तथा शंख पुरुष नामक आयुध-पुरुषों सहित खड़े हैं। नीचे दोनों ओर लक्ष्मी और भूमि है। किनारों पर नाग

---

१२. शिवराममूर्ति, सी०, ज्योग्रेफिकल एण्ड क्रोनोलोजिकल फेक्टर्स इन इण्डियन आईक्नोग्राफी, ऐन्शियन्ट इन्डिया, जनवरी, १९५०, नं० ६, पृ० ४१

१३. ऐनुअल रिपोर्ट, अर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, १९०९-१०, पृ० ९७

१४. एलीमेन्ट्स ऑफ हिन्दु आईक्नोग्राफी, I, i, पृ० १६४, चित्र, LII, I

१५. ओसियां के देवालयों में त्रिविक्रम के चित्रण के लिए देखें: ऐ० रि०, आ० सर्वे ऑफ इन्डिया, १९०८-०९, पृ-११३

१६. आ० स० ऑफ इन्डिया, फोटो एल्बम, राजस्थान, चित्र नं० १२८१/५८

१७. व्ही, चित्र नं० १२५३/५८ १७ अ०, व्ही, २२६१/५५

१८. मजूमदार, ए० के०, चालुक्याज् ऑफ गुजरात, पृ० ३८१

१९. दी उड़ीसा हिस्टोरिकल जर्नल, १९६२, X, नं० ४, पृ० ७१

२०. बैनर्जी, आर० डी०, हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, II, पृ० ३६४

नागिन का चित्रण है। मस्तक के दोनों ओर ब्रह्मा, शिव तथा गजारूढ इन्द्र हैं। प्रतिमा के ऊपरी भाग में एक पंक्ति में सप्तऋषि विराजमान है।[२१]

काशीपुर(उत्तरप्रदेश)से प्राप्त प्रतिहारकालीन त्रिविक्रम को मूर्तिकार ने शिल्परत्न के अनुसार दाहिने पैर से आकाश नापते चित्रित किया है। उनके हाथों में क्रमशः पद्म, गदा, और चक्र हैं। नीचे वाले बायें हाथ में, जो खण्डित हो गया है, सम्भवतः शंख ही था।[२२] त्रिविक्रम के ऊपर उठे पैर के नीचे का दृश्य दो भागों में बना है—प्रथम में मुकुटधारी राजा बलि[२३] छत्रधारी वामन के दाहिने हाथ में कमण्डलु से जल गिरा रहे हैं। बलि के इस कार्य से असन्तुष्ट शुक्राचार्य वहीं मुंह फेरे खड़े हैं। इनके शरीर पर धारण किया हुआ वस्त्रयज्ञोपवीत स्पष्ट है। दूसरे भाग में वामन के पीछे बलि को पाश से बांधे एक सेवक बना है! मूर्ति पर्याप्त रूप से सुन्दर है (चित्र ५)।[२४]

दीनाजपुर से प्राप्त विष्णु (त्रिविक्रम) की एक अन्य प्रतिमा मूर्तिकला की दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। यहां वे सांप के सात फणों के नीचे खड़े हैं तथा गदा व चक्र पूर्ण विकसित कमलों पर प्रदर्शित हैं। डा० जे० एन० बैनर्जी के विचार में यह विष्णु प्रतिमा महायानी प्रभाव से प्रभावित है,[२५] क्योंकि इन आयुधों को कमल पर रखने का तरीका मञ्जुश्री और सिंहनाद लोकेश्वर की प्रतिमाओं की भांति है।

उपर्युक्त वर्णित घुसाई, ओसियां, काशीपुर आदि स्थानों से प्राप्त प्रतिमाओं में त्रिविक्रम के ऊपर उठे पैर के ऊपर एक विचित्र मुखाकृति (grinning face) मिलती है! यह विद्वानों में काफी विवाद का विषय रहा है! गोपीनाथ राव ने वराहपुराण को उद्धृत करते समय विचार व्यक्त किया था कि जब त्रिविक्रम ने स्वर्ग नापने के लिए अपना पैर ऊपर उठाया तो उसके टकराने से ब्रह्माण्ड फूट गया और उस टूटे ब्रह्माण्ड की दरारों से जल बहने लगा। यह मुख सम्भवतः ब्रह्माण्ड की उस अवस्था को दर्शाता है।[२६] कालान्तर में डा० स्टेल्ला क्रेमरिश,[२७] डा० आर० डी० बेनर्जी, डा० जे०

---

२१. ऐ० रि०, आ० स० ऑफ इन्डिया, १९२१। २२३, पृ० ८९

२२. 'पद्मं कौमोदकीं चक्रं शंखं धत्ते त्रिविक्रमः' ॥७॥

२३. इनके विपरीत बादामी की गुफा में इसी प्रकार के बने एक अन्य दृश्य में राजा बलि का वामन को दान देते समय शीश मुकुट रहित है।

२४. राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, नं० एल–१४३

२५. हिस्ट्री ऑफ बंगाल I, पृ० ४३३–४३४

२६. "That when the foot of Trivikrama was Lcifted to measure the heaven world, the Brahmanda burst and cosmtc water began to pour down through the clefts of the broken Brahmanda. This face is perhaps meant to represent the Brahmanda in that condition,"
एलमिन्ट्स आफ हिन्दु आईक्नोग्रेफी, I, i, पृ० १६७

२७. दी हिन्दु टेम्पिल, II, पृ० ४०३–४०४

एन० बेनर्जी[28] और श्री सी० शिवराममूर्ति आदि ने इसे राहु बताया है। इन विद्वानों के अनुसार मध्य-कालीन कला में राहु का इस प्रकार चित्रण किया जाता था। नीचे दिये नैषधचरित के श्लोक से भी इस मत की पुष्टि होती है।[29]

उत्तरी भारत की भांति दक्षिणी भारत में त्रिविक्रम की प्रतिमाएं बादामी की गुफा नं० ३ (छठीं श० के उत्तरार्ध),[30] महाबलिपुरम् के गणेश रथ (७वीं श० ई०) तथा अलोरा (८वीं श० ई०)[31] आदि अनेक स्थानों में उत्कीर्ण मिलती है![32] इन प्रतिमाओं में महाबलिपुरम् वाली प्रतिमा विशेष रूप से उल्लेखनीय है (चित्र ६)। यह अष्टभुजी प्रतिमा अपने छः हाथों में चक्र, गदा, खड्ग तथा शंख, खेटक, धनुष आदि आयुध धारण किए है। दो रिक्त हाथों में दाहिना हाथ वैखानसागम के अनुसार ऊपर उठा है तथा साथ वाला बांया हाथ उठे हुए बाएं पैर के समानान्तर है। प्रतिमा के दोनों ओर पद्मासन पर चतुर्भुजी शिव एवं ब्रह्मा का चित्रण है तथा नीचे सूर्य एवं चन्द्र का अंकन हैं। ऊपर मध्य में वराह-मुखी जाम्बवान त्रिविक्रम की विजय पर हर्षध्वनि कर रहा है और ऊपर वर्णित ओसियां की प्रतिमा की भांति नमुचि राक्षस भगवान् का दाहिना पैर पकड़े है।

दक्षिण भारत में, मैसूर में हलेविद के प्रसिद्ध होयसलेश्वर मन्दिर पर निर्मित त्रिविक्रम की प्रतिमा भी कम महत्व की नहीं है (चित्र ७)। मध्यकालीन होयसल कला अत्यधिक सुसज्जित मूर्तियों एवं कोमल अलंकरण के लिए सर्वत्र विख्यात है। प्रस्तुत प्रतिमा काशीपुर की प्रतिमा की भांति ही शिल्परत्न के अनुसार है। त्रिविक्रम के उठे दाहिने पैर के ऊपर ब्रह्मा है, जो उसे गंगा के पवित्र जल से धो रहे हैं। नीचे बहती गंगा स्पष्ट रूप से दीखती है। कुशल कलाकार ने इसे नदी का रूप देने के लिए इसमें मछली एवं कछुओं का सुन्दरता से चित्रण किया है। पैर के नीचे आलीढासन में गरुड़ है, जिसके हाथ अञ्जली मुद्रा में हैं। त्रिविक्रम के बाएं पैर के समीप चामरधारिणी सेविका है। प्रतिमा के ऊपरी भाग में जो लतायें आदि हैं, उनका आशय सम्भवतः कल्पवृक्ष से है। इस प्रतिमा के देखने मात्र से ही मूर्तिकार की उच्चतम कार्यकुशलता का सहज ही में आभास हो जाता है।

---

२८. दी डेवलपमेन्ट ऑफ हिन्दु आईक्नोग्राफी, पृ० ४१९

२९. माँ त्रिविक्रम पुर्नाहि पदेते किं लगन्नजनिराहु रूपानत्।
किं प्रदक्षिणनकृद्भ्रमि पाशं जाम्बवान दित ते बलिबन्धे ॥

—नैषध चरित, २१, ६६

३०. गोपीनाथ राव, ऐलीमेन्टस ऑफ हिन्दु आईक्नोग्राफी, पृ० १७२, चित्र L

३१. वही, पृ० १७४, चित्र LI

३२. इस सम्बन्ध में हम त्रिविक्रम (८वीं श० ई०) की एक कांस्य प्रतिमा को भी ले सकते हैं जिसमें वे बायें पैर से आकाश नापते प्रदर्शित किये गए हैं। प्रस्तुत प्रतिमा सिंगनल्लूर (जिला कोयम्बटूर) के एक प्राचीन मन्दिर में अब भी पूजी जाती है। शिवराममूर्ति, सी, साऊथ इन्डियन ब्रान्जेज, पृ० ७१; चित्र १५०

पूर्वी भारत में बंगाल-विहार की पाल तथा सेन कालीन प्रतिमाओं में एक उठे पैर की कुछ मूर्तियां प्राप्त हैं।[३३] किन्तु अधिकांश में त्रिविक्रम को पूर्ण विकसित कमल पर समभंग मुद्रा में खड़े (स्थानक) प्रदर्शित किया गया है (चित्र ८)। इन प्रतिमाओं में आयुधों का क्रम उसी प्रकार है जैसा कि हम उपर्युक्त वर्णित त्रिविक्रम की अन्य मूर्तियों में देख चुके हैं। वे किरीट-मुकुट, कर्णपूर, रत्नकुण्डल, हार, उपवीत, कटिवन्ध, वनमाला, वलय, वाहुकीर्ति, नूपुर, उत्तरीय तथा परिधान आदि धारण किये हैं। प्रतिमा के पैरों के पास लक्ष्मी व जया तथा सरस्वती व विजया हैं।[३४] मुख्य मूर्ति के दोनों ओर मध्य में सवार सहित गज-शार्दूल, मकरमुख, तथा नृत्य एवं वीणा वादन करते गन्धर्व युगल हैं। सिर के पीछे की कलात्मक प्रभावली के दोनों ओर वादलों में मालाधारी विद्याधर बने हैं। सबसे ऊपर मध्य में कीर्तिमुख है। पीठिका पर मध्य में विष्णु का वाहन गरुड़, दानकर्ता एवं उसकी पत्नी एवं उपासकों के लघुचित्रण हैं। इस प्रकार से ये प्रतिमायें उन प्रतिमाओं से सर्वथा भिन्न हैं, जिन पर एक ही साथ बलि द्वारा वामन को दिए जाने वाले दान का तथा उसकी प्राप्ति पर त्रिविक्रम द्वारा आकाशादि नापने का चित्रण मिलता है।

भगवान् विष्णु की पूजा त्रिविक्रम के रूप में प्राचीन भारतवर्ष में विशेषरूप से प्रचलित थी। इसका अनुमान हम उनकी अनेकों प्रतिमाओं के अतिरिक्त साहित्य एवं शिलालेखों से भी कर सकते हैं। इनका कुछ निदर्शन हम ऊपर कर चुके हैं। शिलालेखों से दो लेख उदधृत हैं।

पायासुर्व्व (र्ब्व) लिवन्च (ञ्च) न व्यतिकरे देवस्य विक्रान्तयः
सद्यो विस्मित देवदानवनुतास्तिस्त्रस्त्रि (लो) कीं हरेः।
यासु व्र (त्र) ह्मवितोरार्णमर्घसलिलं पादारविन्दच्युतं।
धत्तेद्यापि जगत्र (त्र) यैकजनकः पुरायं स मुर्च्छा हरः ॥[३५]

तथा

भग्नम् पुनर्नूतनमत्र कृत्वा ग्रामे च देवायतनद्वयं यः।
पितुस् तथार्थेन चकार मातुस् त्रिविक्रमं पुष्करिणीभि माञ्च ॥[३६]

---

३३. क्रेमरिश, स्टेल्ला, पाल एन्ड सेन स्कल्पचर, रूपम, अक्टूबर १९२९, नं० ४०, चित्र २७; भट्टसाली एन० के०, आईकनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट ऐन्ड ब्रह्मैनिकल स्कलपचर्स इन दी ढाका म्यूजियम, पृ० १०५, चित्र, XXXVIII; वेनर्जी, आर० डी०, ईस्टर्न इन्डियन स्कूल ऑफ मेडिवल स्कलपचर्स, चित्र, XLVI

३४. त्रिविक्रम की कुछ प्रतिमाओं में लक्ष्मी व सरस्वती के स्थान पर आयुध पुरुषों का भी चित्रण मिलता है। द्रष्टव्यः जर्नल ऑफ विहार रिसर्च सोसाइटी, १९५४, ४०, IV, पृ० ४१३ तथा आगे।

३५. एपिग्राफिया इन्डिका, I, पृ० १२४, श्लोक २

३६. वही, XIII, पृ० २८५, श्लोक २४

इस लेख के लिखने में मुझे अपने श्रद्धेय गुरु डा० दशरथ शर्मा, एम० ए०, डी० लिट् से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूं।
लेख में आए चित्रों के लिए मैं ग्वालियर संग्रहालय, राष्ट्रीय संग्रहालय तथा आ० सर्वे ऑफ इन्डिया का आभारी हूं।

भारतीय संस्कृति में ब्रजकला

ओर

उसके ऐतिहासिक तिथिक्रम का विचार

भारत की सप्त महापुरियों में मथुरा नगरी अपना महत्व तथा अपना स्थान एक विशेष रूप से रखती है। यह तीर्थ स्थान तो है ही साथ ही साथ ऐतिहासिक विभूतियों से भी ओतप्रोत है, और है उत्तरी भारत में गंगा यमुना की अन्तर्वेदी सच्ची रंगभूमि। यह वह स्थान है जहां अनेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ है।

जिन जातियों ने भारत पर चढ़ाई की मथुरा उनके मार्ग में अवश्य आया, जिसका फल यह हुआ कि मथुरा की सांस्कृतिनद में अन्य जातियों के धार्मिक विचार के पुट लगते रहे जिनकी छाप मथुरा कला पर भी विशेष रूप से पड़ी।

मथुरा कला के साथ अन्य कलाओं का प्रशंसनीय प्रदर्शन हमको स्टेट म्यूजियम (विचित्रालय) भरतपुर में तथा पुरातत्व संग्रहालय मथुरा में देखने को मिलता है। उनके देखने से यह पता चलता है कि मथुरा कला में यूनानी भावों को भी दर्शाने वाली मूर्तियां मौजूद हैं और इनके अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन धर्म सम्बन्धी भी अनेक मूर्तियां हैं।

मथुरा में ब्राह्मण धर्म का बहुतायत से प्रचार था और इस धर्म के देवी देवताओं की मूर्तियों की एक प्रकार से पूरी भरमार सी रही है। अपने २ धर्म का प्रचार करने के लिये बौद्ध भिक्षुओं और जैन मुनियों ने इस स्थान को अपनाकर अपने २ धर्मों का कला द्वारा प्रदर्शन करके कला का प्रसार किया। प्रसंगवश यहां पर प्रथम मथुरा कला का तिथिक्रम उपस्थित करना परम आवश्यक है जो इस प्रकार से है :—

भगवान बुद्ध और महावीर जी ई० पूर्व ६ठी शताब्दी
मौर्यकाल ३२५ ई० पूर्व से १८५ ई० पूर्व तक
शुङ्गकाल १८४ ई० पूर्व से ७२ ई० पूर्व तक

अतरानवंश के महा क्षत्रप राजुल और सुदास १०० ई० पूर्व से ५६ ई० पूर्व तक, शक कुषाण वंश ई० प्रारम्भ से तीसरी शताब्दी तक, कुजुला कैड फाइसिस और वेम कैडफाइसिस ७८ ई० तक।

कनिष्क ७८ ई० से १०२ ई० तक
वासिष्क १०२ ई० से १०६ ई० तक

वासुदेव १३८ ई० से १६६ ई० तक
गुप्तकाल ३२० ई० से ६०० ई० तक
मध्यकाल ६०० ई० से १२०० ई० तक

उपरोक्त काल की जिन २ मूर्तियों का संग्रह है उनमें उनकी कला की कारीगरी तथा भाव भंगी को सहज समझ सकते हैं। यहां पर उनके दो एक उदाहरण दिये जाते हैं। यथा वहां की एक मूर्ति में आश्रम का दृश्य दरसाया गया है जिसमें ऊपर की पट्टी में तीन यक्ष कमल नालों से गुम्फित एक भारी माला को उठाये हुए हैं और निचले भाग में जटाधारी तपस्वी कबूतरों को चुगा रहे हैं। इतिहास विशारदों का मत है कि यह रोमक जातक का चित्रण है। इसी प्रकार का एक जैन आयाग पट्ट है जिसे लावण्य शोभिका नाम की गणिका की पुत्री ने दान में दिया था। इस शिला पट्ट पर बीच में दो स्तम्भों के बीच में एक स्तूप है जिसके दोनों बगल दो मुनि, दो सुपर्ण तथा दो यक्षिणी हैं। इसी प्रकार का एक तोरण भी है। जिसके अलंकृत भाग पर बुद्ध की पूजा के दृश्य दर्शाये गये हैं। उभय संग्रहालयों में धन कुबेर की भी एक २ मूर्ति है जो कुषाण काल की सुन्दर कला की प्रतीक है। इनमें कैलाश पर बैठे हुए आसव पान करते कुबेर दिखाये गये हैं जिनके पीछे उनका अनुचर है और पास में कुबेर की स्त्री तथा उसकी सखी दिखाई गई है। यह कुषाण काल मथुरा कला का सुवर्ण युग रहा है। ई० प्रथम शताब्दी से तीसरी शताब्दी तक का समय मथुरा कला के उच्चतम वैभव का युग माना गया है जबकि यहां की कला धर्म और शासन की ख्याति दूर २ तक थी। इस युग में जनता सर्वत्र विहार, स्तूप, चैत्य, देवकुल, पुण्य शाला उदयान (प्याऊ) आराम (बगीचा) आदि के निर्माण में करने में परम उत्साह का परिचय देती रही।

इस काल की कला की एक अन्य मूर्ति है जिसमें दो कुषाण जातीय भद्र पुरुष माला और पुष्प लिये शिव लिङ्ग की पूजा करते दिखाये गये हैं। और जिनके बाईं ओर अंगूर की बेल पर मोर बैठा है। इस मूर्ति से यह प्रत्यक्ष प्रकट होता है कि शक जाति के विदेशी पुरुषों ने भी ब्राह्मण धर्म के देवी देवताओं की पूजा उपासना की है। यहां भगवान बुद्ध की गुप्त कालीन अत्यन्त मनोहर मूर्ति है। इसी प्रकार पद्मासन लगाये जैन तीर्थङ्कर की मूर्ति है जो प्रभा मण्डल से पूर्ण अलंकृत है तथा हाथ समाधि मुद्रा में हैं। यह कला भी गुप्तकाल की है। इसी प्रकार से गुप्तकाल की कला का कौशल तथा पूर्ण प्रादुर्भाव एक चतुर्भुजी विष्णु भगवान की मूर्ति में देखने को मिलता है। भगवान के मुकुट में मकर का आभूषण है और मुक्ता दानों को मुख में दबाये हुए सिंह है। इस मूर्ति में अन्य आभूषणों को भी यथा स्थान दिखाया गया है।

भरतपुर के अन्तर्गत प्राप्त मूर्तियों का भी रूप रंग कला कौशल बिल्कुल ऐसा ही है जैसा कि मथुरा कला की मूर्तियों का है। जिससे स्पष्ट होता है कि इनके कारीगर एक ही होंगे। मथुरा और भरतपुर समीप में हैं और है ब्रज मण्डल के अन्दर, अतः भाव साम्य होना स्वाभाविक है।

ललित कलायें हमारी पूर्व प्राचीन सभ्यता और कला की द्योतक हैं, अतः ब्रज मण्डल ऐतिहासिक, पौराणिक तथा अन्वेषण कार्य के लिये अपना एक विशेष स्थान इतिहास में रखता है जहां पुरातत्व पारखियों की अभिरुचि के अनुसार प्रचुर सामग्री है जो उनकी शोध में पूरी सहायक हो सकती है।

श्री गौड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ

प्रत्येक धर्म में अपने महापुरुषों के जीवन से संबंधित स्थानों एवं जीवन-प्रसंग की तिथियों को महत्वपूर्ण माना जाता है। जैन-धर्म में भी तीर्थंकरों के जन्म, दीक्षा, निर्वाण आदि पंच-कल्याणक-तिथियों का बड़ा महत्व है और जहां जहां तीर्थंकरों का जन्म, निर्वाण आदि हुआ उन स्थानों को तीर्थ-भूमि माना जाता है। उसके पश्चात् कई चमत्कारी मूर्तियां जहां जहां स्थापित हुई उन स्थानों को भी तीर्थो सम्मिलित कर लिया गया। श्री गौड़ीपार्श्वनाथ का तीर्थ भी इसी प्रकार है। गत पांच सौ वर्षों में इस तीर्थ की महिमा दिनोंदिन बढ़ती गई। अनेक ग्राम नगरों में गौड़ी पार्श्वनाथ के मन्दिरों एवं मूर्तियों की स्थापना हुई क्योंकि मूल प्रतिमा जिस स्थान पर थी उसका मार्ग बड़ा विषम था और सबके लिए वहां पहुंचना सम्भव न था। पर इस मूर्ति के चमत्कारों की बड़ी प्रसिद्धि हुई फलतः लोगों की श्रद्धा गौड़ी-पार्श्वनाथ के नाम से बड़ी दृढ़ हो गई। १७ वीं शताब्दि से २० वीं शताब्दि के प्रारम्भ तक कई यात्री-संघ मूल पार्श्वनाथ की प्रतिमा जहां थी उस पारकर देश में बड़े कष्ट उठाकर के भी पहुंचते रहे हैं। पर अब वह तीर्थ लुप्त प्रायः सा हो गया है।

इस तीर्थ की सबसे अधिक प्रसिद्धि प्रीतिविमल रचित "गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन" के कारण हुई, जिसकी रचना संवत् १६५० के आस पास हुई। इस स्तवन का प्रारम्भ "वाणी-ब्रह्मा-वादिनी वाक्य से होता है। इसलिए इस स्तवन का नाम "वाणी ब्रह्मा" के आद्यपद से खूब प्रसिद्ध हो गया और इसे एक चमत्कारी स्तोत्र के रूप में बहुत से लोग नित्य पाठ करने लगे। कई लोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति से संध्या समय धूप दीप करके इस स्तवन का पाठ करने लगे। उनका यही विश्वास है कि इसके पाठ से समस्त उपद्रव शान्त होते हैं और मंगला-माला या लीला लहर प्राप्त होती है। इस स्तवन में गौड़ी पार्श्व-नाथ की प्रतिमा के प्रगट होने का चमत्कारिक वृत्तान्त है। यद्यपि ऐसे और भी कई स्तवन समय समय पर रचे गये पर उनकी इतनी प्रसिद्धि नहीं हो सकी। प्रस्तुत लेख में नेम विजय रचित गौड़ी स्तवन के आधार से इस तीर्थ की स्थापना का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

मुनिश्री दर्शन विजयजी आदि त्रिपुटी लिखित "जैन परम्परानु इतिहास" के द्वितीय भाग में गौड़ी तीर्थ का वर्णन भी प्रकाशित हुआ है उसके अनुसार इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा १२२८ में पाटन में कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र सूरिजी द्वारा हुई थी। पता नहीं इसका प्राचीन आधार क्या है? त्रिपुटी के मतानुसार भिंभुवाड़े के सेठ गौड़ी दास और सोडाजी भाला अपने यहां दुष्काल पड़ने से मालवे गये और वहां से वापिस आते समय रास्ते में सिंह नाम के कोली ने अचानक सेठ को मार डाला। सेठ मरकर व्यन्तरदेव हुआ और अपने घर में स्थित पार्श्वनाथ प्रतिमा का महात्म्य बढ़ाने लगा। अधिष्टायक के रूप में इस प्रतिमा द्वारा कई चमत्कार प्रकट किये अतः सेठ गौड़ी दास के कारण इन पार्श्वनाथ प्रतिमा

का नाम गौड़ी पार्श्वनाथ हो गया। फिर यह प्रतिमा पाटन में लाई गई और मुसलमानी आक्रमणों के समय सुरक्षा के लिए जमीन में गाड़ दी गई। सम्वत् १४३२ में पाटन के सूवेदार हसनखां की की घुड़शाला में यह प्रतिमा प्रगट हुई और उसकी वीवी उसकी पूजा करने लगी। एक दिन स्वप्न में उसे ऐसी आवाज सुनाई दी कि नगर "पारकर" का सेठ मेघा यहाँ आयेगा, उसे उस प्रतिमा को दे देना। उसके आगे का वृत्तान्त उपरोक्त स्तवन के आधार से आगे दिया जा रहा है। सम्वत् १४३२ में पाटन से रावनपुर होते हुए यह प्रतिमा नगर "पारकर" में मेघाशाह द्वारा पहुंची और १२ वर्ष वाद मेघाशाह को स्वप्न हुआ और उसके अनुसार जिस निर्जन स्थान में यह स्थापित की गई वह गौड़ीपुर नाम से विख्यात हुआ। इसी तरह सं० १४४४ में गौड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ स्थापित हुआ। उसकी प्रसिद्धि १७ वीं शताब्दी से ही अधिक हुई मालूम देती है।

नगर "पारकर" मारवाड़ से सिंध जाते हुए मार्ग में पड़ता है। जंगल या छोटे से गांव में गौड़ी पार्श्वनाथ तीर्थ था। पाकिस्तान होने के पहले तक वहां के सम्वन्ध में जानकारी मिलती रही। राष्ट्रभाषा प्रचार सभा के सिंध एवं राजस्थान में प्रचारक श्री दौलतरामजी कुछ वर्ष पूर्व वीकानेर आये थे तो उन्होंने वतलाया था कि वे भी कुछ वर्ष पूर्व वहां गये थे। आस पास में जैनों की वस्ती विशेष रूप न होने के कारण उधर कई वर्षों से उस तीर्थ के सम्वन्व में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं हो रही है अतः गौड़ी पार्श्वनाथ की प्रतिमा और मन्दिर की अव क्या स्थिति है उसकी जानकारी, जिस किसी भी व्यक्ति को हो, प्रकाश में लाने का अनुरोध किया जाता है। ५०० वर्षों तक जो इतना प्रसिद्ध तीर्थ रहा है उसके विषय में कुछ भी खोज नहीं किया जाना वहुत ही अखरता है।

गौड़ी-पार्श्वनाथ-उत्पत्ति

सर्वप्रथम सरस्वती को नमस्कार कर कवि गौड़ी पार्श्वनाथजी की स्तवना उत्पत्ति कहने का संकल्प करता है। पार्श्व प्रभु की जीवनी का संक्षिप्त उल्लेख कर कवि वताता है कि पाटण में गौड़ी-पार्श्वनाथजी की तीन प्रतिमाएं निर्माण कर भूमि-गृह में रखी गई थी। तुर्क ने एक प्रतिमा लेकर अपने कमरे में जमीन के अन्दर गाड़ दी और स्वयं उस पर शय्या विछाकर शयन करने लगा। एक दिन स्वप्न में यक्षराज ने कहा कि प्रतिमा को घर से निकालो अन्यथा मैं तुम्हें मारुंगा। देखो 'पारकर' नगर से मेघाशाह यहां आवेगा और तुम्हें ५०० टके दे देगा। तुम उसे प्रतिमा दे देना। किसी के सामने यह वात न कहना तो तुम्हारी उन्नति होगी।

'पारकर' देश में भूदेसर नामक नगर था। वहां परमारवंशीय राजा "खंगार" राज्य करता था। वहां १४५२ वड़े व्यापारी निवास करते थे। उन व्यापारियों में प्रधान काजलशाह था जिसका दरवार में भी अच्छा मान था। काजलशाह की वहिन का विवाह मेघाशाह से हुआ था। एक दिन दोनों साले वहनोई ने विचार किया कि व्यापार के निमित्त द्रव्य लेकर गुजरात जाना चाहिये। मेघाशाह ने गुजरात जाने के लिये अच्छे शकुन लेकर प्रस्थान किया। ऊंटों की कतार लेकर वाजार में आया तो कन्या, फूल, छाव लेकर आती हुई मालिन वेदपाठी व्यास, वृषभ-सांड, दधि, नीलकंठ इत्यादि अनेक शुभ शकुन मिले। अनुक्रम से पाटण में पहुंचकर कतार को उतारा। रात को सोये हुए मेघा सेठ को यक्ष राज ने स्वप्न में कहा—तुम्हें एक तुर्क पार्श्वनाथ-भगवान की प्रतिमा देगा। तुम ५००) टका नगद देकर प्रतिमा को ले लेना।

मेघासेठ ने प्रातःकाल तुर्क को सहर्ष ५००) टका देकर पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा ले ली। २० ऊंट रुई (कपास) खरीदकर उसके बीच प्रभु को विराजमान कर 'पारकर' नगर की ओर रवाना हुआ। जब वे रावनपुर आये तो कस्टम-आफिसर ने ऊंटों की गिनती में कमीवेशी की भूल होते देख आश्चर्यपूर्वक पूछा। मेघा सेठ से पार्श्व प्रतिमा का स्वरूप ज्ञातकर दाणी लोग लौट गए। संघ प्रभु के दर्शन कर आनन्दित हुआ। अनुक्रम से पारकर पहुंचने पर श्री संघ ने भारी स्वागत किया। फिर सं० १४३२ मि० फाल्गुण सुदी २ शनिवार के दिन पार्श्वनाथ भगवान की स्थापना की गई।

एक दिन काजलशाह ने मेघाशाह को पूछा कि आप मेरा द्रव्य लेकर गुजरात गये थे उसका हिसाब कीजिये। मेघा सेठ ने कहा ५००) टका तो भगवान के लिये दिये गये हैं। काजल सेठ ने कहा—इस पत्थर के लिए क्यों खर्च किया? मेघा ने कहा :—हिसाब करें तब ५००) टका को मेरे हिसाब में भर लीजियेगा।

मेघाशाह की धर्मपत्नी का नाम मृगावती था। महिओ और मेहरा नामक दो पुत्र थे। मेघा ने वनराज को भी प्रतिदिन प्रभु की पूजा की प्रेरणा दी। इसके बाद एक दिन स्वप्न में यक्षराज ने मेघाशाह से कहा—कल प्रातःकाल यहां से चलना है। भावल चारण की वहली (रथ) और रायका देवानन्द के दो बैल मंगाकर प्रभु को विराजमान कर तुम स्वयं वहली हांकते हुए अकेले चलना। बांडा थल की ओर वहली हांकना।

प्रातःकाल मेघाशाह ने यक्षराज के निर्देशानुसार बांडाथल की ओर प्रयाण किया। बांडाथल की भयानक अटवी में मेघाशाह भूत-प्रेतादि से जब भयभीत हुआ तो यक्षराज ने उसे कहा निश्चिन्त रहो।

जब वहली गोड़ीपुर गांव के पास आई तो एकाएक रुक गई। निर्जल और निर्जन स्थान में सेठ अकेला चिन्तातुर होकर सो गया। यक्षराज ने कहा—दक्षिण दिशा में जहां नीला छाण पड़ा हो वहां अखूट जल प्रवाही कुआ निकलेगा। पाषाण की खान निकलेगी। चावल के स्वस्तिक के स्थान में कुआ खुदवाना एवं सफेद आक के नीचे द्रव्य भंडार मिलेगा। सिरोही में शिल्पी मिलावरा रहता है जिसका शरीर रोगाक्रान्त है। तुम उसे यहां लाना और प्रभु के न्हवण जल से वह निरोग हो जायगा।

सेठ ने शुभ मुहूर्त में मन्दिर का काम प्रारम्भ किया। यक्ष के निर्देशानुसार जमीन खुदवाकर द्रव्य प्राप्त किया। गोड़ीपुर गांव बसाकर अपने सगे सम्बन्धियों को वहां बुला लिया। एक दिन काजल सेठ ने वहां आकर मेघा से कहा कि इस कार्य में आधा भाग हमारा है। मेघा ने कहा कि हमें आपके द्रव्य की आवश्यकता नहीं है। प्रभु कृपा से हमें द्रव्य की कोई कमी नहीं है। आप तो कहते थे कि पत्थर क्या काम का है! काजल सेठ की दाल न गलने से वह क्रुद्ध होकर लौट गया और मन में वह मेघा की घात सोचने लगा। उसने मन में सोचा कि पुत्री के व्याहोपलक्ष में सब न्यात को जिमाऊंगा और फिर अवसर पाकर मेघा का प्राण हरण कर स्वयं शक्तिशाली हो जाऊंगा। और फिर मन्दिर बनवाने का पूर्ण यश मुझे मिल जायगा। उसने पुत्री मांडा और मेघाशाह को भी निमंत्रित किया। मेघा के जिनालय बनवाने का काम जोर शोर से चल रहा था अतः उसने स्वयं न जाकर अपने परिवार को भेज दिया। मेघा के न आने पर काजल ने कहा कि मेघाशाह के बिना आये कैसे काम चलेगा। उसने स्वयं गोड़ीपुर जाकर मेघा को लाने का निश्चय किया।

यक्ष ने मेघा से कहा कि काजलशाह तुम्हें ले जाने के लिए आ रहा है। उसके मन में तुम्हारी घात है। तुम वहां मत जाना। वह तुम्हें दूध में जहर पिलाकर मारने का षड्यंत्र कर रहा है। यक्ष के जाने के बाद काजलशाह मेघा के पास आया और नाना प्रकार से प्रेम प्रदर्शित कर हठ करके अपने गांव मुदेसर ले गया। विवाह और जातिभोज का काम निपट जाने पर काजल ने अपनी स्त्री को संकेत कर दिया कि जब हम दोनों एक साथ जीमेंगे, तुम दूध में विष मिलाकर दे देना। स्त्री ने कहा—मेघा को मत मारिये, अपने कुल में कलंक लगेगा। स्त्री ने लाख समझाया पर मन और मोती टूटने पर नहीं मिलता। काजल और मेघा दोनों साथ जीमने बैठे। स्त्री ने दूध लाकर दिया। काजल ने कहा मुझे दूध पीने की सौगन्ध है। मेघा ने दूध पिया और पीते ही शरीर में विष फैल गया और उसका देहान्त हो गया। सर्वत्र काजल की अपकीर्ति हुई। मिरणादे और महिओ, मेहरा विलाप करने लगे।

मेघा की अंत्येष्टि करके काजल ने अपनी बहिन को समझा बुझाकर शान्त किया। काजलशाह ने जिनालय को पूरा कराया। जब शिखर स्थिर न हुआ तो काजलशाह चिन्तित हो गया। दूसरी बार भी शिखर गिर गया तो यक्षराज ने महिओ को स्वप्न में कहा कि तुम शिखर चढ़ाना; स्थिर रहेगा। मेघा के हत्यारे काजल को यश कैसे मिलेगा ? यक्षराज की आज्ञानुसार महिओ ने शिखर चढ़ाया संघ आया, प्रतिष्ठा हुई, चमत्कारी तीर्थ की सर्वत्र मान्यता हुई।

गौड़ी पार्श्वनाथ के प्रगटन व सवारी का चित्र लगा हुआ है। परिचय प्रस्तुत है—

गौड़ी पार्श्वनाथजी—यह चित्र ३१ × ३० इन्च माप का है। इसके मध्य में सात सूंड वाले हौदा युक्त श्वेत गजराज पर भगवान की प्रतिमाजी विराजमान है। पास में प्रकट होने का उल्लेख है। उभय पक्ष में नरनारी वृन्द अपने हाथ में कलश व पूजन सामग्री लिए उपस्थित है। चित्र के ऊपरी भाग में मेघ घटाओं से ऊपर छः विमान हैं जो अश्वमुखी, गजमुखी हंसमुखी आदि विभिन्न रूपों में हैं और २-२ देव उनमें बैठे हुए पुष्प वर्षा कर रहे हैं। चित्र के निम्न भाग में तम्बूडेरा—कनातें लगी हुई हैं।

इस चित्र के परिचय स्वरूप बोर्ड में निम्नांकित अभिलेख है।

"गौड़ी पार्श्वनाथ स्वामी प्रगट हुआ तिसका भाव"

"कलम गणेश मुसवर की मुकाम जयपुर शहर कलकत्ता में बनी।"

"सम्वत् १९२५ मिति कार्तिक सुदि १५ वार शनि श्रीमाल ज्ञाती फोफलिया रीधुलाल तत् पुत्र शिखरचन्द्रेन कारापितम"

श्री नेमविजय कृत

श्री गौड़ी पार्श्वनाथ स्तवन

भाव धरी भजना करुं, आपे अविचल मत ।
लघुता थी गुरुता करै, तूं सारद सरसत्ति ॥ १ ॥
मुझ ऊपर माया धरो, देजो दोलत दान ।
गुण गावुं गौड़ी तणा, भवे भवे भगवान् ॥ २ ॥
धवल धींग गौड़ी धणी, सहु को आवै संग ।
महिमदा वादें मोटको, नारंगो नवरंग ॥ ३ ॥
प्रतिमा त्रणे पास नी, प्रगटी पाटण मांहि ।
भगत करे जे भविजनां, कुण ते कहिवाय ॥ ४ ॥

मनसूं वीहनो तूरकडो थाये आकलो
आगल जे थाइं वात भवि जन सांभलो ॥ ८ ॥

ढाल—२ देशी १ मांहरा घणुं सवाई ढोला।
२खंभाईत देशे जाजो, खंभाईलि चुडला लाइजोरे मांहरां सगवरू

लाख जोयण जंबु परमाण, तेमां भरत खेत्र परधान रे।
माहरा सुगण सनेही सुणज्यो।
पारकर देस छैं रूडो, जिम नारि नै शोभे चूडो रे ॥मां०॥१॥
शास्त्र मांहि जिम गीता, तिम सतीयां मांहि जिम सीता रे ॥मां०॥
वाजित्र मांहि जिम भेर, तिम परवत मांहि मोटो मेर रे ॥मां०॥२॥
देव मांहि जिम इंद, ग्रहगण मांहे जिम चंद रे ॥मां०॥
बत्रीस सहिस तिहां देस (भूछे) तेमां पारकर देस विसेस रे ॥मां०॥२॥
भूधेसर नांमि नयरी, तिहां रहिता नथि कोइ वेरी रे ॥मां०॥
तिहां राज करे खंगार, तेतो जात तणो परमार रे ॥मां०॥४॥
तिहां वणज करै रे व्यापारी, तसु अपछर सिरखी नारी रै ॥मां०॥
मोटा मंदिर परवाम, तेतो चवदैसे वावन रे ॥मां०॥५॥
तिहां काजल सा व्यवहारी, सहु संघ में छें अधिकारी रे ॥मां०॥
ते पुत्र कलित्र परिवार, तसु मानत छै दरवार रे ॥मां०॥६॥
ते काजल सा नी रे वाई, सा मेघो कीधो जमाई रे ॥मां०॥
एक दिन सालो विनोइ, वैठा वात करंता एहवी रे ॥मां०॥७॥
इहां थी धन घणो लेइ, जइ ल्यावो वस्तु केइ रे ॥मां०॥
गुजरात मांहि तुम जाज्यो, जिम लाभ आवै ते लाज्यो रे ॥मां०॥८॥

ढाल—३ पांचम तप भणु रे—ए देशी

सा काजल कहै वात, मेघा भणि दिन रात, सांभली सद्द है ए, वलतुं इम कहै ए
जाइस हूं परभात, साथ करी गुजरात, सुकन भला सही ए, तो चालुं वही ए ॥१॥
धन घणो लेई हाथ, परिवारी करि साथ, कंकु तिलक कीयो ए, श्रीफल हाथ दीयो ए।
लेई ऊंट कतार, आव्यो चोहटा मझार, कन्या सनमुख मलीए, करती रंगरूली ए ॥२॥
मालण आवी जाम, छात्र भरी छै दाम, वधावै सेठ भणी ए, आसीस आपे घणी ए।
मच्छ जुगल मल्यो खास, वेद वोलंतो व्यास, पत्र भरी जोगणी ए, वृपभ हाथे घणी ए ॥३॥
डावो बोलै सांड, दधि नुं भरीउ भांड, खर डावो खरोए,............................ ।
आगल आव्या जाम, मारग वूठा ताम, भेरव जिमणी भली ए, देव डावी वली ए ॥४॥
जिमणी रूपा रेल, तार ववी तेहनी वेल, नीलकंठ तोरण कीयो ए, उलस्या अती हीयो ए।
हनुमंत दीधी हाक, मधुरो वोले काग; लोक कहै सहु ए, काम होस्यै वहु ए ॥५॥
अनुक्रम चाल्या जाय, आव्या पाटण मांहि, उतारा भला किया ए, सेठजी आविया ए।

निसि भर सूता जाँह, जक्ष आवी नें त्यांह, सुहरणे इम कहै ए, सघलु सरदहै ए :।६।।
तरक तणौ छे धाम, तेह नै घर जइ ताम, पांचसै रोकड़ा ए, देजे दोकड़ा ए।
देसे प्रतिमा एक, पास तणी सुविवेक, तेह थी तुझ थास्ये ए, चिंता दूर जास्यै ए ।।७।।
संभलावी जक्ष्यराज, तुरक भणी कहै साज, प्रतिमा तु देजे ए, पांच से धन लेजे ए।
इम करतां परभात, तुरक भणी कहै वात, मन मां गहगह्या ए, अचरज कुण लहै ए ।।८।।

ढाल—४ आसण रा रे जोगी, ए देशी

तरक भणी दियै पांच सै दांम, प्रतिमा आणी ठाम रे। पासजी मुने तूठा
पुजे प्रतिमा हरख भराणो, भाव आणी नें खरचो नाणो रे। पासजी मुने तूठा ।।१।।

मुझ वखते ए मूरत आवी, मूने आपस्यै दाम उपावी रे।पा०।
दाम देई निरू तिहां लीधु, मन मान्यु कारज कीधु रे।पा०।।२।।

रूना भरीया ऊंटज वीस, ते मांहि बैसारचा जगदीस रे।।पा०।।
अनुक्रमे चाल्या पाटण मांहि थी, साथै मूरत लेइ नै तिहाँथी रे।।पा०।।३।।

मली सहु दाणी विचारै मन में, एतो कोतक दीसै इण में रे।।पा०।।
मेघा सा नै दाणी पूछै, कहो सेठ ज़ी कारण स्यू छै रे।।पा०।।४।।

आगल राधणपुर सहु आव्या, दांण लेवा दाणी मिली आव्या रे।।पा०।।
गणे गणे उंट नै भूलै भूलै लेखू, एक ओछो अेक अधिको देखू रे।।पा०।।५।।

सा मेघो कहै सांभल दांणी, अमे मूरत गोडीजी नी आणी रे।।पा०।।
ते मूरत ए बरकी मांहे, किम जालवीए बीजे ठामी रे।।पा०।।६।।

पारसनाथ तणै सुपसाइं, दाण मेली दाणी घर जाये रे।।पा०।।
ज़ात्रा करीनिं सहु घर आवै, जिन पूजी नै आणंद पावै रे।।पा०।।७।।

तिहां थी आव्या पारकर मांहे, भूधेसर नगर छै ज्याँही रे।।पा०।।
वधामणी दीधी जिण पुरषै, थया रूलियाइत घणु हरखै रे।।पा०।।८।।

ढाल—५ राणपुरो रलयामणो रे लाल

संघ आवै मली सामठा रे लाल, दरसण करवा काज; भवि प्राणी रे।
ढोल नगारा ढल ढलै रे लाल, नादे अंबर गाज।भ०।।१।।
सुणजो वात सुहामणी रे लाल।

उछव महोछव करे घणा रे लाल, भेट्या श्री पारसनाथ।भ०।
पूजा प्रभावना करे घणा रे लाल, हर्ष पाम्या सहु साथ।भ०।।२।।सु०।।

संवद चउदै बत्रीस में रे लाल, कार्त्तिक सुद नी बीज।भ०।
थावर वारे थापीया रे लाल, नरपति पाम्या रीझ।भ०।।३।।सु०।।
एक दिन काजलसा कहै रे लाल, मेघासा नै वात।भ०।
नाणु अमारू लेई करी रे लाल, गया हुंता गूजरात।भ०।।४।।सु०।।
ते धन तुमे किहां वावरचु रे लाल, ते दयो लेसो आज।भ०।

तव मेघो कहै सेठजी रे लाल, खरच्या धर्म नै काज ।भ०।।५।।सु०।।
सामीजी माटै सूंपीया रे लाल, पांच सै दीधा दाम ।भ०।
काजल कहे तुमे स्यूं करयुं रे लाल, ए पथर कुंण काम ।भ०।।६।।सु०।।
काजल भणी मेघो कहै रे लाल, ए व्यापार अम भाग ।भ०।
ते पांच सै सर माहरै रे लाल, तेमां नहीं तुम लाग ।भ०।।७।।सु०।।
मेघासानी भार्या रे लाल, मृघा दे छे नाम ।भ०।
मही्यो नै मेरो ए बे सारिखा रे लाल, बहु सुत रति अति काम ।भ६।।८।।सु०।।

ढाल—६ कंत तमाखू परहरो, ए देशी

सा काजल मेघा भणी, बेहुं जग मि संबाद । मोरा लाल
तिहां मेघो धनराज नै, एक दिन दीधो साद । मोरा लाल सुणजोवात सुहामणी।।१।।

आ प्रतिमा पूजो तुमे भाव आणी नि चित्त ।मो०।
बार बरस मेघे तेहनै, पूजी प्रतिमा नित्य ।मो०।
एक दिन सुहणै इम कहै, मेघा सा नै वात ।मो०।
तु अम साथै आवजे, परवारी परभात ।मो०।।३।।सु०।।
वहिल लेजे भावल तणी, चारण जात छे जेह ।मो०।
देवाणंद नायक तणी, दोय वृषभ छै तेह ।मो०।।४।।सु०।।
वहिल खेड़े तुं एकलो, मन लेजे कोई साथ ।मो०।
थांडा थल भणी हाकजे, मुझ नै राखजे हाथ ।मो०।।५।।सु०।।
इम मेघा नै प्रीछवी, यक्ष गयो निज ठाम ।मो०।
रवि ऊग्यां मेघो तिहां, करवा मांड्यो काम ।मो०।।५।।सु०।।
वहिल लीधो भावल तणी, वृषभ आण्या दोय ।मो०।
जोतरी वैहिल स्वामी तणी, जाणै छै सब कोय ।मो०।।७।।सु०।।
तव मेघो ते वहिलनि, खेड़ी चाल्यो जाय ।मो०।
अनुक्रमे मारग चालतां, आव्या थलवट मांह ।मो०।।८।।सु०।।

ढाल—७ अमली लाल रंगावो वर ना मोलियां, ए देशी

तिहां छोटा नै मोटा थल घणा, तिहां रूंख तणो नहीं पार रे ।
तिहां भूत नै प्रेत व्यंतर घणा, देखी सेठ करै विचार रे ।
सा मेघो रे मन में चिंतवै, कुण करसै मोरी सार रे ।
तव जक्ष आवी ने इम कहै, तुं म कर फिकर लगार रे ।।२।।
तव वैहल हाकी नै चालीयो, आव्यो ऊजड़ गौड़ीपुर गाम रे ।
तिहां वाव कुवा सरोवर नहीं, नहीं मोहल मंदिर सुठाम रे ।।सा०।।३।।

तिहां वहिल थंभाणी चालै नहीं, हवै सेठ हुयो दिलगीर रे ।सा०।
मुझ पासै नयी कोई दोकड़ा, कुण जाणै पराई पीड़ रे ।सा०।।४।।

तिहां रात पड़ी रवी आथम्यो, चिंतातुर थइनि सूतो रे ।सा०।
तव जख्य आवी ने इम कहै, सोहणा मांहि एकंतो रे ।सा०।।५।।

हवे सांभल मेघा हुं कहुँ, इहा वास जे गोड़ीपुर गाम रे ।सा०।
माहरो देरासर करजे इहां, उत्तम जोइ कोइ ठांम रे ।सा०।।६।।

तुं जाजे रे दक्षण दस भणी, तिहां पड्यूं छै नीलू छांण रे ।सा०।
तिहां कुओ उमटसी पाणी तणो, परगटसै पाहाणरी खाण रे ।सा०।।७।।
पासै ऊग्यो छै उज्वल आकड़ो ते हेठल छै धन वहुलो रे ।सा०।
तिहां पूरयो छै चोखा तणो साथीयो, वली पाणी तणो कुयो पहोलो रे ।सा०।।८।।

ढाल—८ सीता तो रूपे रूड़ी, एहनी देशी

सीलावट सीरोही गामैं तिहां रहै छै चतुर छै कामै हो ।सेठजी सामलो ।
रोग छै तेह नै शरीरे, नमणुं करी ने छांटो नीरे हो ।से०।।१।।

रोग जास्यै नै सुख थास्यै, वैठो इहां काम कमास्यै हो ।से०।
जोतिक निमत्त जोरावै, देरासर पायो मंडावै हो ।से०।।२।।

जख्य गयो इम कही नै, करो उद्यम सेठ जी वही ने ।से०।
सिलावट्ट नै तेड़ावै, वली धन नी खाण खणावै हो ।से०।।३।।

गोड़ीपुर गाम वसावै, सगा साजन नै तेड़ावै हो ।से०।
इम करतां बहु वीता, थया मेघो जगत्र वदीता हो ।से०।।४।।

एक दन काजलसा आवी, कहै मेघा नै वात वनावी हो ।से०।
ए कामैं भाग अमारो, अर्ध मारों अर्ध तमारो हो ।से०।।५।।

ईम करी देरासर करीयै, जिम जग में जस वरीयै हो ।से०।
तव मेघो कहै तेहनै, दाम जोइ छै केहनै हो ।से०।।६।।

सांमीजी सुपसायैं, घणा दाम छै वली इहांइहो ।से०।
एक दिन कहिता तुमे आंम, ए पथर छै कुण काम हो ।से०।।७।।

क्रोध वसे पाछो वलीयो, आपण मांदर मां भलीयो हो ।से०।
सा काजल मनचितै, मारूं मेघो तो थाऊं नचितो हो ।से०।।८।।

ढाल ९ कोइलो परवत धूंधलो रे लाल

परणावुं पुत्री माहरी रे लाल, खरचूं द्रव्य अपार रे ।चतुरनर।
न्यात जीमाडुं आपणी रे लाल, तेडी मेघो तिणवार रे ।च०।।१।।

सांभलजो श्रोता जनां रे लाल ।।आंकणी।।
जो मेघो मारुं सही रे लाल, तो मुझ उपजै करार रे ।च०।

देवल करावु हु रली रे लाल, तो नाम रहै निरधार रे ।च०।।२।।सां।।
इम चितवी वीवाह नु रे लाल, करै कारिज ततकाल रे ।च०।

सांजन नै तेड़ाव नै रे लाल, गोरीश्रो गावै धमाल रे ।च०।
सा मेघा भणी नुतरु रे लाल, मोकलै काजल साह रे ।च०।
वीवाह उपर श्रावज्यो रे लाल, श्रवस करी नै इहांश्र रे ।च०।।४।।सा०।।

सांभली मेघो चींतवै रे लाल, किमकरी जइयै त्यांह रे ।च०।
काम श्रमारे छै घणु रे लाल, देहरासर नो इहांह रे ।च०।।५।।सा०।।

तव मेघो कहै तेहनै रे लाल, तेड़ो जाश्रो परवार रे ।च०।
काम मेली नै किम श्रावीयै रे लाल, जाणो तुमे निरधार रे ।च०।।६।।सा०।।

मरघादे नै तेड़नै रे लाल, पुत्र कलत्र परवार रे ।च०।
मेघा ना सहु साथ ने रे लाल, तेड़ी श्राव्या तिणवार रे ।च०।।७।।सा०।।

कहै काजल मेघो किहां रे लाल, इहां नाव्या सा माट रे ।च०।
मेघा विना कहो किम सरै रे लाल, न्यात तणी ए वात रे ।च०।।८।।सा०।।

ढाल १० नंद सलूणा नंदजी रे लो—ए देशी

जक्ष गयोइ मेघा भणी रे लो, हवै ताहरी श्रावी बनी रे लो ।
काजल श्रावस्यै तेड़वा रे लो, कूड़ करी तुझ वेडवा रे लो ।।१।।

तु मत जाजे तिहां कणे रे लो, झेर देई तुझ नै हणे रे लो ।
तेड़े पिण जइसे नहीं रे लो, नमण करी ले इजे सही रे लो ।।२।।

दूध मांहि देस्ये खरू रे लो, नमणु पीधे जास्यै परू रे लो ।
ते माटे तुझ नै घणु रे लो, मान वचन सोहामणु रे लो ।।३।।

जक्ष गयो कही तेहवै रे लो, काजल श्राव्यो एहवै रे लो ।
कहै मेघा निसांभलो रे लो, श्रावी मेलो मन श्रावलो रे लो ।।४।।

तुम श्राव्यां विना किम सरै रे लो,, न्यात में सोभीयै किण परै रे लो ।
तुम सरीखा श्रावै सगा रे लो, तो श्रमनै थायै उमगा रे लो ।।५।।

हुं श्राव्यो वरती भरी रे लो, तो किम जाऊं पाछो फरी रे लो ।
जो श्रमनि कांइ लेखवो रे लो, श्राडो श्रवलो मत देखवो रे लो ।।६।।

हठ लेई वैठा तुम रे लो, खोटी थइयै छै हवै श्रमे रे लो ।
सा मेघो मन चींतवै रे लो, श्रति ताण्यो किम पूरवै रे लो ।।७।।

काजल साथ चालियो रे लो, भूधेसर मांहे श्रावीया रे लो ।
नमणु विसारयु तिहां कणै रे लो, भविस पूरण श्रखी वण्यी रे लो ।।८।।

अधविच रह्या देहरा आज थी रे, जग मां नाम रह्यो निरधार रे।
नगरी में वात घर घर विस्तरी रे, सहु को ना दिल मिं आव्यो खार रे ।।७।।फि०।।
द्वेष राखी नें मेघो मारीयो रे, ए तो काजल कपट भंडार रे।
मन नो मैलो दीठो एहवो रे, इम वोलै छै नर नै नार रे ।।८।।फि०।।

ढाल–१३ पूरब पुण्ये पामियै–ए देशी

वेहनी अगनि दाह देइ करी, आव्या सहु निज ठाम हे। बैहनी
काजल कहै तुं मत रोए, न करु एहवुं काम हे ।व०।।१।।
लेख लख्यो ते लाभीयै, दीजै किण नै दास हे वै०
जनम मरण हाथे नथी, खोटो माया जाल हे वै० ।।२।।ले०।।
एह संसार छै कारमो, खोटी माया जाल हे वै०
एक आवे ठाली भरी, जेहवी अरट नी माल हे बै० ।।३।।ले०।।
सुख दुख सरज्यां पामियैं, नहिं छै कोई नै हाथ हे वै०
म कर फिकर तुं आज थी, बहुली आंपने आथ हे बै० ।।४।।ले०।।
खाओ पीयो सुख भोगवो, न करो चित लगार हे बै०
जे जोइ इं ते मुझनै कहो, न करो दिल में विचार हे वै० ।।५।।ले०।।
जिन नो प्रसाद कराविसुं मितस राखीसुं माम हे वै०
इजत आंपण कर तणी, खोसुं किम करि नाम हे वै० ।।६।।ले०।।
सोढां नें हाथे सुंपीसुं, गौड़ीपुर ए गाम हे वै०
चालो आंपण सहु तिहां, हुं लेई आवुं नाम हे बै० ।।७।।ले०।।
अनुक्रम आव्या सहु मली, गौड़ीपुर गाम मझार हे वै०
जिन नो प्रसाद करावियो, काजल सा तिण वार हे बै० ।।८।।ले०।।

ढाल–१४ करेलडां घड़ दे रे–ए देशी

देहरै सखर भढावीयो, थर न रहै तिण वार।
काजल मन मां चितवै, हवै कुण करवो प्रकार ।।१।।
भविक जन सांभलो रे, मुंकी मन नो आंमलोरे ।।भ०।।आंकणी।।
वीजी वार चढावीयो, पडै हेठो ततकाल।
सोहणा मां जक्ष आविनै, कहै मेरा नै सुविसाल ।।भ०।।१।।
तुं चढावे जाय नै थिर रहस्यैं सर तेह।
काजल नें जस किम होवै मेघो मार्यो तेह ।।भ०।।३।।
मेरें सखर चढावियो, नांम राख्यो जग मांहे।
मूरत थापी पासनी, संघ आवै उच्छाह ।।भ०।।४।।

संवत चवद चौमाल मां, देहरै प्रतिष्ठा कीध ।
महियो मेरो मेघा तणा, तिण जग मांहे जस लीध ॥भ०॥४॥

देसी प्रदेसी घणा, आवै लोक अनेक ।
भाव धरी भगवंत ने, वांदे 'अधिक विवेक ॥भ०॥६॥

खरचै द्रव्य घणा विहां, राउ राणा तिण वार ।
मानत मानै लाखनी, टालै कष्ट अपार ॥भ०॥७॥

निरधणीआनै धन दियै, अपुत्रियां नै पुत्र ।
रोग निवारै रोगीआ, टालै दालिद्र दुख ॥भ०॥८॥

ढाल–१५ घर आवोजी आंबो मोरीयो–ए देशी

आज अम घर रंग व धामणा, आज तूठा श्री गौड़ी पासो ।
आज चिंतामण आवी चढ्यो, आज सफल फली मन आसो ॥आ०॥१॥

आज सुरतरु फल्यो आंगणे, आज प्रगटी मोहन वेलो ।
आज विछडीया वाहला मिल्या, आज अम घर हुई रंग रेलो ॥आ०॥२॥

आज अम घर आंवो मोरीयो, आज वूठो सोवन धार ।
आज दूधे बूठा मेहला, आज गंगा आवी घर वार ॥आ०॥३॥

श्रीहीर विजय सूरीश्वरू, तस शुभ विजय कवि सीस ।
तेहना भाव विजै कवि दीपता, तेहना सीव नमु निशदीसो ॥आ०॥४॥

तेहना रूप विजै कविराय ना, तेहना कृष्ण नमु करजोड़ि ।
वली रंग विजै रंगे करी, हुंतो प्रणपत करु कर जोड़ि ॥आ०॥५॥

आज गायो श्री गौड़ीपुर धणी, श्री संघ केरै पसाय ।
चतुर चौमासूं कीवूं चुंप सुं, गामते महियल मांह ॥आ०॥६॥

संवत अठारै सतलोत्तरे, भाद्रवा मास उदार ।
तिथ तेरस चन्द्रवास रै इम नेम विजय जै जैकार ॥आ०॥७॥

इति श्री गौड़ी पार्श्वनाथजी स्तवनम् संपूर्णम्

भारतीय संगीतशास्त्र में मार्ग और देशी का विभाजन

भारतीय संगीतशास्त्र के अध्येता के सम्मुख मार्ग और देशी—संगीत का यह द्विविध विभाजन, अध्ययन के प्रवेशद्वार पर ही उपस्थित हो जाता है। किन्तु आजकल संगीतशास्त्र का अध्ययन जिस रीति से, जिस चित्तवृत्ति से हो रहा है, तदनुसार इस विभाजन को कुछ भी महत्व नहीं दिया जाता और इसे अतीत का अनुपयोगी अवशेष मात्र मान कर इसकी उपेक्षा कर दी जाती है, 'लक्षण' में जो स्थिति है, वही 'लक्ष्य' में भी है, वहाँ भी आज इस विभाजन का कोई स्थान नहीं समझा जाता। किन्तु वास्तव में यह विभाजन हमारे संगीतशास्त्र में मौलिक महत्व रखता है। इस विभाजन के मर्म को समझे बिना यह कहते रहना कि भारतीय संगीत आध्यात्मिक साधना का सशक्त अङ्ग है, कोरा अर्थवाद बन कर रह जाता है और उससे सत्य दर्शन के स्थान पर भ्रमजाल को ही पोषण मिलता है।

केवल नामोल्लेख ही ग्रन्थों में रह पाया और या उसका भी लोप हो गया। 'बृहद्देशी' के परवर्ती ग्रन्थों को मार्ग-देशी-विभाजन की दृष्टि से निम्नलिखित चार श्रेणियों में रखा जा सकता है।

१. मार्ग और देशी विभाजन का स्पष्ट उल्लेख एवं पूर्ण निर्वाह करने वाले ग्रन्थ

इस श्रेणी के अन्तर्गत ग्रन्थों में गीत, वाद्य और नृत्य। संगीत के इन तीनों अंगों का मार्ग और देशी के रूप में द्विविध विभाजन किया गया है। गीत के प्रसंग में राग का ग्रामराग और देशीराग के रूप में एवं गीत प्रबन्ध का शुद्ध गीतक और (देशी) प्रबन्ध के रूप में द्विधा विभाजन हुआ है। वाद्य के प्रसंग में मार्ग और देशी का विभाजन कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है, इसका कारण यही हो सकता है कि भारतीय परम्परा में वाद्य गीत का अनुवर्त्ती–मात्र है, इसलिये गीत के प्रसंग में रागों का जो द्विधा विभाजन हुआ है, वही तत और सुषिर वाद्यों को भी अविकल रूप से लागू हो जाता है। ताल प्रकरण में मार्ग-ताल और देशी-ताल ऐसा विभाजन किया गया है। इसका सम्बन्ध परोक्ष रूप से घन और अवनद्ध वाद्यों के साथ समझा जा सकता है। जहां तक वाद्य यन्त्रों का सम्बन्ध है, ऐसा कोई निर्देश कहीं नहीं मिलता कि अमुक वाद्य मार्ग संगीत के उपयोगी है और अमुक देशी संगीत के। वास्तव में ऐसा निर्देश आवश्यक भी नहीं है। केवल मार्गपटह और देशीपटह इस प्रकार पटह (अवनद्ध वाद्य विशेष) के दो सविशेषण भेद कहे गये हैं। (द्रष्टव्य संगीतरत्नाकर वाद्याध्याय, श्लोक ८०५)। नृत्य के प्रकरण में मार्ग नृत्य और देशी नृत्य यह दो भेद स्वीकृत हैं।

प्रस्तुत श्रेणी के अन्तर्गत निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम प्रमुख हैं।

(१) नान्यदेव का भरतभाष्य (१२ वीं शती ई०) इसका प्रारम्भिक अंश ही अभी प्रकाशित हुआ है। पूरे ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उपलब्ध नहीं है। जो कुछ उपलब्ध है, उसमें देशी रागों का पृथक् निरूपण नहीं है, मार्ग रागों की 'भाषाओं' के साथ-साथ ही कुछ ऐसे रागों का वर्णन मिलता है जो अन्य ग्रन्थों में देशी कहे गये हैं। देशी तालों का वर्णन भी नहीं मिलता। केवल देशी प्रबन्धों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण मिलता है। नृत्य प्रकरण इसमें है ही नहीं।

(२) शार्ङ्गदेव का 'संगीत रत्नाकर' (१३ वीं शती ई०) इसमें राग, ताल, प्रबन्ध और नृत्य-सभी प्रकरणों में मार्ग देशी का विभाजन प्राप्त है।

(३) पण्डितमण्डली का 'संगीत शिरोमणि' (१५वीं शती ई०)–यह ग्रन्थ अप्रकाशित है और पाण्डुलिपियां बहुत ही खण्डित हैं।

(४) राणा कुम्भकर्ण (कुम्भा) का 'संगीतराज' (१५वीं शती० ई०)–इसमें विषय-प्रतिपादन संगीतरत्नाकर की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत है, अतः मार्ग-देशी का ऊपर लिखे सभी प्रकरणों में विभाजन अधिकतर स्पष्ट है।

२. मार्ग और देशी के विभाजन का अपूर्ण निर्वाह करने वाले ग्रन्थ

(१) श्रीकण्ठ की 'रसकौमुदी' (१६वीं शती) केवल ताल प्रकरण में यह विभाजन स्पष्ट मिलता है।

(२) रघुनाथ भूप की 'संगीतसुधा' (१७वीं शती) केवल राग–प्रकरण में ग्राम-रागों और देशी रागों का परम्परागत निरूपण मिलता है। ताल प्रकरण की प्रतिज्ञा में तो मार्ग देशी का स्पष्ट उल्लेख है, पर वह अध्याय उपलब्ध नहीं है।

३. मार्ग और देशी का केवल नामोल्लेख करने वाले ग्रन्थ

(१) वाचनाचार्य सुधाकलश का 'संगीतोपनिषात्सारोद्धार' (१४वीं शती ई०)

(२) रामामात्य का 'स्वरमेलकलानिधि' (१६वीं शती ई०)

(३) दामोदर पण्डित का 'संगीतदर्पण' (१७वीं शती ई०)

(४) तुलजाधिप का 'संगीतसारामृत' (१७वीं शती ई०)

(५) अहोबल का 'संगीतपारिजात' (१७वीं शती ई०)

(५) सोमनाथ का 'रागविबोध' (१७वीं शती ई०)

४. मार्ग-देशी का नामोल्लेख तक न करने वाले ग्रन्थ

(१) पुण्डरीक विट्ठल का 'सद्रागचन्द्रोदय' (१६वीं शती ई०) इनके 'रागमाला' तथा 'राग-मञ्जरी' ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं, किन्तु वे संगीतशास्त्र के केवल एक देश राग के ही प्रतिपादक ग्रन्थ हैं, इसलिये उनका यहां पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है।

(२) शुभङ्कर का 'संगीतदामोदर' (१६वीं शती)

(३) श्रीनिवास का 'रागतत्त्वविबोध' (१७वीं शती)

मार्ग-देशी का लक्षण प्रमुख ग्रन्थकारों ने इस प्रकार दिया है :—

(१) नानाविधेषु देशेषु जन्तूनां सुखदो भवेत् ।
ततः प्रभृति लोकानां नरेन्द्राणां यदृच्छया ॥१॥
× × × ×
देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीति सञ्ज्ञितः ॥२॥
ध्वनिस्तु द्विविधः प्रोक्तो व्यक्ताव्यक्तविभागतः ।
वर्णोपलम्भनाद् व्यक्तो देशीमुखमुपागतः ॥१२॥
अबला बालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया ।
गीयते साऽनुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥१३॥
निबद्धाश्चानिबद्धश्च मार्गोऽयं द्विविधो मतः ।
आप्ला (ला) पादिनिबन्धोयः स च मार्गः प्रकीर्त्तितः ॥१४॥
आलापादिविहीनस्तु स च देशी प्रकीर्त्तितः । (बृहद्देशी पृ० १, २)

इस उद्धरण की अन्तिम पंक्ति बृहद्देशी के मूलपाठ में नहीं है, सोमनाथ ने अपने राग-विबोध के प्रथम अध्याय के श्लोक ७ पर टीका में मतंग के नाम से जो उद्धरण दिया है, उसमें से यह पंक्ति ली गई है।

(२) गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते ।
मार्गो देशीति तद्द्वेधा तत्र मार्गः स उच्यते ॥
यो मार्गितो विरिञ्च्याद्यैः प्रयुक्तो भरतादिभिः ।
देवस्य पुरतः शम्भोर्नियताभ्युदयप्रदः ॥

देशे देशे जनानां यद् रुच्या हृदयरञ्जकम् ।
गीतं च वादनं नृत्तं तद् देशीत्यभिधीयते ।। (संगीतरत्नाकर १/१/२१-२४)

(३) सामवेदात्समुद्धृत्य यद्गीतमृषिभिः पुरा ।
सद्भिराचरितो मार्गस्तेन मार्गोऽभिधीयते ।।
संस्कृतात्प्राकृतं तद्वत् प्राकृताद् देशिका यथा ।
तद्वत् मार्गात्स्ववुध्याग्न्यैर्वाग्देशीयं समुद्धृता ।। (भरतभाष्य ११/२)

इन तीनों उद्धरणों का सम्मिलित सारांश मार्ग और देशी-विभाजन के निम्नलिखित दो आधार प्रस्तुत करता है ।

१—प्रयोजनगत—जिसके अनुसार देशी का प्रयोजन जनरंजन है और मार्ग का अभ्युदय ।❀

२—स्वरूपगत—इसके अनुसार 'मार्ग' शुद्ध और नियमवद्ध है और देशी अपेक्षाकृत अशुद्ध और नियमरहित है ।

इस प्रसंग में प्रयोजनगत और स्वरूपगत भेद की कुछ सामान्य चर्चा अस्थानीय न होगी । सभी पदार्थों के दो पहलू होते हैं । एक वस्तुगत धर्म जो प्रयोक्ता अथवा ग्राहक की निष्ठा से निरपेक्ष हैं, दूसरे प्रयोजनगत धर्म जो ग्राहक अथवा प्रयोक्ता की निष्ठा के सापेक्ष है, अर्थात् उसी के अनुसार प्रकाशित होते हैं । किसी पदार्थ में प्रथम पहलू प्रवल होता है तो किसी में दूसरा । उदाहरण के लिये, विष का मारक धर्म वस्तुगत है । विष का सेवनकारी उसे मारक समझे अथवा संजीवक, विष का मारक धर्म दोनों अवस्थाओं में समान रूप से कार्य करेगा । (मीरा जैसे भक्तजनों को विष से भी संजीवनी प्राप्त होने के अलौकिक उदाहरण इस सामान्य नियम की परिधि के बाहर हैं) । दूसरी ओर औषधि का वस्तुगत धर्म जो भी हो, उसका प्रकाश सेवनकर्त्ता की निष्ठा पर काफी मात्रा में निर्भर रहता है । सामान्य भोज्य पदार्थों का वस्तुगत धर्म भी भोजन कराने वाले और करने वाले की भावना के अनुसार वहुत कुछ स्वतंत्र रूप से प्रकट होता है । होटल में प्राप्त परम पौष्टिक भोजन भी पुष्टि और तुष्टि के विधान में माता के दिये हुए रूखे-सूखे भोजन की समता नहीं कर सकता । इस प्रकार सभी स्थूल लौकिक पदार्थों में वस्तुगत धर्म प्रवल होने पर भी उसका प्रकाशन सर्वत्र एकसा नहीं होता ।

जो कुछ स्थूल पदार्थों के विषय में कहा गया वह सूक्ष्म विषयों में और भी अधिक लागू होता है । ललित कलाओं को ही ले लें, उनके द्वारा सौन्दर्यबोध, भावबोध अथवा रसबोध ग्राहक के संस्कार, शिक्षा, भावनात्मक स्तर इत्यादि अनेक आश्रयगत तत्वों पर निर्भर रहता है जिन्हें विषयगत धर्म से निरपेक्ष माना जा सकता है । काव्य, संगीत, चित्र अथवा मूर्ति—इन कलाओं की एक ही कृति भिन्न भिन्न स्तर की अनुभूति जगाती है । उन कलाकृतियों में विषयगत स्तरभेद न हो ऐसी बात नहीं है, किन्तु ग्राहकगत स्तरभेद ही यहां प्रस्तुत है । जिस प्रकार कलाजगत् में ग्राहक का स्तरभेद वस्तुगत धर्म के प्रकाशन में

❀ 'अभ्युदय' से यहां आध्यात्मिक उन्नति का ही ग्रहण करना चाहिये, अन्यथा देशी से मार्ग का कुछ वैशिष्ट्य स्थापित न हो सकेगा । जहां 'निःश्रेयस्' और 'अभ्युदय' को परस्पर भिन्न कहा जाता है वहां 'अभ्युदय' लौकिक उन्नति का वाचक माना जाता है । किन्तु यहां वह अर्थ लेना उचित नहीं जान पड़ता ।

साधक अथवा बाधक होता है, उसी प्रकार प्रयोक्ता यानी स्रष्टा का मनःपूत प्रयोजन भी कलाकृति के वस्तुगत स्तरभेद का नियामक होता है। अर्थ, यश, कामना-पूर्त्ति आदि लौकिक प्रयोजनों से की गई कला-साधना अथवा कलासृष्टि प्रेयोमार्ग में ही प्रगति करा सकेगी, यद्यपि कला के वस्तुगत धर्म में श्रेयः प्रदत्व सर्वमान्य है। इस वस्तुगत धर्म का प्रकाशन तभी हो सकता है जब प्रयोक्त की भी उस प्रयोजन में निष्ठा हो अर्थात् प्रेयः से वैराग्य और निःश्रेयस् के प्रति अनुराग हो। इस निष्ठा के अभाव में अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि करने का वस्तुगत धर्म कला में प्रकाशित नहीं हो सकता।

ऊपर की चर्चा के अनुसार मार्ग और देशी के लक्षण पर विचार करें तो पहले प्रयोजनगत भेद उपस्थित होता है और बाद में स्वरूपगत। जन-मन-रंजन का प्रयोजन देशी में और निःश्रेयस् का प्रयोजन मार्ग में है, साथ ही दोनों के वस्तुगत धर्म अथवा स्वरूप की विभिन्नता कही गयी है, जिसके अनुसार मार्ग शुद्ध और नियमित है एवं देशी अशुद्ध अथवा मिश्र और अनियमित। इस प्रसंग में भरत भाष्य का ऊपर दिया हुआ उद्धरण विचारणीय है। उसके अनुसार मार्ग के शुद्ध स्वरूप से देशी का आविर्भाव हुआ है। आज-कल विज्ञान के विकासवाद के सिद्धान्त के प्रभाव से प्रत्येक क्षेत्र में निम्न स्तर से उच्च स्तर की ओर अभियान ही स्वाभाविक क्रम माना जाने लगा है। तदनुसार यदि मार्ग शुद्ध एवं नियम सहित है तो स्वयं उसका विकास अशुद्ध और अनियमित देशी के आधार पर होना चाहिए। किन्तु भारतीय दर्शन के अनुसार शुद्ध की विकृति से अशुद्ध या मिश्र का आविर्भाव माना जाता है। तदनुसार देशी को मार्ग का अशुद्ध रूप मानने में कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। चेतना के उच्चतम स्तर पर जो आविर्भाव होता है, उसी में नाना प्रकार की उपाधियों के मिश्रण से अशुद्ध रूप प्रकट होते हैं, यह अवरोह-मार्गीय विचारधारा है। दूसरी ओर आरोह-मार्गीय विचारधारा के अनुसार अशुद्ध स्तर पर से अशुद्धि का निरास करते हुए क्रमशः शुद्ध स्तर तक विकास होना है। स्थूल बुद्धि से भले ही आरोह-मार्गीय विचार ही संगत जान पड़े, किन्तु वास्तव में सभी विकृतियों, अशुद्धियों के मूल में परम विशुद्ध अविकृत तत्त्व माने बिना गति नहीं है। तदनुसार संस्कृत से प्राकृत का और मार्ग से देशी का आविर्भाव मानना पूर्णतया संगत है।

प्रयोक्त्रुपलक्षणं. तेन ह्यत्यन्तं संवितप्रवेशलाभेन तु गातुः फलयोगो गन्धर्वत्वात्।.... इति प्रयोक्तृगतमत्र मुख्यं फलम् । न तु गानमिव मुख्यतया श्रोतृनिष्ठम् । गानं हि केवलं प्रीतिकार्ये वर्तते

(अभिनव भारती)

पूर्वरङ्गादावदृष्ठसिद्धौ संयतगीतकवर्द्धमानादि प्रयुज्यते ।
ध्रुवागाने तु दृष्टफले गायनस्येव सोऽस्तु व्यापारः ।

(अभिनव भारती नाट्य शास्त्र चतुर्थ खंड पृ. १५२)

नाट्य शास्त्र में मार्ग-देशी का उल्लेख नहीं है, किन्तु संगीत के लिये 'गान्धर्व' संज्ञा है जो बाद में चल कर गीत-प्रवन्ध के प्रकरण में मार्ग की पर्यायवाची बन गई थी (द्रष्टव्य संगीत-रत्नाकर का निम्न उद्धरण)। 'गान्धर्व' को देवताओं का अत्यन्त इष्ट अर्थात् प्रिय बताया गया है। अभिनवगुप्त ने उसे दृष्टादृष्ट-फलप्रद कहा है और उस के फल को मुख्यतया प्रयोक्तृगत बताया है। दूसरी ओर 'गान' का फल मुख्यतया श्रोतृ-निष्ठ कहा है। यहीं पर मार्ग और देशी का मूल तत्त्व मिल जाता है। मार्ग आत्मनिष्ठ होने से उसमें मुख्य-फल प्रयोक्ता को ही मिलता है और देशी में श्रोता के प्रति लक्ष्य रहने के कारण उसका फल मुख्यतया श्रोतृनिष्ठ अर्थात् श्रोताओं का रंजनमात्र होता है। पुनः ३१ वें अध्याय में जहाँ भरत ने शुद्ध गीतकों के प्रकार कहे हैं वहाँ भी अभिनवगुप्त ने वर्द्धमानादि शुद्ध गीतकों को अदृष्ट-फल-प्रद बताया है और ध्रुवागान को दृष्ट-फल-प्रद। भरत के परवर्त्ती काल में शुद्ध गीतक मार्ग का अंग माने गये और ध्रुवाओं के आधार पर देशी प्रवन्धों का विकास हुआ। इस प्रकरण में भी मार्ग और देशी के बीज नाट्यशास्त्र में मिल ही जाते हैं।

२—गीत-प्रवन्ध प्रकरण में—

रञ्जकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते ।
गान्धर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ॥१॥
अनादिसम्प्रदायं यद्गान्धर्वैः संप्रयुज्यते ।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधाः ॥२॥
यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम् ।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरञ्जनम् ॥३॥

(संगीतरत्नाकर ४ /१-३)

३—राग-प्रकरण में—

देशीत्वं नाम कामचारप्रवर्तितत्वम् ।
तदत्र मार्गरागेषु नियमः यः पुरोदितः ।
स देशिरागमापादावन्यथापि क्वचिद् भवेत् ॥

(वही, २/२/२ पर कल्लिनाथ की टीका)

४—नृत्य-प्रकरण में—

नाट्यं मार्गञ्च देशीयमुत्तमं मध्यमं तथा
अधम क्रमतो ज्ञेयं नृत्यत्रितयमुत्तमैः ॥२८६॥

नृतेः क्यप्प्रत्यये नृत्यशब्दः कर्म विवक्षया ।
भावोपसर्जनो यत्र रसो मुख्यः प्रकाशते ॥४४५॥
तन्नाट्यपूर्वकं नृत्यं मार्गनृत्यं तदुच्यते ।
रसोपसर्जनीभूतो यत्र भावः प्रकाशते ॥४४६॥
मार्गो भावाभिधस्तस्मान्मृग्यतेऽत्र रसो यतः ।
नाट्यमार्गोपाविभिन्नं द्विधा नृत्यमुदीरितम् ॥४४७॥
नृतेः क्तप्रत्यये रूपं देशीनृत्तमिहोदितम् ॥४४८॥
नन्वत्र प्रत्ययैकार्थे मार्ग देशीति का भिदा ।
उच्यतेऽत्र तदैक्येऽपि यो यत्र विनियुज्यते ।
विवक्षावशतो ब्रूते स तमर्थमिति स्थितम् ॥४४९॥
पंकजत्वे समानेऽपि लोके पद्मे तदीरितम् ।
विवक्षा चात्र शोभायां हस्ते हस्तैकदेशवत् ॥४५०॥
नृत्ये नृत्यैकदेशेऽपि नृत्यशब्दाद् द्वयोर्ग्रहः ॥४५१॥

(संगीतराज,नृत्यरत्नकोश, उल्लास १, परीक्षण १)

ऊपर द्वितीय उद्धरण में 'गान्धर्व' को मार्ग का पर्यायवाची मान कर उसे अपौरुषेय कहा गया है, और 'गान' को देशी का पर्यायवाची मान कर उसका पौरुषेयत्व बताया गया है। गीत-प्रबन्धक के प्रकरण में मार्ग-देशी की यह विभाजक रेखा उचित भी है। तीसरा उद्धरण राग के प्रसंग का है। इस में मार्ग से संबद्ध ग्राम-रागों में नियमों की अपरिवर्तनीयता कही गई है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि ग्रामरागों का नाट्य के प्रसंग में ही प्रयोग विहित है, किन्तु देशी रागों का प्रयोग नाट्य से स्वतन्त्र कहा गया है। चौथा उद्धरण नृत्य-संबन्धी है, और उस पर विशेष विचार अपेक्षित है।

नृत्य का मार्ग के साथ एवं नृत्त का देशी के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। नाट्य को इन दोनों के ऊपर सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस स्तर निर्धारण का आधार है—नाट्य में रस की मुख्यता एवं नृत्य में भाव की मुख्यता के साथ-साथ रस का मार्गण अथवा अन्वेषण। नृत्त को देशी क्यों कहा है, इस की कोई स्पष्टता नहीं दी गई है, किन्तु उस में ताल लयाश्रित गात्रविक्षेप मात्र और अभिनय का अभाव बताया गया है। इसीलिये उसमें रस और भाव दोनों की अपेक्षा छोड़ कर केवल ताल, लय का ही प्राधान्य रखा जाता है। यथा—

नाट्यशब्दो रसे मुख्यो रसाभिव्यक्तिकारणम् ।
चतुर्धाभिनयोपेतं लक्षणावृत्तितो बुधैः ॥१७॥
आङ्गिकाभिनयैरेव भावानेव व्यनक्ति यत् ।
तन्नृत्यं मार्गशब्देन प्रसिद्धं नृत्यवेदिनाम् ॥२८॥
गात्रविक्षेपमात्रं तु सर्वाभिनयवर्जितम् ।
आङ्गिकोक्तप्रकारेण नृत्तं नृत्तविदो विदुः ॥२७॥

(संगीतरत्नाकरनृत्याध्याय)

अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रयम् ।
आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो, देशी तथाऽपरम् ।। (दशरूपक १ । ९)

अभिनयरहित एवं केवल ताललयाश्रित होने के कारण नृत्त को तृतीय श्रेणी में स्थान दिया गया है, और इस निम्न कक्षा के कारण ही उसे देशी कहा है । आदिम जातियों के नाचने में आज भी केवल ताल लयाश्रित गात्र-विक्षेप का दर्शन होता है । नाट्य में रस मुख्य होने के कारण आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य्य चारों प्रकार के अभिनय का उस में स्थान होता है । नृत्य में केवल आंगिक अभिनय से ही भावाभिव्यक्ति की जाती है और रस उतने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं हो पाता जितना कि नाट्य में । इसीलिये उस में रस का मार्गण कहा गया है । नृत्त में तो अभिनय का कोई स्थान ही नहीं है, इसलिये वह देशी है ।

नृत्य के रस प्रसंग में मार्ग और देशी का अर्थ आपाततः सामान्य अर्थ से कुछ भिन्न दिखाई देता है, क्योंकि न तो यहाँ नियमों की कठोरता अथवा शिथिलता से अभिप्राय है, न अपौरुषेय और पौरुषेय का भेद है, न दृष्टा-दृष्ट-फल का विचार है और न ही निःश्रेयस् अथवा जनरंजन के प्रयोजन के प्रति लक्ष्य हैं । किन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो यह समझा जा सकता है कि रस की अलौकिकता के कारण उसका मार्गण नृत्य के मार्गत्व का प्रयोजक है और उस मार्गण के अभाव में केवल लौकिक मनोरंजन नृत्त के देशीत्व का प्रयोजक है ।

नाट्य को मार्ग से भी ऊपर रखा गया है । इसका आधार अवश्य विचारणीय है । अभिनव गुप्त ने जैसे साम से गान्धर्व और गान्धर्व से गान की उत्पत्ति बताई है तद्वत् नाट्य को साम के, नृत्य को गान्धर्व के और नृत्त को गान के समानान्तर समझा जा सकता है । सामगायन में सामरस्य की पूर्ण उपलब्धि रहने के कारण उसमें मार्गण व्यापार का कोई स्थान नहीं हो सकता । उससे एक स्तर नीचे उतर कर गान्धर्व अथवा मार्ग का अस्तित्व है, एवं उससे भी निम्न स्तर देशी का है ।

मार्ग में अन्वेषण किस तत्त्व का है ? इस प्रसग में याज्ञवल्क्य-स्मृति के निम्नोद्धृत अंश और उन की टीका मननीय है ।

अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम् ।
ध्येय आत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत् प्रभुः ।।

यस्य पुनरस्मिन् सवितर्के समाधौ निरालम्बनतया बहिर्मुखावभासतिरस्कारेण चित्तवृत्तिर्नाभिरमते तस्य शब्दब्रह्मोपासनेन ब्रह्मज्ञानाभ्यासात् परब्रह्माधिगमोपायमाह—

यथाविधानेन पठन् साम गायत्यविस्वरम् ।
सावधानस्तथाभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ।।

ब्रह्मज्ञानाभ्यासोपायविशेषमाह—

अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरीं तथा ।
औवेणुकं तु रोविन्दमुत्तरं गीतकानि तु ।।
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका: ।
गायन्नेतत्तदभ्यास कारणान्मोक्ष संज्ञितम् ।।

अपरान्तिकादयो भरतशास्त्रोक्तगीत प्रकार विशेषाः ब्रह्मज्ञानाभ्यासहेतोर्ज्ञेयाः । एतेषु गीयमानेषु **नादस्य यत उदयो यत्र च लयस्तदवगन्तव्यम्** । तदेव ब्रह्म, ततश्च तज्ज्ञानाभ्यासाय ते गेया इति युज्यते वक्तुम् । अपि च,

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति ।।

तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽनायासेन मोक्षमार्गं मोक्षोपायभूतंमनस ऐकाग्र्यंब्रह्मज्ञाहेतु निगच्छति । यस्तु वीणादिनादानां यत उदयो यत्र च लयस्तत्रान्तरेभ्यो विविक्ततया न सम्यग्वेत्ति तं प्रत्याह—

गीतज्ञो यदि योगेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ।।

(याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय ३, प्रकरण ४, श्लो. ११०-१५ एवं अपरादित्य विरचिता अपरार्कापरा टीका)

ऊपर उद्धृत वचनों का सारांश इस प्रकार है :—(१) जो व्यक्ति वाह्य आलम्बन के अभाव में चित्त को समाधि में स्थिर नहीं कर पाते, उनके लिए सामगान का विधान है, क्योंकि उसमें परम अवधानयुक्त गायन से परब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। (२) सामगान के ही समकक्ष एक अन्य अभ्यास है और वह है अपरान्तक, उल्लोप्यक आदि गीतों का गायन। स्मरणीय है कि यही भरतोक्त शुद्ध गीतक है+। (३) साम अथवा गीतकों के गायन में अन्वेषण का विषय यही है कि नाद का उदय कहां से होता है और लय कहाँ होता है यह उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है। नाद का उदय और लय दोनों ही का आधार ब्रह्म है, इसलिये वही मार्ग के अन्वेषण का विषय है। इस पर विशेष विचार अपेक्षित हैं। (४) यदि नाद के उदय और लय के आधार को तत्त्वतः जाने विना साम अथवा (देवस्तुतिपरक) गीतक का गान किया जाता है तो प्रयोक्ता परम पद को प्राप्त नहीं होता, अपितु रुद्र का अनुचर बन कर उसी के साथ हर्ष को प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य की इसी उक्ति को अभिनवगुप्त ने नाट्य शास्त्र २८।११ की टीका में यह कह कर उद्धृत किया है कि योग रूप अवधान गीतक के गायन में आवश्यक अथवा उपयोगी नहीं होता।× याज्ञवल्क्य और अभिनवगुप्त का ऐसा अभिप्राय जान पड़ता है कि परमपद-प्राप्ति के लिये गायन के साथ योग-रूप अवधान अनिवार्य है, किन्तु देवता-परितोष उसके विना भी हो सकता है। देवतापरितोष से यहाँ संभवतः साम अथवा गीतक के गायन के वस्तुगत धर्म के अनुसार होने वाला अदृष्ट फल ही अभिप्रेत है। कहना न होगा कि इस अदृष्ट फल की सिद्धि के लिये भी प्रयोक्ता में तदनुकूल वासना रहना अनिवार्य है।

नाद का उदय और लय कहाँ है इस सम्बन्ध में आधुनिक ध्वनिविज्ञान की जो स्थापनायें हैं उनमें तीन न्यूनतायें दिखाई देती हैं। १—ध्वनि के ग्राहक के विषय में। यह माना जाता है कि मनुष्य के कान की

+ यहां साम से गीतकों को पृथक् कहा गया है, किन्तु वाद में चल कर साम भी गीतकों का ही एक भेदमात्र रह गया। (द्रष्टव्य संगीतरत्नाकर, संगीतराज आदि में निरूपित १४ गीतक भेद।)

× अवधानं योगरूपं तच्चात्र नोपयोगि। परिवर्तकेष्वनद्धे—पूर्वरङ्गे, तत्र हि देवतापरितोषादेव सिद्धिः। तदेतदुक्तम्—"गीतज्ञो यदि……" इत्यादि।

श्रवणशक्ति मर्यादित है, आन्दोलनों की कुछ न्यूनतम और अधिकतम सीमा के भीतर ही मनुष्य का श्रोत्र काम करता है। इस मर्यादा के बाहर असीम क्षेत्र है किन्तु वह मनुष्य के लिये अगम माना जाता है। २–वाहक माध्यम के सम्बन्ध में। ध्वनिविज्ञान द्वारा प्रतिपाद्य ध्वनि पृथ्वी (Solid) जल (Liquid) अथवा वायु (gas) के माध्यम के बिना चल नहीं सकती। वाहनहीन आन्दोलन श्रव्य नहीं होता और वाहन हीनता शून्य (Vacuum) में ही हो सकती है। भारतीय दर्शन के अनुसार सपूर्ण शून्यता असंभव है क्योंकि तथा-कथित शून्यता में भी शक्ति का बहुत प्रबल और सूक्ष्म रूप निहित रहता है। हमारे दर्शन में आकाश अथवा व्योम 'शून्य' में ही रहता है। वह सूक्ष्मतम भूत है जो सारे विश्व में व्याप्त है तथा जो Solid, Liquid तथा gas से भी सूक्ष्म है। ३–ध्वनि का लय कहाँ होता है इस का कोई उत्तर ध्वनि विज्ञान के पास नहीं है। विज्ञान अधिक से अधिक यही कह सकता है कि ध्वनि की शक्ति (energy) किसी अन्य शक्ति में परिवर्तित हो गई, किन्तु वह परिवर्तन कैसे कब और किस रूप में होता है इन प्रश्नों का कोई उत्तर विज्ञान के पास नहीं है। भारतीय दर्शन के अनुसार ध्वनि का उदय और लय आकाश या व्योम में ही है, और उसी में सब ध्वनियाँ अमर रूप में संगृहीत रहती हैं। इसी सूक्ष्म व्योम के अनुसन्धान से परब्रह्म की प्राप्ति की सुगमता ही मार्ग संगीत का आधार है। इस अनुसन्धान के लिये नाद का माध्यम सर्वाधिक सुलभ माना गया है। इसी लिये संगीत को नादयोग कहा गया है। किन्तु इस अनुसन्धान के अभाव में संगीत साधना एक लौकिक कर्म मात्र है। इस नादअनुसन्धान के प्रसंग में निम्नलिखित उद्धरण विशेष उपयोगी होगा।

"हमारे समस्त नादोच्चारण का कोई एक आधार अवश्य है, और वह है ब्रह्माकाश में ज्ञानमय तपोरूप मूल स्पन्द। यह मूल स्पन्द अपने को नाद अथवा ध्वनि के रूप में व्यक्त कर रहा है। अवश्य ही यह ध्वनि साधारण श्रव्य ध्वनि नहीं है। यह ध्वनि रूपा सुर-धुनी ध्रुवा व सनातनी है। 'तद् विष्णोः परमं पदम्'—यह है इस ध्वनि का पराभाव। ब्रह्मलोक में जो कुण्ठाहीन दिव्य अनुभूति है, वह है पश्यन्ती भावा हर के जटा जाल में अवगुंठित होने पर मध्यमा और अन्त में भगीरथ के शंख-निनाद से गोमुख से निःसृता होने पर वैखरी होती है। हमारा सब वाग्व्यवहार रस ध्रुव-धारा के वक्षः स्थल पर वीचिवत् उठ कर पुनः उसी में लीन हो जाता है, इसलिये साधक को मूल-स्पन्द रूपा उस ध्वनि-सुरधुनी ध्रुवा का सन्धान करना होता है।"

(स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती कृत जपसूत्रम्, भाग २, परिशिष्ट, श्लोक ४–१०)

देशी का सम्बन्ध वैखरी से ही है। किन्तु मार्ग में मध्यमा पश्यन्ती और परा का क्रमशः अनुसन्धान आवश्यक हैं। इस प्रसंग में एक भ्रान्त धारणा का निराकरण आवश्यक है। कुछ लोगों का यह विचार है कि मार्ग-संगीत का माध्यम अनाहत नाद है। किन्तु वास्तव में मार्ग उसी संगीत की संज्ञा है जो इन्द्रियजन्य व्यापार के स्तर पर आहत नाद को आलम्बन बना कर निःश्रेयस् प्राप्ति में समर्थ होता है। यदि ऐसा न होता तो तो संगीत शास्त्र के अन्तर्गत उसका वर्णन ही न हो पाता। फिर तो वह अनाहत नाद की भांति केवल योग-शास्त्र का ही विषय रह जाता।

उपसंहार में कुछ विषयों का संकेत-मात्र प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि स्थानाभाव से उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सका है।

(१) मार्ग-संगीत के अन्तर्गत ग्राम-राग, मार्ग-ताल और शुद्ध गीतक—इन विषयों का जो भी निरूपण शास्त्र-ग्रन्थों में मिलता हैं, उससे यह स्पष्ट है कि ३० अथवा ३२ ग्रामराग ५ मार्गताल और १४ शुद्धगीतक—इन की संख्या अथवा लक्षण में कहीं कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता। देशी रागों, तालों, और प्रबन्धों के भेदों की संख्या इन से कहीं अधिक है और उसमें बहुत कुछ न्यूनाधिकता देश-काल-क्रम से पायी जाती है। मार्ग की इस अपरिवर्तनीयता की पृष्ठभूमि में दर्शनशास्त्र तथा आध्यात्मिक साधना के कौन से गूढ तत्त्व हैं, यह अनुसन्धान का विषय है।

(२) मध्ययुग में मार्ग-देशी के विभाजन की जो उपेक्षा अथवा लोप हुआ, तदनुसार देशी का ही वर्णन ग्रन्थों में मिलता रहा ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। मार्ग का यह लोप अलौकिक प्रयोजन की दृष्टि से समझा जाय अथवा नियमों की कठोरता की दृष्टि से देखा जाय ? संभवतः दोनों दृष्टियों को यथायोग्य स्थान देना उचित होगा, अर्थात् यह भी सत्य है कि उन ग्रन्थों में वर्णित संगीत लौकिक प्रयोजन मात्र का साधक है, और साथ ही यह भी सत्य है कि वह संगीत प्रदेश-विशेष और काल-विशेष द्वारा सीमित है, यानी लक्ष्य-प्रधान है। मार्ग को जो लक्षणप्रधान कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि वह सार्वभौम और सार्वकालिक है।

(३) आधुनिक शास्त्रीय संगीत को मार्ग समझा जाय या देशी ? प्रयोजन की दृष्टि से तो इसे केवल देशी ही कहा जा सकता है, हां, नियमों के बन्धन की दृष्टि से इसे मार्ग भी समझ सकते हैं। किन्तु वहाँ भी जिस अंश तक घरानों अथवा प्रादेशिक परम्पराओं के भेद से नियमों में भेद पाया जाता है, वहां तक उसके मार्गत्व की हानि ही है। निःश्रेयस साधन की योग्यता का मुख्य आधार तो प्रयोक्ता की अपनी मनोभूमिका है। अपेक्षित मनोभूमिका यदि किसी साधक के पास हो तो आज भी संगीत का मार्गत्व सिद्ध हो ही सकता है। इतना अवश्य है कि विशेष अनुसंधान के बिना, परम्परागत संगीत शास्त्र में से, निःश्रेयस् साधक संगीत की अध्यात्मशास्त्रीय व्याख्या प्राप्त करना असंभव सा है। जिस प्रकार अन्य आध्यात्मिक साधनाओं के शास्त्र हैं, जिनमें साधक की क्रमशः उन्नति का, पत्र की बाधाओं का तथा बाधाओं से निराकरण के उपाय का निरूपाय मिलता है, वैसा कुछ आज संगीतशास्त्र में दिखाई नहीं देता। इसलिये ऐसा लगता है कि संगीत-साधना को चित्त की एकाग्रता का सुलभ और सुगम उपाय जान कर ही इसे निःश्रेयस् जनक कह दिया गया है, और यह मान लिया गया है कि उसके साथ-साथ नाद योग अथवा भक्ति की साधना अनिवार्य रूप से रहेगी ही। संगीत के साधक सन्तजनों अथवा भक्ति-रसिकों के चरित से भी यही निष्कर्ष निकलता है।

पृथ्वीराज विजय–एक ऐतिहासिक महाकाव्य

आमेर–जयपुर के शासक सूर्य वंशी कछावाह हैं, जिनका संबन्ध भगवान श्रीराम के पुत्र कुश के साथ जोड़ा जाता है। इतिहास में इन्हें "कच्छपघात" के नाम से भी लिखा है। सं० १०८८ के एक शिलालेख से, जो देवकुण्ड नामक स्थान पर मिला था, विदित होता है कि ९७७ ई० (संवत् १०३४) में वहां पर 'वज्रदामन्' नामक एक प्रतापी राजा राज्य करता था। इसने कन्नौज के राजा विजयपाल परिहार पर विजय प्राप्त कर ग्वालियर राज्य को अपने अधिकार में कर लिया था। वज्रदामन् के पुत्र का नाम मङ्गलराज था। श्री मङ्गलराज के छोटे पुत्र सुमित्र और उनके क्रमशः मधु ब्रह्म, कहान, देवानीक ईश्वरीसिंह (ईशदेव) तथा सोढदेव हुए। महाराज सोढदेव ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने ढूंढाड प्रदेश पर अपना अधिकार किया था।

इस कच्छवंशीय शासकों की वंशावली के मूल पुरुष हैं—महाराज ईशदेव। ये ग्वालियर के शासक थे जिसे तत्कालीन इतिहास में 'गोपाद्रि' कहते हैं। इस पर उनके भगिनी पुत्र–श्री जयसिंह तवर का शासन हो गया था, जिसके संबन्ध में अनेक मतभेद हैं। प्राचीन रिकार्ड से यही सिद्ध है कि महाराज सोढदेव को अपने पिता का राज्य नहीं मिला। इन्होंने करौली की तरफ अमेठी नामक स्थान पर शासन किया था। उनके पुत्र का नाम 'दूलहराय' था। इनका विवाह मोरां के राजा रालणसी (रालणसिंह) चौहान की पुत्री 'सुजानकुंवरी' के साथ सम्पन्न हुआ था। इनकी सहायता से ही श्री दूलहराय ने 'द्यौसा' (दौसा) पर अधिकार किया और वहां के शासक मीणों एवं बजगूजरों को युद्ध में परास्त किया। इनको 'दूल्हा' भी कहते थे और इसी को अंग्रेजी में लिखने की भ्रान्ति से राजस्थान के इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड ने इन्हें 'ढोला' के रूप में प्रस्तुत किया हैं। इन्होंने 'जमवाय माता' का मन्दिर बनाया था, जब 'माचो' पर विजय प्राप्त की थी। यह मन्दिर माची से ३ कोस पर आज भी विद्यमान है। इनके पुत्र का नाम काकिल जी था, जिन्होंने आमेर बसाया था–'काकिल जी आमेर बसायो'—(मुहता नैणसी री ख्यात जयपुर भाग)। तभी से सवाई जयसिंह द्वितीय तक आमेर इन कछावाहों की राजधानी रही। श्री जयसिंह ने जयपुर बसाकर राजधानी में परिवर्तन किया था।

जयपुर के कछवाहों की वंशावली बहुत विस्तृत है, उसकी यहां आवश्यकता भी नहीं। जिस काव्य का विवेचन कर रहे हैं, उसमें यह वंशावली उपलब्ध है, इससे साहित्यिक प्रमाण भी उपलब्ध हो जाता है। जैसाकि इसका नाम है, श्री पृथ्वीराज १८वीं पीढी में हुए थे। यह इतिहास से प्रमाणित तथ्य है।

एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ते में संगृहीत हस्तलिखित ग्रन्थों में इतिहास विषयक एक ग्रन्थ आमेर–जयपुर के शासकों से संबद्ध भी है। इसका नाम 'पृथ्वीराज-विजय' है। यह क्रमांक १०४३४ पर उपलब्ध है। प्रकाशित सूचीपत्र में इसकी विगत इस प्रकार है—

Substance—Country made Paper.
Size—5 × 9 inches.
Folio—12 (Marked by M. M. Harprasad Shastry, vice President of Asiatic Society, Calcutta.
Lines—9 to 12 in a page.
Character—Modern Nagar.
Appearance—Solid, written lengthwise & on the one side. The former owner of the manuscript thought the 7th leaf to be the first on which he wrote—

"गोकुलप्रशादस्येदं पुस्तकं पृथ्वीराज विजय खण्डित् १२ पत्राणि ।"

इस ग्रन्थ में ६२४ वें पद्य से ७७६ पद्य तक उपलब्ध हैं। इनमें आमेर के कछवाह शासकों का इतिहास है। इतिहास के आधार पर हम इसकी आलोचना प्रस्तुत करते हैं। ग्रन्थ के नाम का औचित्य विचारणीय है। लेखक का नाम कहीं भी नहीं आया है। इसे ऐतिहासिक महाकाव्य न कहकर केवल काव्य की ही संज्ञा देंगे। जो १२ पत्र उपलब्ध हैं, वे अपने में पूर्ण हैं। कहीं कहीं पर अशुद्ध अवश्य हैं और दुर्वाच्य भी। उपलब्ध १५६ पद्यों में २० शासकों का वर्णन है।

इस ग्रन्थ का प्रथम श्लोक (उपलब्ध ६२४ वां इस प्रकार है—

"स श्रीमानुपग्रह्य हर्षदकृति स्तत्पारिवर्हं ततो
विस्मेरीकृत सर्वलोकनिवहो रम्यैरनेकैर्गुणैः ॥
औदार्यादिभिराविधाय विविवद् वैवाहिकां स्नान् विवीन
स्तेनैनु व्रजता समं कतिपयै प्रत्याययौ पद्धतिम्" ॥६२४॥

यह महाराज सोढदेव का वर्णन है। महाराज सोढदेव ने यादव कुल की राजकुमारी से विवाह किया था, जिसके गर्भ से 'दूलहराय' उत्पन्न हुए थे। (जयपुर का इतिहास—पं० हनुमान शर्मा चौमू-पृष्ठ, १३-१४) जैसाकि हम विवेचन कर चुके हैं, इनके पिता का नाम महाराज ईशदेव था। इनका देहावसान संवत् १०२३ में हुआ था। इस पद्य में उल्लेख न होने पर भी यह कहा जा सकता है कि यह पद्य महाराज सोढदेव से संबद्ध है, क्योंकि इसके बाद इनके पुत्र दूलहराय की उत्पत्ति वर्णित है।

इन्हीं सोढदेव के विषय में कुछ पद्य हैं, जिनमें इनके विवाह तथा शृङ्गार का विवेचन है। इनके विवाह से इनकी माता बहुत प्रसन्न हुई थीं।
पद्य है—

"धीमान् नीतिविशारदो विदमित प्रोन्नद्ध दस्युव्रजो
भूपालेन्द्र विभाविताखिलविधिवाग्मी विदिम्यत्खलः ॥
कन्दर्पाति मनोहरो नववधूहृद्धारि जहत्करी
राजा रञ्जित सर्वलोक निवहो मातुर्वितेने मुदम्" ॥४२६॥

इसके पश्चात् दो पद्य शृंगारिक है जिसमें नववधू का सज्जित होकर अपने वीर पति के पास आना तथा पति का उसके साथ विलास वर्णित है। रानी गर्भवती होती है तथा पुंसवनादि क्रियायें यथाविधि सम्पन्न की जाती हैं। श्री दूलहराय का जन्म होता है—

"दानप्रीत मही राभिहितगा रागाभि शर्माश्रया
देवी दर्शन लस्यमान महिमा देव्या विजज्ञे सुतः।
भूपालस्य शुभास्यया ग्रहवरैरावेद्य मानोदये
लग्ने लग्नपतौ वलीयसि पिता प्राचेथतं दूल्लहम्" ॥६३१॥

क्रमशः वाल्यकाल व किशोरावस्था को पार कर दूलहराय युवक वने। तरुणावस्था में उनकी आभा दर्शनीय थी। विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ। जैसाकि इतिहासों में लिखा है—श्री दूलहराय ने एक ही विवाह किया था। वह भी मोंरा के चौहान रालणसिंह की पुत्री सुजान कुंवरी के साथ। चौहान रालणसिंह का दौसा (द्यौसा) पर आधा अधिकार था। इन्होंने इसे दूलहराय को दहेज में दे दिया था और कुछ सैनिक सहायता भी दी थी, जिसकी सहायता से दूलहराय ने मीणों व वजगूजरों को परास्त कर सम्पूर्ण दौसा अपने अधिकार में कर लिया था। ढूंढाड प्रदेश में इन कछवाहों का यह प्रथम स्थान था। इसे ही उन्होंने राजधानी वनाया था।

"वीर श्रीरुचिराश्रितो गुणगणैरुज्जृम्भमाणो वलै
र्निघ्नन् वैरिजनान् गजानिव वली पंचाननो हेतिमान।
राजेन्द्र प्रति नन्दितेन गुरूणा राजन्यकन्यां शुभां
चन्द्रास्यां प्रतिलम्भितोविधु शुभे चन्द्रो यथा, रोहिणीम्" ॥६३५
"जित्वा सत्वर जित्वरो रिपुजनान् द्यौसा चलस्थायिनो
रम्यं स्थानमवेक्ष्य स क्षितिपजावस्तुं समीहां दधौ॥
आहूय स्वजनान् स्वकं च जनकं तद् गोपनाय प्रभुं
तथैवोथ्यं निजोजिसाधु विजयी प्रत्यर्थिनां निर्ययौ" ॥६३६

आदायाभि जगाम धाम अपरं विभ्रत्स धीरोत्तमो
माची नामपुरी परैरविजितां जेतुं जनेशात्मज" ॥६३७॥

× × × ×

"आरूह्योरूजवं महाश्वमभितो वीरैरनेकैर्वृतो
भिन्दन्नापततोसिपाणि रहितान् वीरानिभारोहिणः ।
कुम्भे दन्तयुगे च वाजिचरणानुच्चैरिभानां दवत्
वाहस्याशु जघान वारिणि गजो दीर्घास्तरङ्गानिव" ॥६४२॥

× × × ×

"एवं गर्जति सिंहराजतनये सिंहायमाने परं
घर्म संवुवति व्यतीतसुकृता हित्वा रणं निर्घृणाः ।
द्राक्सर्वेपि तिरोदधुर्निजवलै रूद्धातन्दन्तीभिः ये
साम्भीभूय रणांगणस्थविजयी रेजे सहायोऽपि सः" ॥६४६॥

युद्ध में विजय प्राप्त कर भगवती की स्तुति करते हैं। इसमें भगवती की गुणमहिमा वर्णित है—

"या भीतेन विरंचिना परिणुता हन्तुं मधुं कैटभम्
विष्णुं वोधयितुं च नेत्रयुगलादाविर्वभूवाचिकम् ।
तस्यैषा विजयप्रदा निजपदं संसेदुषोऽधीश्वरी
पायान्तः शरणं रणाङ्गणगतानागत्य लोकाम्बिका" ॥६५२॥

अन्तिम पद्य है—

"या सर्वाशयवेदिनो गुणमयी वेदैरशेषैर्नु ता
चिद्रूपा च परावरान्तरचरी चित्तादि संचारिणी ।
सा माता जगतां मतिर्मतिमतां मां तिग्महेति क्षतं ।
चक्षुर्गोचरतामुपेत्य सदया पातात्पतन्तं शिवा ॥६६०॥

स्तुति से प्रसन्न होकर भगवती ने दर्शन दिये। राजा सोढदेव के पुत्र दुलहराय को बालक के रूप में संबोधन करती हुई उसने राजा की प्रसंशा की और उसे आशीर्वाद प्रदान किया—

"एवं दुर्गतिहारिणी रणगते दुर्गा प्रणम्यावनी
पित्सत्यंगुलिकास्ति तत्सामयुगे व्यादीयमानव्रणे । (?)
तस्मिन वीरवरे विमुह्यति महो विध्वंसितध्वान्तिका
भक्तत्राणमहाव्रतासकरुणा प्रादुर्वभूवाम्बिका ॥६६१॥"

+ +

"मापप्तो विमुहोऽपि तप्तहृदय प्रोदग्रतापावली
वेलेव प्रतिरोद्धमम्बुधि चलत्कल्लोकं भालामहम् ।

वर्ते संप्रति सन्निधौ तव जवा देताजयश्रीरिव
श्रीमानेनविसमेविनाखिलवाली 'काले' ति सा तं जगौ ॥"
पीयूषायितमेन देव वचनं तस्या निपीयोदितं
प्रोत्थाय प्रणनाम वर्णित गुण विश्वाम्बिकायां बुधैः ॥
श्रीमत्या चरणाम्बुजद्वयमिदं भाग्यं ममाहो महद्
मन्दस्येति विभावयन् दृढमति श्रीसोढदेवात्मजः ॥६६३॥"

× × ×

"प्रीतास्मि त्वयि निर्भयेन मनसा दुहृद्ववलें भीषणं
पाथोधि तरसा विलोलितवति श्रीकोलविष्णाविव ॥
क्षात्रविक्षतविग्रहे प्यजहति धैर्यं स्वधर्मं परं
रक्तत्राव सुतोषितस्वकगुणा शृण्वेहि कोदन्तकम् ॥६६६॥"

इसी समय भगवान् नारद दिखाई दिये। राजा ने उन्हें देखकर प्रणाम किया। श्रीनारद मुनि ने भी भगवती के अर्चना के लिए ही उपदेश दिया—

"दैवादैवतदैवदेवपयगो दृग्गोचरो नारदो
वीणापाणिरुदाननीकृतमृगो वेगोन्वममहीक्षितः।
दृष्टो हृष्टतनूरुहेण सहसा वेधो मुदाभ्यर्थितो
लब्धार्थी कृतजात दर्शन जनो नत्वा मिनिन्ये भुवम्. ॥६७०॥

मुनि नारद ने उपदेश दिया—

"शक्तिं सर्वविधायिनीं भजविभो! भक्तप्रियां भक्तये
भूतमतिरमातुरन्तिशमिनीं विमार्जिनीं जतिमताम्।
सा शीघ्रं मनसा धृतांत्रिकमला विध्यच्युतेशार्चिता
चिन्ता सन्ततिमोचिनी भगवती कर्त्तुं हतेमीक्षितम् ॥७२॥"

'याहि त्वं विजहीहि संशयहतां चिन्तां सुचिन्तामणौ
चिन्तान्तर्निहिते हिते पदयुगे याम्याहिते मामके।
साहं पूर्विक मापतन्ति सहसा संचिन्तितार्थालयो
यन्र्थार्था विलयो पयः सुनिगतो नश्यन्ति सर्वेऽरयः ॥८२॥"

×   ×   ×

"तत्सर्वं सतिशम्य रम्य सुषमे देवीं स्वनामाङ्कितां।
सद्यो जाम्बावतीं निवेश्य भवने हृद्याकृति कल्पिते।
देवी वागमृतस्तुतिग्रह बृहत्स्फूर्तिप्रभावोदयो
धुर्यो निर्धुतसंशयोघृतजयो धीयोगिनामुद्ययौ ॥८४॥"

पं० श्री हनुमान शर्मा ने अपने जयपुर के इतिहास में महाराज दूलहराय का परिचय देते हुए लिखा है—

(१) 'वंशावलियों में लिखा है कि माँची की पहली लड़ाई में दूलहरायजी मूर्च्छित हो गये थे। तव वहां की 'बुढवाय' माता ने सपने में कहा कि "डरो मत, दुवारा चढ़ाई करो। मरी हुई सेना सजीव हो जायगी और तुम जीतोगे।' यह सुनकर दूलैराय चैतन्य हुए और दारू पीये हुये मीणों को मारकर मांची में अधिकार किया।" (पृ०-१५)

(२) "मांची विजय की यादगार में दूलैरायजी ने मांची से तीन कोस पर नांके में देवी का नवीन मन्दिर बनवाया था और उसको 'बुढवाया' के वदले 'जमवाय' नाम से विख्यात किया था। इस अवसर तक दूलैरायजी दौसा ही रहे थे। किन्तु 'मांची' में अधिकार हो जाने से वहाँ रामचन्द्र जी के नाम पर "रामगढ़" बसाया और वहीं रहने लगे।" (पृ० १६)

म० सवाई जयसिंह तृतीय के सभासद पं० श्री सीताराम शास्त्री पर्वणीकर ने अपने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य में उन घटनाओं को इस रूप में उपस्थित किया है—

"इत्थं स्थिते रात्रिरभून्निशीथे देवी पुरोऽस्याविरभूद्दयालुः।
आपन्नदीनोद्धरणव्रतं यन्न देवतानामिदमस्ति चित्रम् ॥२७॥
उत्तिष्ठ वत्सेति वचो निशम्य देव्याःकुमारः सहसोदतिष्ठत्।
उत्थाय तां बुद्धद्वयनुसारमेव स्तोतुं प्रवृत्तो व्यथितोऽपि देवीम् ॥२८॥
नमोस्तु ते देवि विशालनेत्रे कृपानिधे त्वं शरणागतान्नः।
पाहि प्रशंस्यासि महेन्द्रपूर्वैः सुरैर्न चेत्तर्हि कुतो मनुष्यैः ॥२९॥
अस्याः प्रतीरे खलु वाणनधाः मूर्तिं महीयां यमवोय नाम्नीम्।
विधाय संस्थाप्य यथावदेनां पूज्यामविच्छिन्नतया य यजस्व ॥३२॥
ततो यथा वैभवमेव तस्या निर्माय देव्या नरदेवसूनुः।
स्वं मन्दिरं तां यमवायदेवीमास्थापयामास यथावदर्चाम् ॥३८॥

इत्यादि

(जयवंश महाकाव्य-प्रथम सर्ग०पृ० ३-५)

'साहित्य-रत्नाकर' के संपादक स्व० श्री सूर्यनारायण जी शास्त्री व्याकरणाचार्य ने 'मानवंश महाकाव्य" लिखना प्रारम्भ किया था। यह भी एक ऐतिहासिक काव्य है। इसके कुछ ही सर्ग प्रकाशित हैं। उपर्युक्त घटनाओं के संबन्ध में उनका साक्ष्य इस प्रकार है—

"अथैकदायं वृतसैन्यसंघो मञ्चादिकान् ग्रामगणान् विजित्य।
ग्राहो यथा हन्ति सुपुष्टमीनान तथैव मीनान् तरसा जघान ॥२०॥
(मानवंश काव्ये द्वितीय सर्गे-पृ० ५१)

"भुवः पतिर्दूलहराय वीरो विजित्य माञ्ची विजय प्रहृष्टः।
गिरि प्रदेशे निजवंशदेव्या विनिर्ममे मन्दिरमुच्चशृङ्गम् ॥१॥
देव्यासु 'वुढवाय' इति प्रसिद्धं नामैष 'जमवाय' इति प्रचक्रे।
जम्वायमातुस्तु नितान्तरम्यं तन्मन्दिरं ख्यातमिहाद्य यावत् ॥२॥
यद्यप्यमुष्मिन् समये स द्यौसां समध्यतिष्ठन्नृपदूलहरायः।
तथाप्यहो रामगढं गरिष्ठिं न्यवासयत् पत्तनमेव शूरः ॥४॥
कुर्वन् स्थितिं रामगढे स वीरः स्वराज्यसीमापरिवर्द्ध नेच्छुः।
खोहं च गेटोरमहो विजित्य तं झोटवाडं सहसा विजित्ये ॥५॥"
(संस्कृत रत्नाकर—वर्ष८।संचिका ३, अक्टूबर १९४१ पृ० ८८)

"इतिहास-राजस्थान" में श्री रामनाथ रत्नू ने लिखा है—"सोढदेव जी खोह विजय तक दूलहराय के साथ रहे थे। खोह में जाने पर उनकी मृत्यु हुई थी। खोह एक प्रकार से आमेर का ही अंग है।"
(पृष्ठ ८८)

इस ग्रन्थ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। खोह पर अपना अधिकार कर श्रीदूलहराय ने अपने पिता को दौसा सूचना भेजकर वहीं बुला लिया था और उनकी सेवा में रहने लगा था। वहीं श्रीसोढदेव का परलोकवास हुआ था—

तातं दूतमुखेन वृत्तमखिलं सम्वोध्य साम्त्रं मुदा
देवी वागमृत स्तुतिप्लुतमतिः मित्रैसतमेतो मितैः।
कोशादात्तवनो निवेरिव भृशं कर्तुं स वै मण्डपं
गण्डो भुज्जदलि व्रजैर्गज वरैरश्वैः स वीरैः ययौ" ॥६९५॥

× × × ×

"धृत्वा सत्त्व समूर्जितो हृदि शुभं देवी पदाब्जद्वयं
खोदेश प्रमुखाः वरानविकलं प्रोन्मूल्य सर्वान् खलान्।
राज्यं प्राज्यतरं विधाय जनकं सत्सूनुतानुदितं
कुर्वन् गर्वं विवर्जितोर्जितयशा रेजे स राजात्मजः ॥६९८॥

श्री दूलहराय के पुत्र का नाम "काकिल" था। काकिल के जन्म का वर्णन इस पद्य से प्रकट किया है—

प्रत्यापत्यपुनर्वियान्ति च परागृर्ष्टैविनष्टानुगाः ।
एवञ्चञ्चलविभ्रमां बहुतमास्ते दाक्षिणात्या भटा–
दृष्टो चण्डपराक्रमस्य नृपतेश्चक्रे श्रसं विच्युताम्। ।२३।।
"तं संहत्य रणे निपत्य नृपतिं हेति प्रणीतोन्नतिं
चञ्चद्द्वारकचन्द्रहासशतकैरेकैकश सर्वतः ।
घ्नन्तं भूरिबलाम्बुजंघ्नुरनयं रंहास्विबाहाजवा–
दुद्विग्नाविमयं भयंकरममुं ते दाक्षिणेशानुगा ।।२६।।
"कृत्वासौं जनकस्य चोत्तरविधि यातस्य दिव्यं पदं ।
राज्यं प्राज्यतमं विधाय विविधैर्भूयो बलैर्दुग्रहम् ।।
आश्वास्य स्वजनानुपेत्य ग्रहिणीं हृद्य प्रमारोहिणीं ।
वुद्ध्वा दोहदशालिनीं प्रमुदितो युद्धाय बुद्धि दधौ ।।३२।।

अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर पिता की मृत्यु के पश्चात् महाराज काकिल ने आमेर को जीता और खोह के स्थान पर इसे राजधानी बनाया। श्री काकिल का राज्य काल ३ वर्ष का ही रहा, परन्तु इतिहास में आपका नाम प्रसिद्ध है। आपने आमेर को राजधानी बनाने के अतिरिक्त आमेर में अम्बिकेश्वर महादेव की स्थापना की। यह मन्दिर आज भी विद्यमान है। गालवाश्रम (गलता) के पर्वतों में पृथ्वी में विद्यमान, अनेक नागों से वलयित इस मूर्ति को लाकर भगवती के आदेश से आमेर में स्थापना की थी। इस संबन्ध में इस काव्य में लिखा है—(भगवती काकिल को कह रही है)

"तावत्तन्न केरितेव जननी लोकाम्बिका त्र्यम्बका
रोचीरोचित लोहितांचित समिद्रङ्गा शुतङ्गाभिमाम् ।
आविर्भूय तदङ्गसङ्गतिहितप्रेक्षा समक्षाहितं
प्रोचे, काकिल! नाकिलम्भित पदा त्वां संपदा योजये ।। ७३६ ।।
भूमीगूहित मम्बिकेश्वर मरं पातार मभ्यर्च्यतां
दातारं च दुराय वस्तु वितते धीतारमेतस्य च ।
हर्त्तारं सुमहापदां त्रिजगतां भर्त्तारमाविष्कुरू
क्रूराणामनवेक्षण क्षममथ स्वं दुर्गमारात् कुरू ।। ३७ ।।
पावन्यां दिशि गालवाश्रम गिरेर्वन्यान्तराले गिरौ
वाराधार महावटाभिध सरो रोधौ महीगूहितम् ।
गौरेकापयसामिविञ्चति परं लिङ्गं सलिङ्गं मया
यत्तेवादि तदादिहेतुरहितध्वंसे च शर्मोदये ।। ३८ ।।
उज्जीवद्दलसंयुतो व्रजगिरा प्रातर्ममेति स्फुटं
विध्वस्तं कुटिलाशयैरकुटिलं प्रोज्जीव्य चादिश्यताम् ।
सा तेन प्रणता यया मतिनुता माता य विश्वस्यतं ।
वाचाश्वास्य नृपाऽर्चां सुचतुरं भक्तिप्रियान्तर्दधे ।। ३६ ।।

× × × ×

"सूनुस्तस्य हनोत को गतवति श्रीकाकिले भूपतौ
देव्याधाम भुवंशशास, वलवानुग्रप्रतापश्रिरम् ।
तस्य श्री वलभूषिते ऽ मरपुरं याते च तस्मिन् महा-
सूनुर्जानुग वाहुराहव जयी सभ्रातृकः संययौ" ।।७४४।।

इनके पश्चात् प्रजवन (पजवन या पजोन जी) उत्तराधिकारी बने ।

६. श्री पजवन जी (चैत्र शु० ७ सं० ११२७ से ज्येष्ठ कृ० ३ संवत् ११५१)

महाराज पजवन जी राजनीति तथा युद्धादि में निपुण और साहसी होने के कारण हिन्दू-सम्राट पृथ्वीराज चौहान के पंचवीरों में से एक थे—ऐसा प्रसिद्ध है। पृथ्वीराज रासो में महाकवि चदवरदाई ने इनका ओजस्वी वर्णन किया है। 'पृथ्वीराज विजय' काव्य में इनका वर्णन एक ही पद्य में किया है—

श्रीमांस्तस्य सुनो वली प्रजवनो नामस्फुरद् विक्रमे
भर्तृ विक्रम यत्कलासु चतुरो हर्षं प्रतेने गुरौ ।
गर्जद्वैरिगज प्रभञ्जन हरिर्मोहाब्धि मज्जत्तरि-
स्स्वर्याते पितरि प्रभासवितरि त्राता वभूवावनेः ।।७४५।।

इनके एक ही पुत्र था, जिसका नाम मलयसी जी (मलेषी) था ।

७. श्री मलयसीजी (ज्येष्ठ कृ० ३ सं० ११५१ से फालगुन शु० ३ सं० १२०३)

अपने पिता के समान ये भी वीर व पराक्रमी थे। श्री चन्दवरदायी ने इनकी भी प्रसंसा की है। सभी इतिहासों में यही लिखा है कि पजवनजी के एक ही पुत्र था, परन्तु इस काव्य में चार अन्य पुत्रों के विषय में भी संकेत है ।

"मल्लेषी तनयो वभूव भयदो मल्लो व्रतो द्वेषिणां
चत्वारस्तनया वभूवुरपरे तस्य प्रभावोज्ज्वलाः ।
राजासो निववन्ध युद्धविजितं नागौरिकाधीश्वरं
तद्राज्यं निजसाच्चकार मिहिरो भूचारिपाथो यथा" ।।७४६।।

"कन्नोज युद्ध के एक वर्ष पश्चात् मलयसीजी ने नागोरगढ गुजरात, मेवाड़ तथा मांडू को जीता था। श्री पर्वणीकरजी ने 'जयवंश महाकाव्य' में लिखा है—

"उपेत्य नागौर मनल्प विक्रमस्तदीश गोरीपतिना नृपः समम् ।
अयुद्ध लक्षत्रय सैन्य संयुजा स्वयं पर पञ्चसहस्त्र सैनिकाः ।।१०।।
स्व विक्रमोपायविवेर्व्यंचात्तमां स गुर्जरीये ऽ सुलभे ऽ पि नीवृति ।
पदं स्वकीयं निहित हितं ततं न कस्य विक्रान्तिवलं वलीयसः ।।१७।।
कदाचिदत्यन्तरणोद्धतोद्भटः क्षमापतिः प्राप्त महेन्द्र विक्रमः ।
मिवाडदेशाधिपतिं ससैनक रणेषु चिक्कृत्य पदं स्वकन्यधात् ।।१६।।
(जयवंश, चतुर्थ सर्ग—१० से २० तक)

नागौर विजय तक श्री प्रजवनजी जीवित थे। यहां जो श्लोक दिया गया है, उसमें श्री मलयसीजी के उत्तराधिकार प्राप्ति की पुष्टि करता है। यहां संवत् की समानता तो है परन्तु तिथि की समानता नहीं है। इतिहास में उनके शासन प्रारम्भ करने की तिथि ज्येष्ठ कृष्णा ३ है जब कि इस काव्य में माघ शुक्ला ६ है। संवत् के विषय में श्री हनुमान शर्मा ने 'जयपुर के इतिहास' (नाथावतों का इतिहास) पृष्ठ-२५ पर लिखा है—

"(१) संवत् ११५१ में अपने पिता (पजोनजी) के उत्तराधिकारी हुए।....(३) कन्नौज युद्ध के एक वर्ष बाद मलैसीजी ने नागौर गढ विजय किया और गुजरात मेवाड़ एवं मांडू आदि में अपनी वीरता दिखलाई।"

'जयपुर की वंशावली' में भी ज्येष्ठ वदि ३ सं० ११५१ मिलता है। इस काव्य में यह श्लोक तिथि का संकेत करता है—

"वर्षे विक्रमतो यतीन्दुशरभूचन्द्र प्रमेये मघौ
११५१
शुक्ले धूनित वन्वनि ध्वनदलिज्ये जे, नवम्यां तिथौ।
लब्ध्वा राज्यमसौ विधातुमधिकं वीरश्रमत्कारिधा—
युद्धाय प्रबलैर्बलैरनुगतो गर्जत्पुरा निर्ययौ" ॥७४७॥

अग्रिम पद्य में मलैसीजी का गुजरात विजय का उल्लेख है—

"तस्मिन् भूपवरे विभुज्य विभवान् पुण्येन याते दिवं
'मल्लेषी' पदमाप तस्य तनयो ज्यायानजय्योरिभिः।
जित्वा गुर्जरराजमानिचतुरो निर्जित्य भूपान् पराम्
बाहूर्दजित भूरिकीर्ति कनको भुङ्क्ते स्म भौमं सुखम्" ॥७४८॥

इनके ६ पत्नियां तथा ३२ पुत्र हुए थे। 'जयपुर के इतिहास' में श्री हनुमान शर्मा ने लिखा है—

(४) "इनके १ मनलदे (खींचणजी) राव अंतल की, २ महिमादे (सोलंखणी) राव जीमल की, ३ नरमदे (देवडीजी) देवा देवडा की, ४ बडगूजरजी, ५ चौहाणजी, ६ दूसरा चौहाणजी—ये ६ राणीं थी। इनके (१) बीजल, (२) बालो (३) सीवण (४) जेतल (५) तोलो (६) सारंग (७) सहसो (८) हरे (९) नंद (१०) बाघो (११) घासी (१२) अरसी (१३) नरसी (१४) खेतसी (१५) गांगो (१६) गोतल (१७) अरजन (१८) जालो (१९) बीसल (२०) जोगो (२१) जगराम (२२) ग्यानो (२३) बीरम (२४) भोजो (२५) बेणो (२६) चांचो (२७) पोहथ (२८) जनार्दन (२९) द्रुदो (३०) गबूदेवो (३१) नूणो और (३२) रतनसिंह ये बत्तीस बेटे थे।"

'इतिहास राजस्थान' में लिखा है कि मलैसी के ३२ पुत्रों में से अधिकांश तो कछवाहे रहे और कुछ ने दूसरी जाति ग्रहण करली।' (पृ० ६२)

इस काव्य में भी इनका उल्लेख संकेत में है—

"तस्यारीन् बलिनो वर्जीजितवतो द्राङ्मालव्येन्द्रादिकान्
कीर्तिदिग्वलयं च कारधवलं ज्योत्स्नेव भूर्युज्ज्वला: ।
षड्भार्यस्य बभूवुरुग्रमहसो द्वात्रिंशदात्मोद्भवा—
भावज्ञा भुज वैभवार्जितधना धन्यं च तं चक्रिरे" ।।७४६।।

८. महाराज बीजलदेवजी (फाल्गुन शु० ३ सं० १२०३ से आषाढ शु० ४ सं० १२३६)

इनके जीवन की कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है। इनके समय में विद्वानों का बड़ा सम्मान था। इनके समय में अनेक ग्रन्थों का निर्माण भी हुआ होगा, परन्तु अभी तक पता नहीं चल सका है। इस काव्य में लिखा है—

"स्वर्याते जनके, पदेस्य बिजलो ज्यायान्सुतो मंत्रिभि:
नीतिज्ञैरुपवेशितो मतिमतां मान्यो बभूवौजसा ।
दीप्तो वह्निरिव द्विषां विषधरो गर्तोन्दुरूणामिव
श्रीदोर्दण्डधरो विदामविदुषां जिष्णुर्जिगायाहितान्" ।।७५०।।
"विद्वद्भिर्धनदानमानिततया सुप्रीत चित्तैर्भृशं
बालानां कुलयांबभूव कलया बोधाय शब्दावले ।
ग्रन्थं सुग्रथितं विभक्ति गुणितैर्बोध्यै: समासादिभि:
धीमानुद्धतिवर्जितोर्जितयशा राजा जुगोपावनिम्" ।।७५१।।

इनके तीन पुत्र हुए थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र का नाम श्रीराजदेव था। उसे राज्य सौंपकर श्रीबीजलदेव दिव्य धाम चले गये—

"भुक्त्वासौ चिरमत्र मन्त्रचतुरैर्द्विश्रैरमात्यैर्धृतो
राज्ये दुर्जयतां गते जितरिपुश्शर्माणि भोमानि सः ।
दिव्यं धाम जगाम भीमवपुषे राज्यं प्रदाय स्वकं
पुत्राय प्रतिगर्जिशत्रु जयिने तज्ज्यायसे भूपति:" ।।७५२।।

९. महाराज राजदेव (आषाढ शु० ४ सं० १२३६ से पौष कृ० ६ सं० १२७३)

इन्होंने आमेर का जीर्णोद्धार किया था। अपने दोनों भाइयों के साथ प्रेम पूर्ण रहते हुए इनका समय भगवान् अम्बिकेश्वर महादेव की पूजा में बीता था। इनके ६ पुत्र थे जिनमें श्री कील्हणजी सबसे बड़े थे। इस काव्य में लिखा है—

"भ्रातृभ्यांमुदितो भुवं स बुभुजे श्री राजदेवो दिवा
सम्पर्द्धामिव संविधाय नगरीम् आम्बेरिकामम्बिकाम् ।
सपूज्यायितमाम्बिकेश्वर महादेवेश्वरो गां युवां
सन्मातापितरौ प्रयानमितिनो (?) संप्रार्थ्य तस्थौ पुरः" ।।७५३।।

श्री कील्हण के जन्म का वर्णन करते हैं—

"राज्ञी तस्य मनोज्ञलक्षणयुतं सूनुं विशालेक्षणा
वर्पान्तक्षणदा पतिद्युतिभरा भूरक्षिणः सत्क्षणे।
विक्षीणीकृतं दीप दीप्तिमतुलं दत्तक्षणं वीक्षिणां
भूरक्षा सुविचक्षणं प्रसुपुवे पद्मेक्षणं कीलनम्" ।।७५६।।

१०. महाराज कील्हणजी (पोष कृ० ६ सं० १२७३ से कार्तिक कृ० ६ सं० १३३३ तक)

श्री कील्हणजी के समय चित्तौड़ तथा मालवा, गुजरात में बड़े शक्तिशाली शासक थे। ये उनके पास कुम्भलमेर रहा करते थे। यह 'वीर-विनोद' तथा 'महाराणा रायमल्ल के रासे' में लिखा है। इनके दो रानियां थीं जिनसे ६ पुत्र हुए थे। ज्येष्ठ पुत्र का नाम 'कुन्तिल' था जो उत्तराधिकारी बने थे।

"जयपुर का राज्यवंश" (हितैषी जयपुर—अंक, पृ० ५५) तथा "जयपुर का इतिहास" (नाथावतों का इतिहास) पृ० २६।३० पर लिखा है—

"इनके एक राणी भावलदे निर्वाणजी खंडेला के रावत देवराज की। इनके कुन्तलजी हुए। दूसरी राणी कनकादे चौहाणजी। इनके २ पुत्र हुए।"

इस अवतरण से दो रानियां होना तो सिद्ध होता है, परन्तु पुत्रों की संख्या ३ ही बनती है। "वीर-विनोद" में ३ पुत्रों का उल्लेख इस प्रकार है—

"१. कुन्तलजी—राज पायो। २. अखैराज—जिसके वंशज धीरावत कहलाते हैं। ३. जसराज—जिनके टोरडा और बगवाड़ा के जसरा पोता कछवाहा कहलाते है।

केवल एक वंशावली में ६ पुत्रों का उल्लेख है, जिनमें तीन नाम तो 'वीर-विनोद' के है ही, इनके अतिरिक्त (४) सँवरसी (५) दैदो तथा (६) मंसूड और हैं। मंसूड के वंशज टांख्यावास के बंबवाड़ कछवाहे हैं। यहां काव्य में ६ पुत्रों का उल्लेख इस प्रकार है—

"रेमेऽसौ रमणीद्वयेन रहसि श्रीमानुतीशद्युति—
भूंमि भूंरि जुगोप जिष्णु विभवो विष्णु स्त्रिलोकीमिव।
षड्सूनुस्सनृपो निहत्य च रिपूनाराध्यं देवौ भवे
लब्ध ज्ञान महोदयो द्विजवराल्लेभे दुरायं पदम्" ।।७५८।।

उपयुक्त विवेचन से सिद्ध है कि श्री कुन्तलजी ज्येष्ठ पुत्र थे।

११. महाराज कुन्तलदेवजी (कार्तिक वदि ६ सं० १३३३ से माघ कृ० १० स० १३७४)

इन्होंने आमेर में 'कुन्तल किला' बनवाया था, जो आज 'कुन्तलगढ' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके ५ रानियां तथा १३ पुत्र थे। 'जयपुर के इतिहास'—पृष्ठ ३० पर लिखा है—

"इनके राणी (१) काश्मीरदेजी, चौंडाराव जाट की बेटी (२) रैणादे (निर्वाणजी) जोधा की बेटी, (३) कनकादे (गौडजी) (४) कल्याण दे (राठोडजी) वीरमदेव की बेटी और (५) बडगूजरजी पूरणराव की बेटी थी।"

वंशावली की एक प्रति में पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं—

"(१) जूं णसी (२) हमीर (३) मडसी (४) आलणसी (५) जीतमल (६) हणूतराव (७) महलणसिंह (८) नूजो (९) भोजो (१०) वाघो (११) बलीवंग (१२) गोपाल (१३) तोरणराव ।"

'वीर-विनोद' में केवल प्रथम चार पुत्र ही प्रसिद्ध है। ज्येष्ठ पुत्र जूं णसीजी (जोनसी) आमेर के शासक बने थे। पद्य में इनका संकेत है—

"धीमांस्तस्य पदं शशास विविवत्सूनु र्बली कुन्तिलो
लालत्कीलित शत्रुरिन्दुरुचिरो दुर्गं परं रोचयन् ।
रामाभिः स च पञ्चभिः सुचतुरो रेमे रतिं वर्द्धयन्
पुत्रानात्मसमां स्त्रयोदश दिशोवावच्च लेभे यशः" ।।५९।।

१२. महाराज जूं णसीजी (माघ कृ० १० स० १३७४ से माघ कृ० ३ सं० १४२३)

महाराज 'योनसि' के जीवनकाल में शान्ति रही। कोई भी उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। इनके 'उदयकरणजी' ज्येष्ठ पुत्र थे, जिन्होंने आमेर का राज्य संभाला था—

"कुन्तैरुन्नत वैरिदन्तदलिनि क्ष्मापालके कुन्तिले
याते चारुतिलोत्तमादिकलितं गीत समाकर्णके ।
राज्यं तस्य सयोनसिर्विनयवान् रूपैर्नयैरर्दयन्
दस्यून् वश्यनृपावलिर्विबुभुजे चन्द्राननां चाङ्गनाम्" ।।७६१।।

१३. महाराज उदयकरणजी (माघ कृ० ३ सं० १४२३ से फाल्गुन कृ० ३ स० १४४५)

इनके विषय में भी कोई विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता। इस काव्य में भी एक ही पद्य द्वारा इनका वर्णन किया गया है। इनके पुत्र नरसिंह' उत्तराधिकारी बने थे—

"तस्योद्यद् किरणो बभूव तनयो बाल्येऽपि भूयो नयो
जन्मागार तमो निरासक महावंशार्णवेन्दुर्वशी ।
ताते मुक्तसमुज्झिताखिल मुखे नाकोन्मुखे सत्सखे
वर्षन्वस्वमृतं प्रजाकुमुदिनी राल्हादयामास सः ।।७६२।।

शासन किया था। वंशावलियों से यह सभी संख्या सिद्ध है। महाराज उदयकरणजी के आठ पुत्रों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

"(१) नरसिंह (२) बरसिंह (३) बालाजी (४) शिवब्रह्म (५) पातल (६) पीथल (७) नाथा (८) पीपाजी।"

इनकी तीन रानियों के विषय में इतिहास का साक्ष्य इस प्रकार है—

"(१) सीसोदणी जी राणा दुदा हमीर की (२) सोलंखणी जी राव सातल बली की बेटी (३) भागा चौहाण जी पुण्यराज की पुत्री थे। इनके बनवीर (२) जैतसी और (३) कांधल तीन पुत्र हुए थे।"

पद्य हैं—

"तेनामी तनयेन प्रोदितमना राजाजितारिर्बली
रामाभिः तिसृभि र्विभुज्य बहुलं भौमं चिरं सत्सुखम्।
स्वसौख्याभिमुखो बभूव स तदा सप्तानुजो बुद्धिमान्
सूनुस्तस्य जुगोप गोपतिरिव प्रोद्यन्महो मण्डलम् ॥७६४॥
तिस्त्रो सौरमयन्वधूरवहितो निर्धूतवैरिव्रजो
लब्ध श्रीर्जनयां बभूव तनयांस्तासु प्रभावोज्ज्वलान्।
श्रीनुग्रानपि राज्यमर्जितयशाधाम व्रजन्नाकिनां
सत्सूनौ बनवीर नामति निजं सर्वं स राजं दधौ ॥"६५॥

१५. महाराज बनवीरजी (भाद्रपद कृ० ६ सं १४८५ से आश्विन कृ० १२ सं० १४९६)

इनकी भी कोई उल्लेखनीय घटना नहीं है। इनके ६ रानियां थी और ६ पुत्र थे परन्तु इस काव्य में उनके ५ पुत्रों का ही उल्लेख है। इतिहास में लिखा है—

"इनके ६ रानियां थी। (१) उत्सवरंगदे (तंवरजी) कंवल राजा की (२) राजमती (हाडीजी) गोविन्दराज की (३) कमला (सीसोदणीजी) कीर्त्तचाकी (४) सहोदरा (हाडीजी, बाघा की (५) करमवती (चौहाणजी) बीजा की और (६) गौरां (बघेलीजी) रणवीर की थी। इनके पुत्र १. उद्धरण २. मेलक ३. नरो ४. वरो ५. हरो और ६. वीरम थे।" (पृ० ३२)

पद्य है—

षड्जानिः स षडाननश्रियमपि स्वस्मिन्समावेशयन्
लब्धं राज्यमवन् पितुर्भुजबलं जित्वारिपून् दुर्जयान्॥
पंचोत्पाद्य सुतान् प्रकाममुभगान् भुक्त्वा च भौम सुखं
पात्रे वित्तमपि प्रणीय बहुन यातिस्म दिव्यं पदम् ॥७६६॥"

श्री उद्धरण जी (आश्विन कृ० १२ सं० १४९६ से स० १५२४ मार्गशीर्ष कृ १४)

इनके चार रानियां थी। पुत्र एकमात्र श्री चन्द्रसेन जी थे। इतिहास में इनके नाम ये हैं—

वाद में श्री कृष्णदासजी पयोहारी के शिष्य बनकर भगवान श्रीकृष्ण के उपासक बनगए थे। आमेर जाते समय संस्थापित वदरीनाथजी की डूंगरी आपके द्वारा ही बनवाई गई थी। आपकी पत्नी वालां वाई प्रसिद्ध कृष्ण भक्त थी तथा प्रतिदिन भगवान बद्रिकेश्वर के दर्शन करने जाया करती थी। इनके सम्बन्ध में अनेक जनश्रुतियां हैं। आमेर में वालांवाई की साल' के नाम से आज भी एक स्थान है, जहां राजघराने के मांगलिक कार्य संपन्न होते थे।

महाराज पृथ्वीराज के राज्याविरूढ होने का समय इस काव्य में पद्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है जो सभी इतिहास-ग्रन्थों से पुष्ट है। पद्य है—

"राज्यं प्राज्यतमं विसृज्य जनके स्वाराज्य भोगेशया
स्वर्याते बहुदायिनि श्रितनयः श्री चन्द्रसेने नृपः ॥
अङ्केषुश्वसनावनी परिमिते संवत्सरे वैक्रमे
चक्रे फाल्गुनकृष्ण कुण्डलितिथौ विप्रैरसौ पार्थिवः ॥७७४॥"

अङ्क-९, इषु-५, श्वसन-५ अवनि-१ अङ्कानां वामतो गतिः=१५५९ विक्रम संवत्-फाल्गुनकृष्णा कुण्डलि=सर्प=पंचमी तिथि को इनका राज्याभिषेक हुआ था।

इस काव्य में इनके विषय में कोई विशेष उल्लेख नहीं है। इनके ९ रानियां थी, १८ पुत्र थे तथा इन्होंने २४ वर्ष ८ मास २१ दिन राज्य किया था इसका उल्लेख है। इनके पश्चात इनके ज्येष्ठ पुत्र श्री पूर्णमल आमेर की गद्दी पर बैठे थे, उस दिन कार्तिक शुक्ला ११ थी। वंशावलियों में इनके १९ पुत्र बतलाये हैं जबकि इस काव्य में १८ का ही उल्लेख है। रानियों के संबन्ध में भी लिखा है कि वालांवाई के अतिरिक्त ९ थीं परन्तु यह इतिहास से असत्य सिद्ध है। वालांवाई का नाम अपूर्व देवी था। यही भ्रांति संख्या में वृद्धि करती है। इतिहास में लिखा है—

"पृथ्वीराज जी के भार्या—(१) भागवती (बड़गुजर जी) देवती के राजा जैता की, (२) [illegible] (तंवर जी) भगवन्तराय गांवड़ी की (३) अपूर्वदेवी "वालांवाई" (राठौड़ जी) राव [illegible] जी बीकानेर की (४) [illegible] (सोलंखणी जी) राव लखानाथ टोडा की (५) [illegible] (सीसोदणी जी) राणा रायमलजी उदयपुर की (६) रमादे (निर्वाण जी) रायमल [illegible] की (७) [illegible] (हाड़ी जी) रावनरवद बूंदी की (८) गौखदे (निर्वाण जी) घामदेव की और (९) [illegible] (गौड़ जी) [illegible]रहथ की थीं।" (पृ० ४२)

"रामाभिर्विजहार [illegible] [illegible]
श्रीदश्री स्मरसुन्दरी [illegible] [illegible] निजादे शुभा।
नानत्प्रमवप्रसूननिकर [illegible]मामोद मत्तालिका
अध्युष्येन्दुमरीचि [illegible] श्री चन्द्रसेनात्मज ॥७[illegible]॥"

पुत्रों के विषय में लिखा है—

'तस्याष्टादशतुष्टिदाजनहृदां पुत्राः [illegible] [illegible]
मित्राभासुहृदां हृदम्बुजगतं [illegible] ॥

राजा राज्यसुखं चतुर्भिरधिकां संवत्सराणामसौ
भेजे विंशतिमेकविंशति दिनामष्टौ च मासानपि ।।७७६।।"

१६ महराज पूर्णमलजी (कार्तिक शु० ११ सं० १५८४ से माघ शु० ५ सं० १५६०)

इनके संबन्ध में इतिहास में मतभेद हैं। इतिहास-लेखक श्री हनुमानप्रसाद शर्मा ने लिखा है कि ये १८ भाइयों में एक से बड़े तथा अन्य सबसे छोटे थे। किसी कारणवश महाराज पृथ्वीराज ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। इस काव्य में भी इनके लिए कहीं ज्यायान शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। लिखा है

"पृथ्वीराजसमाह्वये नरपतौ याते पदं नाकिनाम्
कीनाशाति भयङ्करे भगवतो व्युत्थापनार्हे तिथौ।
अत्येद्यु स्तनयोस्य भास्वरवपुः श्री पूर्णमल्लाभिधो
राज्यं प्राज्यगुणं गुणैरगणितैराय प्रजारञ्जयन् ।।७७७।।"

इन्होंने ६ वर्ष २ मास २३ दिन राज्य किया था। इनकी मृत्यु संदिग्ध है। कुछ लोग भीमसिंह (भाई) द्वारा मारे गए थे, ऐसा कहते हैं, कुछ प्राकृतिक मृत्यु बतलाते हैं। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके पुत्र सूजाजी बालक थे और इसलिये इनके भाई महाराज भीमसिंह गद्दीनशीन हुए।

षड्वर्षाणि षडाननोन्नतरुचि नीचीकृतान्यद्युति
द्वौमासौ दिवसानपि श्रुतवतां वर्यस्त्रयोविंशतिम्।
भुक्त्वा भीमसमौ सुखं सुखसखौ राजा बुभूर्वुदिवं
पुण्पोद्यै रनघोर्जितां जितरिपुः श्री पूर्णमल्लो ययौ ।।७७८।।"

२०. महाराज भीमसिंहजी (माघ शु. ५ सं १५६० से श्रावण शु. १५ सं १५६३)

यहां पहुंच कर नियमित चला आ रहा कछवाहों का इतिहास अपने नियमों से च्युत हो गया। गद्दी पर श्री पूर्णमल के बेटे श्री सूजासिंह नहीं बैठे। उनके भाई श्री भीमसिंहजी ने संभाली। उनके विषय में इतिहास अभी तक संदिग्ध है। कोई इन्हें पितृहन्ता तथा भ्रातृहन्ता बतलाते हैं। उपलब्ध काव्य का यह अन्तिम पद्य है जिसमें महाराज भीमसिंह को उत्तराधिकार मिलने का वर्णन है—

"याते तूवरिकासुते सुरपुरं बालासुतो विक्रमी
संचक्राम च वैक्रमे बलनिधि र्व्योमाङ्क बाणेन्दुभिः।
वर्षे संकलिते सहस्रधिक धी शुक्ले मृडानी तिथौ

इस पद्य में उनकी माता 'वालावाई' का भी उल्लेख है– 'वालासुतो' पद से । संवत् के लिये विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है– व्योम=०, अंक=६, वाण=५, इन्दु=१– अंकानां वामतो गतिः के अनुसार १५६० संवत् आ जाता है ।

खेद है, इस पद्य के पश्चात् ग्रन्थ के पत्र नहीं मिलते । अतः अपूर्ण होने से नहीं कहा जा सकता यह कितना और रहा होगा ।

समालोचन

इस ग्रन्थ के लेखक का नाम उपलब्ध पद्यों में कहीं भी नहीं मिलता । ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में भी केवल पुस्तक के (उपलब्ध पत्रों के ७ वें पत्र के पृष्ठ पर लिखे गए– "गोकुल प्रसाद स्येदं पुस्तकं पृथ्वीराजविजय खण्डित १२ पत्राणि" के आधार पर स्वीकार किया गया है । मेरी दृष्टि में इस काव्य का यह नाम नहीं रहा होगा । क्योंकि इस काव्य का नायक यदि पृथ्वीराज को मानते हैं तो लेखक उसका बहुत विस्तृत वर्णन करता तथा उनके जीवन की घटनाओं पर विशद् प्रकाश डालता । लेखक ने पृथ्वीराज के विषय में कोई भी उल्लेखनीय घटना नहीं लिखी है तथा रानियों एवं पुत्रों की संख्या मात्र दी है । किसी भी काव्य या महाकाव्य के नायक के लिए २–३ पद्य लिखना ही पर्याप्त नहीं माना गया है । फिर एक वात और भी है । पृथ्वीराज ही यदि इसके नायक हैं तो उनकी 'विजय' से सम्बन्धित किसी घटना का उल्लेख भी होना चाहिये– तव नाम की सार्थकता वनेगी । इसके अतिरिक्त लेखक इसकी समाप्ति पृथ्वीराज के शासनकाल के साथ ही नहीं करता, वह उसके पुत्र पूर्णमल व भीमसिंह का भी वर्णन करता है । चूंकि इतने ही पद्य उपलब्ध हैं, अतः नहीं कहा जा सकता इसके पश्चात् कितने शासकों का वर्णन और किया होगा । श्री पृथ्वीराज के वर्णन से तो अधिक महाराज सोढदेव व दूलहराय का वर्णन है ।

जब इस काव्य का नाम "पृथ्वीराज विजय" उचित नहीं है तो क्या नाम हो सकता है– इस पर विचार करना भी कठिन है । यदि ग्रन्थ आदि या अंत में कहीं भी पूर्ण होता तो यह विचार फिर भी संभव था । इतना जरूर कहा जा सकता है कि इसमें जयपुर (आमेर) के कछवाहों का इतिहास वर्णित है और यह इतिहास उपलब्ध वंशावलियों एवं ऐतिहासिक घटनाओं के विरुद्ध नहीं है । कहीं कहीं मत-मतान्तर अवश्य हैं परन्तु वे इतने विचारणीय नहीं है । बीच-बीच में शासनकाल का भी संकेत इसके ऐतिहासिक काव्यत्व में सहयोगी है । चूंकि, इसमें इतिहास एवं ऐतिहासिक घटनाओं का काव्यमय वर्णन है, अतः ऐतिहासिक काव्य को स्वीकार करने में सन्देह नहीं है । महाकाव्य स्वीकार किया जाय या नहीं, यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है, परन्तु ग्रन्थ के पूर्ण उपलब्ध न होने एवं उपलब्ध पद्यों के आधार पर इसे लक्षणग्रन्थों की कसौटी पर नहीं उतारा जा सकता ।

सारांश में– यही कहा जा सकता है कि पद्य सरल एवं सुन्दर हैं । यह एक ऐतिहासिक काव्य है– यह तथ्य निर्विवाद है । ग्रन्थ में अशुद्धियां लेखक की न होकर लिपिकार की हैं, जिसने मूलग्रन्थ से इसकी नकल की थी । ग्रन्थ त्रुटित व कीट अशित लगता है, क्योंकि अनेक स्थानों पर पद उपलब्ध नहीं है ।

इस काव्य की पूर्ण प्रतिलिपि राजकीय पोथीखाने में हो सकती है । यदि वह उपलब्ध हो तो इस पर विवेचना की जा सकती है ।

——

संस्कृत की शतक-परम्परा

पद्य-संख्या-सूचक रचनाओं की परम्परा संस्कृत में बहुत प्राचीन तथा समृद्ध है। प्राकृत, अपभ्रंश तथा कतिपय वर्त्तमान प्रादेशिक भाषाओं की भाँति संस्कृत में अष्टक, दशक, पञ्चविंशति, द्वात्रिंशिका, पञ्चाशिका, सप्तति, शतक, सप्तशती, सहस्र अथवा साहस्री संज्ञक कृतियों का विपुल तथा वैविध्यपूर्ण साहित्य विद्यमान है। इनमें से कुछ विधाओं ने तो जनमानस को इतना मोहित किया कि समय-समय पर विभिन्न कवियों ने वैसी अनेक रचनाएं लिखीं हैं। हिन्दी में प्रायः इन समस्त साहित्यांगों ने व्यापक ख्याति अर्जित की है। संस्कृत में अष्टकों तथा शतकों का प्रचुर निर्माण हुआ है। प्राचीन-अर्वाचीन प्रतिभाशाली प्रख्यात कवियों ने अपनी कृतियों से साहित्य के इस पक्ष को पुष्ट तथा गौरवान्वित किया। स्तोत्र, चरित वर्णन, नीति इतिहास, छन्द, कोश, आयुर्वेद, सदाचार, शृङ्गार, वैराग्य आदि जीवनोपयोगी सभी विषयों तथा पक्षों पर सैंकड़ों शतकों की रचना हुई है। छठी शताब्दी ईस्वीं से प्रारम्भ होकर शतक-रचना की परम्परा, किसी न किसी रूप में, आज तक अजस्र प्रचलित है। कतिपय वैदिक सूक्तों में भी मन्त्र-संख्या शत अथवा शताधिक है। किन्तु इस साहित्याङ्ग के विकास में उसका विशेष योग प्रतीत नहीं होता, यद्यपि वैदिक मन्त्रों की भाँति अधिकांश प्राचीन शतकों के पद्य भी पूर्णतः प्रसङ्ग मुक्त एवं स्वतः सम्पूर्ण है। कुछ आधुनिक शतक अवश्य ही सम्बन्ध-सूत्र से स्यूत, हैं भले ही वह सूक्ष्म अथवा अदृश्य हो। सोमेश्वर-रचित रामशतक (१३ वीं शताब्दी) में यह कथा-तारतम्य अधिक मांसल है। इस प्रकार, संस्कृत-शतकों में प्रसङ्ग-स्वातन्त्र्य से प्रबन्ध रूपता की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है।

संस्कृत तथा हिन्दी शतक-साहित्य के सम्बन्ध में श्री जा० विश्वमित्र का कथन है कि "भारतीय साहित्य की परम्पराओं के मूलस्रोत संस्कृत-साहित्य में शतकों की संख्या एक शत से अधिक नहीं है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी इस साहित्यांग का समृद्ध रूप (संख्या और साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से) प्राप्त नहीं है। हिन्दी-साहित्य में शतकों की संख्या ऊँगलियों पर गिनी जा सकती है।" [1]। परन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। हिन्दी के २२० शतकों की सूची सम्मेलन पत्रिका, भाग ५२, संख्या १-२ में प्रकाशित हो चुकी है। संस्कृत-शतकों की संख्या भी सौ तक सीमित नहीं। गत दो वर्षों की खोज से मुझे १०६ शतकों की जानकारी प्राप्त हुई है, जिनमें अधिकतर प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त जैन कवियों के ५३ संस्कृत शतकों का विवरण श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने एक सद्यः प्रकाशित लेख में दिया है। बौद्ध शतक अलग हैं। अधिक खोज से विभिन्न सम्प्रदायों के विद्वानों द्वारा रचित संस्कृत शतकों की संख्या तीन सौ के करीब

---

१. [illegible]-सम्मेलन-पत्रिका, भाग ४६, संख्या ४ में प्रकाशित लेख तेलगु भाषा में शतक-काव्य की परम्परा।

पहुँचेगी। प्राप्त १०६ शतकों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। इनमें कुछ तो प्रादेशिक भाषाओं के शतकों के संस्कृत-अनुवाद हैं, कुछ मात्र संकलन हैं, परन्तु अधिकांश कृतियाँ मौलिक हैं। विषय-वैविध्य, संख्या तथा साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से संस्कृत-साहित्य का यह अंग नितान्त रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है।

प्राचीनतम उपलब्ध शतक संज्ञक रचनाएं भर्तृहरि (५७०-६५१) के (१-३) नीति, शृङ्गार तथा वैराग्य शतक हैं। नीतिशतक में उन उदात्त सद्गुणों का चित्रण हुआ है जिनका अनुशीलन मानव-जीवन को उपयोगी तथा सार्थक बनाता है। भर्तृहरि की नीति परक सूक्तियाँ लोकव्यवहार में पग-पग पर मानव का मार्गदर्शन करती हैं। यहाँ शतक प्रणेता, वस्तुतः लोककवि के रूप में प्रकट हुआ है जो अपनी तत्त्वभेदी दृष्टि से मानव प्रकृति का पर्यवेक्षण तथा विश्लेषण कर उसकी भावनाओं को वाणी प्रदान करता है। शृङ्गार शतक काम तथा कामिनी के दुर्निवार आकर्षण [२] तथा आसक्ति की सारहीनता का रंगीला चित्र प्रस्तुत करता है। आकर्षण तथा विकर्षण के दो ध्रुवों के बीच भटकने वाले असहाय मानव की दयनीय विवशता का यहाँ रोचक वर्णन हुआ है। वैराग्य शतक में संसार की भंगुरता, धनिकों की हृदयहीनता तथा प्रव्रज्या की शान्ति तथा आनन्द का अंकन है [३]।

प्रो० कोसम्बी के मतानुसार नीति, शृङ्गार तथा वैराग्य सम्बन्धी भर्तृहरि- विरचित प्रमाणिक पद्य मूलतः शतकाकार विद्यमान नहीं थे। उन्हें इस रूप में प्रस्तुत करना कवि को अभीष्ट भी नहीं था [४]। डॉ० विण्टरनिटज शृङ्गार शतक को तो भर्तृहरि की प्रामाणिक तथा सुसम्बद्ध रचना मानते हैं, उनके विचार से इसमें वैयक्तिकता के स्वर अन्य दो शतकों की अपेक्षा, अधिक मुखर हैं। नीति तथा वैराग्य शतक, लिपिकों के प्रमाद के कारण, सुभाषित संग्रह बन गये हैं, जिनमें भर्तृहरि के प्रामाणिक मूल पद्यों की संख्या बहुत कम है [५]। निस्सन्देह विभिन्न संस्करणों में तथा एक ही संस्करण की विभिन्न प्रतियों में इन शतकों की पद्य संख्या अनुक्रम तथा पाठ में पर्याप्त वैभिन्य है। पर इनके रूप के अस्तित्व को चुनौती देने की कल्पना साहसपूर्ण प्रतीत होती है, क्योंकि परवर्ती समग्र शतक-साहित्य की प्रेरणा का मूलस्रोत ये शतक ही हैं।

इनका आकार तथा परिमाण कुछ भी रहा हो, शतकत्रयी को देश-विदेश में अनुपम लोकप्रियता प्राप्त हुई है। अगणित पाण्डुलिपियाँ, संस्करण, टीकाएं तथा अनुवाद इस ख्याति के ज्वलन्त प्रमाण हैं। इण्डिया आफिस तथा ब्रिटिश संग्रहालय के सूची पत्रों से भर्तृहरि के शतकों के शताधिक मुद्रित संस्करणों, रूपान्तरों तथा अनुवादों के अस्तित्व की सूचना मिलती है।

यूरोप का भर्तृहरि से सर्वप्रथम परिचय नीति तथा वैराग्य शतकों के डच अनुवाद के माध्यम से सन् १६५१ में हुआ, जो अब्राहम रोजर ने पालघाट के ब्राह्मण पद्मनाभ की सहायता से किया था। इस

---

२. तावदेव कृतिनामपि स्फुरत्येष निर्मल विवेक दीपकः।
यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां ताड्यते चटुल लोचनाञ्चलैः!! शृङ्गार

३. सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव। वैराग्य

४. शतकत्रयादि-सुभाषित-संग्रह की भूमिका, पृष्ठ ६२

५. History of Indian Literature, Vol. III, Part I, P. 156

अनुवाद के आधार पर थामसग्र ने दोनों शतकों का फ्रेंच रूपान्तर प्रस्तुत किया (एम्सड्रेम, १६७०)। भर्तृहरि के समस्त पद्यों का प्राचीनतम मुद्रित संस्करण विलियम कैरी का है, जो हितोपदेश के संग से रामपुर से १८०३–४ ई० में प्रकाशित हुआ था इसकी एक प्रति इण्डिया ऑफिस में सुरक्षित है। इसके पश्चात् भारत तथा विदेशों में शतकत्रय के अनेक संस्करण तथा देशी–विदेशी भाषाओं में अनेक अनुवाद प्रकाशित हुए। वॉन व्होलेन ने वर्लिन से इसका सम्पादन (१८३३ ई०) तथा जर्मन में अविकल पद्यानुवाद किया (१८३५ ई०)। हरिलाल द्वारा सम्पादित शतकत्रय दिवाकर प्रेस, वनारस से १८६० में प्रकाशित हुए। भर्तृहरि का यह प्राचीनतम भारतीय संस्करण है। अलवर-महाराज के संग्रह में सुरक्षित पाण्डुलिपि इसी की विकृत प्रति है। हिन्दी में भर्तृहरि का सर्वाधिक लोकप्रिय अनुवाद राणा प्रतापसिंह कृत पद्यानुवाद है (१८ वीं शताब्दी)। शृङ्गारशतक का गद्यानुवाद हिन्दी में सब से प्राचीन है[६] (१६२७)।

भर्तृहरि के शतकों के आधुनिक समीक्षात्मक संस्करणों का प्रारम्भ कान्तानाथ तैलंग के संस्करण से हुआ, जो सन् १८६३ में बम्बई से प्रकाशित हुआ था। अब भी इन शतकों के सामूहिक अथवा स्वतन्त्र प्रकाशन और अनुवाद होते रहते हैं। परन्तु सर्वोत्तम तथा स्तुत्य कार्य प्रो० कोसम्बी ने किया। उन्होंने ३७७ हस्तलिखित प्रतियों तथा उपलब्ध संस्करणों के पर्यालोचन के आधार पर भर्तृहरि के समस्त उपलब्ध पद्यों का परम वैज्ञानिक संस्करण विस्तृत भूमिका सहित प्रकाशित किया है (भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १६४७)

शतकत्रय पर विभिन्न समय में अनेक टीकाएं लिखी गईं। जैन विद्वान् धनसार की टीका प्राचीनतम है (१४७८ ई०)। इन शतकों की सबसे प्राचीन प्राप्य प्रति भी एक जैन विद्वान्, प्रतिष्ठा सोमगणि, द्वारा की गयी थी (१४४० ई०)

(४) मयूर का सूर्यशतक (सातवी शताब्दी) स्तोत्र–साहित्य की अग्रणी कृति है। इसमें क्रमशः सूर्य की किरणों, उसके अश्वों, सारथि, रथ तथा बिम्ब की अत्यन्त प्रौढ़ तथा अलंकृत शैली में स्तुति की गई है। शतक का प्रत्येक पद्य आशीः रूप है। कल्याण, धन प्राप्ति अथवा शत्रु एवं आपत्तियों के विनाश की कामना शतक में सर्वत्र की गई है। अन्तिम पद्य (१०१) में सूर्यशतक की रचना का मुख्य प्रयोजन 'लोकमंगल' बतलाया गया है (श्लोका लोकस्य भुत्यै शतमिति रचिताः श्री मयूरेण भक्त्या)। स्रग्धरा वृत्तों मे रचित शतकों की परम्परा का प्रवर्तन सूर्यशतक से ही हुआ है।

सूर्यशतक के सात संस्करण ज्ञात हैं, तथा भिन्न-भिन्न समय में इस पर २२ टीकाएं लिखी गयी। सूर्य शतक का सर्वप्रथम अनुवाद डा० कार्लो वर्नहीमर ने इतालवी भाषा में किया जो 'सूर्य शतक डि मयूरे' नाम से १६०५ में प्रकाशित हुआ। क्वेकेनवास ने The Sanskrit Poems of Mayura में सूर्य शतक, मयूराष्टक तथा बाणकृत चण्डीशतक का सम्पादन तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया (१६१७)। इसके पश्चात् सूर्यशतक रमाकान्त त्रिपाठी के हिन्दी–अनुवाद सहित, १६६४ में चौखम्बा भवन, वाराणसी। प्रकाशित हुआ।

---

६. R. P. Dewhurst ने इसे उत्तर प्रदेश इतिहास समिति की शोध पत्रिका की प्रथम जिल्द (१६१७) में प्रकाशित किया था।

पाठ का प्रकाशन किया ७। श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी ने सन् १९६१ में मित्र प्रकाशन गौरव ग्रन्थ माला के अन्तर्गत ललित हिन्दी भावानुवाद के साथ शतका सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया।

टीकाकार रविचन्द्र ने अमरु की भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हुए उसकी कृति की शान्तरस-परक व्याख्या करने की दुश्चेष्टा की है। इस सन्दर्भ में म० म० दुर्गा प्रसाद का कथन है "स च शुचिरस-स्यन्दिष्व-मरुश्लोकेषु परिशील्यमानेषु 'रहसि प्रौढवधूनां रतिसमये वेदपाठ इव सहृदयानां शिरःशूलमेव जनयति"।

कश्मीरी कवि भल्लट (आठवीं शती) का (११) शतक शिक्षाप्रद नीतिपरक मुक्तकों का संग्रह है। कविता विविध विषयों का स्पर्श करती है, किन्तु अन्योक्तियों का बाहुल्य है। भल्लट की कृति लालित्य तथा प्रसाद से परिपूरित है। ऐसी आकर्षक तथा भावपूर्ण अन्योक्तियां साहित्य में कम मिलती हैं।

चिन्तामणि! किसी चक्रवर्ती सम्राट् ने तुम्हें अपने मुकुट में धारण कर गौरवान्वित नहीं किया है, इस कारण तू विषाद मत कर। जगत् में कोई शीश इतना पुण्यशाली कहां कि तुम्हारे परस का सौभाग्य पा सके।

चिन्तामणे भुवि न केनचिदीश्वरेण
मूर्ध्नां धृतोऽहमिति मा स्म सखे विषीदः।
नास्त्येव हि त्वदधिरोहणपुण्यबीज–
सौभाग्ययोग्यमिह कस्यचिदुत्तमाङ्गम्॥

पांच अन्य कश्मीरी कवियों ने अपनी रुचि तथा मान्यता के अनुसार शतको का निर्माण किया है। स्तोत्र काव्यों की शृङ्खला में ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन के (१२) देवीशतक का निजी स्थान है। देवी शतक के सौ पद्यों में भगवती दुर्गा की स्तुति हुई है। देवीशतक कवि की किशोर कृति प्रतीत होती है। सम्भवतः इसीलिये इसमें न भक्ति की ऊष्मा है, न भावों की उदात्तता, न कल्पनाओं की कमनीयता। देवीशतक की महत्ता काव्य-गुणों के निमित्त नहीं, कवि के व्यक्तित्व के कारण है।

कश्मीर-नरेश शंकर वर्मा (८८३–९०२ ई०) के सभाकवि वल्लाल का (१३) शतक, भल्लट शतक की भांति अन्योक्ति प्रधान है।

(१४) चारुचर्याशतक कश्मीर के प्रख्यात बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कवि क्षेमेन्द्र (११ वीं शती) की रचना है। शतक में जीवनोपयोगी सद्व्यवहार तथा लोकज्ञान का सन्निवेश है। प्रत्येक उपदेश को तत्सम्बन्धी पौराणिक ऐतिहासिक आख्यान का दृष्टान्त देकर पुष्ट किया है। उपकार करते समय प्रत्युपकार की कामना करना अशोभनीय है। कर्ण का दान 'शक्ति' प्राप्ति की याचना से दूषित हो गया था।

त्यागे सत्त्वनिधिः कुर्यान्न प्रत्युपकृतिस्पृहाम्।
कर्णः कुण्डलदानेऽभूत कलुषः शक्तियाञ्चया॥

चारुचर्याशतक काव्यमाला के द्वितीय गुच्छक तथा 'क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रः' में मुद्रित हुआ है।

शिल्हन के (१५) शान्तिशतक की विशुद्ध धार्मिक रचना भर्तृहरि के वैराग्यशतक के अनुकरण पर हुई है। शान्तिशतक विशुद्ध धार्मिक रचना है, जिसमें जीवन की निस्सारता तथा वैराग्य एवं विरक्तों की चर्या का गौरवगान किया गया है। शतक के पद्यों में भर्तृहरि की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। शिल्हण का समय अज्ञात है। पिशेल ने शिल्हण को विक्रमाङ्क देवचरित के प्रणेता बिल्हण से अभिन्न मानकर उसकी स्थिति ११ वीं शती में निर्धारित की है।

शम्भुकृत (१६) अन्योक्तिमुक्तालताशतक में १०८ नीतिपरक अलंकृत अन्योक्तियां संगृहीत हैं। कविता में विशेष आकर्षण नहीं है। शम्भु कश्मीर के प्रसिद्ध शासक हर्ष (१०८९–११०१ ई०) के सभाकवि थे। उनका 'राजेन्द्रकर्णपूर' आश्रयदाता की प्रशस्ति है।

(१७) चित्रशतक मयूर-रचित सूर्यशतक की परम्परा का स्तोत्रकाव्य है। इसमें विभिन्न देवी-देवताओं की विविध छन्दों में स्तुति की गई है। काव्य की यह विशेषता है कि प्रत्येक पद्य में 'चित्र' शब्द अवश्य आया है। श्लोकों की कुल संख्या सौ है। सम्भवतः इसी कारण कवि ने इस ग्रन्थ का नाम चित्र शतक रखा है। ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य अन्तिम पद्य में इस प्रकार बतलाया गया है–

> वालानामपि भूषणं परिगलदवर्ण यथा जायते
> प्राज्ञानां मनसः प्रमोदविषये चित्रं विहासास्पदम्
> तद्वत्काव्यमिदं भवेदय बुधैः प्रोत्साहना नित्यशः
> कर्त्तव्या चतुरोक्तिः शिक्षण पुरस्कारेण निर्मत्सरैः ॥

महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश के सम्पादक श्रीधर व्यंकटेश केतकर ने चित्रशतक के प्रणेता रामकृष्ण कदम्ब की स्थिति तेरहवीं शताब्दी में निश्चित की है।[८]

नागराजकवि का (१८) भावशतक काव्यमाला के चतुर्थ गुच्छक में प्रकाशित हुआ है। काव्यमाला के उक्त भाग के सम्पादक के अनुसार नागराज धारानगरी का नृपति था। उसके आश्रित किसी कवि ने इस शतक की रचना उसके नाम से की। नागराज इसका वास्तविक कर्त्ता नहीं है [नाग राजनामा धारा नगराधिपः कश्चित् महीपतिरासीत्, तन्नाम्ना तदाश्रितेन केनचित् कविना (भावेन !) शतकमेतन्निर्मितामिति] शतक के अन्तिम पद्य में नागराज के शौर्य का जिस प्रकार वर्णन किया गया है, उससे भी उसका शासक होना प्रमाणित होता है।[९]

भावशतक के प्रत्येक पद्य में एक विशिष्ट भाव निहित है, जिसका स्पष्टीकरण पद्य के पश्चात् गद्य में प्रायः कर दिया गया है। कहीं कहीं पाठक के अनुमान अथवा कल्पना पर छोड़ दिया गया है। उदाहरणार्थ–

---

८. द्रष्टव्य—Studies in Sanskrit and Hindi, July, 1967 (University of Rajasthan) में प्रकाशित श्री रमेशचन्द्र पुरोहित का लेख 'रामकृष्ण कदम्ब'–नव्ययुग के एक अज्ञात कवि तथा उनकी अप्रकाशित रचनाएं। पृष्ठ ७२–८२।

९. सोऽयं दुर्जयदोर्भुजंगजनितप्रौढप्रतापानल–
ज्वालाजालविलीकृतारिनगरः श्रीनागराजो जयते। १०२

षण्मुखसेव्यस्य विभोः सर्वाङ्गेऽलंकृतित्वमापन्नाः ।
पन्नागपतयः सर्वे वीक्षन्ते गणपति भीताः ।।
स्कन्दवाहनमयूरदर्शनभीताः शुण्डादण्डप्रवेशाय ।

नागराज के नाम से एक अन्य रचना (१९) 'शृङ्गारशतक' भी प्रचलित है ।[१०] नागराज का समय अज्ञात है ।

काव्यमाला के पञ्चम गुच्छक में पञ्चशती के अन्तर्गत पांच स्तोतकाव्य–(२०-२४) कटाक्षशतक, मन्दस्मितशतक, पादारविन्दशतक, आर्याशतक तथा स्तुतिशतक– प्रकाशित हुए । कटाक्ष, मन्दस्मित तथा आर्याशतक में सौ-सौ पद्य हैं, शेष दो में १०१ । इनका रचयिता मूककवि है, जो नाम की अपेक्षा उपाधि प्रतीत होती है । प्रथम तीन शतकों मे काञ्ची की अधिष्ठात्री देवी कामाख्या के कटाक्ष, स्मित तथा चरणकमलों की स्तुति की गई है । अन्य दो में देवी की सामान्य स्तुति है । मूककवि का स्थितिकाल अज्ञात है । जीवानन्द ने इन शतकों को कलकत्ता से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था, किन्तु पांचवां शतक उपलब्ध न होने के कारण, सङ्ख्यापूर्ति के निमित्त, उन्हें इस श्रेणी में (२५) माहिषशतक प्रकाशित करना पड़ा । विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में शतकों का क्रम भिन्न-भिन्न है ।

मूककवि की रचना साधारण कोटि की है । कहीं-कहीं अनुप्रास का विलास अवश्य अवलोकनीय है । कुछ पद्य उद्धृत किये जाते हैं ।

आर्याशतक :—

त्वं चेच्चम्पककोरके न कुरुषे प्रेमाणमेतावता
का हानिर्नहि तस्य कृत्यमपि रे किञ्चित्पुनर्हीयते ।
तेनैवास्य तु वैभवं मधुप हे यद् भूपयन्ति स्फुटं
केलीमन्दिर देहलीपरिसरे कर्णेषु वामभ्रुवः ।।

कवि वीरेश्वर द्रविड़नरेश मौद्गल्य हरि का पुत्र था।[११] उसका समय अज्ञात है। वीरेश्वर का शतक काव्यमाला ५ में प्रकाशित हो चुका है।

(२७) रामशतक रामायणीय इतिवृत्त पर आधारित प्राचीनतम परिज्ञात प्रबन्धात्मक शतक है। मयूर ने जिस स्रग्धरात्मक शतक-परम्परा का प्रारम्भ किया था, रामशतक में उसका सफल निर्वाह हुआ है। इसके सौ छन्दों में भगवान् राम की अभिराम स्तुति है। १०१ वां पद्य भी है, पर वह स्तोत का भाग नहीं। इस उपजाति में कवि सोमेश्वर ने आत्मपरिचय दिया है—

विश्वम्भरामण्डलमण्डनस्य श्रीरामभद्रस्य यशः प्रशस्तिम् ।
चकार सोमेश्वरदेवनामा यामार्वनिष्पन्नमहाप्रबन्धः ।।

रामशतक में रामजन्म से लेकर अयोध्या-आगमन तथा राज्याभिषेक तक की समूची कथा संक्षेपतः निबद्ध है। स्तुति रामकथा के अनुसार आगे बढ़ती है। स्रग्धरा जैसे दीर्घ तथा जटिल छन्द का प्रयोग होने पर भी रामशतक की कविता माधुर्य तथा प्रसाद से सम्पन्न है। स्तोत्र-सुलभ सहृदयता तथा भक्ति-विह्वलता से रामशतक आद्योपान्त ओतप्रोत है। कवि सूर्यशतक आदि शतश्लोकी स्तोत्रों से प्रभावित अवश्य है, किन्तु उसकी कविता दुरूहता तथा कृत्रिमता से सर्वथा मुक्त है। रामशतक सोमेश्वर की नाट्यकृति 'उल्लासराघव' के परिशिष्ट रूप में, गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। सोमेश्वर गुजरात के शासक वस्तुपाल (तेरहवीं शताब्दी) का आश्रित कवि था।

(२८) रोमावलीशतक लक्ष्मण भट्ट के पुत्र कवि रामचन्द्र की रचना है। रामचन्द्र ने १५२४ ई० में रसिक रञ्जन नामक एक अन्य काव्य का निर्माण अयोध्या में किया था। इस पर उन्होंने शृङ्गार तथा वैराग्य परक एक टीका भी लिखी थी।[१२]

(२९) आर्याशतक को, इसके सम्पादक श्री एन० ए० गोरे ने शैवदर्शन के प्रकाण्ड आचार्य अप्पय-दीक्षित (१५५८–१६३० ई० अथवा १५२०–१५९२ ई०) की रचना माना है, यद्यपि उनकी उपलब्ध ग्रन्थ सूची में इसका उल्लेख नहीं है। शतक की सौ आर्याओं में आर्यापति भगवान् शङ्कर की कमनीय स्तुति की गयी है। इसीलिये इसका नाम आर्याशतक रखा गया है। काव्य का प्रारंभ भगवद् वन्दना से होता है—

दयया यदीयया वाङ् नवरसरुचिरा सुधाधिकोदेति ।
शरणागत चिन्तितदं तं शिवचिन्तामणिं वन्दे ।।

---

११. योऽभूद्द्राविडचक्रवर्तिमुकुटालंकारभूतस्य रे
मौद्गल्यस्य हरेः सुतः क्षितितले वीरेश्वरः सत्कविः ।।१०५।।

१२. शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थ भाग, पृष्ठ १५२.

अन्यापदेश शतक १०१ अन्यापदेशात्मक पद्यों का संग्रह है। मधु सूदन का (३४) अन्यापदेश शतक काव्य माला के नवम गुच्छक में प्रकाशित हुआ। काव्य माला ४, पृष्ठ १८९ की पाद टिप्पणी में नील कण्ठ-दीक्षित के (३५) कलिविडम्बन शतक का उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त टिप्पणी में उल्लिखित (३६-३८) ओष्ठशतक, काशिका तिलकशतक तथा जारजात शतक के कर्त्ता नील कण्ठ नारायण दीक्षित के आत्मज नील कण्ठ दीक्षित से भिन्न तीन अलग व्यक्ति हैं। सभारञ्जन की पुष्पिका में उपलब्ध दीक्षित के आत्मवृत्त से यह स्पष्ट हो जाता है। ओष्ठ शतक का लेखक कवि नीलकण्ठ शुल्क जर्नादन का पुत्र है। काशिका तिलक शतक के रचयिता के पिता का नाम रामभट्ट है। तीनों का रचना काल अज्ञात है।

(३९) आश्लेषाशतक विरहव्यथित मानस का करुण स्पन्दन है। वियोग में पूर्वानुभूत संयोग की माधुरी विष बन जाती है। कविप्रिया को सम्बोधित शतक के समूचे पद्यों में उत्कण्ठित मन की इसी कसक की अभिव्यक्ति हुई है।

> वाले मालति! तावकीमभिनवामा स्वादयन् माधुरीं
> कञ्चित्कालमथाधुना वलवता दैवेन दूरीकृतः।
> उद्बाष्पं चिरसेवितामनुदिनं तामेव सञ्चिन्तयन्
> भृङ्गः कश्चन दूयते तव कृते हा हन्त रात्रिन्दिवम्॥

आश्लेषा नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण कवि प्रिया को शतक में आश्लेषा कहा गया है। उसका वास्तविक नाम 'गङ्गा' प्रतीत होता है (गङ्गेति प्रथिता करोषि सततं सन्ताप मित्यद्भुतम्)

इसके रचयिता नारायण पण्डित कालिकट-नरेश मानदेव (१६५५-५८) के आश्रित कवि थे। मानदेव स्वयं विद्वान् तथा विद्या प्रेमी शासक था। नारायण पण्डित उत्तरराम चरित की भावार्थदीपिका टीका के लेखक नारायण से भिन्न हैं। आश्लेषा शतक त्रिवेन्द्रम से १९४७ में प्रकाशित हुआ है।

प्रख्यात वैष्णवाचार्य महाप्रभु चैतन्य के जीवन चरित से सम्बन्धित रचनाओं में सार्वभौम (१७ वीं शती) की (४०) शतश्लोकी ने वंगाल में काफी लोकप्रियता प्राप्त की है।[१३]

कुसुमदेव कृत (४१) दृष्टान्त कलिका शतक सौ अनुष्टुपों की नीतिपरक रचना है। इसके प्रत्येक पद्य के भाव को दृष्टान्त द्वारा पुष्ट किया गया है। यही इसके शीर्षक की सार्थकता है।

> उत्तमः क्लेशविक्षोभं क्षमः सोढुं नहीतरः।
> मणिरेव महाशाणघर्षणं न तु मृत्कणः॥

---

१३. द्रष्टव्य—S. K. De : Bengats Contribution to Sanskrit Literature and Studies in Bengal Vaisnavism, 1960. P. 102.

कुसुमदेव का स्थितिकाल अनिश्चित है। सम्भवतः वे सतरहवीं शताब्दी में हुए, यद्यपि वल्लभदेव ने सुभाषितावली में उनके कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। यह काव्यमाला के गुच्छक १४ में प्रकाशित हो चुका है।

गुमानि का (४२) उपदेश शतक काव्यमाला के भाग १३ में प्रकाशित हुआ। विषय नाम से स्पष्ट है। लेखक का समय ज्ञात नहीं है।

कवि नरहरि का (४३) शृङ्गारशतक ११५ आत्म सम्बोधित शृङ्गारिक मुक्तकों का संग्रह है, जो कहीं कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुंच जाते हैं। कवि को अपनी विद्वत्ता तथा कवित्व शक्ति पर बहुत गर्व है। प्रिया-वर्णन के व्याज से नरहरि ने अपनी कविता को कालिदास तथा बाण के काव्य का समकक्षी माना है।

श्री कालिदास कविता सुकुमार मूर्ते
बाणस्य वाक्यमिव मे वचनं गृहाण।
श्री हर्ष काव्य कुटिलं त्यज मानवन्धं
वाणी कवेर्नरहरेरिव सम्प्रसीद ॥

अनुप्रास के प्रयोग में नरहरि सचमुच सिद्ध हस्त हैं।

सविनयमनुवार वच्मि कृत्वा विचारं
नरहरि परिहारं मा कृथाः दुःख भारम्।
हृदि कुरु नवहारं मुञ्च कोप प्रकार
कुरु पुलिन विहारं सुभ्रु संभोग सारम् ॥

काव्य माला ११ में एक अन्य (४४) शृङ्गारशतक प्रकाशित हुआ, जिसके प्रणेता गोस्वामी जर्नादन भट्ट हैं। पुष्पिका में कवि ने कुछ आत्म परिचय दिया है। इति श्री गोस्वामिजगन्निवा सात्मज गोस्वामि जनार्दन भट्ट कृतं शृङ्गार शनक सम्पूर्णम्। भट्ट जनार्दन ने नारी-सौन्दर्य के कई मनोरम चित्र अंकित किये हैं। उनकी दृष्टि में नारी कामदेव की गतिमती शस्त्रशाला है (प्रायः पञ्चशराभिधक्षिति भुजा शस्त्रस्य शाला निजा)

कामराज दीक्षित के (४५-४७) तीन शृङ्गारिक शतक शृङ्गारकलिका त्रिशती नाम से प्रकाशित हुए (काव्य माला १४)। प्रत्येक शतकमें पूरे सौ मुक्तक हैं। पद्य-रचना अकारादि तथा मात्रा क्रम से हुई है। प्रारम्भिक पद्यों में कवि ने आत्म परिचय दिया है। उसके पिता सामराज स्वयं सफल तथा विख्यात कवि थे।

हृदि भावयामि सततं तातं श्रीसामराजमहम्।
यत्कृतमक्षरगुम्फं कवयः कण्ठेषु हारमिव दधते ॥१०॥
श्रीसामराज जन्मा तनुते श्रीकामराज कविः।
मुक्तक काव्यं विदुषां प्रीत्यै शृङ्गार कलिकाख्यम् ॥१५॥

काव्यमाला में (४८) एक खड्गशतक का प्रकाशन हुआ। इसका रचयिता तथा रचनाकाल अज्ञात है।

मुद्गलभट्ट कृत (४९) रामार्याशतक तथा गोकुलनाथ का (५०) शिवशतक स्तोत्र-साहित्य की दो अन्य ज्ञात शतक नामक रचनाएं हैं। रामार्याशतक का उल्लेख, डॉ० कामिल बुल्के ने अपने विद्वत्तापूर्ण शोधप्रबन्ध 'रामकथा—उत्पत्ति और विकास' में किया है (पृष्ठ २१८)। शिवशतक का निर्देश रमाकान्त-सम्पादित सूर्यशतक की भूमिका (पृष्ठ ३२) में हुआ है। दोनों का रचनाकाल अज्ञात है।

जयपुर के साहित्य प्रेमी नरेशों ने संस्कृत-पण्डितों को उदारतापूर्वक प्रश्रय दिया तथा उन्हें विविध प्रकार से सत्कृत किया। अपनी अमर कीर्तिलता की जीवन्त प्रतीक 'काव्यमाला' की सैकड़ों जिल्दों में हजारों प्राचीन दुष्प्राप्य ग्रन्थों का प्रकाशित करना उन्हें कालकवलित होने से बचाया और इस प्रकार राष्ट्र की अमिट सेवा की। जयपुर के कतिपय राजाश्रित कवियों ने भी इस साहित्य-विद्या को समृद्ध बनाने में योग दिया है।

जयपुर-संस्थापक महाराजाधिराज सवाई जयसिंह द्वितीय (१६९९–१७४३ ई०) के समकालीन तथा आश्रित ज्योतिषाचार्य श्री केवलराम ज्योतिषराय का (५१) अभिलाषशतक कदाचित् इस कोटि की सर्वप्रथम रचना है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में ११२०४ ग्रन्थांक पर उपलब्ध है। हस्तलिखित १६ पत्रों में १०१ पद्य हैं। प्रारम्भिक ३५ पद्यों में भगवान् श्री कृष्ण की बाललीलाओं का मनोरम वर्णन है। शेष पद्यों में ऋतुओं, प्रातः काल, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि का विस्तृत वर्णन है। शतक के वर्णन पौराणिक गाथाओं पर आधारित हैं। अभिलाष शतक एक मात्र ज्ञात कृष्ण सम्बन्धी तथा वर्णन प्रधान शतक है।

मङ्गलाचरण के व्याज से सृष्टि के प्रारम्भ में शेषशायी भगवान् विष्णु के स्वापोद् बोध का वर्णन किया गया है।

प्रातर्नीरद नील मुग्ध महसः स्वापि स्मरामि स्फुटं
स्वल्पोद् बोधित नेत्रनीलिम मृजल्लीला द्रवक्त्राम्बुजम्।
येन नोदयतः पुरारुणकृतो बोधप्रभावान्तरा–
नीलालिद्वयशंसि नाभिनलिनस्याहो सपत्नीकृतम् ॥२॥

काव्य में कमनीय कल्पनाओं की छटा दर्शनीय है। ललित शैली तथा उदात्त कल्पनाओं के मणि-कांचन संयोग से काव्य में नूतन आभा का समावेश हो गया है। श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन बहुत स्वाभाविक तथा सजीव है। शतक का उपसंहार निम्नलिखित पद्य से होता है।

शिव शौरिपदाब्ज पूजन प्रतिभाभावित तत्पादाम्बुजः।
अभिलाषशतं मनोहर कुरुते केवलराम नामकः ॥

अन्तिम पत्र पर एक पद्य और मिलता है, किन्तु वह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।[१४]

---

१४. देखिये—मरुभारती, अक्तूबर, १९६४ में प्रकाशित श्री प्रभाकर शर्मा का लेख 'केवलराम ज्योतिषराय तथा उनकी रचना अभिलाष शतकम्'। पृ० २४-२८

(५२) माधवसिंहार्या शतक जयपुर नरेश महाराज माधवसिंह (१७५०-६८ ई०) की प्रशंसा में लिखा गया है। लेखक हैं उनके सभाकवि श्याम शुन्दर दीक्षित लद्दूजी। इसमें ब्रह्ममण्डली के अन्तर्गत केवलराम ज्योतिषराय का भी गुणगान हुआ है।

स जयति ज्योतिपराय: केवलरामाभिध: सूरि:।
श्रीमज्जयपुरनगरे पण्डितवर्य्यै: सदाचार्य: ।।१२६।। [१५]

श्री अगरचन्द नाहटा ने अपने २४-८-६५ के पत्र में तीन (५३-५५) शतकों की सूचना दी है—सद्बोध शतक राजवर्णनशतक (नाहटा जी द्वारा सम्पादित सभाश्रृङ्गार में प्रकाशित) तथा कृष्णराम भट्ट-रचित 'प्लाण्डुराज्ज शतक'। प्लाण्डुराज शतक में प्लाण्डुराज (प्याज) के गुणों का रोचक वर्णन किया गया है। यह जयपुर से प्रकाशित हो चुका है। कृष्णराम भट्ट के (५६-५७) दो अन्य शतकों-आर्यालङ्कार शतक तथा सार शतक का भी उल्लेख मिलता है। गोपीनाथ शास्त्री दाधीच कृत (५८) राम सौभाग्य शतक में जयपुर नरेश रामसिंह (१६ वीं शती का मध्य) का चरित वर्णित है।

बुहारी की उपयोगिता पर अनन्तलवार ने रोचक शैली में (५६) सम्मार्जनी शतक लिखा है। यह मैसोर से प्रकाशित हुआ है।

(६०) विज्ञान शतक का कर्तृत्व अज्ञात है। विज्ञान शतक का सर्वप्रथम सम्पादन कृष्ण शास्त्री भाऊ शास्त्री गुह्ले ने १८६७ ई० में नागपुर से किया था। एक अन्य संस्करण, जिसमें उपर्युक्त से दो पद्य कम हैं तथा अन्य पद्यों के अनुक्रम में पर्याप्त वैभिन्य है, गुजराती प्रेस, बम्बई से मुद्रित हुआ। प्रो० कोसम्बी ने शतक त्रयादि सुभाषित-संग्रह में इसका सशोधित पाठ प्रकाशित किया है।

गुह्ले-सम्पादित संस्करण की पुष्पिका में विज्ञान शतक को भर्तृहरि की रचना माना गया है। इस कारण तथा विज्ञान शतक एवं भर्तृहरि की कृतियों में भाव तथा रचना-साम्य के आधार पर अब भी इसे भर्तृहरि-रचित मान लिया जाता है। परन्तु यह आधुनिक गढन्त प्रतीत होती है।

शतक के मंगलाचरण में गणेश की स्तुति की गयी है :—

विगलदमलदानश्रेणि सौरभ्यलोभोपगत मधुपमाला व्याकुला काशदेश:।
अवतु जगदशेपं शश्वदुग्रात्मजो यो विपुलपरिघदन्तोद् दण्ड शुण्डा गणेश: ।।

अन्तिम पद्य में (१०३) इसे वैराग्य शतक नाम से अभिहित किया गया है (बुधानां वैराग्यं सुघटयतु वैराग्य शतकम्) वास्तव में अन्य वैराग्य शतकों की भांति विज्ञान शतक में भी प्रेम की छलना, जगत् की नश्वरता तथा वैराग्य की महिमा का वर्णन है।

(६१-६२) संस्कृतस्य सम्पूर्णेतिहास: (छज्जूराम शतकद्वय) संस्कृत-साहित्य के इतिहास की एक मात्र शतक संज्ञक रचना है। 'शतकद्वय' ६ परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें क्रमश: व्याकरण, काव्य, साहित्य, न्याय-वैशेपिक, सांख्य-योग, पूर्वोत्तर मीमांसा के ग्रन्थों का निरूपण किया गया है। यह निरूपण विवेचनात्मक

१५. वही

न होकर गणनात्मक है। कुछ साहित्यिक विधाओं के प्रमुख ग्रन्थों का नामोल्लेख करके सन्तोष कर लिया गया है। कवियों का वर्णनक्रम भी सदैव निर्दुष्ट नहीं है। कई परवर्ती कवियों को पहले तथा पूर्ववर्तियों को पश्चात् रख दिया है। लेखक ने पद्यों की हिन्दी में विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें संस्कृत के विभिन्न लेखकों की प्रशंसा में स्वरचित १०२ पद्य यथास्थान उद्धृत किये हैं। सम्भवतः व्याख्या के इन पद्यों तथा मूल श्लोकों को मिलाकर ही काव्य को शतक द्वय' का उपनाम दिया गया है। अन्यथा मूल काव्य की पद्य संख्या से इस उपशीर्षक की संगति नहीं बैठती। व्याख्या में कुछ नवीन तथा अज्ञात टीकाकारों का नामोल्लेख हुआ है। इसके रचयिता म० म० छज्जूराम शास्त्री प्रतिभाशाली कवि, नाटककार, टीकाकार तथा दर्शन एवं व्याकरण के मान्य पण्डित हैं।[१६]

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय मुज्जफरपुर के साहित्य–प्रधानाध्यापक श्री बदरीनाथ शर्मा की अन्योक्ति साहस्री में (६३–७२) दस शतक सम्मिलित है। शतकों के नाम हैं—जलाशयशतक, खेचरशतक, शकुन्तशतक, स्थावरशतक, तरुवरशतक, लताशतक, पशुशतक, यादश्शतक, क्षुद्रजन्तुशतक, प्रत्येकशतक उपरोक्त प्रतीकों पर आधारित सौ अन्योक्तियों का संकलन है। अन्योक्ति साहस्री काशी से प्रकाशित हुई है। प्रसिद्ध नाटककार पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने एक (७३) अन्योक्तिशतक की भी रचना की है। आधुनिक नाटककारों में पण्डित मथुराप्रसाद अग्रगण्य हैं। उनके भक्त सुदर्शन, वीर प्रताप, वीर पृथ्वीराज, भारत विजय आदि नाटक बहुत सफल, रोचक तथा लोकप्रिय हैं।

गान्धी स्मारक निधि, देहली से प्रकाशित (७४) गान्धी सूक्ति मुक्तावलि भारत के भूतपूर्व वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि देशमुख द्वारा संस्कृत–पद्य में अनूदित गांधी जी की सौ सूक्तियों का संग्रह है। कवि ने प्रत्येक पद्य का अंग्रेजी में अनुवाद भी कर दिया है। गान्धी सूक्ति मुक्तावलि का उपशीर्षक अथवा नामान्तर तो प्रत्यक्षतः शतक नहीं है, किन्तु अनुवादक ने भूमिका में स्पष्टतः इसे शतक की संज्ञा प्रदान की है। 'I, therefore, Complated a Sataka and thought that this form and size would not be unwelcome to the public.'

नागपुर से सन् १९५८ में प्रकाशित प्रो० श्रीधर भास्कर वर्णेकर की जवाहर तरङ्गिणी अपरनाम (७५) भारतरत्नशतक एक आधुनिक प्रबन्धात्मक शतक है। इसमें भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री युग पुरुष जवाहरलाल नेहरू की गौरवशाली जीवन गाथा का मनोरम वर्णन हुआ है। भारतरत्नशतक उन रचनाओं में है जिनसे साहित्य की प्रतिष्ठा तथा यथार्थ गौरव वृद्धि होती है। सस्कृत से अनभिज्ञ पाठकों के उपयोग के लिये कवि ने स्वकृत अंग्रेजी अनुवाद भी साथ दिया है। श्री वर्णेकर प्रतिभाशाली कवि हैं। भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार है। उनकी कवित्वशक्ति रोचक तथा प्रभावशाली है। प्राचीन भारतीय इतिहास के पात्रों के प्रतीकों के माध्यम से कवि ने नेहरूजी की कर्मठता, स्वार्थहीनता तथा राजनीति-नैपुण्य का भव्य चित्र अंकित किया है।

सोढश्चिराय खरदूषणसंनिपात :
यद्वा नरोत्तमकुलैर्घटिता सुहृत्ता।
उल्लंघितो बहलसंकट वारिधिश्च
रामायणं मुचरिते प्रतिबिम्बितं ते॥

---

१६. छज्जूराम शास्त्री की कृतियों के विवेचन के लिये देखिये 'विश्वसंस्कृतम्' फरवरी, १९६४ मे प्रकाशित मेरा लेख 'केचित् पञ्चनदीया: संस्कृतकवयः'।

दुर्योधनं प्रखरभीष्मबलावगुप्तं
दुःशासनं निहतपञ्चजन प्रभावम् ।
निस्सारतां जन जनार्दन सङ्केतेन
नीत्वा, त्वयैव रचितं नवभारतं हि ।।

स्वार्थैकसक्ता पुरुषाधमसेवितेयं
बाराङ्गनेव नृपनीतिरिति स्वनिन्दाम् ।
निस्स्वार्थमेत्य शरणं पुरुषोत्तमं वा
दूरीचकार सुगतं हि यथाम्रपाली ।।

प्रधानमन्त्री के प्रिय व्यायाम 'शीर्षासन' की इस पद्य में भावपूर्ण व्याख्या की गयी है ।

भूर्रहति क्रतुमयी शिरसा प्रणामं
द्यौः किन्तु भोगवहुला चरणाभि घातम ।
इत्येव किं निजमनोगत मुत्तमं त्वं
शीर्षासनेन नियतं प्रकटीकरोषि ।।

भारतरत्नशतक के पृष्ठ पत्र पर श्री वर्णेकर की रचनाओं के विज्ञापन में तीन (७६-७८) शतकों का उल्लेख है—विनायकवैजयन्ती शतक, रामकृष्ण परमहंसीय शतक, तथा शाकुन्तलशतश्लोकी । सम्भवतः ये सभी अप्रकाशित हैं ।

साहित्य अकादमी दिल्ली के प्रकाशन 'आज का भारतीय साहित्य' में सम्मिलित 'आधुनिक संस्कृत-साहित्य के उपयोगी सर्वेक्षण' में डॉ० राघवन् ने (७९-८३) पांच शतकों का—वेमनाशतक, सुमतिशतक, दशरथी शतक, कृष्ण शतक, भास्कर शतक—उल्लेख किया है । ये मूल तेलुगु शतकों के श्री एस. टी. जी. वरदाचारियर द्वारा किये गये संस्कृत रूपान्तर हैं ।

परचित पद्यों तथा सूक्तियों के कुछ संकलन भी शतकाकार प्रकाशित हुए हैं । जगदीशचन्द्र विद्यार्थी ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद के सौ-सौ मन्त्रों के[१७] चयन (८४–८६) ऋग्वेद शतक, यजुर्वेद शतक तथा सामवेद शतक के नाम से प्रस्तुत किये हैं । ऋग्वेद शतक दिल्ली से १९६१ ई० में प्रकाशित हुआ, शेष दोनों १९६२ में । इसी प्रकार हरिहर झा ने संस्कृत कवियों की सूक्तियों को सूक्ति शतक के (८७–८८) दो भागों में संकलित किया है । प्रत्येक भाग में पूरे सौ-सौ पद्य हैं । सूक्तिशतक चोखम्बा भवन, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है ।

मेरे मित्र डा० सत्यव्रत शास्त्री की (८९) शतश्लोकी की 'वृहत्तर भारतम्' 'संस्कृत प्रतिभा' में प्रकाशित हुई । इसमें वृहत्तर भारत की संस्कृति तथा वैभव का गौरव गान है । कविता सर्वत्र लालित्य तथा माधुर्य से समवेत है । डॉ० सत्यव्रत प्रतिभासम्पन्न कवि हैं । उनके दो अन्य काव्य —श्री वोधिसत्वचरितम् तथा गोविन्दचरितम् देहली से प्रकाशित हुए हैं ।

कण्टकार्जुन की कण्टकाञ्जलि अपरनाम (९०) नवनीति शतक आधुनिक संस्कृत-साहित्य की क्रान्तिकारी कृति है । नवनीति शतक आधुनिक विषयों पर व्यंग्यात्मक शैली में निवद्ध १६७ मुक्तक पद्यों

१७. श्री वोधिसत्वचरितम् का विवेचन मैंने 'विश्व संस्कृतम्, में प्रकाशित अपने पूर्वोक्त लेख में किया है ।

का अभिनव संग्रह है, जिसे 'पद्धति' नामक दस भागों, मुखबन्ध, अञ्जलिबन्ध तथा परिशिष्ट में विभक्त किया गया है। भारतीय राजनीति, समाज, धर्म, प्रशासन, वर्तमान मंहगी, खाद्यान्न का अभाव, भ्रष्टता, कृत्रिम तथा छलपूर्ण जीवनचर्या आदि विविध विषयों पर कवि ने प्रबल प्रहार किया है कविता में अपूर्व रोचकता तथा नूतनता है। कवि ने संस्कृत-काव्य की घिसी-पिटी लीक को छोड़कर अभिनव शैली की उद्भावना की है। संस्कृत के प्रचार-प्रसार के लिये ऐसी रचनाओं की विशेष आवश्यकता है, जो समकालीन जीवन के निकट हो तथा उसकी समस्याओं का विवेचन प्रस्तुत करें।

वर्तमान प्रशासन में परिव्याप्त घूसखोरी पर, उपनिषदों के अश्वत्थ के प्रतीक से, कवि ने मर्मान्तिक व्यंग किया है। उपनिषदों में सृष्टि की तुलना एक ऐसे काल्पनिक वृक्ष से की गयी है। जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएं नीचे हैं। यह सृष्टितरु शाश्वत है। उसका उच्छेद करने की क्षमता किसी में नहीं है। परन्तु कवि की कल्पना है कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में मानव ने सृष्टि के बृहत् अश्वत्थ के उन्मूलन के लिये अनेक उपकरणों का आविष्कार कर लिया है। पर घूस के बद्ध मूल अश्वत्थ का उच्छेत्ता आज भी नहीं है, न अतीत में था और न भविष्य में होगा।

ऊर्ध्वं मूलमधश्च यस्य वितताः शाखाः, सुवर्णच्छदः
कस्योत्कोचतरुर्जगत्यविदितः यद्यप्यरूपोऽगुणः ।
छेत्ता कश्चिदुदेति संमृतितरोः छेत्तास्य वृक्षस्य तु
नाभून्नास्ति न वा भविष्यति पुमान् ! अश्वत्थ एषोऽक्षयः ।।

रामकैलास पाण्डेय का (९१) भारत शतक 'संस्कृत-प्रतिभा' में तथा हजारीलाल शास्त्री का (९२) शिवराज विजय शतक 'दिव्य ज्योति' (शिमला) में प्रकाशित हुए हैं। ये दोनों ऐतिहासिक काव्य हैं। भारतशतक में भारत के गौरवशाली अतीत तथा वर्तमान स्थिति का चित्रण है। शिवराजविजय शतक में छत्रपति शिवाजी का चरित वर्णित है।

इनके अतिरिक्त निम्नांकित शतकों की जानकारी जिनरत्न कोश, आमेर शास्त्र भण्डार तथा राजस्थान ग्रन्थ-भण्डारों की सूचियों से प्राप्त हुई है।

(९३-९४) चाणक्य शतक तथा नीतिशतक की रचना का श्रेय चाणक्य को दिया जाता है। किन्तु यह चाणक्य चन्द्रगुप्त के प्रधानामात्य विष्णुगुप्त चाणक्य कदापि नहीं हो सकता। प्राचीन भारत में साहित्यिक रचनाओं को सम्बद्ध विषय के लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों के नाम से प्रचलित करने की बलवती प्रवृत्ति रही है। इसी प्रकार वररुचि के नाम से दो (९५-९६) शतक उपलब्ध हैं—शतक तथा योगशत। शतक कोषग्रंथ है। इसकी एक अपूर्ण प्रति जैन मन्दिर संघीजी, जयपुर में सुरक्षित है। वेष्टन संख्या६६८। योगशत आयुर्वेद से सम्बन्धित रचना है। श्री मल्ल अथवा त्रिमल्लक का (९७) द्रव्यगुणशत श्लोक भी आयुर्वेद ग्रन्थ है। दोनों की हस्तलिखित प्रतियां आमेर शास्त्र भण्डार, जयपुर में उपलब्ध हैं। योगशत की प्रति खण्डित है। प्रथम तथा अन्तिम पृष्ठ नहीं है। योगीन्द्रदेव के (९८) दोहशतक की एक प्रति ठोलियों के मन्दिर जयपुर में है। वेष्टन संख्या १२०। अज्ञात कवियों के दो (९९-१००) दृष्टान्त शतक ज्ञात है। एक सुभाषित संग्रह है, दूसरा अलङ्कार ग्रन्थ। (१०१-१०६) अज्ञात कवियों के गोरक्ष शतक, आत्मनिन्दा शतक, आत्मशिक्षा शतक, मूर्ख शतक, गोवर्धनतिलक कृत वृद्धयोग शतक तथा निवर्मन

का वन्ध शतक का उल्लेख भी सूची पत्रों में हुआ है ।

इस प्रकार संस्कृत का शतक-साहित्य विशाल तथा वैविध्यपूर्ण है । पता नहीं शतक संज्ञा का क्या आकर्षण था कि प्राय: समस्त कल्पनीय विषयों पर शतक लिखे गये हैं। स्पष्टत: इस साहित्यिक विधा ने जनता में अपूर्व ख्याति प्राप्त की होगी । इसीलिए कवियों ने अपनी कविता को शतक का आवरण पहना पहनाकर प्रचलित किया । यह खेद की बात है कि साहित्य की यह रोचक सामग्री अस्तव्यस्त बिखरी पड़ी है । उपलब्ध शतकों का सुसम्पादित संग्रह अवश्य प्रकाशित होना चाहिये ।

महाकवि समयसुंदर और उनका छत्तीसी-साहित्य

राजस्थान में अेक कहावत है—'समयसुंदर-रा गीतड़ा, कुंभे राणे-रा भींतड़ा' अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुंभा द्वारा बनवाये हुये संपूर्ण मकानों, मंदिरों, स्तंभों और शिलालेखों आदि का पार पाना अत्यंत कठिन है उसी प्रकार समयसुंदरजी विरचित समस्त गीतों का पता लगाना भी दुष्कर कृत्य है; उनके गीत अपरिमित हैं। यह महाकवि समयसुंदर १७ वीं शताब्दी के लब्धप्रतिष्ठ राजस्थानी जैन कवि हुअे हैं। उनका जन्म पोरवाल जातीय पिता श्री रूपसिंह और माता लीलादेवी के यहां अनुमानतः संवत् १६१० में सांचोर (सत्यपुर) में हुआ। बाल्यावस्था में ही उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर क्रमशः महोपाध्याय-पद प्राप्त किया। मधुर-स्वभावी महाकवि अपनी अप्रतिम विद्वत्ता और अनूठे व्यक्तित्व से अपने जीवन-काल में ही प्रशंसित हो चुके थे। उन्होंने भारत के अनेक प्रदेशों का भ्रमण करके अपनी नानाविध रचनाओं और सदुपदेशों द्वारा तत्रस्थ जनसमुदाय को कल्याणपथ की ओर अग्रसर किया। सौभाग्यवश महाकवि ने दीर्घायु प्राप्त की थी। सं० १७०३ में उन्होंने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन अहमदाबाद में समाधिपूर्वक नश्वर देह को त्यागकर स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया। अपनी इस दीर्घायु में महाकवि ने संस्कृत, प्राकृत और राजस्थानी की अनेक रचनाअें कीं। 'इनकी योग्यता अेवं बहुमुखी प्रतिभा के संबंध में विशेष न कहकर यह कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी कि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य के पश्चात् प्रत्येक विषयों में मौलिक सर्जनकार अेवं टीकाकार के रूप में विपुल साहित्य का निर्माता (महाकवि समयसुंदर के अतिरिक्त) अन्य कोई शायद ही हुआ हो!'[1] 'सीताराम-चौपई' नामक वृहत्काय जैन रामायण महाकवि की प्रतिनिधि रचना है। उनके अपरिमित गीत भी बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। महाकवि के संबंध में विस्तृत जानकारी अेवं उनकी लघु रचनाओं के रसास्वादन के लिये श्री अगरचंद नाहटा और भँवरलाल नाहटा संपादित 'समयसुंदर-कृति-कुसुमांजलि' द्रष्टव्य है। यहां प्रस्तुत है महाकवि के छत्तीसी-साहित्य का संक्षिप्त परिचय।

छत्तीसी

मुक्तक रचनाओं का अेक प्रकार है 'छत्तीसी'। अैसी रचना जिसमें छत्तीस पद्य हों, छत्तीसी कहलाती है। इसमें छंद कोई भी हो सकता है, पर उसके संपूर्ण पद्यों का उसी छंद में होना आवश्यक है। कहीं-कहीं छत्तीस के स्थान पर सैंतीस पद्य भी देखने को मिलते हैं, परंतु वहां सैंतीसवां पद्य रचना के विषय से थोड़ा भिन्न और उसका उपसंहार-सूचक होता है। इसी प्रकार इन छत्तीसियों का विषय कोई भी हो सकता है, पर वर्णनात्मकता और औपदेशिकता की इनमें प्रधानता पायी जाती है।

---

१. महोपाध्याय विनयसागर : 'समयसुंदर कृति कुसुमांजलि' गत निबंध 'महोपाध्याय समयसुंदर' पृष्ठ १.
(प्रकाशक-नाहटा ब्रदर्स, ४ जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता-७).

महाकवि समयसुंदर विरचित सात छत्तीसियां उपलब्ध हैं जो इस प्रकार हैं—

१. सत्यासीया दुष्काल वर्णन छत्तीसी २. प्रस्ताव सवैया छत्तीसी ३. क्षमा छत्तीसी ४. कर्म छत्तीसी ५. पुण्य छत्तीसी ६. संतोष छत्तीसी और ७. आलोयणा छत्तीसी ।

(१) सत्यासिया दुष्काल वर्णन छत्तीसी

प्रस्तुत छत्तीसी की रचना महाकवि ने वि० सं० १६८७-८८ में गुजरात में की । ऋद्धि-सिद्धि से सर्वथा संपन्न गुजरात प्रदेश में वि० स० १६८७ में बड़ा भयंकर दुष्काल पड़ा । बरसात का नामोनिशान न था । घनघोर घटायें घिर घुमड़कर आती और कृषक-समुदाय को चिढ़ाकर गायब हो जाती थीं । खेत सूखे पड़े थे । पानी के अभाव में लोगों में खलबली मच गई ।[1] खाने की समस्या विकट रूप में आ पहुँची । पशुओं को तो कुछ अंशों में, आस पास के नगरों की सीमाओं पर, जहां थोड़ी-बहुत वर्षा हुई थी, चरने के लिओ भेज दिया गया, परंतु लोगों को अपने ही भोजन की व्यवस्था करना मुश्किल हो गया । खाद्य-सामग्री के लिओ परस्पर लूट-मार होने लगी । महंगाई का पार न रहा । प्रजावत्सल नरेशों ने अपनी जनता के लिओ सस्ते अनाज की व्यवस्था की भी तो लोभी हाकिमों ने अपने पास जमाकर उसे महंगे मोल बेचना प्रारंभ कर दिया था ।[2]

ओसी स्थिति में लोगों को आधा पाव अन्न तक मिलना भी दुर्लभ हो गया । मान त्यागकर भीख मांगने से भी लोगों का पेट नहीं भरता था । वृक्षों के पत्ते, कांटी (घास विशेष) और छालें खाने की भी नौबत आई । जूठन खाना-पीना तो सामान्य बात हो गई थी ।[3]

प्रेम और ममत्व नाम की कोई चीज उस समय नहीं रह गई थी । पति पत्नि को, बेटा बाप को, बहन भाई को, भाई बहन को छोड़-छोड़कर परदेश को भागने लगे । परिवार का सम्बन्ध अन्न-प्रेम के आगे गौण हो गया । अपने आत्मज, आंखों के तारे प्यारे पुत्र को बेचना पिता के लिए रंचमात्र भी दुष्कर नहीं था ।

---

१. घटा करी घनघोर, पिण वूठो नहीं पापी ।
खलक लोग सहु खलभल्या, जीवइं किम जलबाहिरा;
'समयसुंदर' कहइ सत्यासीया, ते करतूत सहू ताहरा ।३।।
(समयसुंदर कृति कुसुमांजलि, पृ० ५०१)

२. भला हुंता भूपाल, पिता जिम पृथ्वी पालइ;
नगर लोग नरनारी, नेह सुं नजरि निहालइ ।
हाकिम नइ हुतो लोभ, धान ते पोते धारइ;
महा मुंहगा करि मोल, देखि बेचइ दरबारइ ।।
(समयसुंदर कृति कुसुमांजलि, छंद ६, पृ० ५०२)

३. अध पा न लहै अन्न, भला नर थया भिखारी;
मूकी दीधउ मान, पेट पिण भरइ न भारी ।
पमाडीयाना पांन, केइ बगरी नइं कांटी;
खावै खेजड़ छोड, शालितूस सबला बांटी ।
अन्नकण चुणइ अइंठि में, पीयइ अइंठि पुसली भरी ।
समयसुंदर कहइ सत्यासीया, अेह अवस्था तइं करी ।।८।। (स. कृ. कु. पृ० ५०३)

यतियों को अपना पंथ बढ़ाने का सुअवसर मिल गया। लोग पथ-विचलित होने लगे। धंधा उठने से धर्म और धैर्य की जड़ें खिसक उठीं। श्रावकों ने साधुओं की सार-सँभाल छोड़ दी। शिष्यों ने भूख से बाधित हो उदरपूर्ति के लिये गुरुओं को ही पत्र-पुस्तकें, वस्त्र-पात्रादि बेचने के लिए विवश किया।[1]

धर्म-ध्यान भी लुप्त होने लग गया था। भूख के मारे भगवान का भजन किसे भाता है। श्रावक लोगों ने मन्दिरों में दर्शन करने जाना छोड़ दिया। शिष्य ने शास्त्राध्ययन बन्द कर दिया। गुरुवंदन की तो परंपरा ही उठ गई। गच्छों में व्याख्यान-परंपरा मंद पड़ गई। लोगों की बुद्धि में फेर आ गया था।[2]

अनेक लक्षाधीश साहूकारों की सहायता के उपरांत उस 'भुखमरी' में अनेक मनुष्य बेमौत मरे। उनकी अर्थियाँ उठाने वाले ही नहीं मिल रहे थे। घरों में हाहाकार मच रहा था और गलियों तथा सड़कों पर शवों की दुर्गंध व्याप्त थी।[3] अनेक सूरि-गच्छपतियों को भी हत्यारे काल ने अपने गाल में ले लिया।

स्वयं कवि पर भी इस प्रबल दुष्काल के कई तमाचे पड़े। पौष्टिक भोजन के अभाव में उसकी काया कृश हो गई। उपवासों से रही-सही शक्ति भी चली गई। धर्मध्यान और गुरुगुणगान ही उसके जीवन-पथ का संबल रह गया था।[4] ऐसे भीषण अकाल के समय यद्यपि शिष्यों ने कवि की कम ही सार-सँभाल ली, किंतु अन्य अनेक श्रावकों और सेवाव्रतियों ने यथासामर्थ्य साधुओं और भिखारियों आदि के भोजन की व्यवस्था की जिनमें प्रमुख थे—सागर, करमसी, रतन, बछराज, ऊदो, जीवा, सुखिया वीरजी, हाथीशाह, शाह लट्टका, तिलोकसी आदि। अहमदाबाद में प्रतापसी शाह की प्रोल में रोटी और बाकला बांटने की व्यवस्था

---

१. दुखी थया दरसणी, भूख आधी न खमावइ। श्रावक न करी सार, खिण वीरज किम थायइ।
चेले कीधी चाल, पूज्य परिग्रह परहउ छांडउ। पुस्तक पाना बेचि, जिम तिम अम्हनइं जीवाडउ॥
(स. कृ. कु. छंद १३, पृष्ठ ५०५)

२. पडिकमणउ पोसाल करण को श्रावक नावइ;
देहरा सगला दीठ, गीत गंधर्व न गावइ।
शिष्य भणइ नहीं शास्त्र, मुख भूखइ मचकोडइ;
गुरुवंदण गइ रीति, छती प्रीत माणस छोडइ।
वखाण खाण माठा पड्या, गच्छ चोरासी एही गति;
'समयसुंदर' कहइ सत्यासीया, कांइ दीधी तइं ए कुमति॥१५॥ (स. सुं. कृ. कु. पृ० ५०५)

३. मूआ घणा मनुष्य, रांक गलीए रडवडिया;
सोजो वल्यउ सरीर, पछइं पाज मांहि पडिया।
कालइ कवण वलाइं, कुण उपाडइ किहां काठी;
तांणी नाख्या तेह, मांडि थइ सगली माठी।
दुरगंधि दशोदिशि ऊछली, माडा पाड्या दीसइ मूआ।
समयसुंदर कहइ सत्यासीया, किण घरि न पड्या कूकुआ॥१७॥ (स. कृ. कु. पृ० ५०६)

४. पछि आव्यउ मो पासि, तुं आवतउ मइं दीठउ;
दुरबल कीधी देह, म करि कह्यउ भोजन मीठउ।
दूध दही घृत घोल, निपट जीमिवा न दीधा।
शरीर गमाडि शक्ति, कई लंघन पणि कीधा।
धर्म ध्यान अधिका धर्या, गुरुदत्त गुणगणउ पिण गुण्यउ;
समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, तुं नै हाक मारिनइ मइं हण्यउ॥ १९॥ (स. कृ. कु. पृ० ५०७)

की गई थी ।[1] कवि ने लिखा है कि भगवान महावीर के काल से लेकर अब तक तीन द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़े थे किंतु जैसा संहार उस वर्ष के अकाल में हुआ, वैसा पूर्व के उन लंबे अकालों में भी नहीं हुआ ।[2]

और इस सत्यानाशी 'सत्यासीये' का शमन किया 'अठ्यासीया' (वि० सं० १६८८ के वर्ष) ने । वर्ष के आरंभ में ही खूब जोरों की वर्षा हुई । धरती धान से हरी-भरी हो उठी । लोगों में धैर्य का संचार हुआ । खाद्य पदार्थ सस्ते हो गये । लोगों का उल्लास लहरें लेने लगा । 'मरी' और 'मांदगी' (महामारी) मुंह मोड़ चले । हां साधुओं की दशा अभी तक चिंतनीय थी ।[3] धीरे-धीरे उनकी भी सेवा और आदर की ओर ध्यान दिया गया । इस प्रकार गुजरात में पुनः आनन्द का साम्राज्य हो गया ।

बड़ी सुन्दर और सरस शैली तथा सरल भाषा में लिखित इन मुक्तकों में कवि ने खुलकर अपनी भावुकता-सहृदयता का परिचय दिया है । जहाँ अेक ओर वह तत्कालीन प्रजा की दयनीय स्थिति का चित्रण करता है, वहां दूसरी ओर वह उस दुष्काल को जमकर गालियां भी निकालता है । अकाल के प्रति की गई इन कटूक्तियों में कवि की कलात्मकता तो झलकती ही है, मानवता के प्रति उसका अगाध स्नेह भी इनमें परिलक्षित होता है । और सच तो यह है कि इस स्नेह भावना के कारण ही उसकी इन उक्तियों का उद्भव हुआ है—

१. समयसुंदर कहइ सत्त्यासीयउ, पड्यो अजाण्यउ पापीयउ ।।२।।

२. दोहिलउ दंड माथइ करी, भीख मंगावि भीलड़ा ।
समयसुंदर कहइ सत्त्यासीया, थारो कालो मुंह पग नीलड़ा ।।५।।

३. कूकीया घणुं श्रावक किता, तदि दीक्षा लाभ देखाडीया ।
समयसुंदर कहइ सत्त्यासीया, तइं कुटुंब विछोडा पाडीया ।।१०।।

४. सिरदार घणेरा संहर्या, गीतारथ गिणती नहीं ।
समयसुंदर कहइ सत्त्यासीया, तुं हतियारउ सालो सही ।।१८।।

५. दरसणी सहूनइ अन्न द्यई, थिरादरे थोभी लिया ।
समयसुंदर कहइ सत्त्यासीया. तिहाँ तुं नइ धक्का दिया ।।२५।।

६. समयसुंदर कहइ सत्यासीयउ, तुं परहो जा हिव पापीया ।।२८।।

रसों में करुण और अलंकारों में अनुप्रास की प्रधानता है । छंद सवैया है । भाषा गुजराती मिश्रित

---

१. स. कृ. कु. छंद २१-२३; पृ० ५०७-८,

२. महावीर थी मांडी, पछ्या त्रिण वेला पापी;
वार वरषी दुःकाल, लोक लीधा, संतापी
पणि अेकलइ अेक तइं ते कीयउ, स्युं वार वरसी वापड़ा;
समयसुन्दर कहइ सत्यासीया, वारै लोके न लह्या लाकड़ा ।।२६।। (स. कृ. कु. पृ० ५०६)

३. मरगी नइं मदवाडि, गया गुजरात थी नीसरि;
गयउ सोग संताप, घणो हरख हुयउ घरि घरि ।
गोरी गावइ गीत, वली विवाह मंडाणा.,
लाडू खाजा लोक, खायइ थाली भर मांणा ।।
शालि दालि घृत घोल सुं, भला पेट काठा भर्या ।
समयसुन्दर कहइ अठ्यासीया, साध तउ अजे न सांभर्या ।।३३।। (स. कृ. कु. पृ० ५११)

सरल और मुहावरेदार राजस्थानी है।

इस प्रकार महाकवि ने गुजरात के उस भीषण दुष्काल का आंखों देखा हाल अपनी इस छत्तीसी में वर्णन किया है जो रोमांचकारी तो है ही, प्रत्यक्षदर्शी द्वारा वर्णित होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

(२) प्रस्ताव सवैया छत्तीसी

इस रचना में विविध विषयों पर प्रस्तावना के रूप में (प्रास्ताविक) कहे गये ३७ उपदेशात्मक सवैये हैं जिनकी रचना[१] कवि ने सं० १६६० में खंभात में की।

वर्ण्य–विषय

सपूर्ण कृति में ईश्वर, मनः शुद्धि, संसार के प्रति अनासक्ति, धर्मकृत्यों की महत्ता, दुष्कृत्यों के दुष्परिणामों आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

ईश्वर-साक्षात्कार के विषय में कवि कहता है—सब कोई परमेश्वर-परमेश्वर चिल्लाते हैं किंतु उन्हें देख तो विरला ही पाता है। सचमुच वह कोई योगीश्वर ही होता है जिसे परमेश्वर के दर्शन होते हैं—

'समयसुंदर' कहइ जे जोगीसर, परमेसर दीठउ छइ तिणइ' ॥१॥

उस परमेश्वर को कोई ईश्वर कहता है तो कोई वेद-विधायक ब्रह्मा, कोई उसे कृष्ण के रूप में मानता है तो कोई अल्लाह के रूप में और कोई उसे ही सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहर्ता मानता है। किंतु कवि की मान्यता है कि परमेश्वर की महानता की थाह पाना किसी के वश की बात नहीं, वह (कवि) तो मात्र 'कर्म' को ही 'कर्त्ता' रूप में जानता है—

'समयसुंदर कहइ हुं तो मानुं, करम एक करता ए वेद' ॥२॥

धर्म की उपयोगिता की व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है—यज्ञ तथा पंचाग्नि आदि की कठिन साधनाएँ करके कोई यह मान बैठे कि हम मुक्त हो जायेंगे सो ऐसी बात नहीं। सब धर्मों का मूल तत्त्व है–दया। जो व्यक्ति शास्त्रोक्त दया-धर्म का पालन करता है उसे ही जैन-धर्म दुराचारों के गर्त में गिरने से बचाता है। अतः मुक्तिकामी को निस्संकोच हो आस्थापूर्वक धर्मकृत्य करने चाहिये क्योंकि इनके अभाव में किया गया धर्मकृत्य निष्फल होता है—

संका कोला मांसउ म करउ कियउ धरम सहु धूडि मिलइ'।

× × × ×

समयसुंदर कहइ आस्ता आंणी धर्म कर्म कीजइ ते फलइ' ॥१०॥

धर्म के संबंध में कवि ने दूसरी बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण बतलाई है और वह यह कि किसी भी गच्छवाद के झंझट में न फँसकर मुक्तिकामी को केवल मन को निर्मल बनाने का प्रयास करना चाहिये।

---

१. संवत सोलनेउया वरषे श्री खंभाइत नयर मझारि;
कीधा सवाया त्यान विनोदइं मुनि मंडण श्रवले गुनकारि।
(स० कृ० कु० पृ० ५२२, छंद ३७).

उसके बिना, चाहे कितना ही मूंड मुंडाओ, जटा बढाओ, नग्न रहो, पंचाग्नि साधना करके और काशी में करवत लेकर कष्ट सहो, भस्मी लगाकर भिक्षा मांगो, मौन धारण करो चाहे कृष्ण नाम जपो, मुक्ति प्राप्त करना सर्वथा दुर्लभ है—

कोलो करावउ मुंड मुंडावउ, जटा धरउ को नगन रहउ।
को तप्प तपउ पंचागनि साधउ कासी करवत कष्ट सहउ।
को भिक्षा मांगउ भस्म लगावउ मौन रहउ भावइ कृष्ण कहउ;
समयसुंदर कहइ मन सुद्धि पाखइ, मुगति सुख किमही न लहउ ॥१६॥

इसी प्रकार बिना धर्मकृत्यों के नर की संपूर्ण मान-प्रतिष्ठा और नारी का संपूर्ण साज-शृंगार भी निस्सार हैं—

मस्तिकि मुगट छत्र नइं चामर बइसठ सिंहासन नइं रोकि;
आण दांण बरतावइ अपणी आज नमइ नर नारी लोक।
राजरिद्धि रमणी घरि परिघल जे जोयइ ते सगला थोक।
पणि समयसुंदर कहइ जउ ध्रम न करइ, तउ ते पाम्युं सगलुं फोक ॥२०॥
सीसफूल स मथउ नकफूली, कानई कुंडल हीयइ हार।
भालइं तिलक भली कटि मेखल बांहे चूड़ि पुणछिया सार ॥
दिव्य रूप देखंती अपछर, पगि नेउर झांझर झणकार।
पणि समयसुंदर कहइ जउ ध्रम न करइ, तउ भार भूत सगलौ सिणगार ॥२१॥

इसलिए मांस-भक्षण, मदिरापान, विजया-सेवन, चोरी, असत्य भाषण, परदार-रति आदि समस्त नर्क के द्वारों से विमुख होकर मुमुक्षु को अविलंब धर्म-साधना में लग जाना चाहिए क्योंकि यह आयुष्य पल प्रतिपल बीता जा रहा है और बीता हुआ समय किसी भी प्रकार से हाथ नहीं आ सकता।

ससार-सुख के विषय में भी कवि का दृष्टिकोण स्पष्ट है। उसके अनुसार संसार में आज सच्चा सुखी कोई नहीं। यहां कोई विधुर है तो कोई निस्संतान, कइयों के पास खाने को अन्न नहीं है तो कई रोगाक्रांत और शोकाविष्ट हैं। कहीं विधवाएं छाती पीटती दृष्टिगत होती हैं तो कहीं विरहिणियां छतों पर खड़ी काग उड़ाती हैं। सबको किसी न किसी प्रकार का दुःख है ही। ये सब दुख मनुष्य को अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण भोगने होते हैं।

कर्म की गति भी बड़ी विचित्र है। महान व्यक्तियों को भी कर्मों के फल तो भोगने ही पड़ते हैं चाहे वे सत् हों अथवा असत्। इस कर्मबंधन के कारण ही महावीर के कानों में कीलें गाड़ी गई, राजा हरिश्चंद्र को चांडाल के घर पानी भरना पड़ा। राम-लक्ष्मण को वनवास की कठोर यातनाएं सहनी पड़ी तथा रावण जैसे महान पराक्रमी को स्वर्णमंडित लका और लंका ही क्यों, प्राणों तक से हाथ धोना पड़ा—

महावीर नइं काने खीला, गोवालिए ठोक्या कहिवाय,
द्वारिका दाह पांणी सिर आंण्यउ, चंडाल नइं घरि हरिश्चंद राय।
लखमण राम पांडव वनवासि, रावण वध लंका लूटाय,
समयसुन्दर कहइ कहउ ते कहुं पणि, करम तणी गति कही न जाय ।। २८।।

इस कर्म-प्रधानता का अेक और पहलू भी कवि ने हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। कर्मो (भाग्य) द्वारा ही सबको दुःख सुख भोगने होते हैं, यह मानकर किसी को हाथ पर हाथ रखकर बैठ भी नहीं जाना चाहिअे। अनवरत उद्यम का भी अपना विशिष्ट महत्त्व है। कविवर इन दोनों को मान्यता प्रदान करते हैं—

वखत मांहि लिख्यउ ते लहिस्यइ, निश्चय वात हुयइ हुणहार,
एक कहई काछड़ वांधीनइं उद्यम कीजइ अनेक प्रकार।
नीखण करमां वाद करतां इम झगड़उ भागउ पहुतौ दरबारि।
समयसुन्दर कहइ वेऊ मानउं, निश्चय मारग नइं व्यवहार ।।२६।।

कर्म और उद्यम की व्याख्या के बाद कवि ने लोकव्यवहार के संबंध में भी कुछ बातें बतलाई हैं। लोकव्यवहार में आदमी को बड़ा सतर्क रहना चाहिअे। परनिंदा और आत्मप्रशंसा से विलग होकर सदैव अपने आपको तुच्छ अेवं दूसरों को महान मानना चाहिअें। वस्तुतः दूसरों की निंदा करने में रखा ही क्या है? सब अपने-अपने कर्मो का फल तो भोग ही लेते हैं। पर निंदक को कोई पूछता तक नहीं, उसकी गिनती चांडालों में की जाती है। जिनका स्पर्श तक करने में लोग घृणा का अनुभव करते हैं। अैसे व्यक्तियों को नर्क की कठोर यातनाअें सहनी पड़ती हैं—

अपणी करणी पार उतरणी पार की वात मइं कांइ पड़उ,
पूठि मांस खालउ परनिंदा लोकां सेती कांइ लड़उ।
(निंदा म करउ कोइ केहनी तात पराई मैंमत पड़उ)
निंदक नर चंडाल सरीखउ, एहनई मत कोई आभड़उ,
समयसुन्दर कहइ निंदक नर नइं नरक मांहि वाजिस्यइ दड़उ ।।३३।।

परनिंदा और मिथ्या भाषण—इन दोनों से दूर रह इस संसार को असार मानकर पंच महाव्रतों का पालन करते हुअे जो लोग जप तप और उत्कृष्टी क्रिया करते हैं, निस्संदेह उन्हीं विरल व्यक्तियों को सच्चे जिन-धर्मोपासक कहा जा सकता है।

अंत में कवि जैन-धर्म की महानता को स्वीकार करता हुआ यह कामना करता है कि इस जन्म के बाद आगे भी वह किसी जैन-धर्मावलंबी के यहां ही उत्पन्न हो—

साचउ एक धरम भगवंत नउ दुरगति पड़तां धइ आधार।
समयसुन्दर कहइ जैन धरम जिहां तिहां हुज्यो माहृ अवतार ।।३७।।

(३) क्षमा छत्तीसी

प्रस्तुत छत्तीसी में पूरे छत्तीस पद्य हैं जो नागोर,[1] में लिखे गये। क्षमा का महत्व और क्रोध के दुष्परिणामों का प्रदर्शन करना ही इसमें कवि का प्रमुख उद्देश्य रहा है। प्रारम्भ में ही कवि अपने जीव को समझता है—

> आदर जीव क्षमा गुण आदर, म करि राग नइ द्वेष जी।
> समता ये शिव सुख पामीजे, क्रोधे कुगति विशेष जी ।।१।।

वर्ण्य–विषय

अपने इसी कथन (कृति के प्रमुख उद्देश्य) को और स्पष्ट करने के लिये कवि ने यहां अनेक अैसे प्रसिद्ध महान पुरुषों का स्मरण किया है जिन्होंने क्षमा गुण के द्वारा अपना उद्धार किया और अनेक ऐसे दुष्टात्माओं की गर्हणा भी की है जिन्होंने क्रोध के वशीभूत हो अनेक दुष्कृत्य किये और अंततः पाप के भागी हुअे। इनके नाम इस प्रकार हैं—सोमल ससुर और गजसुकुमाल, कोणिक और वेश्या, स्वर्णकार और मेतार्य ऋषि, खंवकसूरि के शिष्य, सुकोशल साधु, ब्रह्मदत्त, चंडरुद्र, सागरचंद, चंदना, मृगावती, सांव–प्रद्युमन, भरत–बाहुबली, प्रसन्नचंद्र ऋषि, स्थूलिभद्र आदि। दो-तीन प्रसंग इस प्रकार हैः—

ध्यानवस्थित गजसुकुमाल के चारों ओर मिट्टी की पाल बांधकर उसके ससुर सोमल ने अग्नि द्वारा उसका सिर जला दिया था किंतु गजसुकुमाल हिला तक नहीं और अंत में इस क्षमा के परिणामस्वरूप मृत्यूपरांत उसे मुक्ति की प्राप्ति हुई—

> सोमल ससरे सीस प्रजाल्यउ, बांधी माटीनी पाल जी।
> गज सुकुमाल क्षमा मन धरतउ, सुगति गयउ तत्काल जी ।।४।।

क्षमामूर्ति मृगावती पर उसकी गुरुनी चंदना ने, उसके भगवान के दर्शण करके रात्रि में जरा देर से आने के कारण क्रोध किया था, उसकी भर्त्सना की थी किंतु मृगावती ने विना टस-से-मस हुये सब कुछ सहन कर लिया। इसी क्षमाशीलता के प्रभाव से मृगावती को केवल ज्ञान हुआ और तदनंतर मोक्षप्राप्ति भी।

क्रोधावेश में क्षमा जादू का सा प्रभाव ला देती है यह भरत और बाहुबली के चरित्र से भी जाना जा सकता है। किंतु जो क्रोधपूर्वक ही अपना जीवन व्यतीत करता है उसके पूर्वसंचित शुभ कर्मों का ह्रास होने लगता है। मुनि स्थूलिभद्र ने अेक चातुर्मास में कोश्या को दीक्षित किया जिससे उनके गुरु ने उन्हें तीन वार धन्यवाद दिया जब कि अन्य शिष्यों को अेक ही वार। इससे अेक शिष्य को, जिसने उक्त चातुर्मास अेक सिंह की गुफा पर विताया था, स्थूलिभद्र पर क्रोध आ गया। उसने भी विशेष धन्यवाद पाने की

---

१. नगर मांहि नागोर नगीनउ, जिहां जिनवर प्रासाद जी।
श्रावक लोग वसइ अति सुखिया, धर्म तणइ परसाद जी ।।३४।।
क्षमा छतीसी खांते कीधी, आतमा पर उपगार जी।
सांभलतां श्रावक पण समझ्या, उपसम धर्यउ अपार जी ।।३५।।
(स. कृ. कु. पृ० ५२६)

कामना से अगले चातुर्मास पर कोश्या वेश्या के यहां रहने की गुरु से अनुमति चाही । आदेश मिलने पर वह वहां गया, किंतु पूर्वोक्त क्रोध के कारण वह संयम-पथ से विचलित हो गया और चातुर्मास के बीच में ही उसे कोश्या को प्रसन्न करने के लिए रत्नकंवल लाने के लिए नेपाल जाना पड़ा—

सिंह गुफा वासी ऋषि कीधउ, थूलिभद्र ऊपर कोप जी ।
वेश्या वचने गयउ नेपाले, कीधउ संजम लोप जी ॥ २८॥

हलाहल विष प्राणी को एक ही बार मारता है किंतु क्रोध उससे भी अधिक बलिष्ठ है । अनेक बार किया गया क्रोध उतनी ही वार प्राणी को मृतकवत् वना देता है । क्रोधावस्था में किये जप, तप आदि सुकृत्य किसी भी काम के नहीं रहते और वैसे क्रोध से लाभ भी तो कुछ नहीं होता । क्रोधी स्वयं उस कोपाग्नि में जलता है और दूसरों को भी जलाता है—

विष हलाहल कहियइ विरुयउ, ते मारइ इक वार जी ।
पण कषाय अनंती वेला, आपइ मरण अपार जी ॥३१॥
क्रोध करंता तप जप कीधा, न पड़ई कांइ ठाम जी ।
आप तपे पर नइं संतापइ, क्रोध सुं केहो काम जी ॥३२॥

अंत में कवि क्षमा-गुण पर रीझ कर उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता दृष्टिगत होता है—

क्षमा करंता खरच न लागइ, भांगे कोड़ कलेस जी ।
अरिहंत देव आराधक थावइ, व्यापइ सुयश प्रदेश जी ॥३३॥

(४) कर्म छत्तीसी

इस छत्तीसी में भी कुल छत्तीस पद्य हैं जिनकी रचना मुलतान नगर में सं० १६६८ के मार्गशीर्ष शुक्ला ६ के दिन हुई ।[1]

वर्ण्य विषय

इस रचना में कवि ने कर्म की सबलता का उल्लेख किया है । प्रत्येक जीवधारी कर्मों के वशीभूत है ।[2] विना कर्मों के फल को भोगे कोई भी उनसे विमुक्त नहीं हो सकता । अतुलवली तीर्थंकर और चक्रवर्ती तथा वासुदेव-प्रतिवासुदेवों तक को कर्म अपने चंगुल में फँसाये रखते हैं ।[3]

कृति में कवि ने उन पौराणिक महान आत्माओं की नामावली दी है जिन्हें कि कर्म की कठोर विडंवना सहनी पड़ी थी । प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—भगवान आदिश्वर, मल्लिनाथ तीर्थंकर,[4] भगवान

---

१. सकलचंद सदगुरु सुपसाये सोलह सइ अड़सठ्ठ जी ।
करम छत्तीसी ए मइं कथी, माह तणी सुदी छठ्ठ जी ॥३५॥
—कर्म छत्तीसी (स. कृ.कु. पृ०५३३)

२. कर्मथी को छूटइ नहीं प्राणी, कर्म सवल दुख खाणजी ।
कर्म तणइ वस जीव पड्या सहु, कर्म करइ ते प्रमाण जी ॥१॥

३. तीर्थंकर चक्रवत्ति अतुल वल, वासुदेव वलदेव जी ।
ते पणि कर्म विटंव्या कहिये, कर्म सवल नितमेव जी ॥२॥

४. मल्लिनाथ तीर्थंकर लाधउ, स्त्री तणउ अवतार जी ।
तप करतां माया तिण कीधी, करमे न गिणी कार जी ॥६॥

महावीर, सगर राजा, ब्रह्मदत्त, सनत्कुमार, कृष्ण,[१] रावण,[२] राम,[३] कंडरीक, कोणिक, मुंज,[४] ढंढण ऋषि,[५] सेलग आचार्य, नंदिषेण, सुकुमालिका आदि अनेक सतियां इत्यादि इत्यादि ।

अंत में ऐसे क्लिष्ट कर्मों के क्लेश से बचने के लिये कविवर ने इस छत्तीसी का श्रवण करना और धर्मकृत्यों का सेवन करना हितकर बतलाया है ।

> करम छत्तीसी काने सुणि नइ, करजो व्रत पच्चखाण जी ।
> समयसुंदर कहई सिव सुख लहिस्यउ, धर्म तणो परमाण जी ।।३६।।

(५) पुण्य छत्तीसी

प्रस्तुत छत्तीसी की रचना महाकवि ने संवत् १६६९ में सिद्धपुर में की ।[६]

रचना में कुल ३६ पद्य हैं जिनमें पुण्यकृत्यों का माहात्म्य प्रदर्शित है । रचना के माध्यम से कवि समाज में पुण्य-कृत्यों का प्रचार-प्रसार करता दृष्टिगत होता है । कवि का यह उद्देश्य कृति के प्रथम पद्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित है—

> पुण्य तणा फल परतिख देखो, करो पुण्य सहु कोय जी ।
> पुण्य करंतां पाप पुलावे, जीव सुखी जग होय जी ।।१।।

वर्ण्य–विषय

अरिहंत देव द्वारा निरूपित पुण्य के निम्नांकित रूपों का उल्लेख करके कवि ने उन अनेक पुण्यात्माओं का अपनी कृति में नाम-निर्देश किया है जिन्होंने पुण्यकृत्यों के संयोग से अपार आनंद, ऋद्धि-समृद्धि और मोक्ष की प्राप्ति की—अभयदान, अनुकंपादान, साधु-श्रावकों का धर्मपालन, तीर्थयात्रा करना, शील-संयम का पालन और जप-तप तथा ध्यान धारण करना; नियम पूर्वक सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण एवं देव पूजन तथा गुरु सेवा करना आदि ।[७]

---

१. कृष्णे कोण अवस्था पामी, दीठउ द्वारिका दाह जी ।
माता पिता पण काढी न सक्या, आप रह्यउ वन मांह जी ।।१२।।

२. राणउ रावण सबल कहातो, नव ग्रह कीधउ दास जी ।
लक्ष्मण लंका गढ़ लूंटायो, दस सिर छेद्या तास जी ।।१३।।

३. दसरथ राय दियो देशवटउ, राम रह्यउ वनवास जी ।
वलि वियोग पड्यउ सीतानउ, आठे पहर उदास जी ।।१४।।

४. लुब्धो मुंज मृणालवती सुं, उज्जेनी नउ राव जी ।
भीख मंगावी सूली दीधउ, कर्णाट राय कहाय जी ।।१८।।

५. कृष्ण पिता नर गुरु नेमीश्वर, द्वारिका ऋद्धि समृद्धि जी ।
ढंढण ऋषि तिहां आहार न पामइ, पूर्व कर्म प्रसिद्ध जी ।।२०।।

६. संवत् निधि दरसण रस ससिहर, सिधपुर नगर मझार जी ।
शांतिनाथ सुप्रसादे कीधी, पुण्य छत्तीसी सार जी ।।३५।।
(स. कृ. कु. पृ० ५४०, पुण्य छत्तीसी)

७. अभयदान सुपात्र अनोपम, वली अनुकंपा दान जी ।
साधु श्रावक धर्म तीरथ यात्रा, शील धर्म तप ध्यान जी ।।
सामायिक पोपह पड़िकमणो, देव पूजा गुरु सेव जी ।
पुण्य तणा ए भेद परूप्या, अरिहंत वीतराग देव जी ।।३।।

भगवान शांतिनाथ ने अपने पूर्वभव में एक कबूतर को शरण में रखकर जो पुण्य कार्य किया उसी के परिणामस्वरूप उन्हें तीर्थंकर-सी श्रेष्ठ पदवी और अपार ऋद्धि की उपलब्धि हुई।[1] चंपक-श्रेष्ठि ने दुष्काल के अवसर पर जो दान दिया उसके पुण्य से उसे छियानवे करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की प्राप्ति हुई।[2] आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को सेलड़ी रस देकर श्रेयांसकुमार भवमुक्ति पा गये थे।[3]

इनके अतिरिक्त महाकवि ने पुण्याचारियों की सारिणी में इनके भी पुण्य कर्मों का उल्लेख किया है-मेघकुमार, अयवंतिसुकुमाल, धन्ना सार्थवाह, चंदनवाला, सुमुख गाथापति गोभद्र सेठ, मूलदेव, बलदेव मुनि, सुव्रत साधु, सनत्कुमार, बलभद्र, [4] वस्तुपाल-तेजपाल, कुलध्वजकुमार, सती सुभद्रा, धन्ना अरणगार, रावण और श्रेणिक राजा [5] तथा प्रदेशी [6] आदि। इसी प्रकार के अन्य अनेक विवेकी जीव पुण्य के प्रभाव से सुखी हो चुके हैं, हैं और आगे भी होंगे।[7]

(६) संतोष छत्तीसी

इस छत्तीसी की रचना कवि ने सं० १६८४ में लूणकरणसर के चातुर्मास में की थी।[8] इसमें भी कुल ३६ पद हैं।

वर्ण्य-विषय

प्रस्तुत कृति में कवि ने कहा है—संपूर्ण वैर-विरोधों से विमुक्त हो प्रत्येक सहधर्मी को दूसरे के साथ बड़े प्रेम और सौहार्द के साथ व्यवहार करना चाहिये। ऐसे व्यवहार को संतोष कहा गया है, समता कहा गया है। सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और नवकार-मंत्र आदि की सिद्धि भी रागद्वेष वालों को नहीं होती अपितु उन्हें होती है जो समता का व्यवहार करते हैं, संतोषपूर्वक रहते हैं। अरिहंत देव ने भी यही बतलाया है—

---

१. सरणागत राख्यउ पारेवउ, पूरव भव परसिद्ध जी।
शांतिनाथ तीर्थंकर पदवी, पाम्या चक्रवर्ती रिद्धि जी ॥४॥

२. चंपक सेठ कीधी अनुकंपा, दीधुं दान दुकाल जी।
कोडि छन्नु सोनइया केरी, विलसइ रिद्धि विसाल जी ॥१५॥

३. उत्तम पात्र प्रथम तीर्थंकर, श्री श्रेयांस दातार जी।
सेलड़ी रस सूधउ वहरायो, पाम्यउ भव नउ पार जी ॥६॥

४. रूप थकी अनरथ देखी नइ, गयो बलभद्र वनवास जी।
तप संयम पाली नई पहुंतउ, पांचमइ स्वर्ग आवास जी ॥१८॥

५. रागे रावण श्रेणिक राजा, अरच्या अरिहंत देव जी।
बेहुं गोत्र तीर्थंकर बांध्या, सुरनर करस्यै सेव जी ॥३२॥

६. केसी गुरु मेल्यउ परदेसी, सुर उपनो सुरिआभ जी।
च्यार हजार वरस एक नाटक, आगे अनंता लाभ जी ॥३३॥

७. इम अनेक विवेक धरंतां, जीव सुखिया थया जाण जी।
संप्रति छै सुखिया वलि थास्यै, पुण्य तणै परमाण जी ॥३४॥

८. तिम संतोष छत्तीसी कीधी, लूणकरणसर मांहि जी।
मेल थयउ साहमी मांहो मांहि, आणंद अधिक उच्छाह जी ॥३५॥

× × × ×

सामायक पोसो पडिकमणो, नित सझाय नवकार जी।
राग द्वेष करतां सूझइ नहीं, न पड़ै ठाम लगार जी ॥२६॥
समता भाव धरी नइ करतां, सहु किरिया पड़ै ठाम जी।
अरिहंत देव कहइ आराधक, सीझइ वंछित काम जी ॥२७॥

और राग-द्वेष करने वालों को नर्क के दुःख भी भोगने पड़ते हैं। उनकी दुर्गति का कोई पा नहीं होता।

सहधर्मी का संयोग सौभाग्य से ही मिलता है। अतः उसके साथ संतोषपूर्वक रहना चाहिये। कवि का कहना है—

साहमी सुं संतोष करीजइ, वयर विरोध निवार जी।
सगपण ते जे साहमी केरउ, चतुर सुणो सुविचार जी ॥१॥

सहधर्मी के साथ प्रेमपूर्वक रहना, उससे अपने दोषों के लिए क्षमा मांगना, उसे हित की बा कहना, उसकी हित की बात सुनना, ये सब सहधर्मी–वात्सल्य (समता, संतोष) के अन्तर्गत आता है। इ सहधर्मी–वात्सल्य को जिन महापुरुषों ने निभाया और जिसके कारण उन्हें यश और मुक्ति लाभ हुआ, उन से कइयों का कवि ने अपनी कृति में स्मरण किया है।

संवत् सोल चउरासी वरसइ, सर मांहें रह्या चउमास जी।
जस सोभाग थयउ जग मांहे, सहु दीधी साबास जी ॥३५॥

वज्रजंघ राजा अरिहंत और साधु के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नहीं किया करता था। अपने से बड़े राजा सिंहोदर को भी वंदना करते समय वह अपना व्रत नहीं भूलता था और हाथ की मुद्रिकागत मुनि सुव्रत स्वामी की मूर्ति को ही उस समय नमन करता था। ऐसा सहधर्मी जब सिंहोदर के आक्रमण आक्रांत हो रहा था, भगवान राम ने उसे सहायता देकर अपना सहधर्मी–वात्सल्य प्रदर्शित किया था। ऐसे अनेक संतोषधनियों के उदाहरण कवि ने दिये हैं जिनमें से प्रमुख ये हैं—राजा उदयन और चंडप्रद्योतन भरत और बाहुबली, सागरचन्द्र और नभसेन, कोणिक और चेडा, विजयचोर, रुक्मिणी और सत्यभामा कपिल ब्राह्मण और राम-लक्ष्मण, मृगावती और चंदनबाला तथा आर्द्रकुमार और अभयकुमार।

---

१. अरिहंत साधु विना प्रणमे नहीं, वज्रजघा ध्रम धीर जी।
सिंहोदर सुं संतोप करायो, रामचंद्र करि भीर जी ॥ ८॥

×   ×

(७) आलोयणा छत्तीसी

कुल ३६ पद्यों की प्रस्तुत छत्तीसी का सृजन महाकवि ने संवत् १६६८ में अहमदाबाद में किया।[1]

वर्ण्य-विषय

कृति का प्रमुख कथ्य है—शुद्ध अंतःकरण से अपने किए हुए पापों की आलोचना करने से अर्थात् पश्चाताप करने से प्राणी उनके दुष्परिणामों से मुक्त हो सकता है। शुद्ध हृदय से कहा गया 'मिच्छामि दुक्कडं' अनेक पापों के पलायन में समर्थ है चाहे वह कितने ही भयंकर और दुष्परिणामप्रद क्यों न हों।[2] किंतु इस मिच्छामि दुक्कडं' करने के पश्चात् मुक्तिकामी को उस अकृत्य को सदा के लिए न करने का व्रत ले लेना चाहिए।[3]

इसके साथ ही कवि ने उन कृत्यों का भी उल्लेख किया है जिनके करने से जीव पाप का भागी होता है। उनमें प्रमुख हैं— असत्य-भाषण, चोरी, परदारगमन और किसी निरपराधी का अकारण जीव-हनन करना आदि। जो लोग मिथ्या भाषण करते हैं अथवा किसी को मिथ्या कलंक लगाते हैं उनके गले में गलजीभी जैसा रोग हो जाता है जिसके कारण मुंह टेढ़ा हो जाया करता है।[4] जीभ के स्वाद के लिए मारा गया प्राणी भव-भव में अपने अपराध का बदला लेता है, अपने हत्यारे के साथ युद्ध करता है और उसे मार डालता है।[5] लगभग ऐसी ही दुर्गति चोरों की हुआ करती है।[6]

परदार-सेवन जैसे दुष्कृत्यों के क्षणिक सुख में मस्त रहने वाले काम-कीटों को नर्क में गर्म की हुई लोह-पुतली का आलिंगन करने जैसी अनेक यातनाएं सहनी पड़ती हैं—

> परस्त्री नइ भोगवी, तुच्छ स्वाद तूं लेसि।
> पिण नरकें ताती पूतली, आलिंगन देसि॥१५॥

घाणी, घट्टी ओखली में कई बार असावधानी से छोटे-छोटे जीवों की हत्या हो जाती है। यदि उनके निग्रे क्षमापना (पापालोचना) नहीं की जाती है तो जैसे प्राणी को नर्क में घाणी के अन्दर पील दिया जाता है—

---

१. संवत् सोल अट्ठाणूए, अहमदपुर मांहि।
समयसुंदर कहइ मइं करी, आलोयणा उच्छाहि॥३६॥ (स. कृ कु. पृ० ५४७)

२. पाप आलोय तूं आपणां, सिद्ध आतम साख।
आलोयां पाप छूटियइ, भगवंत इणि परि भाख॥१॥

३. मिच्छामि दुक्कडं देइ नैं, पछइ लेजे तूं सूंसि॥२६॥

४. कूड बोल्या घणा जीभड़ी, दीधा कूड़ कलंक।
गलजीभी थास्यै गलैं, हुस्यइ मुंहड़ो भिवंक॥१३॥

५. जीभ नइ स्वाद मार्‌या जिके, ते मारस्यइ तुज्झ।
भव मांहि भमता थका, थास्यैं जिहां तिहां जुज्झ॥१२॥

६. परधन चोरया लूटिया, पाप्यइ भरूकइ पेट।
भूरयो भमि संसार मां, निर्धन थकइ नेट॥१४॥

जैन दर्शन का कर्म-सिद्धान्त : जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१. कर्मवाद की तीन धाराएं :

भारतीय चिंतकों ने अपने चिंतन का जो विशाल भवन निर्मित किया है, उसका स्वर्ण कलश यदि मुक्ति है तो उसकी आधार-शिला कर्मवाद या जन्मान्तर। कर्मवाद का विश्लेषण भारतीय विचारधारा में मुख्यतया तीन तरह से हुआ है। एक तो उन अनीश्वरवादियों—जैन, बौद्ध और मीमांसक—के द्वारा जो कर्म को इतना शक्तिशाली मानते हैं कि उसके लिए किसी नियन्ता की जरूरत नहीं होती। दूसरे उन ईश्वर-वादियों—विशिष्टा द्वैत, शैव—द्वारा जो एक ऐसे कर्माध्यक्ष या ईश्वर को मानते हैं जो जीव को यथोचित फल देता है। और तीसरे वे अद्वैतवेदान्ती एवं सांख्य हैं जो कर्म की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानते। अविद्या के नष्ट होते ही कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। इनमें मतभेद अवश्य हैं, किन्तु यदि सब के मूल में हम जायें तो इतना सब मानते हैं कि किए हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, चाहे वे अच्छे हों या बुरे।

जैन दर्शन में कर्म-विज्ञान पर बहुत गम्भीर, विशद, वैज्ञानिक चिन्तना की गई है। कर्मों का इतना सूक्ष्म विश्लेषण अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। जीवन के समस्त अंगों का विश्लेषण कर्मवाद के द्वारा प्रतिपादन करना जैनों की अपनी मौलिक शोध है। यह कर्मवाद का सिद्धान्त अपने आप में इतना शक्तिशाली एवं स्वतन्त्र है कि जीवों को कर्मफल देने में उसे किसी नियंता आदि की आवश्यकता नहीं होती। अचेतन का यह चेतन पर शासन है। एकदम चौंका देने वाली बात ? लेकिन जब हम इस कर्मवाद की गहराई तक पहुंचते हैं तो आश्चर्य होता है उन जैन मनीषियों की बुद्धि पर जिन्होंने कितने सरल और वैज्ञानिक ढंग से जीवन की सारी गुत्थियां सुलझाकर रख दी हैं।

जैन दर्शन में कर्मवाद :

लेकिन जैन-दर्शन को यह दुहरी परिकल्पना कोई दिशा न दे सकी। उसने इस चिन्तन-प्रक्रिया को और गति दी। चिन्तन की गहराई ने मान्यताओं के व्यामोह को भंग किया। इन चार अवस्थाओं को प्रतिपादित किया —

१. विश्व के मूल में दो तत्व हैं—जीव और अजीव।

२. इन चेतन और अचेतन का सम्बन्ध जीव को नाना प्रकार की दशाओं में परिवर्तित करता है। यही विश्व की विविधता है।

३. उक्त जीव-अजीव के सम्पर्क को रोकने और सर्वथा नष्ट करने की शक्ति जीव में विद्यमान है।

४. तथा सम्पर्क नष्ट होते ही जीव पुनः विशुद्ध एवं निर्मल हो जाता है। यही मुक्ति है।

उक्त चार अवस्थाओं के प्रतिपादन से जैन-दर्शन के निम्न चार सिद्धान्त प्रतिफलित होते हैं—

१. तत्वज्ञान निरूपण : सृष्टि का विश्लेषण।
२. कर्म-सिद्धान्त : जीवन का मनोवैज्ञानिक अध्ययन।
३. जैनाचार : संयम एवं तपसाधना।
४. मुक्ति : जीवन की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि।

जैन-दर्शन ने इन चारों सिद्धान्तों की व्याख्या सात तत्वों के निरूपण द्वारा की है। प्रथम सिद्धान्त का सम्बन्ध जीव और अजीव से है। द्वितीय का आश्रव एवं बन्ध से। तृतीय का मूलाधार संवर तथा निर्जरा हैं एवं मोक्ष का सम्बन्ध अन्तिम सिद्धान्त से है।

यहां हमें द्वितीय सिद्धान्त कर्मवाद के अन्तर्गत आश्रव एवं बन्ध तत्वों पर विचार करना है और यह देखना है कि आधुनिक मनोविज्ञान को कितने सूक्ष्म ढंग से जैन मनीषियों ने हजारों वर्ष पूर्व हृदयंगम कर रखा था।

जीव के साथ कर्मों का सम्पर्क :

दो बातें यहां जानना जरूरी है। प्रथम यह कि कर्मों का जीव तक पहुँचने के साधन क्या हैं एवं जीव के समक्ष पहुँचने पर कर्म उससे अपना सम्बन्ध कैसे स्थापित करते हैं? साधनों पर विचार जैन-दर्शन में 'आश्रव' तत्व के निरुपण द्वारा किया गया है।

जीव और कर्मों का बन्ध तभी सम्भव है जब जीव में कर्म पुद्गलों का आगमन हो। अतः कर्मों के आने के द्वार को 'आश्रव' कहते हैं। वह द्वार जीव की ही एक शक्ति है जिसे योग कहते हैं। हम मन के द्वारा जो कुछ सोचते हैं, वचन के द्वारा जो कुछ बोलते हैं और शरीर के द्वारा जो कुछ हलन-चलन करते हैं वह सब कर्मों के आने में कारण है। इस मन, वचन और काय की क्रिया को योग कहा गया है। अतः स्पष्ट है, हमारा मन एवं पांचों इंद्रियां ही कर्मों के आगमन में प्रमुख कारण हैं। इन छहों की क्रियाओं (कर्म) द्वारा आत्मा का पुद्गल परमाणुओं से सम्पर्क होता है इसलिए इस सम्पर्क को 'कर्म' कहा गया है।

आत्मा के साथ कर्म-सम्पर्क होने में मन का विशेष हाथ है। जीवन के सभी कार्य-व्यापार, चिंतन, मनन, इच्छा, स्नेह, घृणा आदि सभी कुछ मन के ऊपर ही निर्भर है। पांचों इंद्रियों पर इसी का शासन है।

अतः आत्मा का विकास एवं पतन इसी मन पर ही आश्रित है। जैन-दर्शन में जहां मन को चंचल और दुर्जय कहा गया वहीं उसको वश में करने की दिशा भी प्रदान की गई है। संयम एवं ध्यान की एकाग्रता मन को स्थिर करती है। मन के निग्रह से पांचों इंद्रियां वश में हो जाती हैं और इन छहों पर विजय प्राप्त कर लेने से सारी विषय-वासना अपने आप तिरोहित हो जाती है। जीवन में एक सन्तुलित गतिशीलता आ जाती है। अतः कर्म बन्धन में मन प्रधान कारण है।

उपरोक्त साधनों से कर्म परमाणु आत्मा के समक्ष दो तरह से आते हैं और उसमें मिल जाते हैं। प्रथम काय आदि योगों की साधारण क्रियाओं के द्वारा और दूसरे क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार तीव्र मनोविकार रूप कषायों के वेग से प्रेरित होकर। प्रथम प्रकार के कर्मास्रव को मार्गगामी कहा गया है, क्योंकि उसके द्वारा आत्मा और कर्म प्रदेशों का कोई स्थिर बन्ध उत्पन्न नहीं होता। कर्म-परमाणु आते हैं और चले जाते हैं। जिस प्रकार किसी विशुद्ध सूखे वस्त्र पर बैठी धूल शीघ्र झड़ जाती है, देर तक वस्त्र से चिपटी नहीं रहती। इस प्रकार का कर्मास्रव समस्त संसारी जीवों के निरन्तर हुआ करता है। क्योंकि उनके *किसी न किसी प्रकार की मानसिक, शारीरिक व वाचिक क्रिया सदैव हुआ ही करती है। किन्तु इसका कोई* विशेष परिणाम आत्मा पर नहीं पड़ता।

परन्तु जब जीव की मानसिक आदि क्रियाएं कषायों से युक्त होती हैं, तब आत्म प्रदेशों में एक ऐसी परपदार्थ ग्राहिणी दशा उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण उसके सम्पर्क में आने वाले कर्म परमाणु उससे शीघ्र पृथक नहीं होते। यथार्थतः क्रोधादि विचारों की इसी शक्ति के कारण उन्हें कषाय कहा गया है। सामान्यतः वट वृक्ष के दूध के समान चेप वाले द्रव पदार्थों को कषाय कहते हैं, क्योंकि उनमें चिपकने की शक्ति होती है। उसी प्रकार क्रोध, मान आदि मनोविकार जीव में कर्म परमाणुओं का आश्लेष कराने में कारणी भूत होने के कारण कषाय कहलाते हैं। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो जिन मनोविचारों से आत्मा कलुषित हो जाय एवं मन में विकार पैदा हो जाय उन्हें कषाय कहते हैं। इस सकषाय अवस्था में उत्पन्न हुआ कर्मास्रव अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखलाये बिना आत्मा से पृथक नहीं होता। अतः कषाययुक्त कर्मों का ही हमें फल भुगतना पड़ता है।

कर्म सम्बन्ध अनादि :

कोई फरक नहीं पड़ता। जैसे ताजे दूध में पानी का अंश विद्यमान होने पर भी वह दूध ही कहलाता है। जीव के यही किंचित राग द्वेष रूप परिणाम नये कर्म बांधते हैं। अर्थात् जीव की सचेतनता में जो अचेतनता के अंश हैं, वही नये कर्मों का आह्वान करते हैं। इन कर्मों से नाना गतियों में जीव जन्म लेता है। जन्म लेने से संसारी पदार्थों के प्रति फिर उसके राग और द्वेष भाव उत्पन्न होते हैं, जिनसे फिर कर्म बंधते हैं। इस प्रकार राग-द्वेष भाव और कर्म एक दूसरे के जन्म दाता हैं। इसी क्रम का नाम संसार-चक्र है।

जहां तक आत्मा और कर्म-परमाणुओं के संयोग के स्वरूप की बात है, उसका कोई निश्चित रूप-विधान नहीं किया जा सकता। जीव और कर्म-परमाणुओं का संबंध यद्यपि संयोग-पूर्वक होता है, किन्तु वह संयोग से एक जुदी वस्तु है। संयोग तो मेज और उस पर रखी हुई पुस्तक का भी है, किन्तु उसे बन्ध नहीं कह सकते। बन्ध तो एक ऐसा मिश्रण है जिसमें रासायनिक (Chemical) परिवर्तन होता है। उसमें मिलने वाले दो तत्व अपनी असली हालत को छोड़कर एक तीसरे रूप में बदल जाते हैं। जैसे दूध और पानी की मिलावट न तो दूध को दूध रहने देती और न पानी को पानी। दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालकर परस्पर घुल जाते हैं। जीव और कर्म बंधन की भी यही अवस्था होती है।

जैन-दर्शन आत्मा और कर्मों के बन्ध का निरूपण करके ही चुप नहीं हो जाता बल्कि कर्म कितने प्रकार के हैं, किन क्रियाओं से कौन से कर्म बंधते हैं, यह बन्धन कब तक रहता है, कैसे फल देता है, किस प्रकार घटता-बढ़ता है तथा किन प्रयत्नों द्वारा सर्वथा नष्ट होता है आदि समस्त सम्बन्धित प्रश्नों पर भी विस्तार से विचार करता है। इस प्रकार का विषय-निरूपण सचमुच, जैन-दर्शन की अपनी मौलिक विशेषता है।

कर्मों के भेद :

जैन-दर्शन के कर्मों के भेद को कर्म प्रकृतियों के नाम से उपस्थित किया गया है। प्रकृति का अर्थ है स्वभाव। अर्थात् कर्म कितने स्वभाव वाले होते हैं। कुछ कर्मों का स्वभाव ज्ञान को ढांकना होता हैं, किन्हीं का दर्शन को। इस प्रकार की कर्मों की मूल आठ प्रकृतियां हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। इन आठ मूल प्रकृतियों की अपनी-अपनी भेद रूप विविध उत्तर प्रकृतियां भी हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण पर ऐसा आवरण उत्पन्न करता है, जिसके कारण उसका पूर्ण विकास नहीं होने पाता। जिस प्रकार वस्त्र के आवरण से सूर्य या दीपक का प्रकाश मन्द पड़ जाता है उसी प्रकार इस कर्म के द्वारा आत्मा धूमिल हो जाती है। दर्शनावरणीय कर्म आत्मा के दर्शन नामक चैतन्य गुण को आवृत करता है। मोहनीय कर्म जीव के जीव की रुचि व चारित्र में अविवेक, विकार व विपरीतता आदि दोष उत्पन्न करता है। अन्तराय कर्म जीव द्वारा दान देने, लाभ लेने, वस्तुओं का भोग करने, उनसे सुख लेने एवं सामर्थ्य के प्रयोग करने में बाधा उत्पन्न करता है। वेदनीय कर्म प्राप्त वस्तुओं से फलित सुख-दुख का अनुभव कराता है। आयु कर्म जीव की देव, नरक, मनुष्य एवं तिर्यञ्च गतियों की स्थिति का निर्धारण करता है। गोत्र-कर्म जीव को नीचगोत्र या उच्चगोत्र में ले जाता है। नाम कर्म जीव का शारीरिक-निर्माण करता है। किसी को सुन्दर व कुरूप बनाना इसी के हाथ में है।

कर्म-बन्ध के कारण :

सामान्य रूप से कर्म बन्ध का कारण जीव की कषायात्मक मन-वचन-काय की प्रवृत्तियां हैं। किन्तु कौन-सी कषायात्मक प्रवृत्तियां किन कर्म-प्रवृत्तियों को बांधती है, जैन-दर्शन इसका भी सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करता है।

किसी के ज्ञानार्जन में बाधा उपस्थित करना, उसके ज्ञान में दूषण लगाना आदि कुटिल वृत्तियां ज्ञानावरण कर्म-प्रकृति का बंध करती हैं। इसी प्रकार किसी के सम्यकदर्शन में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित करने से दर्शनावरणीय कर्म बंधता है। सज्जन पुरुषों की निंदा एवं उनके प्रति क्रोधादि कषायों के तीव्र भाव उत्पन्न करने से मोहनीय तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं शक्ति जीवन की इन सामान्य प्रवृत्तियों में विघ्न उपस्थित करने से अन्तराय कर्म का बंध होता है। स्वयं या दूसरे को दुःख, शोक, वध आदि रूप पीड़ा देने से असाता वेदनीय एवं जीवों के प्रति दया भाव, अनुकम्पा आदि करने से सातावेदनीय कर्म बंधता है। इसी असाता और साता वेदनीय कर्मों के अनुसार पाप-एवं पुण्य की स्थिति होती है। यद्यपि कर्मों का बन्ध दोनों से होता है।

सांसारिक कार्यों में अति आसक्ति अति परिग्रह नरकायु का, मायाचार तिर्यञ्च आयु का, अल्पारम्भ, अल्प परिग्रह व स्वभाव की मृदुता मनुष्य आयु का तथा संयम व तप देवायु का बंध कराते हैं। परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा आदि नीचगोत्र के, तथा इनसे विपरीत प्रवृत्तियां एवं मान का अभाव और विनय आदि उच्च गोत्र-बन्धन के कारण हैं। मन-वचन-काय योगों की वक्रता एवं कुत्सित क्रियाएं आदि अशुभ नाम कर्म का बन्ध कर जीव को कुरूप बनाती हैं तथा इससे विपरीत सदाचरण शुभ नाम कर्म का बंध कर जीव को सुन्दर तथा तीर्थंकर बनने की भी क्षमता प्रदान करता है।

कर्मों की स्थिति एवं शक्ति :

इस प्रकार नाना प्रकार की क्रियाओं द्वारा जब विविध कर्म-प्रकृतियां बंध को प्राप्त होती हैं तभी उनमें जीव के कषायों की मंदता व तीव्रता के अनुसार यह गुण भी उत्पन्न हो जाता है कि वह बंध कितने काल तक सत्ता में रहेगा और फिर अपना फल देकर झड़ जायगा। पारमार्थिक शब्दावली में इसे कर्मों का स्थिति बन्ध कहा है। यह स्थिति जीवों के परिणामानुसार तीन प्रकार की होती है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट। कर्मों का स्थिति-बंध होने के साथ उनमें तीव्र व मन्द फलदायिनि शक्ति भी उत्पन्न होती है। इसी के अनुसार कर्म फल देते हैं।

कर्मों का फल :

सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है। और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक व दुख:दायक होते हैं। यदि कर्म करते समय जीव के भाव अच्छे होते हैं तो बंधने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और बाद में उनका फल भी अच्छा होता है। तथा यदि बुरे भाव होते हैं तो बुरा असर पड़ता है और कालान्तर में उनका फल भी बुरा ही होता है। अतः स्पष्ट है कि हमारे भावों का असर कर्म-परमाणुओं पर पड़ता है। उसी के अनुसार उनका अच्छा-बुरा विपाक होता है। इस प्रकार जीव जैसे कर्म करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही कर्मफल के भोगने में भी।

कर्मों में परिवर्तन :

यहां अब यह जिज्ञासा होती है कि जब कर्म निरन्तर बंधते और फल देते रहते हैं तो उन्हें हमेशा एक-सा ही होना चाहिए या तो अच्छा या बुरा। तब फिर कोई बुरे कर्मों को बांधने वाला जीव अच्छे कर्मों को किस प्रकार बांधेगा ? जैन-दर्शन ने इन तमाम जिज्ञासाओं को भी समाधित किया है।

उक्त विवेचन में हमने देखा कि कर्म-परमाणुओं को जीव तक लाने का काम जीव की योग शक्ति करती है और उसके साथ बन्ध कराने का काम कषाय अर्थात् जीव के राग-द्वेष भाव करते हैं। इस तरह कर्मों में अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना तथा उनकी संख्या का कमती-बढ़ती होना योग पर निर्भर है। तथा कर्मों में जीव के साथ कम या अधिक काल तक ठहरने की शक्ति का पड़ना और तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति का पड़ना कषाय पर निर्भर है। अब जैसा जिसका योग (मन-वचन-काय की क्रियाएं) होगा और जैसी जिसकी कषाय (राग-द्वेष) होगी, वैसे ही उसके कर्म बंधेंगे और वैसा ही उनका फल होगा।

जैन-दर्शन में कर्मों की दस मुख्य क्रियाओं का प्रतिवादन किया गया है। कर्मों का बंध होना, उनके ठहरने एवं फल देन की शक्ति का बढ़ना, घटना, स्थित रहना, निश्चित समय में फल देना, समय से पूर्व फल देना, परस्पर सजातीय कर्मों में मिल जाना, फल देने की शक्ति को रोक देना, कर्म को घटने-बढ़ने न देना आदि। कर्मों की इन क्रियाओं से स्पष्ट है कि बुरे कर्मों का बन्ध करने वाला जीव यदि अच्छे कर्म करने लग जाता है तो उसके पहले बांधे हुए बुरे कर्मों की स्थिति और फल दान-शक्ति अच्छे भावों के प्रभाव से घट जाती है। और अगर बुरे कर्मों का बन्ध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते हैं तथा वह अधिक बुरे कर्म करने लग जाता है तो बुरे भावों का असर पाकर पहले बांधे हुए कर्मों की स्थिति और फल-दान-शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण ही कोई कर्म जल्द फल देता है और कोई देर में। किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द। अतः कर्म फल के भोग में समय की विषमता, तीव्रता, मन्दता आदि सभी कुछ जीव के योग एवं कषाय की मात्रा पर भी निर्भर है।

कर्मों से मुक्ति :

कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित अब अन्तिम प्रश्न और बच रहता है, वह है—इस विशाल कर्म बंधन की परम्परा से सर्वथा छुटकारा कैसे सम्भव है ? जैन दर्शन का परमतत्व, जीवन का अन्तिम एवं उत्कृष्ट लक्ष्य आदि सब कुछ उक्त प्रश्न के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

जीव के साथ कर्मों के बन्धन में दो क्रियाएं होती हैं—कर्मों का आना (आश्रव) और बंध जाना (बन्ध)। अतः उसके छुटकारा में भी दो ही क्रियाएं अपेक्षित हैं—कर्मों के आगमन को रोक देना और आगे

सत्य एटले लौकिक सत्य अभिप्रेत होय छे। उपर आपेला मुण्डकमांना श्लोक मां सत्य, तप, सम्यज्ज्ञान अने ब्रह्मचर्य ए चार आत्म प्राप्नी ना साधनो कह्या छे। एमां ना सत्य अने तपनो उल्लेख श्वेताश्वतर मां पण छे (सत्येन् एव तपसा योऽनुपश्यति। १.१५) ए सिवाय साधन विषयक बीजु वाक्य : तस्पाद् विद्या तपसा चिन्तया च उपलभ्यते ब्रह्म। (मैत्रि. ४-४ विगेरे) ब्रह्म प्राप्ति ना ए साधनो नी उत्पत्ति अक्षर ब्रह्म थी ज थई छे (तस्माच्च देवाः बहुधासं प्रसूताः तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च। (मुण्डक २.१.७) प्रश्नोपनिषद् मां क्या साधनो ब्रह्म लोक मेलवण माटे सफल थाय छे अने क्या थता नथी ए स्पष्ट रीते बताव्युं छेः तेषाम् एव ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।....न येषु जिह्मम् अनृत् न माया च इति। १.१५.६ तेमज मुण्डक मां (३.२.३) नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन-एम जणाव्युं छे। पण आपणे जे वाक्यनो अर्थ करवो छे ते श्लोक मां ऋषि आखरे क्यां जई पहुंचे छे ते कह्युं होवाथी सत्यनो अर्थ ब्रह्म लेवो पटे, साचुं बोलवुं ए नथी।

उपनिषदो मां 'सत्य' शब्द ना जे प्रयोगो छे ते जोया पछी आपणे 'जी' शब्द ने लईये। छेक ऋग्वेद थी मांडा ए ध तूना मेलववुं, प्राप्त करवुं 'तेमज' जीतवुं विजय मेलववो एवा बन्ने अर्थो संभवे छे। उपनिषदो मां पण 'एकाद वस्तु मेलववी। ए अर्थ जी धातूनो प्रयोग जोवा मां आवे छे 'लोके जयति' के संलोकतां जयति—एवा प्रयोगो उपनिषदो मां घणीवार आवे छे–तंतं लोके जयते तांश्च कामान्' एम मुण्डक मांज (३.१.१०) कह्युं छे. अने त्यां 'जयते' नो मेलवे छे, प्राप्त करे छे एज अर्थ ए चोक्खुं छे। आ वाक्य मां आवतां 'कामान् जयते' ने बदले छांदोग्य मां आवता 'आप्नोति सर्वान् कामान् (७.१०) ए शब्दो पण एज वस्तु बतावे छे। सामविषयक गूढार्थना उकेल करता वखते एकवीस अक्षरो वडे आदित्य प्राप्ति थाय छे। अने बावीसमा अक्षरे आदित्यमी जे पर छे ते मले छे ए करती वखते 'जयति' अने 'आप्नोति' ना जे प्रयोगो छे ते परथी आ हकीकत वधारे स्पष्ट थाय छेः एकविंशत्या आदित्यम्' आप्नोति'।....द्वाविंशेन परम् आदित्यात् जयति तत्नाकम् तद् विशोकम् (छां.२.१०.५.)। ए पर थी 'सत्यमेव जयते' ए वाक्य मां 'सत्य' एटले 'अंतिम सत्य' अथवा 'ब्रह्म' अने जयते 'मेलवे छे' एवा अर्थो लेवा मां कोई वांधो न थी ए वस्तु ध्यान मां आवशे।

'सत्यमेव जयते'—ए श्रुति वाक्य पर श्रीशंकराचार्य लखेछेः सत्यमेव सत्यवान एव जयते जयति, न अनृतं न अनृतवादी इत्यर्थः। नहि सत्यानृतयोः केवलयोः पुरुषानाश्रितयोः जयः पराजयोवा संभवति। प्रसिद्धं लोके सत्यवादिना अनृतवादी अभिभूयते न विपर्यय-। अतः सिद्धं सत्यस्य बलवत्साधनत्वम्। एपर थी आचार्य श्री वेपण मात्र सत्य तरफ कर्तृत्व आपवामां अडचण लागी अने तेथी तेमणे सत्यम्—सत्यवादी पुरुष एवो अर्थ लीधो। पण तेम छता एमणे सत्यने वाक्य नो कर्त्ता मान्यो अने जयते नो अर्थ जयथाय छे एवो लीधो तेथी उपर ना वाक्यनो 'सत्यनोज सदा जय थाय छे। एवो लौकिक अर्थ एमने अभिप्रेत छे। एमना मतव्य प्रमाणे एम कहेवानुं' कारण सत्यनी उत्तम साधन तरीके प्रशंसा करवी एछे। पण एनी जरूर गणाती न थी। कारण आ उपनिषद जे ऋषिओने अक्षर प्राप्ति तत्व ज्ञान रूप जे पराविद्या तेथी थई शकेछे। लौकिक जय के पराजय ए बधुं अपराविद्या मां आवी शके, ते मुण्डको[1] ने केटला उपनिषत् मां स्थान न थी। ए उपदेश ग्रहण

---

१. मुण्डक उपनिषद मां आपेला ब्रह्मविद्या माथानुं मुण्डन करीं अरण्य मां रहेवारा ओ माटे हती एवुं तेषामेव एतां ब्रह्मविद्या वदेन शिरो व्रतं विधिवत् यैस्तु चीर्णम् [३, २, १०] ए वाक्य परथी लागे छे।

करी वन मां रहेता आप्तकाम ऋषिओने 'सत्यनोज सदा व्यवहार माँ जय थाय छे'—ए वात कहेवानी जरूर नथी) तपः श्रद्धेयोह्युप वसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष चर्यं चिरन्तः (१२,११) ; आ उपदेश देनार अने लेनार गुरु शिष्यनुं वर्णन पण अमे भेवुं (१, २, १२–१३) एकंदरे मुण्डक उपनिषद् मां आपेलुं तत्व ज्ञान अने त्या आवतुं साध्य साधकोनुं वर्णन जोतां 'सत्यमेव जयते' नो अर्थ ऋषि सत्य–(ब्रह्म) तेज मेलवे छे' एवो अर्थ उचित थशे ।

आ विवेचन सामे थोडाक आक्षेपो मूकवा शक्य छे, पहेलो आक्षेप एवो छे के 'जी' धातुनो जो परस्म पदे उपयोग कर्यो होय तो कर्मनी अपेक्षा रखाये ।[1] पण उपरना वाक्य मां 'जयते' एवो आत्मनेपदे उपयोग होवा थी कर्मनी अपेक्षा न थी अने तेथीज ए वाक्यनो 'सत्यनोज जय थाय छे' एवो अकर्मक अर्थ लेवामां आव्यो छे । आ बन्ने प्रयोगोनुं उदाहरण तरीके ऐतरेय ब्राह्मणमांनुं (१२.६) एक वाक्य आपी शकाय । 'यजमान ....जयति स्वर्गलोकं, व्यस्मिन् लोके जयते' । आ आक्षेपनो परिहार एम करी शकाय । पहेली वात एवी के आत्मने पदमां थतां प्रयोगोहमेश कर्म निरपेक्ष होय छे एवुं न थी । मुण्डकमांज आवता 'पश्यते' ना सकर्मक उपयोग जोवाः यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णंकर्तारं ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् (३, १, ३) अने 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः (३, १, ८) । बीजी वात एवी के 'जयते' नोज सकर्मक उपयोग मुण्डकमां छेः ततं लोकं जयते ताश्च कामान् । ३, १, १० । परन्तु खरे खर जोतां तो श्रुति वाक्य मां 'सत्यमेव जयति' ने बदले सत्यमेव जयते' एवो प्रयोग करवानुं कारण मुण्डकमां वपरायेला छंद मां छे । जर्मन पंडित हेर्टले[2] एमना मुन्डकोपनिषत परना पुस्तकमां ए छंदनु जे विवेचन कर्युं छे ते पर थी (पा० २८) एम स्पष्ट थाय छे के आ उपनिषद् मां आवता त्रिष्टुभ मां ज्या पादनो पहेलो अवयव चार अक्षर नो अने वचलो अवयव त्रण अक्षर नो होय छे त्यां वचता अवयव ना त्रणे अक्षरे कदे लघु होता नथी । अने तेथीज 'सत्यमेव जयति' अने ततंलोक जयति' ने बदले 'सत्यमेव जयते' अने ततंलोकं जयते एवा प्रयोग थया छे । तेथी अहियां 'जयति' एवो परस्मैपद मां उपयोग गृहीत—'सत्यं' ने कर्म लेवामां कोई वांधो न थी । हेर्टलना मानवा प्रमाणे तो आ श्लोकना पहेला पदमां छेवटनुं अक्षर नीकली गयुं छे । आपाद छंदनी दृष्टि ए एकाक्षर थी न्यून तो छेज, तेथी हेर्टल श्लोकनी पहेली लीटी एम वांचे छेः सत्यमेव जयते, नानृतं सः, सत्येन पन्था विततो देवयानः । (पा० ५९ अने ४४) 'एम कर्युं होयतो 'सः' ए कर्ता अने 'सत्यं' ए कर्म ए चो करवी वात छे । हेर्टलेने आ वाक्यनो निश्चित थयो अर्थ अभिप्रेत हतो ए समजवा मार्ग नथी । पण उपनिषद् मां एमणे सूजवेली दुरुस्ती मान्य राखवी होय तो ए वाक्यमां 'सत्यं' मानवं केम घटे छे ते उपर जणाव्यु छेज ।

एतैद उपायैर यतते यस्तु विद्वान् तस्य एष आत्मा विशत ब्रह्म धाम ।
संप्राप्य एनम् ऋषयो ज्ञान तृप्ता: कृतात्मानो वीतरागा: प्रशान्ता: ।।३–२–४–५।।

एक बीजा आक्षेप एवो के उपनिषदो मां 'ऋषि:ब्रह्म जयति' एवो प्रयोग मलतो नथी । आवात साची छे । पण जयतिने वदलेई सत्यम् इविन् इसाय् ईसथ क्रियापदोना उपयोग नीचे ना वाक्यो मां जोवा जेवा छे: सत्येन लभ्य:..... आत्मा (मु० ३–१–५) नायामात्मा प्रवचनेन लभ्य: (मु० ३–२–३) तस्माद् विद्यया....... उपलभ्यते ब्रह्म (मैत्रि ४–०) ब्रह्मचर्येण आत्मानाम् अनुविन्दते (छा–८–५) ब्रह्म प्राप्त: (कठ–६–१८) अत्र ब्रह्म समश्नुते (कठ ७–१४ वृह० ४–४७), 'जयति' विशेपण उपर छां–२–१०–५–६ मानु साहित्यनी प्राप्ति अने साहित्य थी जेपर छे तेनी प्राप्ति तिथेनु वाक्य टांकी शकाय: एव विंशेन आदित्यम् आप्नोति ....द्वाविंशेन परम् आदित्या ज्जयति । एक ठेकाणे साहित्यनुंज अंतिम ध्येय जे ब्रह्म तेना साथ ऐक्य गणीतेनी प्राप्ति विशे 'जयति' नो उपयोग कर्यो छे । प्रश्न १–१० मां एम लखायुंछे: अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानम् अन्विष्य आदित्यम् अभिजयन्ते । एनद्वै प्राणानाम् अपतनय एतद् अमृतम् अभयम् एतद् पणयणम् एतस्यान्न पुनरावर्तना इति । आ वाक्यमां पहेलां आत्माना अन्वेषणना साधनो आप्या छे । अनेते पछी तरतज आदित्यम् अभिजयन्ते नो प्रयोग छे । मुण्डकमां पण पहेलां आत्म प्राप्ति ना साधनों वताव्या छे अने तेपछी तरतज 'सत्यमेव जयते' नो प्रयोग छे । प्रश्न मांनु आदित्यम् अभिजयन्ते अने मुण्डकमानु सत्यमेव जयते आ बन्ने वाक्यो जे स्थितिमां आव्या छे तेमानी सरखामणी आपणे ध्यानमां लईए नो सत्यमेव जयते नो जे अर्थ अमे बतावववामां आव्योछे ते विशे शक रही शके नथी ।

उपरना बधा विवेचन माँ एवु मनायु नथीं के 'सत्यमेव जयते' ना 'सत्यनोज जय थाय छे' एवो अर्थ कयारेव थई शके नथी । ए वाक्यनो जो प्रकारण निरपेक्ष उपयोग कर्यो होय तो तेना तेवो अर्थ लेवामां कोई भूल नथी । ते अर्थ पण शास्त्रशुद्र छे तेथी अर्थनी ज्यां विवक्षा छे त्यां स्वतंत्र रीते ए वाक्यनो उपयोग कर्यो होय त्यां पण उपनिषदमां मलतो मूलनोज अर्थ कायम राखवो जोइए एवो आलेख लखवामां आग्रह नथी । आग्रह एटला पर तोज छे के मूल उपनिषदमांज ए अर्थ होवानु जे आज सुधी मनायु छे ते योग्य लागतु न थी ।

———